श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

समयसार

समय देशना

भाग-15

देशनाकार

आचार्य विशुद्धसागर मुनिराज

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

समयसार (समय पाहुड)
पर

समय-देशना

(भाग- १५)

(सर्वविशुद्ध ज्ञान–अधिकार)

देशनाकार

आचार्य विशुद्धसागर

प्रकाशक

श्रमणसंस्कृति सेवासमिति

मूलकृति : **आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी विरचित 'समय पाहुड'**

प्रस्तुत कृति : **समयदेशना, भाग-१५**
(समयपाहुड की गाथा ३८३ से ४१५ पर आगरा, भिंड, विदिशा, सागर, छतरपुर में सन् २०१२-१३ में किए गए टीकात्मक प्रवचन)।

देशनाकार : **दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज**

संकलन : **श्रमण सुव्रतसागर मुनि**

संपादन : डॉ. श्रेयांशकुमार जैन, बड़ौत (अध्यक्ष- अ.भा. शास्त्रिपरिषद्)
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (अध्यक्ष- अ.भा. विद्वत्परिषद्)

प्रस्तुति : **ब्र. किरण जैन (टीकमगढ़), इंजी. जिनेन्द्र जैन (भोपाल)**

आवृत्ति : प्रथम / वर्ष २०१६ / ३३०० प्रतियाँ

प्रकाशक : श्रमणसंस्कृति सेवासमिति

प्राप्ति स्थान :
(१) श्री आजादकुमार जैन, इंदौर, मो.: ०९४२५३२११५१
(२) श्री नेमीचन्द बड़कुल, इंदौर, मो.: ०९४२५०५३१७१
(३) श्री मनीष जैन मोना, इंदौर मो.: ०९८२६२१०१८९
(४) नमोस्तु शासन संघ, मुंबई, मो.: ०९८९२२९७२०५
(५) मनोज झांझरी, जयपुर, मो. ०९८२९०६३४२६

न्यौछावर : रु. २००/– (पुनर्प्रकाशनार्थ)

मुद्रक : जैन राजेश कानूगो
डिसेन्ट ग्राफिक्स, सुभाष चौक कार पार्किंग, इंदौर (म.प्र.)
मो. ९८२६०–१४०४७

अनुक्रमणिका

विवेचना		पृष्ठांक
सम्पादकीय	डॉ. श्रेयांसकुमार जैन	५
सम्पादकीय	डॉ. जयकुमार जैन	८
अध्यात्मविद्या की समृद्धि में आचार्यश्री विशुद्धसागरजी का योगदान	प्रो. नलिन के. शास्त्रि	३३
समयदेशना की देशना–शैली	सुरेश जैन 'सरल'	४५
समयदेशना : एक अमृतकलश	प्राचार्य नरेंद्रप्रकाश जैन	५०
निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना और निश्चय चारित्र की विवेचना	गाथा ३८३ से ३८६ तक	५७
ममत्व भाव से बंध होता है	गाथा ३८७ से ३८९ तक	८५
शास्त्र ज्ञान नहीं है	गाथा ३९०	२३०
ज्ञान है सब वस्तुओं से पृथक्	गाथा ३९१ से ३९७ तक	२३६
ज्ञान ज्ञायक से अभिन्न	गाथा ३९८ से ४०४ तक	२४५

आत्मा न ग्रहण करता, न छोड़ता	गाथा ४०५ से ४०७	३१८
आत्मा के बाह्यचिह्न मोक्ष के कारण नहीं	गाथा ४०८ से ४०९	३२८
दर्शन–ज्ञान चारित्र ही मोक्षमार्ग	गाथा ४१०	३३७
द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं	गाथा ४११	३४६
रत्नत्रय मोक्षमार्ग	गाथा ४१२	३५४
लिंग के मोही समयसार को नहीं जानते	गाथा ४१३	४२६
लिंग और निश्चय–व्यवहार नय	गाथा ४१४	४५९
समयसार ग्रंथ पढ़ने का महत्त्व	गाथा ४१५	५१७

सम्पादकीय

● **डॉ. श्रेयांस कुमार जैन**

(अध्यक्ष- अ.भा.दि. जैन शास्त्रिपरिषद्)

अध्यात्मविद्यान्वेषी आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव की लोकोत्तर कृति का संपूर्ण ज्ञानाराधकों की दृष्टि में बहुमान है। समयसार श्रमण-संस्कृति और वैदिक- संस्कृति के ग्रन्थों में अध्यात्म को उजागर करने वाला श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

'समय पाहुड' ग्रन्थ पर सर्वप्रथम आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने 'आत्मख्याति' नामक संस्कृत टीका लिखी, अनन्तर आचार्यश्री जयसेन स्वामी ने 'तात्पर्यवृत्ति' लिखकर जन-जन को आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द देव के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचय कराया। उक्त दोनों टीकाओं की विशेषता रही कि समयसार का हार्द स्फुट हुआ। इन टीकाओं के साथ मूल 'समय पाहुड' को जन-जन तक पहुँचाने हेतु अनेक हिन्दी रूपांतर करने वाले आचार्य, मुनि, आर्यिका, त्यागी-व्रती विद्वानों ने उपक्रम किया।

वर्तमान आचार्यपरंपरा के लोकप्रिय देशनाकार आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज ने समयसार रूपी सागर में डुबकी लगा-लगाकर मोतियों को निकाल-निकालकर अध्यात्म–विद्याभिलाषी–जनों को सौंपकर जैन-शासन का महान् उपकार किया है। समयसार की एक-एक गाथा की विषय-वस्तु को दृष्टांतों के माध्यम से सविस्तार रूप से समझाया है। परिणामत: समयसार की ४१५ गाथाओं की उक्त देशना को भव्य-श्रावकों द्वारा सत्रह भागों में लगभग ७००० पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है।

श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित एक-एक अधिकार पर दी गई देशना को क्रमश: प्रकाशन किया जा रहा है, क्योंकि **आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज द्वारा की गई तत्त्व-प्ररूपणा अद्भुत है। शुद्धात्म-तत्त्व के निरूपण की धारा में अवगाहन करते हुए आचार्यश्री स्वयं आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं और श्रोताओं को आत्म-तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान कराने में सहकारी हैं,** इसीलिए उनकी सभाओं में बैठे हुए श्रोता मंत्रमुग्ध होकर इनके वचनों को सुनते ही नहीं हैं, अपितु एक-एक शब्द का अवधारण करते हैं।

एक-एक शब्द में जिनशासन को समाते हुए आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज ने समयसार की देशना देकर मोक्षमार्गियों को कर्मास्त्रव रोकने की विधि बताकर जगत् को चमत्कृत किया है।

'आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज स्वयं समयसार' की महिमा को गाते हुए लिखते हैं कि 'वह भूमि धन्य है, जिस भूमि पर बैठकर आचार्यश्री कुन्दकुन्द भगवंत ने अलौकिक अशरीरी-आत्मा के स्वरूप को कहने वाला 'समयसार' जैसा ग्रंथ लिखा है। तन्मयभूत हो करके चिन्तवन किया है। एकत्व-विभक्त चिद्रूप दशा की अनुभूति का ग्रंथ 'समयसार' लिखने के पहले स्वानुभूति में लखा है।'

इस प्रकार के विचार ग्रंथराज 'समयसार' के संबंध में व्यक्त करने वाले आचार्यश्री विशुद्धसागरजी ने 'समयसार' को आत्मसात करके अध्यात्म की धारा को अविरल बनाए रखने का जो उपक्रम किया है, वह प्रशस्ततम है। यही कारण है कि अध्यात्मविद्या–प्रवीण मनीषी आचार्यश्री विशुद्धसागरजी की देशना को भी गवेषणा का विषय बनाए हुए हैं।

समयसार 'समयदेशना' का शब्द-शब्द उपादेय है। ज्ञानीजीव निरंतर इसी का आश्रय लेकर अर्चा में निरत रहते हैं। वस्तुत: यही तथ्य सत्य है कि संसार में जिस मार्ग से अज्ञानी संचार करता है उसी मार्ग से तत्त्वज्ञ भी संचार करता है, फिर भी अज्ञानी जीव अपने को कर्म से सम्बद्ध करता है।

समयसार का बोध ज्ञानी को ही संभव है, अज्ञानी तो समयसार के निकट भी नहीं पहुँच पाता है। आचार्य भगवन् स्वयं लिखते हैं कि- समयसार का बोध किसे प्राप्त नहीं हो सकता है।

पाखण्डीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्प यारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं।।

जो श्रमण और श्रमणोपासक इन बाह्य भेषों के ममकार व मिथ्या अहंकार को करते हैं, उन्होंने

समयसार को किंचित् भी नहीं जाना है।

समयसार तो समस्त विकल्पों से रहित अवस्था है, अत: पक्षपाती या पक्षग्राही समयसार का न तो कथन कर सकता है और न समयसार को समझ सकता है।

आचार्यभगवान् श्री कुन्दकुन्द स्वामी 'समयसार' को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि-

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।

जीव में कर्म बंध हुए हैं अथवा नहीं बंधे हैं, वे दोनों प्रकार नयों के पक्ष हैं, नयों की अपेक्षा से ही वह द्विविध कथन है। पुन: जो दोनों पक्षों से अतिक्रान्त (आगे बढ़ चुके) हैं, निर्विकल्प ध्यान में स्थित है, वही समयसार है अथवा समयसारी है।

सम्पूर्ण नय पक्षों से रहित समयसार की सम्यक् व्याख्या रूप 'समय देशना' के माध्यम से समयसार का प्रत्येक अधिकार तत्त्व-जिज्ञासुओं के ज्ञान का विषय बना है, जिससे तत्त्व-जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान प्राप्त हुआ है। सभी को तत्त्व का सम्यक् बोध हो, इसी भावना से जिनेन्द्र प्रभु से कामना करता हूँ कि आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज की इस प्रकार की देशना अविरल रूप से चलती रहे।

■ ■ ■

सम्पादकीय

● **डॉ. जयकुमार जैन**

अध्यक्ष, अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्

मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यौ, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

(भगवान् महावीर मंगलस्वरूप हैं। गौतम नाम के गणधर मंगलस्वरूप हैं। आचार्य कुन्दकुन्द मंगलस्वरूप हैं। जैनधर्म मंगलस्वरूप है।)

किसी भी मंगल कार्य के पूर्व जैनधर्मावलंबियों में उक्त श्लोक पढ़ने की परंपरा है। स्पष्ट है कि भगवान् महावीर और उनकी दिव्यवाणी के धारक एवं द्वादशांग आगम के प्रणेता गौतम गणधर के बाद जैनधर्म में कुन्दकुन्दाचार्य को प्रधानता दी गई है। कुन्दकुन्दाचार्य श्रमणसंस्कृति–उन्नायक, प्राकृतसाहित्य के अग्रणी प्रतिभू, तर्कप्रधान दृष्टान्तिक शैली में लिखे गए अध्यात्मविषयक साहित्य के युगप्रधान आचार्य हैं। अध्यात्म जैन वाङ्मय एवं प्राकृत साहित्य के विकास में उनका अप्रतिम योगदान रहा है। उनकी महत्ता इसी से जानी जा सकती है कि उनके पश्चातवर्ती आचार्यों की परंपरा अपने को कुन्दकुन्दान्वयी या कुन्दकुन्दाम्नायी कहकर गौरवान्वित समझती है।

खेद की बात है कि कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत विशाल साहित्य उपलब्ध होने पर भी विशेष एवं बाह्य साक्ष्यों के अभाव में उनका प्रामाणिक परिचय नहीं मिलता है। किंतु आलोचन-प्रत्यालोचन पद्धति से उनके विषय में जो भी सामग्री उपलब्ध हुई है, वह इस प्रकार है।

स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रंथों में किंचित् भी परिचय नहीं दिया है। केवल 'बारस अणुवेक्खा' (द्वादशानुप्रेक्षा) की अंतिम गाथा में उन्होंने अपने नाम (कुन्दकुन्द) का उल्लेख किया है-

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाहं।।

(गाथा ९१)

(इस मुनि कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहारनय से जो कथन किया, उसका जो शुद्ध मन से भावना करता है, वह परमपद निर्वाण को प्राप्त करता है।)

इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द ने अपने बोधपाहुड (बोधप्राभृत) नामक ग्रन्थ की अंतिम दो गाथाओं में अपने को भद्रबाहु का गमक शिष्य बतलाते हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु की जयकार की है अर्थात् उन्हें सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है-

सद्दपियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो जह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स।।
बारस अंग वियाणं चउदसपुव्वंगविउल वित्थरणं।
सयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भवपओ जयउ।।

(गाथा ६०-६१)

इस प्रकार कुन्दकुन्द साहित्य के अनुशीलन से केवल इतना ही पता चलता है कि ग्रंथकार का नाम कुन्दकुन्द था और श्रुतकेवली भद्रबाहु उनके गमक गुरु थे।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों के प्रमुख दो संस्कृत टीकाकारों अमृतचंद्र सूरि और जयसेनाचार्य में से अमृतचंद्रसूरि ने उनके विषय में लेशमात्र भी परिचय नहीं दिया है। अमृतचंद्रसूरि द्वारा ग्रंथकार का नामोल्लेख तक न किया जाना अपने आप में कम आश्चर्यजनक नहीं है। जयसेनाचार्य ने अवश्य समयसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में ग्रंथकार का नाम पद्मनन्दि उल्लिखित किया है-

जयउ रिसिपउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स।।

(अंतिम पद्य)

(वे श्री पद्मनंदि उत्कृष्ट हैं, जिन्होंने महातत्त्वों का विवेचन करने वाले प्राभृत (समयप्राभृत)

रूपी पर्वत को अपनी बुद्धि से उद्धार करके भव्य जीवों के लिए समर्पित कर दिया।) जयसेनाचार्य ने पंचत्थिकाय (पंचास्तिकाय) की टीका में उन्हें कुमारनंदि सिद्धांत-देव का शिष्य कहा है तब कुन्दकुन्द का ही अपरनाम पद्मनंदि बताया है-

'अथश्री कुमारनन्दिसिद्धान्तरदेवाशिष्यैः.... कुण्डकुण्डाचार्यदेवैः
पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैः... विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे...।'

इस प्रकार टीकाकार जयसेनाचार्य के अनुसार कुन्दकुन्द के पद्मनन्दि आदि अपर नाम थे और वे श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। जयसेनाचार्य ने अपनी टीका के इसी स्थल में लिखा है कि प्रसिद्ध कथा के अनुसार कुन्दकुन्द ने पूर्व विदेह को जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्रीमंदर स्वामी से दिव्यध्वनि को सुना था एवं आत्मतत्त्व का सार समझकर वे वापिस लौट आये थे। उन्होंने महाराज शिवकुमार आदि शिष्यों के बोधनार्थ पंचत्थिकाय (पंचास्तिकाय) की रचना की थी।

श्रुतावतार नामक ग्रन्थ में इन्द्रनन्दि ने लिखा है कि षट्खण्डागम और कषायपाहुड (कषायप्राभृत) नामक सिद्धान्तग्रन्थ कुन्दकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुए थे तथा उन्होंने षट्खण्डागम के प्रारम्भिक तीन खण्डों पर १२००० श्लोक परिणाम परिकर्म ग्रन्थ की रचना की थी-

एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।
गुरूपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे।।
श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यन्निखण्डास्य।।

(१६०-१६१)

'दर्शनसार' के रचयिता देवसेनाचार्य ने कुन्दकुन्दाचार्य को विदेहगमन सम्बन्धी घटना की ओर संकेत करते हुए उनकी प्रशंसा में निम्नलिखित गाथा लिखी है-

जइ पउमणंदिणाहो सीमन्धरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहा सुमग्गं पयाणंति।।

(गाथा ४३)

(पद्मनन्दि स्वामी सीमन्धर (श्रीमन्दर) स्वामी से दिव्यज्ञान को प्राप्त कर यदि श्रमणों को

ज्ञान प्रदान न करते तो वे सुमार्ग पर कैसे चलते?) पण्डित आशाधरजी ने सागारधर्मामृत के एक श्लोक और उसकी स्वोपज्ञ टीका में कौण्डेश (सम्भवत: कुन्दकुन्द) को पूर्वजन्म में ग्रामकूट का पुत्र और उसके पूर्व गोविन्द नामक ग्वाला बताया है।)

'कौण्डेशः पुस्तकाचार्यावितरणविधिनाऽप्यागमाम्भोधिपारम्।।'

स्वोपज्ञ टीका- 'तथा कौण्डेशोऽपि गोविन्दाख्यगोपालचरो ग्रामकूटपुत: सन् कौण्डेशो नाम मुनिश्च' (श्लोक ७० एवं स्वोपज्ञ टीका) इसी प्रकार ब्रह्म नेमिदत्त ने भी 'आराधनाकथाकोश' में इसी तरह की कथा का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार कुण्डेश (कुन्दकुन्द) के पूर्वजन्म की परम्परा इस प्रकार है-

गोविन्दग्वाला- ग्राम प्रधान का पुत्र - कुण्डेश (कुन्दकुन्द), उक्त दो समान उल्लेखों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार की कथा का सुदीर्घकाल पहले प्रचलन रहा है।

एक अन्य कथा का पता ज्ञानप्रबोध ग्रन्थ से चलता है। इस कथा के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य वारांपुर के राजा कुमुदचन्द्र के राज्य में रहने वाले कुन्दश्रेष्ठी और कुन्दलता के पुत्र थे। ११ वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने मुनिदीक्षा धारण कर ली थी। ३३ वर्ष मुनि पद पर रहे। ४४ वर्ष की आयु में उन्होंने आचार्य पद को सुशोभित किया। ५१ वर्ष साढ़े १० माह वे इस पद पर आसीन रहे और अन्त में ९५ वर्ष साढ़े १० माह की अवस्था में उनकी समाधि हो गई।

डॉ. हार्नले ने विभिन्न शिलालेखों के आधार पर लिखे गए दिगम्बर पट्टावली विषयक अपने लेख में कुन्दकुन्दाचार्य के पाँच नामों का उल्लेख किया है। पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ, वक्रग्रीव और एलाचार्य। 'अभिधानराजेन्द्रकोश' में भी कुन्दकुन्दाचार्य के पाँच नाम स्वीकार किये गये हैं। किन्तु वहाँ पद्मनन्दि के स्थान पर मदननन्दि नाम आया है। वर्णन इस प्रकार है- 'कुन्दकुन्द: स्वनामख्यातो दिगम्बराचार्य:, भद्रबाहुर्गुप्तिगुप्तो माघनन्दिर्जिनचन्द्र:, कुन्दकुन्दाचार्य इति पट्टावाल्यां शिष्यपरम्परा, अयमाचार्यो वि.स. ४९ वर्षे वर्तमान आसीत्। अस्यैव वक्रग्रीव:, एलाचार्य:, गृद्धपिच्छ:, मदननन्दि दिव्यपराणि नामानि।' षट्प्राभृत की श्रुतसागरी टीका में तथा अन्यत्र श्री कुन्दकुन्द के उक्त नामों का उल्लेख मिलता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का वास्तविक नाम

यहाँ पर विचारणीय है कि 'बारस अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) में ग्रन्थकार ने अपना उल्लेख

कुन्दकुन्द नाम से किया है और इसी नाम से आज भी उनकी प्रसिद्धि है। किन्तु कुन्दकुन्द साहित्य के प्रसिद्ध टीकाकार जयसेनाचार्य ने उनका उल्लेख पद्मनन्दि नाम से किया है। श्रुतावतार के रचयिता इन्द्रनन्दि एवं दर्शनसार के रचयिता देवसेनाचार्य के उल्लेख में भी उनका नाम पद्मनन्दि होने का ही संकेत है। इसका सीधा समाधान यही है कि उनका वास्तविक नाम पद्मनन्दि ही रहा होगा। कौण्डकुण्ड ग्राम के निवासी होने से वे कौण्डकुण्ड (कुन्दकुन्द) पद्मनन्दि के नाम से जाने जाते रहे। कालान्तर में वे अपने जीवन-काल में ही कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्ध हो गये होंगे। इसी कारण उन्होंने अपना उल्लेख 'बारस अणुवेक्खा' में पद्मनन्दि नाम से न करके कुन्दकुन्द नाम से किया है। आज भी दक्षिण भारत में कहीं-कहीं अपने नाम के पूर्व ग्राम के नाम लिखने की परम्परा विद्यमान है। हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के नाम में सर्वपल्ली उनके ग्राम का ही नाम उल्लिखित है। अब रही शेष वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ नामों का विचार। ये तीनों ही नाम चिन्त्य हैं।

यद्यपि वक्रग्रीव का नाम विभिन्न दक्षिण भारतीय शिलालेखों में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य के लिये नहीं। श्रवणवेलगुल के एक शिलालेख में कौण्डकुन्द- समन्तभद्र और तत्पश्चात् वक्रग्रीव का नाम आया है। वहाँ वक्रग्रीव मुनि की अत्यन्त प्रशंसा की गई है और उन्हें महान् बताया गया। अन्य १२वीं शताब्दी के शिलालेखों में भी वक्रग्रीव का नाम आया है, किन्तु किसी भी उल्लेख से कुन्दकुन्द और वक्रग्रीव की एकता सिद्ध नहीं होती है।

११०० ई. के आसपास उत्कीर्ण एक शिलालेख में एलाचार्य नाम का उल्लेख हुआ है। इन्द्रनन्दि ने भी श्रुतावतार में सिद्धान्तशास्त्रों के ज्ञाता चित्रकूटवासी एलाचार्य का उल्लेख किया है, किन्तु ये धवला और जयधवला के रचयिता आचार्य वीरसेन के गुरु हैं। कुन्दकुन्द के समय से भी इन एलाचार्य की एकता मानना सर्वथा भ्रान्त प्रमाणाभाव में कुन्दकुन्द का नाम एलाचार्य मानना उचित प्रतीत नहीं होता है।

अब रही गृद्धपिच्छ की बात, सो यह नाम विभिन्न शिलालेखों एवं ग्रन्थों में 'तत्त्वार्थसूत्र' के रचयिता उमास्वामी के लिए प्रयुक्त हुआ है। कुन्दकुन्द के गृद्धपिच्छ नाम मानने में एक किंवदन्ती कारण जान पड़ती है, जिसके अनुसार विदेहक्षेत्र जाते समय आकाशमार्ग से कुन्दकुन्द का मयूरपिच्छ नीचे गिर गया था। बाद में उन्होंने मयूरपिच्छ के न मिलने पर गृद्धपिच्छ धारण कर लिया था। सामान्यत: जैनमुनि मयूरपिच्छ धारण करते हैं, किन्तु किंवदन्ती के अनुसार उन्होंने गृद्धपिच्छ धारण

कर लिया था, अत: वे गृद्धपिच्छ नाम से प्रसिद्ध हो गये। किंवदन्ती में कोई दम नहीं है और कल्पित जान पड़ती है क्योंकि **शास्त्रीय मान्यता के अनुसार प्रमत्तसंयत मुनि औदारिक शरीर से दूसरे क्षेत्र में गमन नहीं कर सकता है।** केवल जिनभगवान् के दर्शनार्थ वह आहारक शरीर से ही दूसरे क्षेत्र में गमन कर सकता है। कुन्दकुन्द के आहारक शरीर होने का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। अत: कुन्दकुन्द की विदेह गमन विषयक घटना ही अविश्वसनीय होने से उस पर आश्रित गृद्धपिच्छ नामकरण भी कल्पित जान पड़ता है।

'अभिधानराजेन्द्रकोश' में जो मदननन्दि नाम का उल्लेख हुआ है, वह संभवत: भ्रान्तिवश पद्मनन्दि की जगह लिखा गया है, क्योंकि इस नाम का अन्यत्र कहीं भी उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं हुआ है।

आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु एवं माता-पिता

दूसरा विचारणीय प्रश्न कुन्दकुन्दाचार्य के गुरु के नाम का है। 'बोधपाहुड' में कुन्दकुन्द ने अपने गुरु का नाम भद्रबाहु बताते हुए उन्हें सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है। जबकि समयसार के संस्कृत टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द (अपरनाम पद्मनन्दि) को श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव का शिष्य कहा है। नन्दिसंघ की पट्टावली से पता चलता है कि कुन्दकुन्दाचार्य के गुरु का नाम जिनचन्द्र था।

भद्रबाहु को कुन्दकुन्दाचार्य ने अपना गमक गुरु कहा है। गमक के अनेक अर्थ संभव हैं, किन्तु यहाँ गमक शब्द का प्रयोग परम्परा के अर्थ में जान पड़ता है। इस प्रकार भद्रबाहु को कुन्दकुन्दाचार्य का परम्परा गुरु माना जा सकता है। आज भी साधुओं में अपनी परम्परा (आम्नाय) विशेष से सम्बन्ध मानने की परम्परा विद्यमान है। अब प्रश्न है कि कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव और जिनचन्द्र में से इनका साक्षात् गुरु कौन है? मथुरा से प्राप्त एक शिलालेख में कुमारनन्दि का नामनिर्देश हुआ है। वहाँ इन्हें उच्चनागर शाखा का बताया है। किन्तु कुन्दकुन्द का उच्चनागर शाखा से सम्बन्ध होने की कोई जानकारी नहीं मिलती है। अन्यत्र कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव का नामोल्लेख नहीं मिलता है। अत: प्रमाण भाव में कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव को कुन्दकुन्दाचार्य का गुरु नहीं माना जा सकता है। नन्दिसंघ की पट्टावली में क्रमश: माघनन्दि, जिनचन्द्र और कुन्दकुन्द का उल्लेख हुआ है। यदि इस पट्टावली के उल्लेख को प्रमाणिक मान लिया जाय तो कुन्दकुन्दाचार्य के गुरु का नाम जिनचन्द्र और परमगुरु (गुरु के गुरु) का नाम माघनन्दि सिद्ध होता है, किन्तु इस पट्टावली

को प्रमाणिक स्वीकार करने के लिए अभी तक पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं। अतएव उनके साक्षात् गुरु का नाम विवादास्पद ही है। भद्रबाहु को परम्परा गुरु स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि विभिन्न शिलालेख एवं अन्य प्रमाणों से इस बात की सिद्धि होती है कि महाराजा चन्द्रगुप्त के साथ भद्रबाहु उत्तर भारत में पड़े अकाल के समय दक्षिण भारत की ओर चले गये थे तथा उन्होंने वहीं रहकर श्रवणबेलगुल में समाधिमरणपूर्वक प्राण त्याग किए थे। अत: दक्षिण भारत में उनकी परम्परा चल पड़ी होगी। दक्षिण भारत के निवासी होने से कुन्दकुन्द भी उसी परम्परा के माने जा सकते हैं।

ज्ञानप्रबोध नामक ग्रन्थ में प्रदत्त कथानक के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य के पिता का नाम कुन्दश्रेष्ठी और माता का नाम कुन्दलता था। ये वारांपुर के राजा कुमुदचन्द्र के राज्य में निवास करते थे। किन्तु यह कथानक कविकल्पनाप्रसूत मालूम पड़ता है। कुन्दश्रेष्ठी तथा कुन्दलता के साथ कुन्दकुन्द का आनुप्रासिक सम्बन्ध बनाने के लिए संभवत: कवि ने ऐसा किया हो। जम्बूद्वीपण्णत्ती (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति) के प्रणेता का नाम पद्मनन्दि था और वे वारांपुर के निवासी थे। इसी आधार पर ज्ञानप्रबोध में कुन्दकुन्द (अपरनाम पद्मनन्दि) को भी वारांपुर का निवासी बताया गया है। दोनों पद्मनन्दि नामक विद्वानों को अभिन्न मानने के कारण ज्ञानप्रबोधकार ने विदेहगमन की घटना को भी पद्मनन्दि के साथ जोड़ दिया है। अत: 'ज्ञानप्रबोध' का कथन प्रामाणिक नहीं है।

कुन्दकुन्द का जन्मस्थान

जैसा कि संकेत किया जा चुका है कि पद्मनन्दि मुनि कौण्डकुण्डपुर के निवासी थे और इसी आधार पर वे कौण्डकुण्ड- कुण्डकुण्ड- कुन्दकुन्द (कौण्डकुण्ड या कुण्डकुण्ड का मधुर उच्चारण) के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इन्द्रनन्दि आचार्य का 'श्रुतावतार' में किया गया उल्लेख भी इस बात का समर्थन करता है। श्री पी.बी. देसाई 'जैनीष्म इन साउथ इंडिया' में गुण्टकल रेलवे स्टेशन से लगभग ४ मील की दूरी पर अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके के कोनकुण्डल नामक स्थान का विवरण दिया है। स्वयं देखने पर श्री देसाई ने इसे अत्यंत प्राचीन बताते हुए विभिन्न शिलालेखों के आधार पर कोनकुण्डल का प्राचीन नाम कोण्डकुण्डे स्वीकार किया है। इस नगर में प्राप्त प्रस्तरलेखों में भग्नाक्षरों में पद्मनन्दि नाम भी पढ़ने में आता है। कन्नड़ भाषा में 'कुण्ड' शब्द का अर्थ 'पर्वत' है। स्थान विशेष के लिए प्रयुक्त होने पर कुण्ड का अर्थ 'पहाड़ी घर' होता है।

कोनकुण्डल ग्राम आज भी पर्वतशृंखलाओं से परिवृत्त है। अत: कुण्डकुण्ड (कौण्डकुण्ड या कौण्डकुण्डे) नामक प्राचीन ग्राम के साथ इसकी अभिन्नता स्वीकार करने में कोई परेशानी नहीं है। यह आन्ध्रप्रदेश में कर्णाटक और आन्ध्रप्रदेश के सीमाप्राप्त पर स्थित है।' श्री देसाई के इस मत में पर्याप्त बल है। इस प्रकार कोनकुण्डल नामक ग्राम कुन्दकुन्दाचार्य का जन्मस्थान माना जा सकता है। श्री पं. कैलाशचन्द्र ने भी श्री देसाई के इस मत का समर्थन किया है।

कुन्दकुन्द के विषय में प्रचलित अनुश्रुतियाँ

आचार्य कुन्दकुन्द के विषय में अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। विन्ध्यगिरि के एक शिलालेख के अनुसार उनके विषय में प्रसिद्धि है कि वे चारणऋद्धिधारक अतिशय ज्ञानसम्पन्न तपस्वी थे। चारणऋद्धि के प्रभाव से वे पृथ्वी के चार अङ्गुल ऊपर गमन करते थे। इनके अतिरिक्त कुन्दकुन्द के जीवन में घटित दो घटनाओं का प्रमुख रूप से उल्लेख मिलता है- (१) विदेहगमन और (२) गिरनार पर्वत पर दिगम्बर-श्वेताम्बर विवाद।

(१) विदेहगमन- विदेहगमन विषयक घटना का सर्वप्रथम उल्लेख देवसेन कृत 'दर्शनसार' में मिलता है। देवसेन ने दर्शनसार की रचना ईसा की ९-१०वीं शताब्दी में की थी। अत: अन्य अभिलेखीय एवं ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने पर भी इसकी प्राचीनता विश्वस्त है। इसके बाद जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में 'प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्व वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वानन्मुखकमलविनिर्गत-दिव्यवाणी श्रवणावधारितपदार्थच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा...' (पंचास्तिकाय टीका) कहकर उनकी विदेहगमन विषयक घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने इस घटना को 'प्रसिद्धकथान्यायेन' बतलाया है, जिससे पता चलता है कि उनके समय में यह घटना अत्यन्त प्रसिद्ध थी। टीकाकार जयसेनाचार्य का समय ईसा की १२वीं शताब्दी माना जाता है। इसके बाद १५-१६वीं शताब्दी वे षट्प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने तथा पश्चाद्वर्ती अन्य विद्वानों ने भी इस घटना का उल्लेख किया है। शुभचन्द्र (१५१६-१५५६ ई.) की पट्टावली में भी इसका उल्लेख है। उक्त उल्लेखों के आधार पर यह प्रसिद्ध है कि कुन्दकुन्दाचार्य विदेह क्षेत्र गये थे और वहाँ समवसरण में विराजमान तीर्थंकर श्रीमंदर (सीमंधर) स्वामी से उन्होंने दिव्यध्वनि का श्रवण किया था। सामान्यत: यह नियम है कि कोई भी प्रमत्तसंयत मुनि अपने औदारिक शरीर से दूसरे क्षेत्र में नहीं जा सकता है। आहारक

शरीरधारी मुनि के लिए असंयम के निवारणार्थ यह नियम लागू नहीं होता है। किन्तु इस तरह का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है कि कुन्दकुन्दाचार्य आहारक शरीरधारी थे। अत: कथा की विश्वसनीयता में सन्देह होने पर भी इसकी प्रचीनता असंदिग्ध है।

(२) गिरनारविवाद- शुभचन्द्राचार्य ने पाण्डवपुराण में गिरनार पर्वत पर दिगम्बर और श्वेताम्बरों के विवाद का उल्लेख करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य का स्मरण इस प्रकार किया है-

कुन्दकुन्दगणी येनोर्जयन्तगिरिमस्तके।
सोऽवतात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ।।

(पूर्वप्रशस्ति)

(वे कुन्दकुन्द गणी रक्षा करें, जिन्होंने कलियुग में ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर पाषाण से बनी हुई ब्राह्मी देवी को भी बुलवा दिया।) इसी प्रकार शुभचन्द्राचार्य की गुर्वावली में भी उल्लेख हुआ है। कवि वृन्दावन ने इस घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा कि एक बार कुन्दकुन्दाचार्य ससंघ गिरनार पर्वत गये। वहाँ पर श्वेताम्बरों से उनका विवाद हो गया। दिगम्बर और श्वेताम्बरों ने अंबिका नामक देवी को अपना मध्यस्थ बनाया। देवी ने प्रकट होकर दिगम्बरों का समर्थन किया। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही के ग्रन्थों में यद्यपि गिरनार पर्वत पर विवाद होने के विवरण मिलते हैं। किन्तु कुन्दकुन्द के समय में कभी इस प्रकार के विवाद होने का उल्लेख नहीं मिलता है। शुभचन्द्र की गुर्वावली के अन्तिम श्लोकों में बलात्करगण के प्रधान पद्मनन्दि मुनि को नमस्कार करते हुए कहा गया है कि उन्होंने ऊर्जयन्त पर्वत पर सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था। ऐसा लगता है कि शुभचन्द्राचार्य ने भी कुन्दकुन्द- पद्मनन्दि और बलात्कारगणीय पद्मनन्दि को भ्रान्तिवश एक समझ लिया और इस घटना का उल्लेख कर दिया है। पश्चाद्वर्ती कवि भी उसे लिखते रहे।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में प्रचलित दोनों ही अनुश्रुतियाँ- विदेहगमन और गिरनार विवाद सत्य प्रतीत नहीं होते हैं। फिर भी विदेहगमन विषयक अनुश्रुति के प्राचीन उल्लेख होने के कारण वह चिन्त्य है।

कुन्दकुन्द का समय

अन्त: साक्ष्यों के अभाव में आचार्य कुन्दकुन्द के समय का अब तक निर्विवाद अवधारण

नहीं हो सका। अद्यावधि आचार्य कुन्दकुन्द के समय के विषय में श्री नाथूराम प्रेमी, श्री जुगलकिशोर, डॉ. के.बी. पाठक, प्रो. ए. चक्रवर्ती, डॉ. ए.एन. उपाध्ये, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि विद्वानों ने विचार-विमर्श किया है। यहाँ पर इन इतिहासवेत्ताओं के मतों का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

(१) **श्री नाथूराम प्रेमी-** श्री प्रेमीजी ने इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के आधार पर विभिन्न आचार्यों की परम्परा को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि वी.नि.सं. ६८३ (१५६ ई.) के बाद ही कुन्दकुन्दाचार्य हुए हैं। श्री प्रेमीजी ने गिरनार पर कुन्दकुन्द के साथ श्वेताम्बरों के विवाद की घटना को सत्य मानते हुए श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय के भेद को ईसा की तृतीय शताब्दी के प्रारम्भ में स्वीकार किया है। इस आधार पर वे कुन्दकुन्द का समय ईसा की तृतीय शताब्दी मानते हैं। उनके मतानुसार १५६ ई. के पूर्व तो किसी भी परिस्थिति में कुन्दकुन्द को विद्यमान नहीं माना जा सकता है।

(२) **श्री जुगलकिशोर मुख्तार-** श्री मुख्तारजी ने स्वयं कुन्दकुन्द द्वारा निर्दिष्ट अपने गुरु भद्रबाहु को द्वितीय भद्रबाहु स्वीकार करते हुए कुन्दकुन्द का समय वी.नि.सं. ६०८-६९२ (८१-१६५ ई.) माना है।

(३) **डॉ. के.बी. पाठक-** डॉ. पाठक ने कुन्दकुन्दाचार्य के समय पर विभिन्न ऊहापोह करते हुए कुन्दकुन्द का समय शक.सं. ४५० (५२८ ई.) माना गया है। उन्होंने जयसेनाचार्य द्वारा पंचास्तिकाय की संस्कृत टीका में तथा बालचन्द्र द्वारा कन्नड़ी टीका में निर्दिष्ट कुन्दकुन्द के समकालीन शिवकुमार महाराज को कदम्ब राजवंशी शिवमृगेश वर्मा से अभिन्न माना है। शिवमृगेश वर्मा के समय को शक.सं. ४५० (५२८ ई.) के आसपास मानते हुए उन्होंने कुन्दकुन्द के समय को भी इसी के लगभग स्वीकार किया है।

(४) **प्रो. ए. चक्रवर्ती-** प्रो. चक्रवर्ती ने कुन्दकुन्द का जन्म ई.पू. ५२ में तथा आचार्यपद की प्राप्ति ई.पू. ८ में स्वीकार की है। उन्होंने शिवकुमार महाराज को शिवमृगेश वर्मा से भिन्न मानकर पल्लववंशी शिवस्कन्ध को शिवकुमार माना है, क्योंकि स्कन्ध शब्द का पर्यायवाची कुमार है और इस तरह के प्रयोग अन्यत्र भी देखने को मिलते हैं।

(५) **डॉ. ए.एन. उपाध्ये-** डॉ. उपाध्येय ने कुन्दकुन्द की स्थिति दिगम्बर-श्वेताम्बर संघभेद के बाद मानी है, क्योंकि कुन्दकुन्द ने स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है। वे डॉ. पाठक के इस मत

को संभाव्य मानते हैं कि शिवकुमार महाराज पल्लववंशीय शिवस्कन्द हैं। इस प्रकार उन्होंने कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी अनुमित किया है।

(६) डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन- ज्योतिप्रसाद जी ने 'Jaina Sources of the History of Ancient India' में कुन्दकुन्द के समय विषयक विभिन्न मतों पर विचार करते हुए कुन्दकुन्द का समय ८ ई.पू. ४४ ई. के मध्य स्वीकार किया है।

(७) सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री- श्री शास्त्रीजी ने विभिन्न मत-मतान्तरों पर विचार करने के बाद ईसा की द्वितीय शताब्दी का समय निश्चित किया है।

(८) तिलोयपण्णत्ति में भगवान् महावीर की पश्चात्कालीन आचार्य परम्परा दी गई है, जो इस प्रकार है-

तीन केवलज्ञानी :	गौतम गणधर	१२ वर्ष	
	सुधर्मा स्वामी	१२ वर्ष	
	जम्बू स्वामी	३८ वर्ष	कुल ६२ वर्ष
पाँच श्रुतकेवली :	विष्णुनन्दि	१४ वर्ष	
	नन्दिमित्र	१६ वर्ष	
	अपराजित	२२ वर्ष	
	गोवर्धन	१९ वर्ष	
	भद्रबाहु	२९ वर्ष	कुल १०० वर्ष
११ अंक १० पूर्व के धारी :			कुल १८३ वर्ष
पाँच एकादेशधारी :			कुल २२० वर्ष
चार आचारांग के धारी :			कुल ११८ वर्ष
			६८३ वर्ष

प्रो. हार्नले ने विभिन्न शास्त्रों, पट्टावलियों एवं अन्य पुरातात्त्विक सामग्री का अध्ययन-अनुसन्धान करके आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म समय ई.पू. १०८ निर्धारित किया है। नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द ने ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की दीर्घायु पाई थी। उन्होंने ११

वर्ष की आयु में दीक्षा धारण की एवं ३३ वर्ष तक मुनिपद पर आसीन रहे। तदनन्दर ४४ वर्ष की आयु में आचार्य पद पर विराजमान हुए। ५१ वर्ष १०.५ माह तक वे इस पद को सुशोभित करते रहे और अन्त में १२-१३ ई.पू. में समाधिमरण किया। इस प्रकार अद्यावधि आचार्य कुन्दकुन्द को दिवंगत हुए दो हजार वर्ष से अधिक हो चुके हैं।

कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत ग्रन्थ

विपुल साहित्य निर्माण की दृष्टि से न केवल प्राकृत भाषा में ही, अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में कुन्दकुन्दाचार्य अग्रणी हैं। कुन्दकुन्द ने अध्यात्म–विषयक और तत्त्वज्ञान–विषयक दोनों प्रकार के साहित्य की रचना की है। निम्नलिखित ग्रन्थ निर्विवादरूप से कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत माने जाते हैं-

पवयणसार, समयसार, पंचत्थिकाय, णियमसार, बारस अणुवेक्खा, दंसणपाहुण, चारित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिंगपाहुड, सिद्धभत्ति, सुदभत्ति, चरित्तभत्ति, जोइभत्ति, अयरियभत्ति, णिव्वाणभत्ति, पंचगुरुभत्ति और तित्थयरभत्ति।

(१) पवयणसार (प्रवचनसार)- यह ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र तीन अधिकारों में विभक्त है। ज्ञानाधिकार में आत्मा, सर्वज्ञ, अतीन्द्रि सुख, शुद्धोपयोग मोहक्षय आदि का वर्णन है। ज्ञेयाधिकार में द्रव्य–गुण–पर्याय का स्वरूप, जीव का स्वरूप, पुद्गल और जीव का सम्बन्ध एवं निश्चय और व्यवहारनय के अविरोधी होने का वर्णन है। चारित्राधिकार में श्रमणधर्म के लक्षण, आगमज्ञान का लक्षण, मोक्षतत्त्व आदि का विवेचन है। पवयणसार में अमृतचन्द्र की टीकानुसार २७५ और जयसेन की टीकानुसार ३१७ गाथाएँ हैं।

(२) समयसार या समयपाहुड (समयप्राभृत)- कुन्दकुन्द साहित्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। यह १० अधिकारों में विभक्त है। इसमें अमृतचन्द्र की टीकानुसार ४१५ और जयसेन की टीकानुसार ४३९ गाथाएँ हैं। इसमें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नव-पदार्थों का विवेचन हुआ है।

(३) पंचत्थिकाय (पंचास्तिकाय)- यह दो अधिकारों में विभक्त है। इसमें पाँच अस्तिकायों- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश का वर्णन हुआ है। अमृतचन्द्र की टीकानुसार इस ग्रन्थ में १७३ और जयसेनाचार्य के अनुसार १८१ गाथाएँ हैं। द्रव्य के स्वरूप ज्ञान के लिए

इसका अप्रतिम महत्त्व है।

(४) णियमसार (नियमसार)- यह १२ अधिकारों में विभक्त है। इस पर पद्मप्रभमलधारिदेव की संस्कृत टीका मिलती है। इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षप्राप्ति का उपाय प्रतिपादित किया गया है। आर्यिका ज्ञानमतीकृत संस्कृतटीका आधुनिक है।

(५) बारस अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)- ८१ गाथात्मक इस ग्रन्थ में अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ नामक द्वादश भावनाओं का सुन्दर विवेचन हुआ है।

(६) दंसणपाहुण (दर्शनप्राभृत)- ३६ गाथात्मक इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन को अधिक प्रधान माना गया है।

(७) चरित्तपाहुड (चारित्रप्राभृत)- ४४ गाथात्मक इस ग्रन्थ में सम्यक्चारित्र की विवेचना की गई है। संक्षेप में गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म का भी वर्णन हुआ है।

(८) सुत्तपाहुड (सूत्रप्राभृत)- सूत्र शब्द का अर्थ है आगम। २७ गाथात्मक इस ग्रन्थ में सूत्र (आगम) का माहात्म्य बतलाते हुए आगम निर्दिष्ट मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है।

(९) बोधपाहुड (बोधप्राभृत)- ६२ गाथात्मक इस ग्रंथ में आयतन, चैत्यगृह, प्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव अर्हन्त और प्रव्रज्या आदि बातों का आगमानुसार बोध कराया गया है।

(१०) भावपाहुड (भावप्राभृत)- चित्तशुद्धि की महत्ता का ज्ञापक १६३ गाथात्मक यह ग्रन्थ अनेक महत्त्वपूर्ण बातों से भरा हुआ है। इसमें कहा गया है कि भावों की शुद्धि के बिना धारण किया गया दिगम्बर रूप भी व्यर्थ है।

(११) मोक्खपाहुड (मोक्षप्राभृत)- १०६ गाथात्मक इस ग्रन्थ में आत्मा एवं मुक्तिप्राप्ति के उपायों का निर्देश किया गया है। दंसणपाहुड से लेकर मोक्खपाहुड तक ६ प्राभृतों पर श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका उपलब्ध है।

(१२) लिंगपाहुड (लिङ्पाहुड)- २२ गाथात्मक इस प्राभृत ग्रन्थ में जैन साधु के लिए निषिद्ध आचारों और उनके फलों का वर्णन किया गया है।

(१३) सीलपाहुड (शीलप्राभृत)- ४० गाथा वाले इस ग्रंथ में शील का महत्व बतलाते हुए शील

के परिवार-दया, इन्द्रियजय, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप का वर्णन किया गया है।

(१४) सिद्धभत्ति - १२ गाथाओं वाले इस लघु ग्रंथ में सिद्ध के गुण, सुख, स्थान, आकार आदि का निरूपण किया गया है।

(१५) सुदभक्ति (श्रुतभक्ति)- भक्तिप्रधान ११ गाथात्मक इस ग्रन्थ में आचारांग आदि द्वादश अंगों का सप्रभेद उल्लेख किया गया है।

(१६) चारितभत्ति (चारित्रभक्ति)- १० अनुष्टुप् वृत्तात्मक इस भक्तिपाठ में सामायिक आदि पाँच चारित्रों, अहिंसा आदि २८ मूलगुणों और १० धर्म, ३ गुप्ति आदि की सिद्धि को मुक्ति का साधन बताया गया है।

(१७) जोइभत्ति (योगिभक्ति)- २३ गाथात्मक इस भक्तिपाठ में योगियों की ऋद्धि-सिद्धि एवं गुणों का वर्णन करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है।

(१८) आयरियभत्ति (आचार्यभक्ति)- उसमें १० गाथाएँ हैं, जिनमें आचार्य के गुणों की स्तुति करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है।

(१९) णिव्वाणभत्ति (निर्वाणभक्ति)- इस भक्तिपाठ में २७ गाथाएँ हैं। इसमें तीर्थंकरों एवं पुण्यात्माओं के निर्वाणस्थलों और कुछ अतिशयक्षेत्रों की नामोल्लेखपूर्वक वंदना की गई है।

(२०) पंचगुरुभत्ति (पंचगुरुभक्ति)- इस भक्तिपाठ में ६ गाथाएँ हैं। प्रारम्भिक पाँच गाथाओं में क्रमश: अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों की वन्दना की गई है तथा अन्तिम गाथा में इसका फल निर्देश किया गया है।

(२१) तित्थयरभत्ति (तीर्थंकरभक्ति)- इस ८ गाथात्मक स्तुतिपाठ में नामोल्लेखपूर्वक चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। इसकी प्रारम्भिक गाथा 'थोस्सामि' पद से प्रारम्भ होती है, अत: इसका उल्लेख 'थोस्सामि भत्ति' नाम से भी मिलता है।

इस प्रकार ये २१ कुन्दकुन्द की प्रामाणिक कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त रयणसार (रत्नसार) भी कुन्दकुन्द कृत ही माना जाता है। किन्तु भाषाशैली आदि में अन्तर होने से कुछ विद्वान् इसके कुन्दकुन्दप्रणीत होने में संदेहास्पद स्थिति में हैं। इसमें १६७ अथवा १५५ पद्य मिलते हैं, जिनमें रत्नत्रय- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन है। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने प्रवचनसार की प्रस्तावना में ४३– और कुन्दकुन्दप्रणीत कहे जाने वाले ग्रन्थों की सूची

दी है, किन्तु ये सभी अनुपलब्ध हैं। ऊपर वर्णित सभी ग्रन्थों में प्रवचनसार, समयसार, नियमसार और पंचास्तिकाय को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। जैनधर्म के तात्त्विक ज्ञान के लिए इन ग्रन्थों का अध्ययन अत्यावश्यक है।

समयसार विचार

नाम- 'वोच्छामि समयपाहुड' समयसार की प्रथम गाथा के इस वाक्य से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत ग्रन्थ का नाम समयपाहुड (समयप्राभृत) कहा है। सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्र सूरि (१०वीं शताब्दी) ने आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में 'नमः समयसाराय' कहकर इस ग्रन्थ का समयसार नाम से उल्लेख किया है। इसके बाद जयसेनाचार्य (१२वीं शताब्दी) ने भी अपनी तात्पर्य-वृत्ति नामक संस्कृत टीका में इसका समयसार नाम से ही उल्लेख किया तथा पश्चाद्वर्ती सभी विद्वान् इसी नाम से इसका उल्लेख करते रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने कुन्दकुन्द के तीन प्रधान ग्रन्थों में से दो- पवयणसार (प्रवचनसार) और णियमसार (नियमसार) के आधार पर समयपाहुड (समयप्राभृत) का भी उल्लेख समयसार नाम से कर दिया है। वस्तुतः इसका नाम 'समयपाहुड' ही है।

समयसार का अर्थ- कुन्दकुन्दाचार्य ने समयपाहुड (समयप्राभृत) या समयसार में जीव या आत्मा को समय कहा है तथा समय के दो भेद किये हैं- स्वसमय और परसमय। दोनों का स्वरूप इस प्रकार कहा है-

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदं तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।।

(गाथा २)

(जो आत्मा या जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित है, उसे स्वसमय और जो पुद्गल कर्मप्रदेशों में स्थित है उसे परसमय जानना चाहिए।) पंचत्थिकाय (पंचास्तिकाय) में कुन्दकुन्द ने 'समवायो पंचण्हं समउत्ति'- (गाथा-३) कहते हुए पाँच अस्तिकायों- जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म एवं अधर्म को समय कहा है तथा समय का पर्याय लोक दिया है। किन्तु समयपाहुड और पंचत्थिकाय के इन उल्लेखों में कोई विरोध नहीं समझना चाहिए, क्योंकि समयसार में जीव की मुख्यता से

जीव को समय कहा गया है और पंचास्तिकाय में पाँच अस्तिकायों का वर्णन होने से उन्हें समय कहा गया है। अमृतचन्द्राचार्य समयसार की टीका में समय पद की व्युत्पत्ति सम् उपसर्ग पूर्वक अप् गतौ धातु से मानते हुए सभी द्रव्यों का समयपदवाच्य माना है- 'समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत: एकीभावेन स्वगुण-पर्याययान् गच्छतीति निरुक्ते:' (आत्मख्याति, गाथा-३)। अमृतचन्द्राचार्य की इस व्युत्पत्ति से कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा समयसार और पंचास्तिकाय में कृत दोनों अर्थ भी घटित हो जाते हैं।

जयसेनाचार्य ने तात्पर्यवृत्ति टीका में 'सम्यग् अय: बोधो यस्य भवति स समय आत्मा' अथवा 'समय एक भावेनायं गमनं समय:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार समय शब्द का अर्थ आत्मा और 'प्राभृतं सारं', सार: शुद्धावस्था' के अनुसार प्राभृत का अर्थ सार एवं सार का अर्थ शुद्धावस्था किया है।

उक्त व्युत्पत्तियों के अनुसार समयप्राभृत या समयसार का अर्थ हुआ आत्मा की शुद्धावस्था अथवा जीवादि पदार्थों का सार प्रतिपादित करने वाला ग्रन्थ। सार का अर्थ शास्त्र भी किया जाता है। इस ग्रन्थ या शास्त्र में आत्मा या जीवादि नवपदार्थों का वर्णन है, अत: इसका नाम समयप्राभृत या समयसार किया गया है।

समयसार का महत्त्व-

अध्यात्म जैन ग्रन्थों में समयसार का अद्वितीय महत्त्व है। प्राय: सभी भारतीय दर्शनों में आत्मा के ऊपर विशेष रूप से विचार हुआ है, क्योंकि धर्म की नींव आत्मा के ऊपर ही टिकी है। परपदार्थों से भिन्न आत्मा के वास्तविक स्वरूप का परिचय कराना ही ग्रन्थकार का इस ग्रन्थ के निर्माण में मूल उद्देश्य रहा है। स्वयं आचार्य ने कहा है-

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।
तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं।।

(गाथा ४-५)

अर्थात् कामभोगों एवं बंध की कहानी श्रुत, परिचित और अनुभूत हैं, अतएव सुलभ हैं। इन परद्रव्यों से भिन्न एकाकी आत्मा के विषय में अपनी सामर्थ्य के अनुसार वर्णन करने का मैं (कुन्दकुन्द) प्रयत्न कर रहा हूँ। यदि मैं सफल हो जाऊँ तो इसे प्रमाण मान लेना और यदि किसी कारणवश अपने उद्देश्य से चूक जाऊँ तो प्रवंचना मत समझना अथवा विपरीत अर्थ को ग्रहण मत करना।

समयसार अध्यात्म–प्रधान आगमिक शास्त्र होने पर भी प्रभुसम्मित उद्देश्य के समान नहीं, अपितु वह स्वानुभूति को प्रधानता देता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं आत्मा की अनुभूति की और श्रुतकेवलियों की परम्परा से प्राप्त ज्ञान को अनुभूति द्वारा परखकर समयसार में प्रस्तुत किया है। शुद्धात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला जैन वाङ्मय में इतना सरल और सहज ज्ञेय ग्रन्थ नहीं है।

प्रमादी श्रमणों की स्पष्ट शब्दों में आलोचना कुन्दकुन्दाचार्य जैसे सशक्त ग्रन्थकार द्वारा ही समयसार में संभव हो सकी है। श्रमणों का जैनधर्म में अत्यन्त महत्त्व है। वे परम्परा से श्रुत की रक्षा करते रहे और आत्मकल्याण भी। अत: उनका प्रमादी होना किसी भी परिस्थिति में क्षम्य नहीं माना जा सकता। कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में प्रमत्त श्रमणों की तीव्र निन्दा की है।

समयसार के आन्तरिक परिशीलन से उसमें वर्णित सांख्य, वेदान्त तथा बौद्धों के शून्यवाद और विज्ञानाद्वैतवाद का भी पता चलता है। यह ग्रन्थ दार्शनिक एवं आध्यात्मिक होने पर भी दृष्टान्तिक शैली में लिखित होने के कारण अत्यन्त रोचक एवं सहजगम्य है।

समयसार में नय व्यवस्था

जैनदर्शन के अनुसार वस्तुज्ञान के दो साधन माने गए हैं– प्रमाण और नय। धर्म और धर्मी के भेद के बिना वस्तु की अखण्ड प्रतीति प्रमाण का विषय है तथा धर्म और धर्मी के भेदपूर्वक वस्तु का ज्ञान नय का विषय है। इस प्रकार नय, प्रमाण का एकदेश है। नय भी दो तरह का होता है– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। दार्शनिक ग्रन्थों में इनके अनेक भेद प्रभेद किये गये हैं। अध्यात्मविषयक ग्रन्थों में विशेष रूप से इनके शुद्ध या निश्चयनय और व्यवहारनय नाम मिलते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में शुद्ध और व्यवहारनय का विवेचन किया है। शुद्ध या निश्चयनय राग–द्वेष रहित चिदानन्दरूप निर्मल आत्मा को अपना विषय बनाता है और व्यवहारनय परपदार्थजन्य

आत्मा की बद्धदशा को अपना विषय बनाता है। अतएव आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय (शुद्ध) नय को भूतार्थ (सत्य) और व्यवहारनय को अभूतार्थ (असत्य) कहा है। अभूतार्थ होने पर भी व्यवहारनय पूर्णतया हेय नहीं है, क्योंकि साधक–अवस्था (अपरमभाव) में स्थित जीव के लिए व्यवहारनय द्वारा ही उपदेश संभव है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है–

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।

(गाथा १२)

अर्थात् परमभावदृष्टाओं के द्वारा शुद्धनय द्वारा तत्त्वकथन करणीय है, किन्तु जो अपरमभाव (साधक अवस्था) में विद्यमान हैं, उनके लिए तो व्यवहारनय का उपदेश ही योग्य है।

प्रमाण के अतिरिक्त नयों का कथन भारतीय दर्शनों में केवल जैनदर्शन में ही मिलता है। यत: वस्तु अनेकात्मक है, अत: वस्तु के अनन्त धर्मों में एक धर्म को ग्रहण करने के लिए नय आवश्यक है। वस्तु के विभिन्न धर्मों में से जब हम किसी एक धर्म का कथन अन्य धर्मों के साथ सापेक्षभाव रखकर करते हैं तब नय सुनय अन्यथा दुर्नय या मिथ्यानय। नयों की व्यवस्था का समयसार में सुन्दर प्रतिपादन हुआ है।

समयसार की टीकायें

(१) अमृतचन्द्रसूरि रचित आत्मख्याति– संस्कृत भाषा में लिखित यह टीका अत्यन्त प्रांजल किन्तु पाण्डित्यपूर्ण शैली में है। टीका में शब्दों के जाल में न फँसकर गाथा के अभिप्राय को प्रकट करने में टीकाकार को पर्याप्त सफलता मिली है। आत्मख्याति नाम्नी इस टीका के अनुसार समयसार में ४१५ गाथायें हैं। टीका गद्यपद्यात्मक है। पद्यों को कलश संज्ञा दी गई है। अमृतचन्द्रसूरि का समय ईसा की १०वीं शताब्दी है।

(२) जयसेनाचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति– संस्कृत भाषा में लिखित इस टीका में अत्यन्त सरल भाषा में समयसार का हृदय खोल दिया गया है। अध्यात्मग्रन्थों में वस्तुत: ऐसी ही सरल एवं स्पष्ट टीकाओं का प्रयोग होना चाहिए। अमृतचन्द्रसूरि की तरह जयसेनाचार्य ने पाण्डित्यप्रदर्शन बिल्कुल नहीं किया है। जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति टीका के अनुसार समयसार में ४३९ गाथायें हैं। अमृतचन्द्रसूरि ने कुछ द्विरुक्त जैसी गाथाओं को संभवत: छोड़ दिया था, जबकि जयसेनाचार्य ने

उन सब पर टीका लिखी है। जयसेन का समय ईसा की १२वीं शताब्दी है।

उक्त दो प्रसिद्ध संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त देश की विभिन्न भाषाओं में समयसार की टीकायें लिखी गईं। हिन्दी भाषा में सर्वप्रथम टीका पं. जयचन्द्रजी छावड़ा ने लिखी। श्री छावड़ा फागई जिला जयपुर (राजस्थान) के निवासी थे। संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं पर इनका अनुपम अधिकार था। इन्होंने अपनी हिन्दी टीकाओं को भाषावचनिका कहा है। समयसार पर भाषावचनिका का निर्माण कार्तिकवदी १० वि.सं. १९६४ (१८०७ ई.) सम्पन्न हुआ था। इस टीका की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी में समयसार पर श्री गणेशप्रसाद वर्णी, श्री मनोहरलाल वर्णी आदि द्वारा लिखित आधुनिक टीकायें भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

समयसार की भाषा

समयसार प्राकृत भाषा में निबद्ध है। विद्वानों ने प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है– (१) 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्' अथवा 'प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्'। अर्थात् साधारणजनों की बोलचाल की भाषा का नाम प्राकृत है और (२) प्रकृतिः संस्कृतं तत आगतं तत्र भवं वा प्राकृतम्।' अर्थात् संस्कृत प्रकृति है तथा उससे जो भाषा उत्पन्न हुई है उसे प्राकृत कहते हैं। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रथम व्युत्पत्ति ही अधिक समीचीन मालूम पड़ती है तथा इस बात को अधिकांश निष्पक्ष विद्वानों ने स्वीकार भी किया है, किन्तु प्राकृत के वैयाकरणों ने प्रायः प्राकृत शब्दों की सिद्धि संस्कृत को प्रकृति मानकर की है, अतः अध्ययन–अध्यापनार्थ द्वितीय व्युत्पत्ति का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विभिन्न विद्वानों ने प्राकृत भाषाओं का वर्गीकरण देशभेद के कारण भिन्न–भिन्न प्रकार से किया है। सर्वप्रथम भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में प्राकृतों का वर्गीकरण किया और उसे ७ भागों में विभक्त किया– शौरसेनी, अर्धमागधी, मागधी, दाक्षिणात्य, प्राच्या, आवन्ती और वाल्हीकी। प्राकृत के सुप्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि ने प्राकृत के ४ भेदों का 'प्राकृत प्रकाश' में विवेचन किया है। वे हैं– महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशची। कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में उक्त चार भेदों के अतिरिक्त चूलिकापैशाची नामक एक प्राकृत को और स्वीकार किया है। संस्कृतसाहित्यशास्त्री विश्वनाथ ने तो प्राकृत के शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी, मागधी, दाक्षिणात्य, प्राच्या, आवन्ती, शाकारी, वाल्हीकी, द्राविडी, आभीरी और चाण्डाली ये १२ भेद माने हैं। डॉ. आर. पिशल ने

कुन्दकुन्दाचार्य के समयसारप्रभृति ग्रन्थों की भाषा की स्थिति पर विचार करते हुए उसे जैनशौरसेनी की संज्ञा दी है। यह भाषा वस्तुत: शौरसेनी की पृष्ठभूमि में विकसित हुई है, किन्तु इसमें श्वेताम्बर जैन आगमों का भाषा अर्धमागधी और संस्कृत का गंभीर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। डॉ. आर. पिशल द्वारा प्रस्तुत 'जैन शौरसेनी' नाम का डॉ. ए.एन. उपाध्ये प्रभृति आधुनिक विद्वानों ने भी समर्थन किया है। कुन्दकुन्द की प्राकृत के लिए इससे उपयुक्त नाम नहीं हो सकता है। जैन शौरसेनी की तरह ही जैकोबी आदि विद्वानों ने आगमेतर जैन साहित्य की भाषा का नाम महाराष्ट्री दिया है।

डॉ. कोमलचन्द्र जैन ने प्राकृत–प्रवेशिका में भाषागतरूप को ध्यान में रखते हुए प्राकृत को महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी और अर्धमागधी इन ६ भागों में विभक्त किया है। साहित्यिक प्राकृतों के वर्गीकरण के लिए डॉ. जैन का यह वर्गीकरण उपयुक्त प्रतीत होता है। इन छहों में संरक्षित साहित्य की स्थिति इस प्रकार है–

(१) महाराष्ट्री– राणवहो, गउडवहो, वज्जालग आदि काव्यों की भाषा।

(२) शौरसेनी– आंशिक रूप से भास, कालिदास, शूद्रक आदि नाटककारों के संस्कृत रूपकों की एवं प्राकृत सट्टक कर्पूरमंजरी आदि की भाषा।

(३) मागधी–वेणीसंहार संस्कृत नाटक, अभिज्ञानशाकुन्तल एवं मृच्छकटिक की आंशिक भाषा।

(४) जैन महाराष्ट्री– आगमेतर जैन साहित्य की भाषा।

(५) जैन शौरसेनी– दिगम्बर जैन आगमों की भाषा।

(६) अर्धमागधी– श्वेताम्बर जैन आगमों की भाषा।

जैन शौरसेनी प्राकृत की विशेषताएँ

(१) इसकी मूल पृष्ठभूमि शौरसेनी प्राकृत है, किन्तु इसमें श्वेताम्बर जैनों के आगमसाहित्य की भाषा अर्धमागधी और संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है।

(२) जब अनादि सरल व्यंजन 'क, ग, च, ज, त, द' का लोप हो जाता है तो अवशिष्ट 'अ' होने पर यश्रुति होती है। सामान्यत: प्राकृत में मूल 'य' नहीं होता है किन्तु उक्त लुप्त व्यंजनों के स्थान पर 'अ' के पढ़ते समय 'य' जैसी ध्वनि सुनाई पड़ती है, इसे ही यश्रुति कहते हैं। यथा– णअरं–णयरं, (नगरम्) एअत्तं– एयत्तं (एकत्वम्), तित्थअरो– तित्थयरो (तीर्थंकर:), विआणीहि– वियाणीहि (विजानीहि) आदि।

(३) अगर 'क' 'ग' आदि लोप को प्राप्त वर्णों के पूर्व उकार का प्रयोग है तो फिर यश्रुति न होकर वश्रुति देखी जाती है। यथा– मणवो– मणुवो (मनुजः), उअरं– उवरं (उदरम्) आदि।

(४) वर्ग के पंचम वर्षों में केवल 'ट' वर्ग और 'प' वर्ग के अंतिम वर्ण 'ण्' और 'म्' ही पाये जाते हैं। जैन शौरसेनी में 'ङ्' 'ञ्' 'न्' का अस्तित्व नहीं है। 'न' का 'ण' हो जाता है तथा अपने वर्ग के वर्ण के पूर्व आने वाले पाँचों पंचम वर्णों को अनुस्वार हो जाता है। यथा भूयंगो (भुजंग), किंचि (किंचित्), खण्डो (खण्डः), सुंदरो (सुन्दर), संबंधो (सम्बन्धः) णियमा (नियमात्), अण्ण (अन्नम्) आदि।

(५) पूर्वकालिक क्रिया के अर्थ में संस्कृत के क्त्वा और ल्यप् प्रत्यय के स्थान पर ऊण, दूण, दूणं त्तु, दुं, त्ता प्रत्यय होते हैं। यथा– जाणिऊण (ज्ञात्वा), परिसदूण (दृष्टवा), णादूणं (ज्ञात्वा), वंदित्तु (वन्दित्वा), थुणित्तु (स्तुत्वा), जाणिदुं (ज्ञात्वा), जिणित्ता (जित्वा) आदि।

(६) सप्तमी विभक्ति एकवचन में ङि स्थान पर म्हि भी कहीं–कहीं होता है। यथा– णोकम्मम्हि (णोकर्मणि), लोयम्हि (लोके) आदि।

(७) कभी कभी 'त' का 'द' और 'क' का 'ग' में परिवर्तन हो जाता है। यथा– होदि (भवति) परिचिदा (परिचिताः), एगं (एकं) आदि।

(८) जैन शौरसेनी भाषा के सभी ग्रन्थ पद्यात्मक हैं।

(९) जैन महाराष्ट्री की अपेक्षा जैन शौरसेनी आंशिक रूप में अधिक प्राचीन हैं।

डॉ. आर. पिशल अपने 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' में लिखते हैं कि 'अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी में 'न' शब्दों के आरम्भ में और द्वित्व 'न' (न्न) शब्दों के मध्य में ज्यों–के–त्यों बने रहते हैं। किन्तु डॉ. पिशल का यह कथन भ्रामक है। जैन शौरसेनी में 'न' और द्वित्व (न्न) दोनों ही क्रमशः 'ण' और 'ण्ण' में परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे– नाम– णाम, निर्गतः– णिग्गदो, नित्यं– णिच्चं, निश्चयस्य– णिच्छयस्स, निर्वाणम्– णिव्वाणं आदि (देखें क्रमशः समयसार गाथा– १७, ४७, १६, २७, ६४)। इसी प्रकार भिन्न–भिण्णं, अन्नं– अण्णं आदि।

समयसार का प्रतिपाद्य विषय

समयसार विषयविवेचन की दृष्टि से नौ अधिकारों में विभक्त है। इनके नाम और इनमें प्रतिपादित विषय इस प्रकार हैं–

(१) **जीवाजीवाधिकार–** टीकाकारों ने जीवाजीवाधिकार को दो भागों में विभक्त किया है– (क) पूर्वरंग या जीवाधिकार और (ख) अजीवाधिकार।

(क) पूर्वरंग या जीवाधिकार– प्रारम्भिक २८ गाथाओं तक पूर्वरंग या जीवाधिकार है। इसमें मूलरूप से आत्मा के शुद्धस्वरूप का वर्णन एवं निश्चय और व्यवहारनय का विवेचन है।

(ख) अजीवाधिकार– आगे की ३० गाथाओं में अजीवाधिकार है। इसमें अजीव (पुद्गल) रूप परपदार्थों से जीव की भिन्नता सिद्ध की गई है।

(२) **कर्तृकर्माधिकार–** इसमें आत्मा के परिणामों के कर्त्ता होने पर पुद्गलों का कर्मरूप में परिणमन का वर्णन है। अज्ञान अविरति और मिथ्यात्व परिणामी आत्मा के ही कर्मबंध होता है।

(३) **पुण्यपापाधिकार–** इस अधिकार में बतलाया गया है कि अज्ञानपूर्वक किए गए व्रत, नियम आदि मुक्ति के कारण नहीं हैं। पुण्य और पाप दोनों संसार के कारण हैं। ज्ञान ही परमार्थ है।

(४) **आस्रवाधिकार–** इसमें आस्रव के कारणरूप, मिथ्यात्व, प्रमाद, योग, राग, द्वेष, मोह आदि का वर्णन किया गया है।

(५) **संवराधिकार–** इस अधिकार में भेदविज्ञान को संवर का मूल कारण बताते हुए संवर के क्रम का वर्णन किया गया है।

(६) **निर्जराधिकार–** इसमें द्रव्य और भाव उभयविध निर्जरा का विवेचन किया गया है।

(७) **बंधाधिकार–** इस अधिकार में बन्ध के कारणों का विवेचन किया गया है।

(८) **मोक्षाधिकार–** इसमें मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष का उपाय आदि वर्णित है।

(९) **सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार–** इस अधिकार में अनेकान्तवाद की दृष्टि से जीव का निरूपण एवं जीव के कर्तृत्व–भोक्तृत्व के विषय में विचार किया गया है।

इस विभाजन से स्पष्ट है कि समयसार में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन ९ पदार्थों का वर्णन हुआ है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए इन पदार्थों का ज्ञान और श्रद्धान आवश्यक माना जाता है। समयसार के माध्यम से इन पदार्थों का ज्ञान और श्रद्धान सहज ही संभव है। अत: वास्तव में समयसार मुक्तिप्रतिपादक ग्रन्थ है।

समयसार में छन्द–अलंकार

जीवाजीवाधिकार के सभी पद्यों में गाथा (गाहा) छन्द हैं। संस्कृत के आर्या छन्द को ही प्राकृत में गाथा कहा जाता है। आर्या का लक्षण इस प्रकार किया गया है–

यस्याः पादेप्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थकेपंचदश साऽऽर्या।।

(जिसके प्रथम और तृतीय चरण में १२ मात्रायें, द्वितीय चरण में १८ मात्राएँ और चतुर्थ चरण में १५ मात्रायें होती हैं, वह आर्या छन्द है।)

समयसार– जीवाजीवाधिकार में अनेक शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है। अर्थालंकारों में विशेष रूप से दृष्टान्त का प्रयोग अधिक दृष्टिगोचर होता है।

आचार्य विशुद्धसागरकृत समय–देशना

इक्कीसवीं शताब्दी के जिन जैनाचार्यों का प्रभाव जैन श्रमण परम्परा में अमिट एवं चिरस्थायी होगा, उनमें उत्कृष्ट क्षयोपशमज्ञानी आचार्य विशुद्धसागरजी महाराज का नाम भी कनिष्ठिकाधिष्ठित होना असंदिग्ध है। उन्होंने समयसार पर उभयनयाश्रित एवं उपादान–निमित्त आधारित जो महत्त्वपूर्ण प्रवचन किये हैं, उनका संकलितरूप ही समय–देशना है। **यह समयसार की मात्र द्रव्यानुयोगी देशना नहीं है, अपितु यह प्रसंगतः उपस्थापित समस्त जैन सिद्धान्तों की देशना है। इसमें क्वचित् प्रथमानुयोग भी है तो क्वचित् चरणानुयोग और करणायोग भी विद्यमान है। इस देशना में आचार्यश्री के अनुभव पर तुलित तर्क हैं। सतसैया के दोहों की तरह उनके छोटे–छोटे वाक्य भी जो कथ्य प्रस्तुत करने में समर्थ हैं, वह बड़े–बड़े ग्रन्थ भी प्रस्तुत करने में असमर्थ दृष्टिगोचर होते हैं।** उनके द्वारा दिए गए उदाहरण/दृष्टान्त/घटनाक्रम इतने मार्मिक हैं कि सहसा ही पाठक के हृदय को प्रभावित करने में समर्थ हैं। यथा–

'जीव का परिणमन स्वतंत्र है, कर्म का परिणमन स्वतंत्र है। यह जो कथन है कि कर्म से ऐसा हुआ, ये निमित्त– नैमित्तिक सम्बन्ध तो है, लेकिन कर्ता–कर्मभाव नहीं है।'

'बन्ध सहित आत्मा मुक्त नहीं, मुक्त आत्मा बद्ध नहीं, पर बद्ध आत्मा मुक्तस्वभावी है।'

'जो मठ बनाते रहते हैं, वो सत्य नहीं बोल पाते, क्योंकि उन्हें मठ की चिन्ता रहती है।

...तुम अमुकसागर बन गए और मठ बनाकर बैठ गए और यह कहा कि मेरे मठ का यह पता है, तो इतना समझना कि तू जैनधर्म की अप्रभावना कर रहा है। यह धर्म की प्रभावना नहीं है।'

'कुन्दकुन्द को समझना है तो आचार्य समन्तभद्र को भी समझना पड़ेगा। ....मैं तो इस बात को अच्छा नियोग मानता हूँ कि गुरु महाराज ने मुझे पहले द्रव्यानुयोग नहीं पढ़ाया। सबसे पहले उन्होंने चरणानुयोग से लेकर करणानुयोग पढ़ाया, प्रथमानुयोग पढ़ाया।'

'एक ज्ञानी हमारे पास आए, बोले कि कहाँ बनाऊँ मानस्तंभ? मैंने कहा पण्डितजी को ले जाओ, मुझे यह कार्य नहीं कराना है। यह ईंट की दीवार उसमें बनेगी और जीवों की हिंसा होगी। एक ईंट के पकने में कोटि-कोटि जीवों की हिंसा होती है। इसलिए साधुओं को इसमें मौन रहना चाहिए। आशीर्वाद इस बात का है कि धर्म का कार्य करो, लेकिन यह बात पूछने मत आना कि ईंट कहाँ की मगाऊँ।'

'सोलापुर में चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग मानने वाले लोग अधिक हैं, लेकिन उन्होंने प्रवचन सुना तो बोले- 'महाराजजी बोल रहे हैं, वह सिद्धांत से बराबर बोल रहे हैं। कोई गड़बड़ी नहीं है, वे आगम से बोल रहे हैं।' मुझे अच्छा यह लगा कि कम-से-कम जीव शुद्धोपयोग के राग में तत्त्व सुनने से दूर तो नहीं हुआ। ...काना से काना मत कहो, भैया! आपकी बात में दम होगी तो जीव धीरे-धीरे स्वीकारेगा।'

'निश्चय-व्यवहार से अतिक्रांत जो है, वही समयसार है। व्यवहारपक्ष समयसार नहीं है, निश्चयपक्ष भी समयसार नहीं है। भ्रम को निकाल दो।'

उपर्युक्त वाक्यों में जो अर्थगौरव भरा हुआ है, वह अन्यत्र उपदेशों में क्वचित्-क्वचित् ही दृष्टिगत होता है। इतना ही नहीं, **आचार्य विशुद्धसागरजी का ज्ञान चारित्ररूप फलवान् है। जैसी उनकी आध्यात्मिक पकड़ है, वैसी ही श्रमणोचित चर्या भी। आपकी विषयवस्तु को समझाने की ऐसी अद्भुत शैली है कि गूढ़-से-गूढ़ विषय भी हस्तामलकवत् सुस्पष्ट हो जाता है।** भाषा पर आपकी असाधारण पकड़ है। आवश्यकता पड़ने पर वे वाग्योगों (मुहावरों) का भी प्रयोग करते हैं। पापानुबंधी पाप को दर्शाने के लिए असाता में असाता के साथ 'गरीबी' में आटा गीला' का प्रयोग सहज ही आकर्षण उत्पन्न कर हार्द को स्पष्ट कर देता है।

आचार्यश्री उत्कृष्ट क्षयोपशमज्ञानी, उत्कृष्ट चर्या के पालक साधु होने पर भी निरभिमानिता की तो साक्षात् प्रतिमा हैं। वे अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए कहते हैं- 'हे भगवती सरस्वती!

आपके व्याख्यान काल में अक्षर, पद, मात्रा की किंचित् भी हानि हुई हो तो वह विशुद्धसागर की समझना। जो भी आपको मिला है, आचार्यभगवान् अमृतचन्द्र स्वामी, जयसेन स्वामी, कुन्दकुन्द स्वामी का समझना और जो सीखकर आया है, वह विरागसागर का समझना। लेकिन जो गलती हुई हो, विशुद्धसागर की समझना।'

समयदेशना में समयसार की गाथाओं पर आचार्यश्री के प्रवचन हैं। इन प्रवचनों को लिपिबद्ध पढ़कर भोला–भाला भटकता मिथ्यादृष्टि भी सम्यक्त्व की प्राप्ति से आत्मकल्याण कर सकेगा।

यह मेरा अहोभाग्य है कि पूज्यश्री की समयदेशना के सम्पादन के साथ उसकी सम्पादकीय लिखने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ है। मैं पूज्य आचार्यश्री के पावन पादपद्मों में कोटिश: नमोऽस्तु निवेदन करता हुआ भावना भाता हूँ कि यह 'समयदेशना' श्रावकों को एकांत के पंक से निकालकर उनके मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने में निमित्त बने।

■ ■ ■

अध्यात्मविद्या की समृद्धि में आचार्य विशुद्धसागरजी का योगदान

• प्रो. नलिन के. शास्त्रि

बोधगया

व्यक्ति के मन में तीन जिज्ञासाएँ होती हैं, जिनका वह समाधान चाहता है। तीन प्रकार के प्रश्न उसके मानस में घुमड़ते रहते हैं। मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है तथा इसका स्वरूप क्या है? मेरा इस संसार के साथ संबंध क्या है? और इन्हीं जिज्ञासाओं के कारण अस्तित्व में आए विविध दर्शन आचार, अर्थात् आचरण और क्रिया तथा विचार, अर्थात् सोचना ये दो अंग हैं, किसी भी दर्शन के। धर्म विविध दर्शनों के बाह्य रूप कहे जा सकते हैं। यद्यपि आजकल इस 'धर्म' अथवा संप्रदाय को ही दर्शन की संज्ञा दी जाने लगी है और उसका प्रमुख कारण है कि आज का मनुष्य भौतिकता की अंधी दौड़ में इस हद तक व्यस्त हो चुका है कि उसके पास चिंतन–मनन के लिए अवकाश ही नहीं रह गया है। अत: धर्म के रूप में उसे जो कुछ भी ठोस अथवा व्यावहारिक दिख पड़ता है, उसी का पालन करके वह संतोष अनुभव कर लेता है। यही कारण है कि किसी–न–किसी धर्म की ओर सदा से ही लोगों का अनुराग रहा है। धर्मों की प्रवृत्ति का मूल स्त्रोत दार्शनिक होते हुए भी हम इस–उस सद्गुरु की खोज में लगे रहते हैं। आत्मा की ज्ञानपिपासा दार्शनिक विचारों से शांत होती है, न कि धर्म से क्योंकि सभी धर्मों का मूलाधार दार्शनिक विचार ही है। और इस प्रकार प्राप्त होता है कि किसी एक ही ध्येय की खोज में एक ही निर्विवादित और सर्वजनानुभूत मार्ग– सत्य, दया, मैत्री आदि– का अनुसरण करने वाले इन समस्त धर्म सम्प्रदायों का मूलाधार एक ही है। समस्त ज्ञानों का पर्यवसान, समस्त ज्ञानों का

निष्कर्ष; ज्ञान, विवेक, विचार आदि का निष्कर्ष, उनका परिणाम जहाँ किसी प्रकार के द्वंद्व के लिए स्थान ही नहीं होता।

मनुष्य देह भौतिक तत्त्वों से बनी है, परंतु उसमें निहित चेतनाशक्ति का स्रोत आत्मा है। समस्त जगत् को देखना ही वास्तविक दर्शन है तथा किसी भी धर्म का मूलाधार भी है, जिसके अनुसार प्रत्येक प्राणी की आत्मा में एकत्व व्याप्त है। व्यष्टि को समष्टि में विलीन कर देने की वृत्ति अर्थात् समष्टि और व्यष्टि के मध्य किसी प्रकार के भेद ही नहीं रह जाय, वहीं स्थापित होता है आत्म–तत्त्व का चिंतन। पूज्य गुरुदेव विशुद्धसागरजी ने 'समयसार देशना' की आख्याओं के जरिये अध्यात्म को इस नये युग की नई भाषा के रूप में प्रवर्तित किया है; यहाँ उनके चिंतन का प्रकर्ष अध्यात्म के माध्यम से सबको जोड़ना है। उन्होंने अध्यात्म का अर्थ समझाया है अध्ययन करना आत्मा का, स्वयं का, देह और विदेह के बीच फर्क समझकर– ताकि परमात्मा का पता चल सके। पूज्य गुरुदेव मानते हैं कि **जो आपका उत्थान करे वह आध्यात्मिकता है।** उनके दृष्टि–पथ में आध्यात्मिकता अपने भीतर की यात्रा है!

अलग–अलग दार्शनिक मान्यताएँ व्याप्त हैं, पर अध्यात्म इन सबको एक सूत्र में बांधता है। कोई वैष्णव हो सकता है, कोई सिक्ख हो सकता है, पर अध्यात्म उसकी मान्यता को नहीं प्रत्युत अनुभव को संबोधित करता है। **अध्यात्म पारलौकिक विश्लेषण या कोई शास्त्र का अध्ययन नहीं है। अध्यात्म का शाब्दिक अर्थ है– 'आत्म–अध्ययन; यह एक कला है, जिससे मनुष्य यह जानता है कि उसको शाश्वत सुख कैसे मिल सकता है?** मनुष्य का मूल स्वभाव आनन्दमय जीवन जीना है, जिसके लिए वह जीवन– पर्यन्त प्रयास करता है। इतने प्रयासों के बाद भी निराशा हाथ लगती है। मतलब कला सीखने का प्रयास ही नहीं किया गया और येन–केन–प्रकारेण आनंद प्राप्त करने में लग गए। बाजार से सुख खरीदने की कोशिश में लग गए। भूल गए कि **साधनों से क्षणिक सुख, दीर्घकालिक दुःख की प्राप्ति होती है।** तात्पर्य यह कि हम भूलवश दुःख खरीद–खरीद कर लाते हैं। जब खरीदा गया तथाकथित सुख हमें दुःख का एहसास कराता है तो उसको दूर करने के लिए दूसरा दुःख खरीद कर लाते हैं। पूज्य गुरुदेव के चिंतन का अभिप्रेत है कि न तो हम शरीर हैं और न मन या बुद्धि। हमारी पहचान तो विशुद्ध चेतना है, जो हमारी आत्मिक पहचान भी है। हमें उस अवस्था को संबोधित करना है जहाँ शुद्ध चैतन्य है। **सम्यक्त्व की आराधना से जब हम अपने भीतर जाएँगे और आत्मा से साक्षात्कार करेंगे तो सच्चे**

अध्यात्म की अनुभूति होगी।

आत्मज्ञान का केंद्र हृदय है, हृदय भेद का विषय है, हृदय से ही सारे निर्णय लिए जाने चाहिए। हृदय गलती नहीं करता, क्योंकि वहाँ वास्तविक ज्ञान–आत्मज्ञान का वास है। आडम्बरों के विरोधी, क्रांतिकारी कबीर साहब के अनुसार 'ज्ञान सोई जो आतम चीन्हे, और ज्ञान कछु नाही। चार दिशा का छोड़ आसरा, मगन रहे मन माही।' आत्म–ज्ञान के अभाव में दूसरे सभी ज्ञान के प्रकार अधूरे हैं, अपर्याप्त हैं। आत्मज्ञान मूलज्ञान है। मूलज्ञान की अवहेलना मानवता को भारी पड़ेगी।

श्रमण संस्कृति के मुकुटमणि, आचार्य कुंदकुंद, दिगम्बर मूल परंपरा के वज्रकवच हैं। दो हजार वर्षों से जैन क्षितिज पर चमकते दिनकर आचार्यश्री ने अपनी प्रभा से जिनशासन की धवल कीर्ति को जीवित रखकर इसका शीर्ष ऊँचा किया है। वे ऋद्धि प्राप्त महामुनि थे, बाल दीक्षित थे और विलक्षण प्रज्ञा–संपन्न थे। उनके व्यक्तित्व का पैमाना मात्र यह ही नहीं है; प्रत्युत इसलिए वे अधिक पूजित हैं क्योंकि उन्होंने जनजीवन के उत्थान हेतु और उसमें शुचिता की संस्थापना हेतु प्रतिष्ठापित किया कि आगम का सार अध्यात्म में छुपा होता है। अत: आगम व अध्यात्म के प्राणशुद्ध चैतन्य को उन्होंने अपनी लेखनी का मुख्य बिंदु चुना। उनके व्यक्तित्त्व का भावपक्ष धवलधारा–सा स्वच्छ है, द्रव्यपक्ष भी कोमल भावनाओं से आच्छादित, पूर्णमासी के चन्द्र–सा श्वेत है। उनके व्यक्तित्त्व व साहित्य की गोद में, अनेक निर्ग्रन्थ संतों को आश्रय मिला है। उनके सर्वाधिक गरिमामयी यशस्वी जीवन का प्रबल प्रमाण यह है कि उन्हें भगवान् महावीर और उनके मुख्य गणधर गौतम स्वामी के तत्काल बाद मंगल के रूप में स्मरण किया जाता है– मंगल प्रबोधन के स्तुत्य रूप में :

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुंदार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

यह एक अबाधित सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जैनधर्म की मुद्रा अथवा पहचान ही बन गए हैं। अध्यात्म श्रुत–शिखर की नीव के पत्थर, भरतक्षेत्र के जन–मन को आत्मविद्या का पाठ पढ़ाने वाले आचार्य कुन्दकुन्द के ज्ञानसिन्धु से प्रवाहित अध्यात्म की अजस्त्र धारा आज भी इस धरती को समृद्ध बना लोकमांगल्य की ओर बढ़ रही है। **समयसार जिनवाणी एवं श्रुतगंगा का सारभूत तत्त्व बन अध्यात्म रसपूर्ण ग्रन्थ शिरोमणि के रूप में सुशोभित है। समयसार**

केवली– श्रुतकेवली की वाणी का सार है। निज भगवान्– आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक यह ग्रंथाधिराज जैनागम का बेजोड़ और अमूल्य रत्न है। उसके अध्ययन–मनन–चिंतन एवं अनुभवन से अपने तथा पर के मोह का नाश होता है।

लगभग दो हजार साल पहले पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कोण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) में आविर्भूत, आचार्य कुन्दकुन्द के कई नाम प्रचलित हैं– वक्रग्रीव, एलाचार्य, पद्मनन्दी, गृद्धपृच्छ इत्यादि। संभव है कि कोण्डकुन्दपुर के निवासी होने के कारण कुन्दकुन्द नाम लोकप्रिय हुआ। काव्यात्मक दृष्टि से देखें तो चन्द्रगिरि के एक शिलालेख के अनुसार, कुन्द पुष्प समान धवल प्रभा होने से, इन्हें यह नाम प्राप्त हुआ। विंध्यागिरि शिलालेख में उनका वर्णन और भी सुन्दर है : यतीश्वर कुन्दकुन्द मानो धूल से धरी धरती से चार अंगुल ऊपर चलते थे क्योंकि वे अन्तर–बाह्य धूल से मुक्त थे। चौदहवीं शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द की महिमा इतनी वृद्धिगत हो गई थी कि उस समय के कवि वृन्दावनदास को कहना पड़ा : हुए हैं, न होहिंगे मुनिन्द कुन्दकुन्द से। एक हजार वर्ष बाद 'समयसार' पर आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संस्कृत में गंभीर टीका लिखी, जिसका नाम है 'आत्मख्याति'। समयसार का मर्म जानने के लिए आज इसी टीका का आश्रय लिया जाता है। समयसार की प्रशंसा करते हुए वे इसे 'जगत् का अक्षय चक्षु' कहते हैं। उनका मानना है कि **समयसार से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। समयसार एक ऐसा आगम ग्रन्थ है, जिसमें लाखों शास्त्रों का सार सन्निहित है और यही कारण है कि यह जैनसमाज का प्रकाशस्तंभ है, साधकों की कामधेनु है, आत्मफलक पर निर्मित की गई एक अद्‌भूत और अनुपम कलाकृति है।**

'समय' शब्द के दो हिस्से हैं : सम् – अय। अयन का अर्थ है गमन करना, जाना। अर्थात्; समय का जब भी अनुभव होता है, वह ऐसे होता है, जैसे वह गुजर रहा है। समय का अनुभव स्थिरता की तरह नहीं होता। 'सम्' उपसर्ग है, जिसका अर्थ है : एकसाथ। जो एकसाथ गतिमान है, वह समय। तथापि अयन का एक और अर्थ भी है : जानना, वेदना। समय को जानता कौन है? जो समय को जानता है, वह भीतर बैठा है। वही जाननेवाला है। इसलिए कुन्दकुन्द समय को आत्मा भी कहते हैं और वही अर्थ सम्यक् है, क्योंकि समयसार आत्मा की पूरी यात्रा का सार–निचोड़ है। संक्षेप में देखा जाए तो समयसार वही कहता है जो भारत का हर मुख्य दर्शन कहता है। जीव बंधन में कैसे पड़ा और उससे मुक्त कैसे हो सकता

है? सांख्य, वेदान्त या समस्त उपनिषद् जिस प्रक्रिया का ऊहापोह करते हैं। वही समयसार में है, कुछ खास शब्दों और धारणाओं के फर्क के साथ। सृष्टि के जन्म की प्रक्रिया और उससे पार उठने के विषय में हर धर्म की अपनी प्रणाली और शब्दावली होती है; वैसी समयसार की भी है। लेकिन मूल प्रतिपादन एक ही है, इससे अन्यथा हो भी नहीं सकता। क्योंकि मनुष्य का मन जिस ढंग से काम करता है, और अस्तित्व के जो भी मूलभूत तत्त्व हैं, नियम हैं, वे तो एक जैसे हैं चाहे हम जैन– दृष्टिकोण से देखें, चाहे बौद्ध, चाहे हिन्दू। उदाहरण के लिए धर्म कोई भी हो, इंद्रियाँ पाँच ही होंगी और उनके विषय भी पाँच ही होंगे। उन विषयों के बारे में मन में उठने वाली इच्छाएँ भी समान होंगी। यह तो संभव नहीं है कि बौद्ध, व्यक्ति आँख से सुनता हो और कान से देखता हो और जैनधर्म किन्हीं और इंद्रियों से देखता–सुनता हो। समयसार पढ़ते हुए उन सारे दर्शनशास्त्रों का पुन: स्मरण होता है, जिन्हें प्रत्येक अक्षर– साधक ने कभी न कभी पढ़े हैं। आज के अहंकारी युग में यह वक्तव्य चिंतन–मनन करने जैसा है। इतने महान् ग्रंथ की रचना को प्रारंभ करते हुए, जिसे दो हजार वर्षों का अंतराल धूमिल न कर सका। लेखक इतना विनम्र है कि खुद इस विशाल कार्य का कर्ता बनना नहीं चाहता। वे केवल इस ज्ञान के वाहक हैं। इसकी हर गाथा सातवें–छठवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव से निकली हुई है। समयसार की सर्वप्रथम गाथा भारत की प्राचीन परंपरा के अनुसार मंगलाचरण की है। यह एक खूबसूरत रिवाज था जो सभी प्राचीन भारतीय शास्त्रों में पाया जाता है। अपनी बात शुरू करने से पहले उस विषय में पारंगत पूर्व सिद्धों और ज्ञानीजनों को प्रणाम करके उनके आशीर्वाद की छाया में लेखक मार्गस्थ होते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य भी उसी का निर्वाह करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि श्रुतकेवलियों (गणधर) द्वारा कथित समयपाहुड को मैं आप तक पहुँचा रहा हूँ। समयसार के कुल नौ अध्याय हैं, जो क्रमश: जीव– अजीव अधिकार, कर्ता–कर्म अधिकार, पुण्य–पाप अधिकार, आस्रव अधिकार, संवर अधिकार, निर्जरा अधिकार, बंध अधिकार, मोक्ष अधिकार और सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार अंत में आचार्य चेतावनी और एक प्रलोभन भी देते हैं : जो समयपाहुड के वचनों को पढ़कर उसके अर्थ को अनुभव भी करेगा वह उत्तम सौख्य को प्राप्त होगा।

इस ग्रंथ में जीवन को– जिसे हम जीवन समझते हैं– रंगमंच की उपमा दी गई है जो कि बड़ी अर्थपूर्ण प्रतीत होती है। जीवन के नाटक में हम इसीलिए खो जाते हैं, क्योंकि नाटक को

सच मान लेते हैं। ''पाप–पुण्य अधिकार अध्याय में (गाथा १४५) कुन्दकुन्दाचार्य प्रश्न करते हैं : तुम अशुभ कर्म को कुशील और शुभ कर्म को सुशील मानते हो, लेकिन वह कर्म सुशील कैसे हो सकता है जो तुम्हें संसार में या रंगमंच में प्रविष्ट कराता है? इसके बाद वे कर्म का रहस्य समझाते हैं।'' वस्तुत: कोई कृत्य नहीं बाँधता। वह राग में डूबा हुआ मन ही है जो बंध जाता है। विरक्त होकर कुछ भी करो तो नहीं बांधेंगे; यही जिनोपदेश है। अब यह पूरा कर्मसिद्धांत हर धर्म का, हर दर्शन का आधार है और यहीं से मुक्ति का प्रयास शुरू होता है।

प्रत्येक कारण का प्रारंभ आचार्य ने इस प्रकार किया है 'मानो वह एक रंगमंच में प्रवेश हो। प्रकरण के प्रारंभ में पात्र मंच–प्रविष्ट होता है, अंत में निकल जाता है और यह पात्र कौन है? पाप–पुण्य मंच पर प्रवेश करते हैं और अंत में द्वंद्व समाप्त हो जाता है। इसलिए वे दोनों एक होकर मंच से बाहर निकल जाते हैं। चौथे अध्याय में आस्रव याने मनोविकार मंच पर आते हैं और अंत में बाहर निकल जाते हैं, क्योंकि **चित्त में ज्ञान का उदय होते ही विकार ओस–कण की तरह विलीन हो जाते हैं।** क्योंकि मन की जो विभिन्न अवस्थाएँ हैं– आस्रव या संवर या निर्जरा– ये सब कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि में विभिन्न स्वांग हैं जो मन रचता है। कभी वह विकार बनकर जायेगा, कभी निर्विकार बनकर, लेकिन वे सब स्वांग ही हैं, सत्य नहीं। यहाँ तक कि उनकी दृष्टि में मोक्ष तत्त्व भी एक स्वांग ही है। आत्मा की रंगभूमि में जीव–अजीव, कर्ता–अकर्ता, पुण्य–पाप, आस्रव– संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये आठ स्वांग आते हैं। उनका नृत्य होता है और अपना–अपना स्वरूप बताकर वे निकल जाते हैं। आखिरी अध्याय में सब स्वांगों के विदा होने पर सर्व विशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। उसके बाद रंगमंच के पात्र और उनका अभिनय समाप्त हो जाता है, क्योंकि पूरा खेल ही खत्म हो जाता है। आत्मा को अपनी सुधि आ जाती है कि न मैं कर सकता हूँ, न भोग सकता हूँ। मैं सिर्फ हूँ। वेदान्त दर्शन जिसे माया कहते हैं, उसे ही कुन्दकुन्दाचार्य नाटक की उपमा देते हैं और आधुनिक मन के लिए इस दृष्टान्त को समझना अधिक सरल है। 'माया' शब्द घिस–घिसकर अपना मूल आशय खो बैठा है। वह इतना निन्दित हो चुका है कि अब यह शब्द ही मायावी लगता है।

वास्तव में समयसार को पुनरुज्जीवित करना हो तो उसके शब्दों की प्राचीनता की धूल झाड़ कर उन्हें सद्यस्नात/ तरोताजा बनाना आवश्यक है। जैसे निर्जरा को मनोविज्ञान का सुपरिचित

शब्द 'कैथार्सिस' या रेचन कहा तो उसे समझना अधिक सरल होगा। 'संवर' और–कुछ–भी नहीं, योगशास्त्र में कथित चित्तवृत्ति निरोध है। इस प्रकार निरंतर अन्य शब्दों को भी पुनरुज्जीवित की अग्नि से गुजारा जाये तो इनके आशय कुंदन की भाँति निखरेंगे। जीव, आत्मा, बंध, मोक्ष, कर्म–अकर्म, पाप–पुण्य, इन सभी शब्दों की गठरी बाँधकर समुद्र में फेंक देने का समय आ गया है। इससे इनमें निहित अनुभव तो विलीन नहीं होगा उल्टे नए शब्दों के वस्त्र पहनकर जगमगाने लगेगा। कुन्दकुन्दाचार्य का ही प्रतीक लें तो वे कहते हैं : कि स्वर्ण को कितना ही तपाओ, उसका स्वर्णत्व खोता नहीं है। उसी प्रकार कर्मों की आग में तपकर भी ज्ञानी अपना ज्ञान खोता नहीं है। ज्ञानी के शब्दों में भी उसके ज्ञान का स्वर्ण भरा हुआ है। उसे आग से क्या भय?

समयसार के आध्यात्मिक शृंगार में संवर अधिकार की प्रतिष्ठा वीतरागता के सौन्दर्य को विस्तीर्ण करती है और देह में रहकर विदेह की साधना की मर्मस्पर्शी व्याख्या भी है। मोक्ष के संदर्भ में कहा गया है कि मनुष्य के कर्म मैल की तरह उसके आत्मत्व पर चिपक जाते हैं। 'आस्रव' का अर्थ सांसारिक प्रपंचों का आकर आत्मा में चिपक जाना है। मगर जब साधक जगता है, तो वह बाह्य प्रभावों को रोकने लगता है। यह स्थिति 'संवर' की स्थिति हुई। इसके बाद कर्मों के क्षय की साधना करनी पड़ती है। कर्मक्षय की यह प्रक्रिया 'निर्जरा' कही जाती है। जब कर्मक्षय पूरा हो जाता है, तो आत्मतत्त्व अत्यधिक निर्मल हो जाता है। इस अत्यधिक सुखकर स्थिति को जैनदर्शन में विलक्षण कहा गया है। इसे निर्व्याख्या भी माना गया है। यह जीव की शुद्धावस्था है। कर्मों की रोक को संवर कहते हैं। मुक्ति का आत्मबोध की ओर पहला कदम। यह सुनिश्चित करना है कि जिन रास्तों से कर्म आत्मा में प्रविष्ट हो रहे हैं, वे बंद किये जाएँ और नए कर्म इकट्ठे न हों। कर्मों के अंतर्प्रवाह को रोकना संवर कहा जाता है। संवरतत्त्व के कथन में जिन आस्रवों को कर्म के आने के द्वारों को कहा गया है उनको रोक देना संवर है। कर्म के द्वार बंद हो जाते हैं तब कर्म आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकते। जैसे– सछिद्र जलयान, नाव आदि के छोटे–बड़े सब छिद्र बंद कर देने पर जलयान में जल का प्रवेश नहीं होता। संवर नये कर्मों का प्रवेश रोकता है। इसके कई प्रकार हैं। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र– ये उसके भेद हैं। जो आगत कर्मों को आत्मा में आने नहीं देते। जिन्होंने पुण्य और पाप नहीं किया, शुभ और अशुभ कर्मों के फल में रति और अरति नहीं की, शुभ और अशुभ भाव

नहीं किये और आत्मा के अनुभव में मन को लगाया। आत्मा स्वभाव में लीन होने पर वह आते हुए कर्मों को आत्मा के प्रदेशों में मिल जाने से रोक लेंगे। कर्मों के आस्रव–द्वार को बंद करेंगे, बंध को रोक लेंगे और संवर को प्राप्त करके आकुलता रहित सुख का साक्षात्कार करेंगे, ऐसी भावना संवर भावना है। संवर– गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है। संवर दो प्रकार का होता है।

भावसंवर– जिन भावों से संवर हो।

द्रव्यसंवर– कर्मों का रुक जाना।

जैनधर्म और दर्शन का उद्देश्य है आत्मा को प्रकृति के मिश्रण से मुक्त कर उसको कैवल्य (पूर्णत: मुक्त एवं पवित्र) की स्थिति में पहुँचाना। इस कैवल्य की अवस्था में कर्म के बंधन टूट जाते हैं और आत्मा अपने को प्रकृति के बंधनों से मुक्त करने में समर्थ हो जाता है। इसी अवस्था को मोक्ष भी कहा जाता है। मोक्ष की इस अवस्था में समस्त दु:ख, भय, अभाव एवं कष्ट समाप्त हो जाते हैं और आत्मा स्थायी और अटूट परमानंद की अवस्था में पहुँच जाती है। मोक्ष के संबंध में जैन–धर्म की यह मान्यता वैदिक मान्यता से भिन्न है। वेदांत के अनुसार मोक्ष की अवस्था में आत्मा का ब्रह्म के साथ पूर्णत: मिलन हो जाता है और आत्मा का पृथक् कोई अस्तित्व नहीं बचता। जबकि जैन धर्म एवं दर्शन के अनुसार कैवल्य या मोक्ष की अवस्था में भी आत्मा का अपना निजी अस्तित्व एवं स्वरूप बना रहता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वभावत: निर्मल और प्रज्ञ है। प्रकृति के संपर्क के कारण ही आत्मा अज्ञानता, माया और कर्म के बंधन में पड़ जाता है। कैवल्य की प्राप्ति के लिए 'केवलज्ञान' प्राप्त करना आवश्यक है। इसके उपाय हैं १. सम्यक् दर्शन (तीर्थंकरों में पूर्ण श्रद्धा), २. सम्यक् चारित्र (पूर्ण नैतिक आचरण) और सम्यक् ज्ञान (शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान)। जैनधर्म बिना किसी बाहरी सहायता के स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा ही आत्मकल्याण प्राप्त करने का मार्ग बतलाता है। जैन धर्म एवं दर्शन ने भारतीय धर्म एवं दर्शन को भी कई प्रकार से प्रभावित किया। आचार–शास्त्र में नैतिक आचरण, विशेषकर अहिंसा को इससे नया बल मिला। जैनदर्शन 'आस्रव' के सिद्धांत में विश्वास करता है, जिसका अर्थ यह है कि कर्म के संस्कार, क्षण–क्षण प्रवाहित हो रहे हैं। कर्म के इन संस्कारों का प्रभाव जीव पर क्षण–क्षण पड़ता जा रहा है। संस्कारों के इस प्रभाव से बचने का यही उपाय है कि मनुष्य चित्तवृत्तियों का निरोध (रोकथाम) करें, मन को विवेक

के द्वारा काबू में लाए। योग्य की समाधि का अवलम्बन और तपश्चर्या में लीन रहना। जैन दर्शन की मान्यता है कि आत्मज्ञान प्राप्ति का मार्ग कैवल्य प्राप्ति की साधना के लिए है। जैन धर्म एवं दर्शन में सात सोपानों (सीढ़ियों) का उल्लेख किया गया है। ये सात सोपान ही जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामक सात तत्त्व हैं। जीव आत्मा है। अजीव वह ठोस द्रव्य (शरीर) है, जिसमें आत्मा निवास करती है। जीव और अजीव का मिलन ही संसार है। अतएव मोक्ष–साधना का मार्ग यह है कि जीव (आत्मा) को अजीव (पदार्थ) से पृथक् कर दिया जाए। आत्मा और परमात्मा के बीच की माया की दीवार को गिराकर ही कैवल्य या मोक्ष की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। किंतु जीव अजीव से बंधा कैसे है? इसका उत्तर 'आस्रव' है। विभिन्न कर्मों के करने से जो संस्कार प्रकट होते हैं, उसी के कारण जीव अजीव से बंध जाता है। अतएव इस बंधन को नष्ट करने का उपाय यह है कि जीव कर्मों से क्षरित (उत्पन्न) होने वाले संस्कारों से अलिप्त (पृथक्) रहने का प्रयत्न करें। यह प्रक्रिया 'संवर' कहलाती है। पर इतना प्रयास ही पर्याप्त नहीं है। आत्मा को तो पूर्वजन्मों के संस्कार भी घेरे रहते हैं एवं प्रभावित करते हैं। इन पूर्वजन्मों के संस्कारों से मुक्त होने या छूटने की साधना का नाम 'निर्जरा' है। जीवनरूपी नौका में छेद है, जिनसे उसमें पानी भरता जा रहा है। छेदों को बंद करना ही 'संवर'– साधना है और जीवनरूपी नाव में पहले से ही जो पानी (पूर्वजन्मों के संस्कार) भरा हुआ है, उसे उलीचने का नाम निर्जरा है। संवर और निर्जरा के द्वारा जिसने अपने को 'आस्रवों' (संस्कारों) से मुक्त कर लिया, वही मोक्ष का अधिकारी है।

जैन दर्शन में मोक्ष (कैवल्य) की साधना केवल संन्यासी ही कर सकते हैं। इन संन्यासियों को जैनधर्म में पाँच कोटियों (श्रेणियों) में बाँटा गया है, जिनका समन्वित नाम पंचपरमेष्ठी है। ये पंच परमेष्ठी हैं अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। साधुओं को उपदेश देने वाले उपाध्याय और आचार्य कहलाते हैं। सिद्ध वह हैं जिसने शरीर छोड़कर मोक्ष प्राप्त कर लिया है और अर्हंत 'तीर्थंकरों' को कहते हैं। अरिहंत वे होते हैं जिन्होंने अपनी आत्मा को कर्म–शत्रुओं से मुक्त कर लिया है। अरिहंतों में जिनके कल्याणक होते हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। अरिहंत सामान्य हैं, तीर्थंकर विशेष हैं। सामान्य अरिहंत जैसे राम, बाहुबली, भरत। विशेष अरिहंत यानि चौबीस तीर्थंकर। तीर्थंकर तो चौबीस ही हुए हैं, किंतु सिद्ध कोई भी जीव हो सकता है। जिसकी सांसारिक विषय–वासनाएँ, भोग–विलास की लिप्साएँ छूट गई हैं, जो सुख–दु:ख से ऊपर उठ गया, जिसकी इंद्रियाँ वशीभूत

हैं, वह सिद्ध है। सिद्ध की कोटि परमात्मा की कोटि है। वैदिक दर्शन एवं जैन दर्शन में यह भेद है कि वैदिक धर्म में परमात्मा मात्र एक ही माना गया है, जबकि जैनधर्म के अनुसार जो भी व्यक्ति सिद्ध हो गया, वह स्वयं परमात्मा है।

पहले जो जैसा कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है। लकड़ी की गेंद को यदि पानी में डाल दिया जाये तो वह डूबेगी नहीं, तैरेगी। आत्मा उससे अधिक हल्की है– बहुत हल्की; फिर भी वह संसार में डूबी हुई है। ऐसा क्यों? लकड़ी की उस गेंद को यदि गीली मिट्टी से लपेटा जाए, फिर कपड़ा लपेटा जाये और फिर से उस पर गीली मिट्टी की परत चढ़ाई जाये– इस प्रकार यदि आठ बार उस पर परतें चढ़ाई जायें; तो वह पानी में डूब जायेगी। यही बात आत्मा के लिए है। वह भी पूर्व जन्म में किये गये आठ कर्मों के आवरणों से लिपटी हुई होने से संसार में डूबी हुई है। जन्म लेने के बाद कर्म क्रमश: उदय में आते रहते हैं। उनके अनुसार शुभाशुभ फल उपस्थित होते रहते हैं और प्राणी सुख–दु:ख का अनुभव करता रहता है।

पूज्यपाद गुरुदेव तत्त्व, ज्ञान, विवेक और शुद्ध सम्यक्त्वोन्मुखी चेतना के प्रतीक हैं। वे योगी ही नहीं, पूर्ण चेतना के प्रतीक भी हैं। वो जो भी कहते हैं अर्थ पीछे भागता है। जब 'ज्ञानी' के संबोधन से वे बोलते हैं तो वे केवल दिमाग के स्तर पर जन को संबोधित नहीं करते हैं। उन शब्दों में गहराई होती है, साधना– संप्रेरित अनुभव होता है जो कम ज्ञान के अनुभव को जगाने के लिए अभिप्रेरित करता है। वे अपने शब्दों से कहीं ज्यादा अपने दिगंबर अस्तित्व से व्यक्त करते हैं। हमारे पास तक उनके मन की भावनाएँ जल्दी पहुँच जाती हैं। स्वाभाविक आत्मीयता और वात्सल्य के संग आगम का सत्य, आत्मा का सत्य सिर्फ दिमाग से नहीं दिल से नि:सृत होता है और श्रोता के मन की गहराइयों तक संप्रेषित हो जाता है।

समयदेशना के देशनाकार आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज, आचार्य कुन्दकुन्द की समर्थ परम्परा के समर्थतम संवाहकों में से एक हैं, जिनकी चेतना में रचा–बसा है समयसार और जो इस देह में रहकर विदेह की साधना की कला के ज्ञाता ही नहीं, मर्मज्ञ भी हैं। शास्त्रीय भाषा के उपयोग से बचते हुए, सरल, सहज और सुबोध भाषा में आत्म–तत्त्व की मीमांसा करने के क्रम में आचार्यश्री अपनी और सभी की रत्नत्रय–यात्रा में संवर के कपाट लगाकर आत्मा की सुरक्षा की व्याख्या करते हैं। **एक जीवन–सर्जक और आचारनिष्ठ साधक के रूप में**

आगम–प्रामाण्य से उद्धृत, निर्मल ज्ञान की परम्परा को विश्वमंच पर संस्थापित करने वाले, 'सूर्यकोटी– सम प्रभः' स्वरूपी इस श्रुतधर साधक ने अपनी तपस्या, ज्ञानाराधना, शास्त्रानुशासन और रत्नत्रयी अनुर्यात्रा के समेकन से संकल्पशील आत्मसाधना को स्फूर्त किया है। उनके जगकल्याणी और जनकल्याणी विचार आगम के संबल से उर्जित हो, साधनाशील जीवन की आत्यांतिक गहराइयों, अनुभूतियों और वात्सल्य के संचार से मानवीय चिंतन का परिष्कार करते हैं और उनके जीवन को उस सहज, सरल और सुबोध महाकाव्य की सरसता के साथ जनसामान्य में संप्रेषित करते हैं, जिसमें नानापुराण, जिनागम– सम्मत मत– मतान्तर और जिनागम के शाश्वत दार्शनिक मानदंडों का गोमुख से निकली गंगा के पवित्र–पावन नीर–क्षीर–सा समवाय है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। हजारों वर्षों की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परम्पराओं के अनुशीलन के अनंतर उदित हुए, दैदीप्यमान, मार्तंडमय आचार्यश्री अपनी आध्यात्मिक शक्तियों के प्रभाव से जहाँ एक ओर अज्ञान– कालुष्य, राग–द्वेष, मोह–ममता की मरीचिका एवं द्वंद्वात्मकता तथा एकांतिकता के निशथान्धकार की इति करते हैं, जीवन में व्याप्त जड़ता का समापन करते हैं और निर्मल ज्ञान की रश्मियों को उद्भासित करते हैं, वहीं दूसरी ओर, भक्तों के प्रति उनका वात्सल्यभाव– आप्लावित आशीष स्निग्धता से स्थित हो, अंतस् की उदारता, कोमलता तथा पवित्रता के साथ प्रवहमान होता रहता है और बन जाता है एक प्रेरक निमित्त हर जीव के कर्मों के विगलन का भी। पूज्यश्री का जीवन आत्म–स्वातंत्र्यबोध–जन्य क्रान्ति का श्लोक है, साधना से मुक्ति का दिव्य चाँद है तथा है; मानवीय मूल्यों की वंदना एवं मानसिक ऐश्वर्य के विकास का यह भगीरथ प्रयत्न, जो स्तुत्य है और है जाति, धर्म, वर्ग, सम्प्रदाय भेद से दूर; पूरी इंसानी जमात की बेहतरी एवं उसके आत्म–उत्कर्ष की भव–भूमि की स्थापना को समर्पित एक सशक्त कदम। **गुरुदेव तो वीतराग साधनापथ के पथिक हैं, निरामय हैं, निर्ग्रन्थ हैं, दर्शन, ज्ञान और आचार की त्रिवेणी हैं, क्रान्तिदृष्टा हैं और हैं परिष्कृत विचारों के प्रणेता भी। महाव्रतों की साधना में रचे–बसे पूज्यवर की 'समय देशना' मानव–मन की गुत्थियों को सहजता के साथ खोलती है और तंद्रा में डूबे मनुज को आपाद–मस्तक झिंझोड़ने की ताकत रखती है।** उनकी संप्रेरणा जो आह्वान करती है, आध्यात्मिक स्फुरण कराती है और चिंतन का आह्वान भी करती है; कुछ इस तरह भी–

मुझे सुननी है ध्वनि अपने भीतर की, आती हुई बाहर को।
अनुभव करना है कि जो है बाहर, वह है भीतर।

देखना है स्वयं को जाते हुए विचारशून्यता की ओर, स्थिर होते हुए भीतर से।

मुझे अनुभव करना है अपनी शान्ति का, सुनना है मौन के अनहद नाद को।

बन्द आँखों से देखना है चमकते हुए तारे पर्वत नदी वृक्ष वन, सरिता मिलती हुई सागर में।

मुझे नहीं बनने देना है स्वयं को यात्रा, बन जाना है मार्ग जो ले जाता है मिलाने स्व को उस शाश्वत सत्य से।

पूज्यवर के विचारों का नवनीत युगों–युगों तक सम्पूर्ण मानवता का मार्गदर्शन करे, हमारी प्रमाद–मूर्छा को तोड़े, हमें अन्धकार से दूर प्रकाश के उत्स की ओर जाने का मार्ग बताता रहे। हमारी जड़ता की इति कर सकारात्मक रूप से गतिशील बनाता रहे। हमें प्रतिपल अधिक चैतन्य, जागरूक सभ्य और शालीन बनाता रहे; यही हमारे मंगलभाव हैं और है हमारे चित्त की अभिव्यक्ति भी– प्रार्थना के, अर्चना के स्वरों के साथ।

■ ■ ■

'समयदेशना' की देशना–शैली

● सुरेश जैन 'सरल'

क्या कोई विद्वान् बतला सकता है कि नर्मदा–नदी के प्रवाह की शैली क्या है? क्योंकि नर्मदा का संसर्ग और सरोकार उद्गम–स्थल से लेकर विसर्जन– स्थल तक, प्राकृतिक बिन्दुओं के स्पर्श से रहा है, अत: कुछ कहना/बतलाना टेढ़ी खीर है। हाँ, कतिपय जन इतना तो कह सकते हैं कि वह पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर बहती है। यही प्रश्न गंगा के विषय में उठाएँ तो वहाँ भी उत्तर मौन ही होगा। बोलनेवाले इतना ही कह पाएँगे कि गंगा देश के उत्तर से दक्षिण–पूर्व की ओर प्रवाहित होती है। अब यदि कोई विचारक पूछ बैठे कि नर्मदा और गंगा की प्रवाह–शैली में क्या अंतर है? तो ज्ञानीजन सहर्ष बोल पड़ेंगे नर्मदा पहाड़ों से होकर बहती है अत: हिरण की तरह उछलती कूदती हुई बढ़ती है, गंगा का सुदीर्घ हिस्सा मैदान में से बहता है अत: वह मंथर–गति से चलती/बहती प्रतीत होती है।

प्रवचन–शैली की बात करते समय हमें नर्मदा और गंगा को ध्यान में रखकर चलना होगा। उच्चारण, कथन, कागज, कलम और लेखक का संगम ही प्रवचन या लेखन कराता है, पर जब उनके विचारों का क्रम शुरू होता है तो कभी लेखनी या वाणी पहाड़ पर चलती प्रतीत होती है तो कभी मैदान पर। उनके विचार और शब्द–संकलन ही शैलियों को जन्म देते हैं। फिर जिस तरह नदियों के किनारे कहीं घाट, कहीं गाँव, कहीं खेत, कहीं श्मशान देखने मिलते हैं, ठीक उसी तरह उनकी शैली में अनेक उपकरण, अलंकरण और समीकरण जन्म लेते रहते हैं। **आदर्श श्रमणाचार्य परमपूज्य गुरुदेव १०८ श्री विशुद्धसागरजी महाराज विरचित ग्रंथ 'समयसार–देशना' का अवगाहन करते हैं तो उसमें अनेक प्रकार के भाष्यों से साक्षात्कार होता चला जाता है। कई बार लगता है कि हमें यदि प्रात:स्मरणीय आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी की देशना सुनने का सौभाग्य मिला होता तो वह सिलसिला कुछ इसी तरह होता, जैसा– आचार्य विशुद्धसागर का सुनने/पढ़ने/ देखने को मिला है।** उनकी वाणी/लेखनी कुछ

इस तरह चलती है कि कतिपय स्थलों पर लगता है कि विषयांतर हो रहा है, मगर जब प्रसंग के आखिरी वाक्य पर पहुँचते हैं तो लाटरी–सी खुल जाती है। सबकुछ विषयानुकूल हो जाता है। उनकी शैली का यह है तो 'लाटरी' खुलना, माने– सब कुछ समझ में आ जाना ही उनकी शैली का प्रमुख प्रस्थान है, शृंगार है।

ध्यान रहे, ग्रन्थ में उनका लेखन नहीं है, प्रवचन है, अत: चर्चा लेखन की नहीं की जा सकती, प्रवचन की ही होगी। वे कई बार कहते हैं– 'जो लखा, सो लिखा।' यह वाक्य भी गहरा रहस्य लेकर उदित है। जो देखा सो लिख दिया एक सामान्य अर्थ हो सकता है, मगर वे कहते हैं कि पूर्वाचार्यों ने जो अनुभूत किया था वह उन्होंने लेखनी में उतारा है। उनके इस वाक्य से पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों का अंतरंग– अभिनंदन हो जाता है।

मैं कह सकता हूँ कि यदि गुरुदेव पूज्य आचार्य विशुद्धसागरजी को प्रवचन करने और स्वाध्याय करने/कराने से तनिक भी समय निकल जाए तो वे बहुत अच्छा लिख सकते हैं, परंतु वे मौलिक–लेखन के लोभ में कभी नहीं रहे, वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की सुगंध के प्रसारण को ही अपना सर्वश्रेष्ठ–कर्त्तव्य मानकर देशना प्रदान करने में संलग्न हैं। वैसे भी, वे कहते हैं कि जिनवाणी में इतना अधिक बोध है कि वह जीवनभर कहा जा सकता है, सुना जा सकता है, मगर समाप्त नहीं हो सकता। अत: वर्तमान में जो लेखक लिखने की बात करते हैं, वे अपने अल्पज्ञान के कारण ऐसा कह देते हैं, क्योंकि लिखते तो वे वही हैं, जो जिनवाणीरूपी रत्नाकर में सदियों से हिलोरे ले रहा है। हमने धरती में एक कुआँ खोदकर कह दिया कि पानी 'हमारे' कुएँ का है, मगर सत्य है कि धरती के एक सिरे से दूसरे तक एक ही पानी है, जिसे हम अपनी–अपनी अंजलि से पीते रहते हैं, इसलिए किसी भी कुएँ का पानी मौलिक (मात्र उसका) नहीं कहा जा सकता। उसी तरह संपूर्ण अध्यात्म– लेखन की वर्तमान–क्रिया मौलिक नहीं कही जा सकती। गुरुदेव प्रतिदिन जो कह रहे हैं, जो सुना रहे हैं, वह उनका नहीं है, शास्त्रों का प्रसाद है– ऐसा वे स्वत: स्पष्ट करते चलते हैं।

उनकी शैली में विरोध और समर्थन एकसाथ जन्म लेते हैं, जब वे कहते हैं– तुम आत्मा हो भी, नहीं भी। कभी कहते हैं– तुम देह भी हो, देही भी हो। उनके ऐसे वाक्य जनसमूह को सोचने के लिए मजबूर कर देते हैं। कभी पूछ बैठते हैं– मानव है या जानवर? सामने बैठे हजारों श्रोता उत्तर देने को आतुर होने लगते हैं कि खड़े होकर कह दें– 'मानव हैं', परंतु जिसने ऐसा कहा है,

वह अगले ही क्षण उनके द्वारा 'पशु' भी सिद्ध कर दिया जाता है, जो शतप्रतिशत श्रोताओं द्वारा मान्य भी होता है। यथा– 'तुम जब पत्नी के साथ पशुता से पेश आते हो, तो क्या जानवर नहीं बन जाते?' ऐसे प्रसंगों पर उनकी शैली को विचित्र (अजब) भी कहा जा सकता है। सच यह भी है कि उनकी प्रवचन/देशना–शैली केवल एक प्रकार की नहीं है कि कह दें– गंगा की तरह मधुर–मंद चलती है। या यह कह दें कि नर्मदा की तरह उछलती–कूदती चलती है। वहाँ तो दो नहीं, ३ प्रकार हैं। मधुर–मंद भी, उछलती–कूदती भी और समुद्र की तरह अगाध गंभीरता धारण करे हुए भी। अत: निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी शैली में सभी रंग–ढंग हैं। इसलिए देश में सर्वाधिक ग्राह्य मानी जा रही है श्रावक–समाज द्वारा। सो एक निर्णय तैयार होता है– 'देशना शैली ग्राह्य है, जन–जन को ग्राह्य है।' यही है उसका सर्वश्रेष्ठ मूल्यांकन। कुछ संतों के प्रवचन सुनते–सुनते मन ऊबने लगता है, तो किसी संत के द्वारा की जाने वाली पुनरावृत्ति से श्रोतागण परेशान हो उठते हैं। आचार्यश्री के साथ ऐसा नहीं है, वे नित्य नया कहते हैं और सब कुछ आगमिक कहते हैं। आगम का पल्ला क्षणभर को भी नहीं छोड़ते। है न आश्चर्य? कि हजारों साल पुरानी बातें करते हैं मगर श्रोताओं को नित नवीन लगती हैं। आचार्य विशुद्धसागरजी प्रवचन करते हुए नित नूतन घोषणाएँ भी करते हैं। एक ऐसी ही घोषणा पढ़ने को मिली जो जनमानस के लिए प्रकाश–स्तंभ है। वे सगर्व बतलाते हैं कि कुछ विद्वानों और मुनियों ने 'समयसार' जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ पर सोनगढ़ की मोहर (मुद्रा) लगा दी थी, कि यह तो सोनगढ़ियों का है, इसे मंदिर में न रखा जावे। किंतु पूज्यश्री कहते हैं– 'यह तो 'आत्मगढ़' का ग्रंथ है। यह जिस मंदिर या आत्मा में उपस्थित नहीं होगा वे अधूरे माने जाएँगे।' स्वतंत्र–भारत में ऐसी सदाशयता बतलाने और सिद्ध करने वाले वे देश के प्रथम आचार्य हैं। यों प्रकारान्तर से यही बात, मुनि पद से ४१ वर्ष पूर्व, इंदौर की एक सभा में वर्तमान के श्वेत–पिच्छीधारी पूज्य आचार्य विद्यानंदजी भी कह चुके हैं कि समयसार तो आत्मा–आत्मा के लिए है, हर मंदिर के लिए है।

विद्वानों के मध्य आदर्श कहे जाने वाले प्रो. श्री रतनचंद्र जैन, भोपाल 'समय–देशना' की शैली ज्ञापित करते हुए लिखते हैं कि आगम के विभिन्न सूत्रों की तर्कसंगत– व्याख्या इसी ग्रंथ में पढ़ने मिलती है और सटीक अलंकारों का सुप्रयोग भी। जो हर मुनि और विद्वान् के लिए श्लाघनीय है।

आचार्य विशुद्धसागरजी की शैली का अगला क्रम बतलाते हुए प्रो. साहब लिखते हैं कि

संपूर्ण ग्रंथ में उन्होंने हृदयतंत्र को झंकृत कर देने वाली, अज्ञानांधकार का विनाश कर, मन को ज्ञानज्योति से जगमगा देने वाली और चित्त को प्रफुल्लित कर देने वाली सूक्तियों का विन्यास किया है। यथा– पाप में डूबा जीव तो उभर जाता है पर क्रियाओं में डूबा जीव नहीं उभर पाता, आदि।

प्रो. (डॉ.) जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर ने संपादकीय में लिखा है कि आचार्यश्री ने कहीं तर्क का आश्रय लिया है तो कहीं अनुभव की कसौटी पर कसा है। पदे–पदे ऐसे छोटे–छोटे वाक्य दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें अर्थों का सागर समाया हुआ है।

वरिष्ठ मनीषी, साहित्यकार, पत्रकार, प्राचार्यश्री नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद ने समय–देशना को 'अमृतकलश' कहते हुए लिखा है कि इस ग्रंथ में हर पृष्ठ पर कुछ वाक्य या वाक्यांश सूक्तियों की तरह हैं, उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनको शीर्षक बनाकर पूरे–पूरे लेख व्याख्यायित किए जा सकते हैं। यथा– 'परमात्मा त्रैकालिक नहीं होता, लेकिन आत्मा त्रैकालिक होता है।' आदि–आदि। मतलब यह कि प्राचार्य महोदय भी बिना कहे, समयदेशना की शैली की सराहना कर गए हैं।

गणाचार्य श्रीविरागसागरजी, आदर्शश्रमण– आचार्य विशुद्धसागर के लिए लिखते हैं कि वे स्व–पर हित में संलग्न हैं, गहन मेहनत कर जो समयदेशना का सृजन किया है वह प्रशंसनीय है। हर पाठक के लिए माननीय एवं चिंतनीय है।

आचार्य विशुद्धसागरजी की वाणी से कुछ साक्ष्य प्राप्त हुए हैं कि उन्होंने समय–देशना के माध्यम से प्राणी–मात्र को समयसारजी की भूतार्थता का बोध करा देने एवं समयसार के नाम पर जो लोक में भय व्याप्त रहा है, उसे समाप्त करा देने के उद्देश्य से ग्रंथ को जन्म दिया है।

समय–देशना के संपादक प्रो. (डॉ.) श्रेयांस कुमार जैन बड़ौत के संपादकीय को पढ़ना उचित माना, वे लिखते हैं– 'यह अध्यात्मरसिकों के लिए परम पेय है।' इस ग्रंथ को उन्होंने अध्यात्म का सरोवर कहा है। चूँकि उनका ध्यान ग्रंथ में वर्णित तत्त्व–चर्चा पर रहा है, अत: उन्होंने इसकी शैली पर पृथक् से कोई वाक्य नहीं दिया, फिर भी उन्होंने जो ऊपर घोषित किया है वह पाठक के लिए प्रकाश तो देता ही है।

आचार्यश्री विशुद्धसागरजी की कथनशैली का आनंद पन्ने–पन्ने पर दृष्टिगोचर होता है। वे कहते हैं– 'जगत् की भाषाएँ जहाँ विराम लेती हैं, वहाँ से अध्यात्म की भाषा प्रारंभ होती है।' यह घोषणा उनकी शैली को दृढ़ता देती है, कथ्य को तो देती ही है। इसी तरह वे तत्त्व को पकड़ने के लिए

जिस शैली का उपयोग करते हैं वह अद्‌भुत निरूपित की जावेगी। वे बतलाते हैं कि एक व्यक्ति को सड़क चलते हुए पत्थर से चोट लग गई। सहयोग देने वाले ज्ञानी ने डॉ. से दवा लेकर पत्थर पर लगा दी, पैर पर नहीं। तत्त्वचर्चा भी दवा की तरह उपयोगी है, किंतु उसे आत्मा से लगाना था जो कहीं अन्यत्र लगा दी जाती है। संपूर्ण ग्रंथ चमत्कारी शैली से भरा हुआ है। आदमी के पुरुषार्थ, ज्ञान और उपयोग को झकझोरते हुए कहते हैं– 'सिक्का नाली में गिर गया। आदमी झुककर, श्रम से उठाकर, गंदगी सहकर उसे निकाल लेता है, मगर उसकी आत्मा भोगों की नाली में वर्षों से पड़ी है, उसे क्यों नहीं निकालता? आत्मा को सिक्कों से कम महत्त्व क्यों दिया जाता है?'

इस तरह लेख के पूर्वार्ध में इस कलम द्वारा किया गया शैली–चिंतन एवं शैली–विश्लेषण, यहाँ समाप्त करता हूँ। सुधीजन ध्यान देंगे और 'समय–देशना' का पूरा–पूरा रस लेंगे।

सरलकुटी ४०८, गढ़ाफाटक
जबलपुर, मो.: ९४२५४१२३७

■ ■ ■

समयदेशना : एक अमृत–कलश

● **नरेन्द्र प्रकाश जैन**

(गुरुचरण चंचरिक)

***समयो खलु णिम्मलो अप्पा**

(निश्चय से निर्मल आत्मा ही समय है) १.– रयणसार।।१५८।।

***समयसार चिद्ज्योति स्वरूप है। समय का वर्णन करने वाला यह 'समय पाहुड' ग्रन्थ है।**

***जो निजानन्द में लवलीन आत्मा है, वह समयसारभूत आत्मा है।** –समयदेशना।।

जीव के दो भेद हैं– संसारी और सिद्ध। शरीर सहित सभी जीवों को संसारी कहते हैं। संसारी जीव अनादिकाल से जन्म–मरण करते हुए नित्य नये–नये शरीर धारण करते आ रहे हैं। शरीर–सन्तति का उच्छेद करने में वे आज तक समर्थ नहीं हो सके हैं। जिनका चित्त मोह–क्षोभ अर्थात् मिथ्यात्व एवं राग–द्वेषादि मल से मलिन होता है, वे संसार– संसरण से कभी मुक्त हो भी नहीं सकते। जो विकार, विभाव या मलिन परिणति से बचने का पुरुषार्थ करते हैं, वे ही एक दिन में पंचपरावर्तनरूप शृंखला को तोड़कर सिद्धालय में विराजमान हो जाते हैं और उसके बाद वह स्वात्मा के सदाबहार आनन्द का सदाकाल अनुभव करते रहते हैं। वे फिर कभी संसार में लौटकर नहीं आते। जन्म–मरण के चक्र से मुक्त जीव ही सिद्ध कहलाते हैं।

इसी बात को संक्षेप में यों भी कहा जा सकता है कि जीव की अशुद्ध दशा का नाम संसार और शुद्ध दशा का नाम मुक्ति है। जैनदर्शन में संसारी और मुक्त या सिद्ध, इन दोनों ही जीवों का वर्णन मिलता है। जीव की शुद्ध दशा का कथन जिस दृष्टि से होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं तथा जिस पद्धति से अशुद्ध दशा का वर्णन किया जाता है, उसे सिद्धान्त कहते हैं। किसी भी भव्यात्मा को अपने दोषों के साथ ही स्वरूप के बारे में जानना आवश्यक है। कहा भी गया है कि बिन जाने तैं दोष–गुणन को, कैसे तजिए– गहिए। सिद्धान्त और अध्यात्म परस्पर विरोधी नहीं, एक–दूसरे के पूरक हैं। सिद्धान्त का ज्ञान साधन है तो अध्यात्म का ज्ञान साध्य है। कारणों को मिलाए बिना कभी कार्य की सिद्धि नहीं होती। अशुद्धि को जानकर उसे दूर करने का पुरुषार्थ करेंगे, तभी तो शुद्ध दशा को हटाकर विशुद्धात्मा के दर्शन हो सकते हैं। मन में यदि यह विश्वास नहीं होगा, तो भी काम बनने वाला नहीं है।

अध्यात्म के गीत गाने मात्र से कोई आध्यात्मिक नहीं होता। उसे सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर जीवन में उसका प्रयोग (संयम या व्यवहार चारित्र का पालन) भी करना अनिवार्य है। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित 'समयसार' जैनाध्यात्म का एक सिरमौर ग्रन्थ है। इसी एक ग्रन्थ के कारण आचार्य कुन्दकुन्द को युगप्रवर्तक साधु माना जाता है तथा भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद सभी लोग उनके नाम का श्रद्धा से स्मरण करते आ रहे हैं। उनके नाम से ही मूलसंघ को कुन्दकुन्दान्वय नाम से उल्लिखित किया जाता है। उनके इस महत्त्व को देखते हुए ही कविवर वृन्दावन ने लिखा है 'कुन्दकुन्द से मुनीन्द्र न थे, न हैं, न होएँगे।' यह 'समयसार' ग्रन्थ केवल वाणी–चिवर का विलास नहीं है, बल्कि आचरण–पुष्प का मकरन्द है। भ्रमर–सरीखी जिसकी वृत्ति है, वही इसका आचमन करने का अधिकारी है। सिद्धान्त में वर्णित उपायों को आस्रव का कारण मानने वाले इसे नहीं पचा सकते।

व्यवहारनयाश्रित सिद्धान्त के ज्ञान से वंचित अथवा जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करने वाले जीव शुद्ध निश्चयनयाश्रित 'समयसार' को पढ़कर कभी–कभी अपने लक्ष्य से भटकते हुए भी देखे जाते हैं। 'समय देशना' में देशनाकार सतत् ज्ञानाभ्यासी पूज्य आचार्यश्री विशुद्धसागरजी महाराज ने ठीक ही इशारा किया है– 'सुननेवाला समयसार बहुत सरल है और करनेवाला समयसार बहुत कठिन है।' उन्होंने यह भी लिखा है– **'अन्दर–बाहर का कोलाहल बन्द होने पर ही समयसारस्वरूप की प्राप्ति होगी।'** आगरा प्रवासी पं. बनारसीदास जैन एक बहुश्रुत एवं बहुपाठी

विद्वान् थे। समयसार की एक टीका को पढ़कर उनका जो विपरीत परिणमन हुआ, वह एक मार्मिक उदाहरण के रूप में हमारे सामने है।

यह प्रसंग है विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का। उस समय पण्डितजी आगरा के मोतीकटरा मोहल्ले में रहते थे। स्वाध्याय में उसकी गहरी रुचि थी। जो भी ग्रन्थ हाथ में आ जाता, अपने मित्रों के मध्य वह उसकी वाचना करते थे। स्वाध्याय का क्रम व्यवस्थित नहीं था। अपनी छन्दोबद्ध आत्मकथा 'अर्धकथानक' में वह स्वयं लिखते हैं कि जैनधर्म का व्यवस्थित परिज्ञान न होने से 'समयसार' नामक अध्यात्म शास्त्र को पढ़कर उनकी बुद्धि भ्रमित हो गई थी। समयसार पढ़ने के पूर्व ही उन्होंने अपने मित्र नरोत्तम के साथ णमोकार की एक माला करने का नियम लिया था। व्रत–भंग होने पर घी का त्याग करने की प्रतिज्ञा की थी। हर चतुर्दशी को उपवास करते थे तथा सूचीबद्ध पचास हरी (सब्जी–तरकारी आदि) के सेवन की मर्यादा निश्चित की थी। यह बात आत्मकथा में उन्होंने स्वयं लिखी है, ध्यान से पढ़िए :–

नौकारवाली एक जाप नित कीजिए।
दोष लगे परभात तो घीउ न लीजिए।।४३५।।
मारग वरत यथासकति सब चौदस उपवास।
साखी कीन्ही पास जिन राखी हरी पचास।।४३६।।

इसी बीच उनके एक मित्र श्री अरथमल्ल ने राजमल्लकृत समयसार की टीका स्वाध्यायपीठ पर विराजमान की। उसका स्वाध्याय वे सभी करने लगे। पढ़ते–पढ़ते बुद्धि चकराने लगी। वह लिखते हैं :–

तब बनारसि बाँचे नित्त भाषा अरथ विचारै चित्त।
पावै नहिं अध्यात्म पेच, मानैं बाहिज किरिया हेच।।५०४।।

माला फेरना, रस त्यागना, खाना–पीना आदि तो बाह्य क्रियाएँ हैं। आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध है। उस पर इन जड़ क्रियाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी विकृत सोच उनकी बुद्धि में आया और उन्होंने लिए हुए सभी नियम तोड़ दिए। उनका जो पतन हुआ, उसका वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है :–

जिन प्रतिमा निंदहिं मन माहिं,
मुख लो कहहिं जो कहनी नाहिं।

रमाहिं रात–दिन पशु की भाँति,
रहे एकांत मृषामद भाँति।।६१२।।

समयसार का अपरिपक्व बुद्धि से अभ्यास करने से उनका यह पतन वि.सं. १६७१ से शुरू हुआ, जिसका पटाक्षेप वि.सं. १६९२ में तब हुआ, जब पाण्डे रूपचन्द ने उन्हें 'गोम्मटसार' का स्वाध्याय कराया। बीस वर्ष तक उनकी यह दुर्दशा रही। उसके बाद उनका सुलटना शुरू हुआ, उनकी बुद्धि में आया–

जो जिय जिस गुणथानक होय,
तैसी क्रिया करैं सब कोय।।६३२।।
भिन्न–भिन्न विवरण विस्तार,
अन्तर नियत बहुरि व्यवहार।।६३३।।
सुनि–सुनि रूपचंद के बैन,
बनारसी भयौ दिढ़ जैन।।

आज भी हमारे समाज का एक वर्ग एकान्तवाद के भँवर में झूल रहा है। 'समयदेशना' में आचार्यश्री ने ठीक ही लिखा है– 'पात्र की भूमिका को न देखकर और गुणस्थान– क्रम से कथन न करने के कारण, ज्ञानी! चौदहवें गुणस्थान का कथन चौथे में लगाओगे तो विवाद तो होना ही है।' सच तो यही है कि जिसने पहले आस्रव और बन्ध की प्रक्रिया को समझ लिया है, अध्यात्म की कथनी को वही आत्मसात कर सकता है। हर कोई उसे नहीं पचा सकता।

'समयसार' आत्मा के अचिंत्य वैभव की अनुभूति कराने वाला एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। शुद्ध आत्मतत्त्व का प्रतिपादक ग्रन्थ सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में दूसरा नहीं है। इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से जीव की यह समझ बनती है कि मैं शुद्ध, निरंजन, शाश्वत और अविनाशी तत्त्व हूँ, जानना और देखना मेरा स्वभाव है, पर वर्तमान में पर का कर्त्ता या भोक्ता स्वयं को मानता हूँ। यही मेरी भूल है और इस भूल के कारण मेरी पराधीनता है। जानने और देखने के अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं, वे सभी संयोगज भाव हैं। अकेली आत्मा के तो ये भाव हो ही नहीं सकते। उपादान के अशक्त होने से हमारा मन और इन्द्रियाँ बहिर्मुखी बनी हुई हैं। **बाहर बहुत भटकने वाला सुविधायें तो पा सकता है, किन्तु सुख को कदापि नहीं। सुविधा क्षणभंगुर और सुख शाश्वत होता है। उस शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए हमें अन्तर्मुखी होना होगा। सुख तो हमारी अपनी निधि**

है, बाहर भटकने से वह कभी प्राप्त नहीं हो सकती। 'समयसार' की सीख याद रखनी चाहिए 'बाहर के पट बंद कर, अन्तर के पट खोल।'

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने ग्रन्थ के मंगलाचरण में सिद्ध भगवान् को नमस्कार किया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आदर्श की उपासना करता है। जीव की पूर्ण स्वतंत्र एवं शुद्ध अवस्था उन्हें प्रिय है। चूँकि सिद्ध–भगवान् स्वभाव–अवस्था को प्राप्त हैं और 'समयसार' का सूत्रधार भी उसी अवस्था को प्राप्त करना चाहता है, इसलिए उन्होंने सर्वप्रथम सिद्ध–परमात्मा की वन्दना कर अपने अभिप्रेत को व्यक्त कर दिया है। हम भी तो कर्म से रहित उस सिद्धपरमेष्ठी की उपासना करते हैं, जिसके विषय में कहा गया है– 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रसलीन।' पर से निर्पेक्ष उनका यह क्षायिक भाव ध्रुव है। कभी पर से प्रभावित नहीं होते, वह अचल हैं अर्थात् उनका यह भाव कभी नष्ट नहीं होगा। उनका यह स्वभाव से उत्पन्न आनन्द अभौतिक है, उसकी भौतिक उपासना नहीं की जा सकती। ऐसी ध्रुव अचल और अनुपम आत्मा का वर्णन करने वाला ग्रन्थ है 'समयसार' और इस ग्रन्थ के रचयिता ने उस निर्लिप्त आत्मा के विषय में वही कहा, जो उन्हें श्रुतकेवली से और आचार्यपरम्परा से प्राप्त हुआ है। अपनी ओर से कुछ नहीं कहा। जो भी कहा, प्रामाणिक महापुरुषों से सुनकर और समझकर कहा है। यह कोई ग्रन्थ या महाग्रन्थ नहीं है, यह तो एक अमृत कलश है, जिसकी एक बूँद में भी विकारों के शमन की अपरिमित सामर्थ्य है।

'समयसार' चिदानन्दरूपोन्मुख शास्त्र है। उसमें आत्मा के शुद्धोपयोग की चर्चा है। शुद्धात्मा शुभ और अशुभ दोनों से ही विरत होती है। परमपारिणामिक भाव ही उसे इष्ट है। मिलावट चाहे शुभ की करें या अशुभ की, उसकी दृष्टि में दोनों की खोट हैं। जो सोना है, उसी को शुद्ध सोना कहा जा सकता है। एक तोला सोने में यदि एक रत्ती भी ताँबा मिला हुआ है तो द्रव्यदृष्टि में वह शुद्ध नहीं है। समयसार विभाव कर्म का भेद होने से पाप व पुण्य को समान मानता है। एक को लोहे की बेड़ी मानता है तो दूसरे को सोने की। एकान्त दृष्टिवाले इसे पकड़कर बैठ गए हैं और पुण्य को भी पाप की तरह हेय कहने लगे हैं। यथार्थ में कुन्दकुन्द का अभिप्राय समझने में बड़े–बड़ों में भूल हो जाती है। अपने अन्य ग्रन्थों में उन्होंने पुण्य के भी प्रशस्त और अप्रशस्त, ये दो भेद किए हैं। सम्यग्दृष्टि जीव प्रशस्त पुण्य का आश्रय लेता है, जिसका काम पाप से छुड़ाना है। पाप को छुड़ानेवाला हेय कैसे हो सकता है? वह तो शुद्धोपयोग की प्राप्ति में उपायरूप है। जो उपाय उपादेय तक पहुँचाये, वह ग्राह्य है। **कौनसा कथन किस अपेक्षा से कहा गया है, इसे**

जाने बिना कोई धारणा बना लेना ही एकांत है। 'समयसार' का मर्म समग्र दृष्टि से ही समझा जा सकता है, एकान्तबुद्धि से नहीं। आचार्य देवसेन ने लिखा है कि सम्यग्दृष्टि का निदान रहित (प्रशस्त) पुण्य नियम से मोक्ष का हेतु है, संसार का नहीं।

'समयसार' में वर्णित एकत्व–विभक्त आत्मा की चर्चा हमने पहले कभी सुनी नहीं, इसलिए अटपटी–सी लगती है और काम–भोग–बन्ध की कथा हम जन्म–जन्मान्तर सुनते आए हैं, इसलिए मन को सुहानी लगती है। जो आज तक अपरिचित है, उसका परिचय प्राप्त करते समय मन अटकता और उलझता है। उसका निरन्तर श्रवण या अभ्यास ही हमें समाधान दिला सकता है। नए–नए श्रोताओं या पाठकों के लिए समयसार का पढ़ना पहेलियाँ बुझाने जैसा कार्य है। योग्य वक्ता या व्याख्याकार जब युक्तिसंगत वार्ता या लेखन से किसी वस्तु को प्रस्तुत करता है तो कठिन वस्तु भी सरल लगती है। आत्मा बद्ध है या अबद्ध, स्पृष्ट है या अस्पृष्ट, अनन्य है या अन्यरूप भी परिणत होती है– ऐसे अनेकानेक प्रसंग पहेलियाँ– जैसे ही तो हैं, किन्तु 'समयदेशना' में पूज्य आचार्यश्री ने उन्हें सोदाहरण जिस तरह से समझाया है, उससे शंका के लिए किसी के मन में कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। उन्होंने अपनी देशना में जो भी कहा है, वह अनुभूत है। उन्होंने 'समयसार' को पढ़ा ही नहीं, जिया भी है। **ऐसे सन्तों की वचनिका का लाभ मिलना भी प्रशस्त पुण्योदय का सूचक है।**

'समयसार' पर लिखी गई टीकाओं या वचनिकाओं में यह अधुनातन होने से अप्रतिम है। जो बाद में कही–सुनी या लिखी जाती है, उसमें पूर्ववर्ती सभी व्याख्याओं का भी सार आ जाता है। इस टीका में भी अब तक की सभी टीकाओं का सार निहित है। पढ़ने में मन लगता है, चित्त ऊबता नहीं है और बार–बार पढ़ने की इच्छा होती है। 'दो शब्द' लिखने के बहाने हमें भी इस देशना को आद्यन्त पढ़ने का सुअवसर मिला, इसे हम अपना सौभाग्य मानते हैं। इस ग्रन्थ में हर पृष्ठ पर कुछ वाक्य या वाक्यांश सूक्तियों की तरह हैं। कुछ सूक्तियाँ तो ऐसी हैं, जिनको शीर्षक बनाकर पूरे–पूरे लेख लिखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए कुछ सूक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

- परमात्मा त्रैकालिक नहीं होता, लेकिन आत्मा त्रैकालिक होता है...
- परमात्मा तो पर्याय है, द्रव्य तो आत्मा है।
- पाप में डूबा जीव तो उबर जाता है, परन्तु क्रियाओं में डूबा जीव नहीं उबर पाता।
- इस भ्रम को निकाल देना कि मैं त्रैकालिक शुद्ध हूँ। शक्तिरूप तो हूँ, परन्तु अभिव्यक्ति रूप

नहीं हूँ।

- जब तक विशेषण चल रहे हैं, तब तक विशिष्ट नहीं हो पाओगे।
- समय को समझना है, तो हे योगीश्वर! समय को समझना, समय पर समझना, समय के लिए समझना और समय में समझना।
- जो–जो परिनिमित्त हैं, वे सब मेरे आत्मधर्म से परे हैं।
- जितने–जितने व्याख्यान हैं, वे सब परसमय हैं। जो व्याख्यानातीत है, वह स्वसमय है।

ये तो नमूने मात्र हैं, अन्यथा तो 'समयदेशना' में से ऐसी सारगर्भित एवं गूढ़ार्थपोषक सूक्तियों की 'सतसई' तैयार की जा सकती है।

पूज्य आचार्यश्री के करुणापूरित हृदय से सृजित यह कृति सबका मंगल करे, इस भावना के साथ पूज्यश्री के चरणों में शतशः नमोस्तु।

१०४, नई बस्ती, फिरोजाबाद (उ.प्र.)
मो.: ०९३५८५८१००८

■ ■ ■

समयसार

भूमिका : निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना, निश्चय चारित्र को कहते हैं–

गाथा :

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेय– वित्थर– विसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।३८३।।
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि वज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा।।३८४।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थर– विसेसं।
तं दोसं जो चेददि सो खलु, आलोयणं चेदा।।३८५।।
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पडिक्कमदि जो य।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा।।३८६।।

संस्कृत छाया :

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेक विस्तर विशेषम्।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम्।।३८३।।
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता।।३८४।।
यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तर विशेषम्।
तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता।।३८५।।
नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता।।३८६।।

अन्वयार्थ : (पूर्वकृतं) पूर्वकृत **(यत्)** जो **(अनेक विस्तर विशेषम्)** अनेक प्रकार के विस्तारवाला **(शुभाशुभम् कर्म)** ज्ञानावरणीयादि शुभाशुभ कर्म हैं **(तस्मात्)** उससे **(यः)** जो आत्मा

(आत्मानं तु) अपने को **(निवर्तयति)** दूर रखता है **(सः)** वह आत्मा **(प्रतिक्रमणम्)** प्रतिक्रमण है। **(भविष्यत्)** भविष्यकाल का **(यत्)** जो **(शुभम् अशुभं कर्म)** शुभ–अशुभ कर्म **(यस्मिन् भावे च)** जिस भाव में **(बध्यते)** बँधता है **(तस्मात्)** उस भाव से **(यः)** जो आत्मा **(निवर्तते)** निवृत्त होता है **(सः चेतयिता)** वह आत्मा **(प्रत्याख्यानं भवति)** प्रत्याख्यान है। **(संप्रति च)** वर्तमान काल में **(उदीर्ण)** उदयागत **(यत्)** जो **(अनेक विस्तर विशेषम्)** अनेक प्रकार के विस्तारवाला **(शुभम् अशुभम्)** शुभ और अशुभ कर्म हैं **(तं दोषं)** उस दोष को **(यः)** जो आत्मा **(चेतयते)** चेतता है **(सः चेतयिता)** वह आत्मा **(खलु)** वास्तव में **(आलोचनं)** आलोचना है। **(यः)** जो **(नित्यं)** सदा **(प्रत्याख्यानं करोति)** प्रत्याख्यान करता है **(नित्यं प्रतिक्रामति च)** सदा प्रतिक्रमण करता है और **(नित्यम् आलोचयति)** सदा आलोचना करता है **(सः चेतयिता)** वह आत्मा **(खलु)** वास्तव में **(चरित्रं भवति)** चारित्र है।

समयदेशना

भव्य बन्धुओ! अन्तिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। तीर्थंकर जिनेन्द्र की पीयूष देशना मनीषियो! जगत्कल्याणी है। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुव–ज्ञायकस्वभावी भगवानात्मा के सहज–स्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं।

आचार्यभगवन् 'सर्वविशुद्ध ज्ञान–अधिकार' में चार गाथाओं के माध्यम से निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना और निश्चय–चारित्र की विवेचना कर रहे हैं।

ज्ञानियो! प्रतिक्रमण जीवन की बहुत बड़ी साधना है। आत्मा को निर्दोषता दिलाने वाली जो विद्या है, उसका नाम है प्रतिक्रमण। पूर्व में हुए दोषों का वर्तमान में प्रक्षालन करना, इसका नाम है प्रतिक्रमण।

वैराग्य से भरे जीव को शरीर की शक्ति की क्षीणता, काल की कलुषता तथा परिणामों की चञ्चलता ये सब मिलाकर दोष उत्पन्न कराती हैं। चंचलवृत्ति चित्त को विशुद्ध नहीं होने देती है। लगता ऐसा है कि मैं किसी को छेड़ रहा हूँ, परंतु होता ये है कि स्वयं को ही स्वयं छेड़ लेता है। लगता ऐसा है कि मैं दूसरों को दुःख दे रहा हूँ, परन्तु होता ये है कि जीव स्वयं को ही स्वयं दुःख दे रहा है। जिसको मैं दुःख देना चाहता हूँ वह दुःख उसके पुण्य–पाप पर आलम्बित है, परन्तु दुःख देने वाला स्वयं ही अपने पुण्य का नाश कर रहा है और पाप को बढ़ा रहा है। यह विपरीत सोच है कि मैं पर का उपकारी हूँ, मैं पर का अपकारी हूँ, पर ध्रुव सत्य ये है कि न कोई

पर का उपकारी है, न अपकारी है, अपितु स्वयं ही जीव स्वयं का उपकारी है और अपकारी है।

ज्ञानी! पूर्व में हुये दोषों का जो प्रक्षालन है, वह प्रतिक्रमण है। व्यवहार से समझो, दोष हो गया, भूल हो गई। मित्र! आत्मा से ही भूल होती है। **जो भूल को भूल नहीं मानता, वह बहिरात्मा है। जो भूल को भूल मानकर भूल को छोड़ने का पुरुषार्थ करता है, वह अन्तरात्मा है और जो कभी भूल करता ही नहीं, जिससे भूल होती ही नहीं है, भूल होने के हेतु ही जिसके नष्ट हो चुके हैं, वही परमात्मा है।**

मुमुक्षु! हम लौकिक भाषा का प्रयोग क्यों करें? आगम की भाषा का प्रयोग करो। जिसके अन्दर से भूल होने के हेतु ही नष्ट हो चुके हैं, वह परमात्मा है। जिसके अन्दर भूल होने के हेतु तो हैं, पर भूल नहीं कर रहा है, कषाय है, इन्द्रियाँ हैं, पाप के हेतु होने पर भी जो पाप से अपनी रक्षा कर रहा है, उसका नाम है महात्मा, साधुपुरुष।

मित्र! आप जब वस्त्र धोने बैठते हैं, तब आपकी आँख कहाँ होती है? आँखें मैल पर हैं कि, आँखें स्वच्छता पर है? कौन आ रहा है? कौन जा रहा है? यह कुछ भी नहीं देख रहा है, अपितु दोनों हाथों से वस्त्रों को कूट रहा है। दृष्टि स्वच्छता पर है, नेत्र मैल पर हैं, अंतरंग दृष्टि स्वच्छता को देख रही है। ज्ञानी! यदि मलिन वस्त्र में स्वच्छता न दिखती होती तो तुम धोने ही न बैठते। ओ हो! जब वस्त्र धोते समय, वस्त्र धोने वाला पुरुष यह नहीं देख रहा है कि कौन? कहाँ? कैसा है? उसे मात्र वस्त्र की स्वच्छता दिख रही है। जैसे वस्त्र धोने वाला पुरुष अपने वस्त्र को स्वच्छ देखता है, वैसे–ही वीतरागी निर्ग्रन्थ तपोधन निजके स्वात्म–चादर में लगे अपराधों को कलंक–कालिमा को धोते समय नहीं देखता है कि कोई क्या कर रहा है? उसे कोई प्रयोजन नहीं है कि कौन क्या कर रहा है? मुझे तो अपना चादर स्वच्छ रखना है, क्योंकि स्वयं के वस्त्रों में से स्वयं को ही दुर्गन्ध आती है। चित्त के मलिन होने पर, प्रतिक्रमण के माध्यम से अपने भावों को स्वच्छ करो।

मित्र! आपने पानी में निरमा डाल दिया, परन्तु वस्त्र नहीं डाला तो वस्त्र स्वच्छ नहीं होगा। उसी प्रकार से सामने प्रतिक्रमण का ग्रंथ रखा हुआ है, मुख से प्रतिक्रमण पाठ भी चल रहा है, आँखें इधर–उधर जा रही हैं, बीच–बीच में बातें भी कर लेता है तो मित्र! तेरा पूरा पानी व्यर्थ ही बह गया, फिर भी तेरा चारित्र शुद्ध नहीं हुआ। ज्ञानी! अंतरंग के भावों को सँभालकर रखना अत्यंत कठिन है। बोलने की आदत है तो व्यक्ति प्रतिक्रमण करते–करते भी बातें कर लेता है। जितने समय आपने परस्पर में बात–चीत की उतने समय का प्रतिक्रमण आपका छूट गया है, तद्जन्य अतिक्रम

हुआ कि नहीं? अब जो आपने प्रतिक्रमण में अतिक्रमण किया है उसका प्रतिक्रमण करो।

जैनदर्शन में भावों की शुद्धि का सूक्ष्म विद्याओं में वर्णन है। पहले तो सब–कुछ छुड़वा दिया, साधु बनवा दिया अब कह रहे हैं कि प्रतिक्रमण करो, किञ्चित् भी अतिक्रमण हुआ हो तो उसका भी प्रतिक्रमण करो।

शासन अतिक्रमण क्यों हटाती है? क्योंकि आपने अनधिकृत चेष्टा की है, अधिकारों का हनन किया है। वैसे–ही जिसने मुनिपद को ग्रहण किया है, उसे यह बोध होना चाहिए कि हमारे आवश्यक क्या हैं? हमारी क्या साधना है? हमें क्या करना चाहिये? मुनि का मार्ग क्या है? जो उस मार्ग से हटकर चलेगा, उसे प्रतिक्रमण करना होगा। बिना प्रतिक्रमण के, बिना भाव शुद्धि के सल्लेखना, समाधि सम्भव नहीं है।

ओ हो! जब एक आचार्य दूसरे आचार्य से मिलते हैं, किसी आचार्य से मुनि मिलने आते हैं तब सबसे पहले यही पृच्छना होती है कि आपके दीक्षा गुरु कौन हैं? शिक्षागुरु कौन हैं? आपका संयमकाल, साधनाकाल कितना हो चुका है? आपके प्रतिक्रमण कितने हुये हैं?

माँ! आपका मकान बना था उस दिन वह पूर्ण स्वच्छ था। किसी प्रकार की गंदगी नहीं थी। नालियाँ भी स्वच्छ थीं, परंतु बाद में स्वच्छ मकान में गंदगी होना प्रारम्भ हो गई। मित्र! घर में रहोगे, तो गंदगी भी होगी और यदि मकान की गंदगी साफ नहीं करोगे, तो मकान गंदगी से भर जायेगा। यहाँ तक कि आप मकान की नालियों को भी साफ कर देते हो। यदि साफ नहीं करोगे तो घर में किच–किच मच जायेगी। ऐसे–ही हे श्रावक! हे श्रमण! जब व्रत धारण किया जाता है तो स्वच्छ ही होता है, कोई नहीं विचारता है कि मैं व्रत लेकर दोष लगाऊँगा, परन्तु साधना के काल में परिणामों की धारा कभी ऊपर, कभी नीचे होती ही है।

हे मुमुक्षु! आगम को गुरु के अभाव में अध्ययन करेगा तो आगम के रहस्यों को नहीं जान पायेगा और फिर तू जब व्याख्यान करेगा तो आगम के विरुद्ध ही बोलेगा। इसलिए गुरु–सान्निध्य भी चाहिये। आप मकान में रहते हो तो प्रतिदिन उसकी सफाई भी करते हो। हे ज्ञानी! ऐसे–ही जो आपने चारित्र का भवन खड़ा किया था, वह स्वच्छ था। जैसे तूफान आने पर मकान में कचरा अपने आप भर जाता है, तब भी आप सफाई करते हो। ऐसे–ही **हे साधको! आपके भावों में जो कषायों का तूफान आया है, दूषित परिणाम हुए हैं, विकृत परिणामों से जो गंदगी हुई है, उसे साफ करने के लिए प्रतिक्रमण कीजिये।**

दिगम्बर जैन आगम में सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन है। दिगम्बर मुनि उत्तमार्थ प्रतिक्रमण

करके अपने प्राणों का त्याग करता है। दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक ईर्यापथ एवं उत्तमार्थ– यह सात प्रतिक्रमण हैं।

एक गरीब पुरुष था, उसके खाने का भी कोई विशेष साधन नहीं था। वह सिर पर पोटली रखकर गाँव–गाँव में वस्तु बेचा करता था। उस व्यक्ति के पास एक घोड़ा था। भैया! जब अशुभ का समय आता है, तो पता नहीं क्या से क्या हो जाता है। पाप के उदय में लगे में ही लगती है। वैसा ही उस गरीब के साथ हुआ। उसके घोड़े की आँखों की रोशनी चली गई। अचानक ज्योति जाने से, उसके पास जो साधन था वह विकृत हो गया। वह गरीब अपना घोड़ा लेकर वैद्य के पास जाता है, परन्तु हुआ यह कि वहाँ वैद्य था नहीं, तब वैद्य के बेटे से गरीब बोला कि बेटा! फूटे की क्या फूटेगी? नेत्रों की ज्योति जा चुकी है, तुम्हारे पास जो भी अंजन हो एक–एक सलाई लगा दो। वैद्य के पुत्र ने एक–एक अंजन– शलाका घोड़े के नेत्र में लगाना प्रारंभ किया, उनमें से एक शलाका ऐसी थी जिसके कारण घोड़े की नेत्र की ज्योति पुनः वापिस आ गई।

मुमुक्षु! यहाँ कथा कहने का अभिप्राय क्या है? हे जीव! जैसे घोड़े की गई ज्योति शलाका के लगने से वापिस आ गई, ऐसे–ही जैन मुनियों को सात प्रकार के प्रतिक्रमण करने का जिनागम में कहा है, पता नहीं किस प्रतिक्रमण से भावों की शुद्धता हो जावे। अंतिम प्रतिक्रमण में भी तेरी दृष्टि फिर गई तो तेरी चारित्र की ज्योति प्रकट हो जायेगी और संसार के अंधकार से तू बच जायेगा। सातों प्रतिक्रमण साधक को अभीष्ट हैं। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं। पहला प्रतिक्रमण दैवसिक है। दिन में हुए दोषों का संध्याकाल में प्रतिक्रमण करना, दोषों का प्रक्षालन करना, यह दैवसिक प्रतिक्रमण है। आहारचर्या के उपरांत गुरु अथवा प्रभु पादमूल में बैठकर, आहार में, गमन इत्यादि में जो दोष लगे हैं, यह ईर्यापथ प्रतिक्रमण है।

भैया! बंध्यास्त्री क्या जाने प्रसूति की पीड़ा। जिसने संयम धारण ही नहीं किया, उसको संयम की अनुभूति का क्या बोध होगा? **मुमुक्षुओ! अध्ययन मात्र से कल्याण संभव नहीं है, चर्चा के साथ चर्या भी होना चाहिये।** धन्य हो दिगम्बर योगियों को जो निज को पल–पल सँभाल रहे हैं, दैवसिक प्रतिक्रमण किया, फिर ईर्यापथ प्रतिक्रमण किया, फिर रात्रिक प्रतिक्रमण किया, फिर पाक्षिक प्रतिक्रमण पन्द्रह दिन में करते हैं। पन्द्रह दिन में मेरे से जो भी दोष हुआ तो वह दोष मिथ्या होवे। चार माह में पुनः दोषों के प्रक्षालन के लिए चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करते हैं, जबकि प्रतिदिन प्रतिक्रमण कर चुके हैं। संवत्सर/वार्षिक, वर्ष में एक बार जो प्रतिक्रमण होता है वह वार्षिक प्रतिक्रमण है। सालभर में तीन अष्टाह्निका होती हैं, उन पर्वों की चतुर्दशी को श्रमण प्रतिक्रमण

करते हैं। साल में तीन चातुर्मास होते हैं। वर्षाकाल का चातुर्मास है, यह जीवों की बहु–उत्पत्ति का काल है, इसमें साधु एक ही नगर/गाँव में स्थिर होकर साधना करते हैं और शेष दो चातुर्मास होते हैं, उस काल में विहार होता है। इन सभी प्रतिक्रमणों के उपरांत दिगम्बर मुनि/आचार्य सल्लेखना के लिए निर्यापकाचार्य की खोज करके क्षपक अर्थात् सल्लेखना/समाधि धारण करने वाला साधक निर्यापकाचार्य के पादमूल में अपने दोषों के प्रक्षालन के लिए जीवन का अन्तिम प्रतिक्रमण करते हैं, उसे उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहते हैं।

कदाचित् साधना के काल में कोई दोष का प्रतिक्रमण न किया हो, मान के आवेश में अपने जीवन में कोई दोष छिपाकर रखे हों, उसे भी साधक प्रकट करता है। भैया! मनुष्य मान के आवेश में सोचता है कि मैं अपने दोषों को प्रकट कर दूँगा तो ऐसा न हो कि गुरु हमारे पर अविश्वास करने लगेंगे, संघ के सदस्य हमारी विनय करना छोड़ देंगे अथवा लोग हमें हीन समझने लगेंगे और कहेंगे कि– ये तो दोषी–पापी हैं। ऐसे विचार करके जीव अपने दोषों को छुपा लेता है। असंख्यात–लोक–प्रमाण परिणाम हैं। आलोचना पूरी नहीं की, आपसे चींटी मर गई तो आपने आलोचना करके, प्रतिक्रमण कर लिया, प्रायश्चित्त कर लिया, परन्तु हे मित्र! आपके मन में जीवों की हिंसा के जो परिणाम हुए थे, उसका क्या होगा?

ओहो! श्रावको! जीवन सँभल कर जियो, सोच–समझकर बोला करो। किसी से झगड़ा हो गया, आपको क्रोध आ गया और आपने आवेश में आकर बोल दिया कि इसको गोली मार दूँगा। भैया! आप किसी को मार पाओ या न मार पाओ, उसका पुण्य है वह जी रहा है, परन्तु आपने पञ्चेन्द्रिय जीव की संकल्पी हिंसा का पापार्जन कर लिया है।

भैया! व्यक्ति सर्वाधिक पाप दूसरों के प्रति राग करके, दूसरे के प्रति द्वेष करके करता है। हे मुमुक्षु! जिससे तू राग कर रहा है वह भी तेरा नहीं है और जिससे तू द्वेष कर रहा है वह भी तेरा नहीं है। तेरे लिए तो दोनों ही पर हैं। साधु के मन में जब–तक साम्य का सूत्र नहीं आ रहा है, तब तब साधुत्व–साधुता सम्भव ही नहीं हैं। मुमुक्षु! जीवन में ज्यादा न सीख पाओ, तो इतना अवश्य सीख लेना कि सूत्र शब्दब्रह्मभूत ही न रहे, आत्मब्रह्मभूत हो जाये। इस तन से अंतिम श्वास निकले, उससे पहले 'आत्मस्वभावं परभाव भिन्नं' सूत्र समझ लेना।

भैया! जगत् से कह देना कि– मैंने अपनी पर्याय के बहुत निषेक तुम्हारे लिए नष्ट कर दिये, अब मुझे अन्तिम समय शान्ति से जीने दो। संबंध संबंध हैं, स्वभाव नहीं है। ज्ञानी! सातवाँ प्रतिक्रमण है, उत्तमार्थ प्रतिक्रमण। उत्तमार्थ प्रतिक्रमण का अर्थ है कि– जीवनपर्यन्त, संयमकाल में जो दोष

छुपाकर रखे थे उनको अन्तिम श्वासों के समय प्रकट कर, प्रतिक्रमण– प्रायश्चित्त कर लिया।

गुरु के समक्ष बालकवत् अपने समस्त दोषों को प्रकट करना। पूर्ण निर्दोषता के साथ श्वास लेने के लिए सहन–शक्ति चाहिये। गुरु भी इतना दृढ़ होना चाहिये कि प्राण निकल जायें, परन्तु शिष्य के दोषों को दूसरों के समक्ष प्रकट न करें। शिष्य ने विश्वास के साथ जीवन सौंपा है, तो गुरु का कर्त्तव्य है कि वह शिष्य के दोषों को छुपाकर रखे। भैया! एक पिता भी अपने पुत्र की बात को किसी पड़ोसी को कहने गया है तो वह पिता बनने के लायक नहीं है। कोई पिता यदि अपने ही पुत्र की शिकायत करने पड़ोस में जाये, तो पड़ोसी भी सोचेगा कि कैसा पिता है जो अपने ही जने पुत्र को नहीं सँभाल पाता है? बेटे की हँसी तो बाद में होगी, परन्तु हे पिता! तेरी हँसी तो अभी हो चुकी है।

माताओ! इस बात को गाँठ में बाँध लो, आपकी बहू से कोई दोष भी हो जाये तो उसकी गलती बताने पड़ोस में नहीं जाना और बहू के मायके में भी समाचार नहीं भेजना। आपमें किञ्चित् भी गम्भीरता है, तो अपनी बहू–बेटे की बात घर में आये मेहमान को भी नहीं बताना, क्योंकि मेहमान तो सुनकर चला जायेगा और बाहर जाकर तुम्हारी हँसी करेगा। हे माँ! जब तुझ पर संकट आयेगा तब पड़ोसी नहीं आयेंगे सेवा करने, तेरे बहू–बेटे ही तेरी सेवा करेंगे। वर्तमान में लोगों के हृदय शुष्क हो गये हैं, क्रूरता प्रकट हो गई है। माँ! **भावों की हिंसा भी महाहिंसा है।** माँ! पानी छानकर पियो, साथ–साथ भावों की हिंसा से भी बचो।

जिसके अन्दर माता–पिता और शिक्षक का युगपत् धर्म हो, वह आचार्य बनने का पात्र है। जिनमें इतनी योग्यता नहीं है, वह आचार्य न बनें। आचार्य के दो गुण, निग्रह और अनुग्रह होना आवश्यक हैं। अनुग्रह करें तो माता के समान करें। शिशु का पालन करना माँ ही जानती है और निग्रह करें तो पिता बनकर करें। माँ का दुलार शरीर को तो स्वस्थ कर देगा, परन्तु बुद्धि को नहीं बढ़ा पायेगा। पिता की डाँट बेटे की बुद्धि की रक्षा करती है। माँ पुचकार कर रखती है और पिता डाँटकर रखेंगे तो सन्तान सन्तान की तरह रहेगी।

गुरु को ज्ञानी होना चाहिए, गंभीर होना चाहिये, जिससे वह शिष्यों को विद्या दे सके। जो गुणों में गुरु है, चारित्र में गुरु है, ज्ञान में गुरु है, वही शिष्यों को सँभाल पायेगा, वही शिष्यों को झेल पायेगा। जिस वस्तु में वजन नहीं होगा, वह दूसरों को क्या रोक पायेगा? भैया! गुरु शब्द का अर्थ क्या है? भैया! बुन्देलखण्ड में जो भारी होता है, उसे गरौ कहते हैं। गरौ यानि गुरु। जो वजनदार हो गुणों से, चारित्र से, वही गुरु है। यदि गुरु वजनदार नहीं होगा तो शिष्य गुरु को ही

उड़ा ले जायेंगे। भैया! टीनों के ऊपर आप पत्थर आदि रख देते हो, ऐसा क्यों? क्योंकि वजन होगा तो तूफान भी आयेगा तब भी उड़ेंगे नहीं। वैसे–ही जो गुणों में गुरु हैं, गुणों से मण्डित हैं, वही गुरु हैं।

धन्य हो आचार्यभगवंतों को। भैया! आप अपने ही जने पुत्रों को नहीं सँभाल पाते हो, परन्तु धन्य है धरती के देवता आचार्यभगवन्त जो अनेक प्रदेशों में जन्में, अनेक शिष्यों को एकसाथ रख लेते हैं, सँभाल लेते हैं। दिगम्बराचार्य अपस्रावी गुण के धारक होते हैं, जो शिष्य के समस्त दोषों को सुनकर भी कभी किसी को बताते नहीं हैं। ऐसे गुण के धारक आचार्य शिष्य को अन्तिम उत्तमार्थ प्रतिक्रमण करवाते हैं। शिष्य भी अपने जीवन की सभी गलतियों को गुरु को बताते हैं।

हे मुमुक्षु! जितने साफ–स्वच्छ दिख रहे हो, आप उतने स्वच्छ–साफ हो नहीं। जितना चमकता चेहरा दिख रहा है, उतना हृदय चमकता नहीं है। ओहो! भैया! तुम जिस दिन अपने हृदय की बात माँ को बता दोगे, तो माँ भी कहेगी कि बेटा! तू बेटा कहलाने का भी पात्र नहीं है।

हे जीव! देह से कितनी गलतियाँ की हैं जीवन में और भावों से कितनी गलतियाँ की हैं? जिन बातों को सुन करके हम दूसरों से ग्लानि कर रहे थे, वह तेरे से भिन्न हैं। **दूसरे का दोष आपके कुमरण का कारण नहीं है, परन्तु जो तेरे निज के दोष हैं वह तेरे कुमरण के कारण हैं।** तू विचार कर रहा है कि– मैं संस्कृति को सुरक्षित करूँगा, मैं धर्म को सुरक्षित करूँगा, परन्तु अभी तुझे पता ही नहीं था कि संस्कृति क्या है? धर्म क्या है? हे मुमुक्षु! अपनी आत्मा का विचार करो, अपनी समाधि का विचार करो।

एक बालक को कुछ मोती मिल गए, वह गद्गद् हो गया और कहता है कि मेरी गरीबी नष्ट हो गई है। आपने मोती लाकर व्यापारी को दे दिये और कहा कि– मुझे कुछ धन दे दो जिससे मैं आजीविका करूँगा। व्यापारी समझदार था, वह बालक से कहता है कि– बेटा! बाजार में अभी भाव नहीं है, इसलिए अभी आप इनको अपने घर में रख लो, कुछ दिन आप हमारे यहाँ कार्य करो, हम आपकी आजीविका की व्यवस्था करेंगे। बेटे ने सोचा कि ठीक है, काम भी सीख जाऊँगा। ऐसा सोचकर वह रत्न–व्यापारी के यहाँ काम करने लगा। बालक जब रत्न–पारखी हो गया, मोती–जवाहरात के परीक्षण में पूर्ण निष्णात हो गया, तब व्यापारी ने बालक से कहा कि– बेटा! अब बाजार में भाव बढ़ गये हैं, आप अपने घर से मोती ले आओ बेचने के लिए। बालक घर पहुँचकर घर में रखे मोती देखता है, तो वह समझ जाता है कि ये तो काँच के टुकड़े हैं, नकली मोती हैं। वह व्यापारी के पास पहुँचता है और पूछता है कि– सेठजी! आपने पहले क्यों नहीं बताया

कि यह नकली मोती हैं? सेठजी ने कहा कि– बेटा! मैं पहले तुझे बताता तो तू सोचता की सेठजी ठग रहे हैं और मेरे प्रति तेरी अश्रद्धा हो जाती, परन्तु अब तू स्वयं ही समझ गया है कि सत्य क्या है असत्य क्या है? ज्ञानियो! ऐसे–ही जिनवाणी को अपने मस्तिष्क से नहीं सोचना, थोड़ा धैर्य रखना। जब तुम्हारे भ्रम के पटल छँटना प्रारम्भ हो जायेंगे, तब आप स्वयं कहोगे कि– मैं ही अज्ञानता में था। वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही है।

हे मुमुक्षु! एक समय में एक ही विषय की प्ररूपणा संभव है। वस्तु प्रमाणभूत है, परन्तु कथन नय से ही होता है। वस्तुअनन्त धर्मात्मक है, परन्तु एक बार में कथन एक ही का होता है। मुमुक्षु! अभी तो आप व्यवहार ही नहीं पाल पा रहे हो, तो निश्चय में प्रवेश कैसे करोगे?

ज्ञानी! अंतिम श्वास में समाधि नहीं होती है। समाधि का अर्थ मरण नहीं है, समाधि का अर्थ है सम–धी अर्थात् साम्य–परिणाम, साम्य–बुद्धि। आज से ही साम्य–परिणाम करोगे, समाधि का अभ्यास करोगे, तभी अंतिम समय में, मरण–काल में समाधि होगी। अभी समाधि का अभ्यास कर नहीं रहे हो और मरण के समय कहते हो कि मेरा समाधि–मरण करा दो। **मुमुक्षु! साधु के समीप मर जाना, इसका नाम समाधि नहीं है। जगत् के सम्पूर्ण–जीवों के प्रति साम्य–भाव रखते हुये, पञ्चपरमेष्ठी की आराधना करते हुये, पञ्चपरमेष्ठी के चरणों में अंतिम श्वास का विसर्जन करना, इसका नाम समाधि–मरण है।**

हे जीव! तूने जीवनभर पाप किये और मर गया, अब बेटा कौओं को खीर–पूड़ी खिला रहा है, वह भी इस भाव से कि– मेरे पिता का पेट भर जायेगा। यह कुरीतियाँ हैं। श्राद्ध करा रहे हैं, तेरहवीं करा रहे हैं, क्या ऐसा करने से मरनेवाले का कल्याण हो जायेगा? ज्ञानी! व्यर्थ के कार्य नहीं करना। एक तो घर का सदस्य चला गया, जितना द्रव्य (धन) घर में रखा था उससे तेरहवीं करो। 'श्राद्धं न भुंजीत' सम्यग्दृष्टि जैनी को मरे का भोजन नहीं करना चाहिए। जिस घर में मरण हुआ है, वहाँ अशुभ वर्गणायें भरी हैं, लोग रो रहे हैं, बिलख रहे हैं और तुम मजे से माल–पुआ खा रहे हो, क्या आप जैन हो? धन्य हो दिगम्बर योगियों को, आहार लेते–लेते यदि कर्णों में ध्वनि पड़ जाये मरण के बाजों की, दु:खित रुदन की, तो वह अंतराय कर लेते हैं, अंजुली छोड़कर बैठ जाते हैं।

पूर्वकृत दोषों का निराकरण है, प्रतिक्रमण। भविष्य में दोष नहीं करूँगा, यह प्रत्याख्यान है। किये हुये दोषों का निर्दोष–भाव से बालकवत् गुरु से कहना, आलोचना है। मुमुक्षु! जिसका प्रतिक्रमण, जिसका प्रत्याख्यान, जिसकी आलोचना पवित्र है, उसी का चारित्र निर्मल होगा।

जिसका प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना पवित्र नहीं है, उसका चारित्र भी उज्ज्वल नहीं है। ज्ञानी! यह व्यवहार की व्याख्या है।

निश्चय से प्रतिक्रमण, निश्चय से प्रत्याख्यान, निश्चय से आलोचना का व्याख्यान आचार्य भगवन् आगे करेंगे।

हे मुमुक्षु! दिखावे में जीवन मत जिओ, ढंग का जीवन जियो। जब शरीर को धर्ममार्ग में लगा दिया, तो भावों को भी धर्म में लगा दो। भावुकता में, राग के वश कोई संयम–मार्ग में लग गया, यदि वह सोचे कि जब द्रव्य से लग गया है, तो भावों को और सँभाल लूँ। परन्तु जो जीवनभर द्रव्य को ही द्रव्य से नहीं पाल पाया, वह तिर्यञ्च बनेगा, इसमें शंका नहीं करना। दिखावे के लिए सामायिक कर रहा है, दिखावे के लिए स्वाध्याय कर रहा है और एकांत में व्रतों की विराधना चल रही है और सोच रहा है कि मैंने विवेक का कार्य किया। हे जीव! तूने विवेक का कार्य नहीं किया है, अपितु व्रतों की विराधना की है। हे जीव! तूने अपनी ही कषाय से अपना घात किया है, स्वयं को ही स्वयं ने छला है।

भैया! आपके मन में जो भाव आ रहे हैं, उन भावों का मेरे से क्या संबंध है? मेरे भावों का कर्त्ता कोई दूसरा नहीं है, मैं ही मेरे भावों का कर्त्ता हूँ। आप मुझे श्रद्धा से देख रहे हो, इसमें भी मैं निमित्त नहीं हूँ, इसमें तेरे ही भावों का परिणमन श्रद्धारूप हुआ है। यदि तू मुझे अश्रद्धा रूप देख रहा है, तो इसमें मेरा दोष नहीं है, तेरे ही परिणाम अश्रद्धा रूप हुये हैं। भैया! कैमरे में मेरा चेहरा दिख रहा है, कि नहीं? दिख रहा है, कि आ गया है? भैया! मेरा चेहरा अपनी जगह ही है। जो दिख रहा है, झलक रहा है, वह कैमरे के लैंसों का ही परिणमन चल रहा है। यदि मेरा चेहरा कैमरेरूप हो गया, तो कैमरा चेतन हो जायेगा अथवा चेहरा अचेतन हो जायेगा। ऐसे–ही मुमुक्षु! तेरे भावों का परिणमन तुम्हारे रूप ही परिणत हो रहा है, मैं तुम्हारे परिणाम में गया नहीं हूँ। अपने भावों को सुधारो, मुझे मत देखो। एक जीव का कर्त्ता, उसके परिणामों का कर्त्ता दूसरा जीव किंचित् भी नहीं है। भूल को सुधारने की आवश्यकता है। मुमुक्षु! आप अपने घर में, पड़ोस में जो दुश्मनी पाले बैठे हो कि दूसरों के कहने से ऐसा हो गया, भैया! आज ही उनसे क्षमा माँग लेना। यदि क्षमा नहीं माँग पा रहे हो, क्षमा नहीं कर पा रहे हो, तो समझना आपका एक भी व्रत नहीं है। कषाय लेकर बैठे हो, तो समझ लेना कि अभी आप व्रतों से शून्य हो। न अणुव्रती हो और न ही महाव्रती हो। हे जीव! जैसे–ही तू कषाय के वश होगा, उसी क्षण से तू असंयत हो जायेगा।

भैया! तेरे चार बेटे हैं और वह लड़ना प्रारंभ कर दें, तो भी कषाय नहीं करना। तू उस समय विधुर बन जाना। भैया! विधुर की नीति जगत्प्रसिद्ध है। जब दुर्योधनादि एकशतक कौरव और युधिष्ठिर आदि पाँच पाण्डव परस्पर में झगड़ने लगे, तब विधुर ने बहुत समझाया। पाण्डव तो सरलस्वभावी थे, सो कहने लगे कि– जो हमारे पास है वह रहने दो और जो उनके पास है वह उनके पास रहने दो। परन्तु दुर्योधन दुष्ट–बुद्धि वाला था सो नहीं माना, बोला कि जो उनके पास है वह भी नहीं दूँगा। तब विधुर एक अवधिज्ञानी मुनिराज के पास गये और निवेदन किया कि– स्वामी! एक जिज्ञासा है? महामुनिराज ने जिज्ञासा पूछी।

जिज्ञासा : भगवन् मैं जानना चाहता हूँ कि कौरव एवं पाण्डवों के वंश का अस्तित्व कब तक है?

समाधान : वीतरागी तपोधन ने अपने श्रीमुख से कहा कि– वत्स विधुर! पाण्डवों के द्वारा कौरवों का नाश सुनिश्चित है। यह जानकर भी विधुर पुन: जाते हैं, समझाने।

विधुर समझाते हैं दुर्बुद्धि दुर्योधन को कि भाई–भाई का झगड़ा होना अच्छी बात नहीं है। भैया! जिसकी बुद्धि दुर्बुद्धि हो गई है, उसे कौन समझा सकता है? जैसे पीलिया रोगी को कोई भी वस्तु सफेद नहीं दिखती, दीवार पर पुता सफेद चूना भी उसको पीला ही दिखता है, वैसे–ही क्रोधी को जगत् के सभी लोग मूर्ख ही दिखाई देते हैं। वह अपने चाचा की अविनय कर देता है और कह देता है कि जो मेरा निर्णय है वही नियत है। विधुर पूर्वापर विचार करके इसी निर्णय पर पहुँचे कि– **'नान्यथा मुनि भाषणं'** वीतरागी निर्ग्रन्थ तपोधन, भावलिङ्गी मुनिराज के वचन अन्यथा नहीं होते हैं अर्थात् व्यर्थ नहीं होते हैं।

हे साधको! आप अवधिज्ञानी नहीं हो, मन:पर्यय ज्ञानी नहीं हो। आपसे कोई प्रश्न का उत्तर पूछे और आपको उसका यथार्थ बोध न हो, तो समाधान नहीं देना। आगम का यथार्थ बोध हो तभी समाधान देना। **ज्ञानी! अपने सत्य–व्रत की रक्षा ऐसे ही करना जैसे एक माँ गर्भस्थ शिशु की रक्षा करती है।**

हे मुमुक्षु! किसी से ऊँचे स्वर में बात–चीत नहीं करना। यदि गुरु भी डाँटे तो आँखें नीची करके सुन लेना, आँखें उठाकर नहीं देखना, मुँह उठाकर मत बोलना। आपकी गलती न हो तब भी सुन लेना। सुन लोगे तो सुधार सम्भव है। किसी से यह नहीं कहना कि– जाओ, तुम्हें बेटा हो जायेगा। हे ज्ञानी! संतान नहीं हुई तो वो कहेंगे कि महाराज! आपके वचन असत्य हैं, आपका महाव्रत कहाँ रहा?

किसी से यह भी नहीं कहना कि– लो, कलश ले जाओ, घर धन–धान्य से भर जायेगा। क्योंकि यदि वह कलश ले गया और गरीब हो गया, तो आपके सत्य महाव्रत का क्या होगा? भैया! अपने महाव्रतों का पालन करना।

भैया! पंचमकाल में आप प्रत्यक्ष ज्ञानी नहीं हो, अवधिज्ञानी नहीं हो, इसलिए ऐसे वचन नहीं देना कि साधु के वचन झूठे पड़ जायें।

पुन: विधुर ने विचार किया कि– पाण्डवों के हाथों कौरवों की मृत्यु नियत है, इन दोनों का नाश होना ही है, तो फिर मैं अपनी अविनाशी आत्मा की विडम्बना क्यों करूँ? ऐसा सोच करके दोनों से विमुख होकरके विधुर ने मुनिदीक्षा धारण कर ली। भैया! घर में झगड़ा हो तो पहले समझाना, कोई न माने तो मध्यस्थ हो जाना। इतने लिप्त मत हो जाना कि उनके कारण हमारे ही स्वभाव की विडम्बना हो जाये।

भैया भी गाली देने आ जाये, तो भी कहना 'ठीक है, आप की दृष्टि में ऐसा ही दिख रहा है सो वैसा भैया बोल रहा है।' भैया! जब व्यक्ति को गुस्सा आता है, तो उसे फिर अपने–पराये नहीं दिखते हैं। भैया! दूसरा क्रोध भी करे तो भी आप क्षमा धारण कर लेना, तो शांति संभव है।

इस जीव ने कृत–कारित– अनुमोदना से अनेक प्रकार के अशुभ परिणाम किये, उन अशुभ परिणामों के माध्यम से एक–एक समय में सिद्धों के अनन्तवें भाग और सिद्धों के अनन्तगुणे कर्मों का आस्रव– बन्ध किया है। जीव जानते हुये भी अज्ञानवत् है। यह समझ रहा है कि मैं अशुभ कर रहा हूँ, यह जान रहा है कि मैं अशुभ सोच रहा हूँ, अशुभ की अनुमोदना कर रहा हूँ, तब भी अपने आपको अपने आप में वश नहीं कर सका और स्वयं में अशुभ कर लिया। जो अशुभ करने के उपरान्त भी प्रसन्न हो रहा है उसको कोई नहीं सुधार सकता। कदाचित् अशुभ कर्म उनसे हो ही गया तो कम–से–कम उन्हें ग्लानि तो आना चाहिये, पश्चाताप तो होना चाहिये। निन्दा, गर्हा, आलोचना के परिणाम हों, प्रतिक्रमण– प्रायश्चित्त के भाव हों। जो स्वयं कर चुका है, उस कृत्य को दूसरा करता दिख जाये तो तू नाक सिकोड़ता है कि ये कैसा पापी जीव है।

हे जीव! जो तेरी नाक दूसरों पर सिकुड़ रही थी, तो जो तूने किया है उस पर भी सिकुड़ना चाहिये थी। पर कृत्य की आलोचना करने वाले कोटि–कोटि जीव हैं, स्वकृत्य की आलोचना करने वाले बिरले भव्य जीव हैं। परकृत्य की आलोचना करने से अशुभ का ही आस्रव–बन्ध कर सकोगे, स्वकृत्य की आलोचना करोगे तो निर्जरा संवर होगा, मोक्षमार्ग को तय कर सकोगे। इसलिये परकृत्य पर लक्ष्य ले जाने की अपेक्षा स्वकृत्य पर लक्ष्य ले जाये, तो बहुत अच्छा है। स्वकृत्य पर लक्ष्य

ले जायेगा तो सुकृत परिणाम होंगे, परकृत्य पर तू लक्ष्य ले जायेगा तो असद्कृत परिणाम होंगे।

आप जब सुनते हो कि अमुक व्यक्ति ने हिंसा कर ली, चोरी कर ली, कुशील का सेवन किया, परिग्रह का संचय किया तो लगता है आपको कि इस जीव ने ये क्या किया? मित्र! भावों से पूछो, अपने भव से पूछो, अपनी करनी से पूछो। जिसका प्रकट है, उस पर दुनियाँ हँसी करती है और जिसके पुण्य के उदय से छिपा है, उसको दूसरा तो नहीं समझ पा रहा है कि तू कैसा है, पर तू स्वयं तो समझ रहा है कि मैं कैसा हूँ। उसके जीवन में कभी खुशी नहीं आ सकती। जब–जब संयमधारियों की व्याख्या होगी, तेरा चित्त उदास हो जायेगा। मैं भेष में तो पुण्यात्मा दुनियाँ की आँखों में रहा, पर अपनी आँखों से पापी ही रहा। दूसरों की आँखें तेरी वन्दना तो करा देंगी, पर स्वयं की आँखें बंध ही करायेंगी। दूसरों की आँखों से तू वन्दना को प्राप्त हो रहा है और तू सामने खड़ा बन्धता को प्राप्त हो रहा है, पर हे बन्धक! तू तो अपने भावों का बधिक है, अपने संयम के प्राणों का बधिक है।

भैया! चिड़िया पर बहेलिया की गोली लग चुकी है, मृतक चिड़िया पड़ी है, हंस निकल चुका है, आत्मा निकल चुकी है। जिसके शरीर का संयम नष्ट हो चुका है, उसके प्राण निकल चुके हैं। करो प्रतिक्रमण। कर्म पूर्व में किये हैं, जो शुभ–अशुभ अनेक प्रकार से विस्तार रूप से, वे शुभ कर्म भी मेरा धर्म नहीं है, अशुभ कर्म भी मेरा धर्म नहीं है। दोनों ही बन्ध के कारण हैं परमार्थ दृष्टि से। जहाँ शुभ कर्म को हेय–उपादेय न माना जाये, वहाँ अशुभ कर्म को उपादेय कैसे माना जा सकता है? जिनवाणी सुनते–सुनते सबके परिणाम पानी–पानी हो जाते हैं, भव्यात्मा जैसे–ही संस्कारों से संस्कारित प्रदेश में प्रवेश करता है, अपनी आत्मा के विशुद्धपने को प्राप्त करता है।

योगियों को, त्यागियों को संयमी के बीच में ही रहने की आवश्यकता है। **अप्रशस्त वर्गणायें, शरीर की अप्रशस्त गंध भावों को विचलित कर देती है। अप्रशस्त वर्ण, गंध, शब्द ये परिणामों की चर्या को बिगाड़ने के कारण हैं। जिसे तुम सुन्दर चेहरा कहोगे, वह शील के लिये असुन्दर है।** जिससे शील भंग होता हो, वह सुन्दर दिखा कि असुन्दर दिखा? जिससे तेरे भाव विकृत हो रहे हों, वह पर का सुन्दरपना तेरे लिये असुन्दर ही है। वह असुन्दर रूप ही श्रेष्ठ है जिससे सुन्दर मन असुन्दर तो नहीं होता, विकृत तो नहीं होता। कुबड़े शरीर, काले–कलूटे चेहरे किसी के मन को नहीं लुभाते हैं। तेरे फूलते गाल, चमकते नयन, खिलता चेहरा दूसरे के संयम को विचलित कर रहा है, इसलिये उसके लिये असुन्दर ही है। निमित्त दृष्टि। और ज्ञानी! निज के भावों को ही सँभाल ले तो दूसरों के चेहरे देखने या न–देखने का कोई प्रश्न ही नहीं है। शुभ–अशुभ

अनेक प्रकार के ज्ञानादि कर्म हैं। अपनी आत्मा को परद्रव्यों से परपदार्थों से निज के शुभाशुभ परिणामों से भिन्न कर लेता है, दूर कर लेता है, छुड़ा लेता है, वही आत्मा को निर्बन्ध कर लेता है, वही प्रतिक्रमण है। परभावों में आत्मा कब से लिप्त है? अनादि से, तो भूत के दोषों का निराकरण करना ही तो प्रतिक्रमण है। जो शुभाशुभ परिणाम भीतर चल रहे थे, **शुभाशुभ कर्मों में राग–द्वेष वृत्ति हो रही थी, उस निज की राग–द्वेष परिणति को दूर कर लेना, यही तो निश्चय प्रतिक्रमण है।**

मेरा सुन्दर शरीर, मैं गोरा हूँ, ज्ञानी! ये पागलपन छोड़ो। मैं काला हूँ, ये भावना छोड़ो। दर्पण के सामने खड़े–खड़े घण्टों निकाल दिये, किसको देख रहा था? और मिला क्या? चमड़ी को देखने में अनादि काल से कितना समय नष्ट किया? कर्मों पर लक्ष्य है, नोकर्मों को देख रहा है और मुस्करा रहा है कि मैं सुन्दर हूँ। ज्ञानी! तू सुन्दर नहीं है, ये चर्म तुझे सुन्दर दिख रहा है। यदि तू सुन्दर हो जाता, तो चमड़ी को देखता ही नहीं। जिनके मन असुन्दर हैं, वे ही स्व–पर की चमड़ी को निहारते हैं। जो विद्या यहाँ चल रही है, जगत् में उस विद्या को कोई कहता नहीं है, क्योंकि जैनदर्शन के अलावा ये विद्या कहीं है नहीं।

अब निश्चय प्रत्याख्यान की बात कह रहे हैं **'कम्मं जं सुहमसुहं'** जो कर्म शुभाशुभ हैं **'जम्हि'** जो **'य भावम्हि बज्झदि'** जिन भावों से बन्ध को प्राप्त हुये हैं, वे भाव **'भविस्सं तत्तो णियत्तदे'** उन भावों की निवृत्ति करना **'जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा'** वह चेतना का प्रत्याख्यान है। **जिन भावों से कर्मबन्ध हो रहे हैं, उन भावों को ही छोड़ देना, इसका नाम प्रत्याख्यान है। उन भावों को त्याग देना प्रत्याख्यान है।** आज में नमक नहीं खाऊँगा, घी शक्कर आदि नहीं खाऊँगा। मित्र! ये परवस्तु को छोड़ देना सरल है, अज्ञानी तो इसे भी नहीं छोड़ता। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये पाँच प्रमत्तभूत परिणाम किये हैं, उन परिणामों का विसर्जन कर दो। ज्ञानी! तटस्थ होकर समझेगा तभी जीव को समझ में आयेगा, नहीं–तो जगत् में कितने ऐसे भी जीव हैं जिनको ये मालूम ही नहीं है कि जो मैं सोचता हूँ वह पाप है कि नहीं। रस ले रहा है, आनन्द ले रहा है। द्रव्यों में रस नहीं लेता, भावों में रस लेता है। भावों के रस से ही परद्रव्यों में जाता है।

भैया! किसी युवा ने किसी युवती को देख लिया और अज्ञानी तुझे नहीं था मालूम कि वह कौन थी कन्या और अशुभ सोचना प्रारम्भ कर दिया। उसकी प्राप्ति न हो, पर मेरे मित्र! अशुभ कर्म की प्राप्ति नियम से होगी। जितना देह से पाप नहीं किया, उतना परिणामों से पाप किया है।

देह से पाप करने में तुझे शर्म लग रही थी, डर भी लग रहा था। राज्य भय, समाज भय इन निमित्तों से द्रव्य पाप तो नहीं किया, परन्तु कक्ष में बैठा–बैठा आँखों को बन्द करके तू जो पाप कर रहा था उसे कोई नहीं देख रहा था, लेकिन कर्म कह रहा था कि बेटा तुम बचने वाले नहीं हो।

भैया! खाना तो तूने कई बार छोड़ दिया, पर खाने का राग कहाँ छोड़ा? **आगामी भाव अशुभ नहीं करूँगा, उसको वर्तमान में छोड़ देना, इसका नाम है प्रत्याख्यान। मैं भविष्य में ऐसा भाव नहीं करूँगा, ऐसा विचार नहीं लाऊँगा, इसका नाम है प्रत्याख्यान।** नहीं देखूँगा किसी के चेहरे को। पर के कर्म–नो कर्म को देख करके निज के ब्रह्मधर्म का लोप कर लिया, शरीर की शक्ति क्षीण हो गई, फिर मात्र बचता है पश्चात्ताप। और क्या बचेगा? संयम विलीन हो गया और कहीं अन्तिम श्वास निकल गई, तो पश्चात्ताप करने को भी समय नहीं मिलेगा। कुछ लोग कह देते हैं कि कर लूँगा प्रतिक्रमण, कर लूँगा प्रायश्चित्त, कर लूँगा प्रत्याख्यान। तुमको मालूम है, कर लोगे के लिये तुम बचोगे क्या? जब–तक अशुभ परिणाम चल रहे हैं, तब–तक तो द्वन्द्व चल ही रहा है, विशुद्धि वहाँ हो ही नहीं सकती है। कोई अपराध हो जाये और अपराध का प्रायश्चित्त न हो जाये, तो अन्तरंग में अपराध बोध रहेगा।

भैया! फोड़े में कील रहती है, उसका मवाद कितना ही तुम निकाल दो, लेकिन जब–तक कील नहीं निकल रही है, तब–तक उसमें बार–बार मवाद बनती रहेगी, सूख नहीं पायेगा। ऐसे–ही ये जीव प्रतिक्रमण करता रहे, प्रायश्चित्त लेता रहे, लेकिन प्रत्याख्यान नहीं करेगा तो उसकी कील नहीं निकली। दोष का प्रतिक्रमण करने के उपरान्त, प्रायश्चित्त लेने के उपरान्त, साथ में प्रत्याख्यान होना चाहिये कि अब ऐसा नहीं करूँगा। वही दोष पुनः पुनः करोगे, तो प्रत्याख्यान नहीं है, फिर प्रतिक्रमण–आलोचना किस काम की? गज–स्नानवत्। गुरु के पास बैठे, प्रभु के चरणों में पहुँचे, जिनवाणी सुन रहे हो, खूब नहा लिया, पर जैसे–ही वहाँ से हटे तो पुनः वही दोष, पाप प्रारम्भ कर दिये। इसी का नाम है गज–स्नान।

भैया! द्रव्य तो भाग्य से मिलेगा, पर द्रव्य की प्राप्ति के लक्ष्य में आकर जीव कितने खोटे–खोटे चिन्तन कर लेता है। विद्यार्थीजीवन में जैसे– तैसे पढ़ाई की, फिर व्यापार और नौकरी की चिन्ता सताती है। मायाचारी कितनी वक्र होती है, देह इन्द्रियों की पुष्टि के लिये कितने प्रकार से मस्तिष्क में घुमाव–तनाव रहते हैं। काश वह स्वयं सोच ले कि जितना पुण्य का भोग भोग रहा है, उतना पुण्य भी कर रहा है क्या? बालको! अभी तुम जो कुछ भी भोग भोग रहे हो, अभी तुमने किया

क्या है? मात्र सामग्री का भोग चल रहा है, पर क्या नहीं देखा आपने फुलझड़ियों को? उसमें अग्नि लगाते ही ज्योति निकलती है, सारे लोगों को चमका रही है, आवाज भी आ रही है, अपनी रश्मियाँ बिखेर रही है, सबको मोहित कर रही है, पर मित्रो! ये फुलझड़ियाँ कितनी देर तक हैं? जब तक उसमें रोगन है। वह क्षणमात्र में, चन्द मिनटों में जल जायेगी, फिर क्या दिखेगा? हाथ में एक बुझा हुआ कोयले का पिण्ड दिखेगा।

मित्रो! ये पूर्व भव में किया पुण्य का रोगन है, उसकी चमक है। सोच लो, समझ लो, नहीं–तो दुर्गति निश्चित है। भूत में किये का प्रतिक्रमण कर लेना तो सरल है, अब भविष्य में नहीं करूँगा इसको कहना भी सीखो। कहना ही नहीं, जीना सीखो। भैया! ग्रीष्मकाल की तपन का घर में बैठकर चिन्तवन करता होता और प्रथम ग्रास पर तेरा अन्तराय आता होता, उस समय चिन्तवन ऐसा करता कि हो सकता है दृढ़ता न होती तो मैं तो साधु की सेवा करूँगा, मैं कैसे सहन करूँगा? और साधु न बन पाता। २५ किलोमीटर चलकर आया साधु और प्रथम अंजलि में पानी में ही बाल आ गया। ऊपर से सूर्य की तपन नीचे गर्मी भूमि की, विहार भी चल रहा है। एक उपवास किया। आवश्यक नहीं है कि दूसरे दिन पारणा तुम्हारी हो ही जाये। कोई नियत नहीं है। पारणा पराधीन है, उपवास स्वाधीन है और परिणामों को सँभालना परम स्वाधीन है।

भोजन न मिले तो भावों से पूछो क्या–क्या सोचते हैं? सब इष्ट ही शत्रु दिखने लगते हैं आपको। मित्रों की मित्रता भी शून्य हो जाती है। जब भीतर से पेट भर जाये और इच्छित न मिले, तब भी देखो कैसे झुंझलाते हो? **कुछ लोग अपनी कषाय को हँसकर निकालते हैं, कुछ लोग रोकर निकालते हैं और कुछ लोग तमतमाकर निकालते हैं। तीनों कषाय को निकालने के साधन हैं। जरूरी नहीं है कि जो हँस रहा है वह क्रोध में नहीं है। उसके अन्दर क्रोध के साथ मान है कि यदि चेहरा बनाऊँगा तो लोग क्या सोचेंगे?** इसलिये अपनी बात को हँस–हँस कर बोल रहा है। जिनमें किञ्चित् भी विवेक नहीं होता है, वे कषाय को कषाय करके ही निकालते हैं। ये सारी विद्यायें हैं जीवन की। कैसे–कैसे परिणाम जीवों के होते हैं? विकारों को कैसे निकालता है? शरीर के विकार अनेक प्रकार से निकलते हैं। कभी जुकाम होकर, कभी खाँसी होकर, कभी फोड़ा–फुंसी होकर निकलते हैं। ऐसे–ही ज्ञानियो! कषाय के विकार हैं, वे कभी चक्षु इंद्रिय से, कभी घ्राणेन्द्रिय से, तो कभी कर्णेन्द्रिय से, कभी स्पर्शन इन्द्रिय से निकलते हैं। ये सब भीतर के विकारों को निकालने के स्त्रोत हैं। यदि तू अपने छोटे भाई को भी खिला रहा है तो माँ कह रही है कि देखो, काम कर रहा है। बार–बार तू उसकी आँखों को देख रहा है, गालों को पकड़–पकड़कर

खिला रहा है, उसमें भी तुझको आनन्द आ रहा है, ये तू अपने आप में अपनी कषाय की इच्छा पूर्ति कर रहा है। सोचा कभी कि ये भी कषाय की पूर्ति है?

शान्त/ठण्डे होकर चिन्तवन करना कि कषाय की इच्छा की पूर्ति कैसे– कैसे हो सकती है? परवस्तु में सन्तुष्टि होना ही कषाय की पूर्ति है। माना कि मुनिराज हैं, कोई इनके पास परिग्रह नहीं है, नई पिच्छी आ गई और ये नयी पिच्छी को ही बार–बार देख रहे हैं, तो यह परिग्रह संज्ञा की पूर्ति है। अन्दर की मायाचारी है। लोग क्यों उद्घाटन करते हैं। ५०–१०० लोग आकरके भोजन कर जायें, उससे उद्घाटन होता है क्या? भक्तामर कराकर मांगलिक कर लिया और रहने लगो, लेकिन ५० लोगों को खिलाकर उद्घाटन के नाम से लोग आयेंगे और जो हमने बनाकर रखा है उस परिग्रह की प्रशंसा करेंगे। ज्ञानी! पैसा खर्च किया उसने भोजन कराने में, उसको उसकी चिन्ता नहीं है। यह रहस्य है। पर वस्तु में सन्तुष्टि ही कषाय की पूर्ति है। सोच लो, कितने प्रकार से पुष्टि करते हैं। पर भैया! साधु बनकर साधु बनना पड़ेगा, तब कहीं आप कषाय से रहित हो पायेंगे। साधु बनकर साधु न बन पाये तो पिच्छी–कमण्डलु का राग भी निगोद ले जा सकता है। ज्ञानी! इतना–सा नहीं देखना। रुई कितनी बड़ी होती है, कितने विशाल स्थान को घेरती है और एक किलो लोहा कितने से स्थान को घेरता है? ज्ञानी! भावों की अशुद्धि के घनत्व को देखेगा तो पिच्छी–कमण्डलु का राग भी निगोद ले जा सकता है, तब यह दुकान–मकान इनका परिग्रह तुझे स्वर्ग ले जायेगा क्या? बहुत जल्दी मुस्करा जाता है जीव कि ठीक कहा आपने महाराज! मुझे पिच्छी–कमण्डलु नहीं लेना है। ज्ञानी! पिच्छी–कमण्डलु से निगोद नहीं जाते। जो पिच्छी– कमण्डलु लेकर पिच्छी–कमण्डलु का बनकर रहता है, वह निगोद जाता है। जो पिच्छी–कमण्डलु ले करके अशरीरी भगवान्– आत्मा की सिद्धि करता है, वह सिद्ध बनता है।

पिच्छी–कमण्डलु मात्र से मोक्ष नहीं मिलेगा और पिच्छी–कमण्डलु लिये बिना भी मोक्ष नहीं मिलेगा। परवस्तु का होना राग का होना निश्चित है। मूर्च्छा सहित परवस्तु स्वीकारेगा तो नियम से राग है। ज्ञानी! परवस्तु हो, लेकिन मूर्च्छा न हो, ये कैसे सम्भव है? ये पिच्छी–कमण्डलु नियम से राग है, पर संज्वलन सम्बन्धी राग है, उससे संयम पलता है। जब पूर्ण वीतरागी हो जायेगा, तो मेरे मित्र! दिगम्बर मुनि को फिर पिच्छी–कमण्डलु की भी आवश्यकता नहीं होती है। पर अभी छटवें गुणस्थान में प्रमत्त–दशा में हो। जब ज्ञानी! अप्रमत्तता की प्राप्ति के लिए पिच्छी–कमण्डल लिया है, उसी में तू प्रमाद कर रहा है। छोड़कर चला जायेगा तो तुझे दण्ड मिलेगा–ही–मिलेगा। सात कदम से आगे दिगम्बर मुनि/आर्यिका पिच्छी से रहित होंगे तो इनको बड़े–बड़े प्रायश्चित्त

प्रारम्भ हो जाते हैं। इसलिये बुद्धिपूर्वक जो प्रयोग रहा है, वो छटवें गुणस्थान में हो रहा है। जब सातिशय सप्तम गुणस्थान में जायेगा, वह शुद्धोपयोग की धारा है, वहाँ कोई विकल्प नहीं है। ध्यान–अवस्था में जब तुम कायोत्सर्ग करते हो, तब तुम पिच्छी–कमण्डलु छोड़कर बैठे हो कि नहीं? बैठे हैं। रखे हुये हैं, रखे रहने दो। हाँ, जब मार्जन की आवश्यकता पड़े, शुद्धि की आवश्यकता पड़े, तब दोनों पर दृष्टि डालो। **अल्प परिग्रह दिखने में आ रहा है और मूर्च्छा प्रचुर है, तो वह भी नरक निगोद ले जायेगा। मूर्च्छा नहीं है, परिग्रह है, ऐसा तीन काल में भी सम्भव नहीं है।** ये तो श्वेतपट्ट आम्नाय में है कि पूरे कपड़े पहन लिये, लाठी ले ली हाथ में और कह रहा है कि मूर्च्छा नहीं है, मैं मुनि हो गया। इसलिये ज्ञानी! जहाँ–जहाँ परवस्तु है वहाँ नियत परिग्रह है। जो चक्रवर्ती राज्य कर रहा है, वह तो महिमा को दिखाने के लिये कथन चल रहा है; पर सत्यता ये है कि जितने अंश में उसको क्षायिक सम्यक्त्व है, मिथ्यात्वजन्य आस्रवबन्ध नहीं है; लेकिन जो चक्रवर्ती पद की अनुभूति ले रहा है, तद्जन्य आस्रव नियम से है।

भैया जो मुस्कराहट छूट रही है, वह ममत्व सहित है कि ममत्व रहित है? ऐसे–ही जो चक्रवर्ती है, उसके अन्दर परिग्रह की गूढ़ भावना है, पर व्यवहार से कह दिया जाता है कि घर में वैरागी था। हाँ, जैसा मिथ्यादृष्टि मग्न होकर भोग रहा है, उस जीव को तीव्र आसक्ति नहीं थी। अज्ञानी क्या बोलते हैं? कपड़े उतारते–उतारते भरत चक्रवर्ती को कैवल्य हो गया। अब देखो, उतारते–उतारते कैवल्य हो गया, तो आधे कपड़े उतर ही नहीं पाये होंगे और वे केवली हो गये? भैया! जो झाड़ू लगाते–लगाते मल्लिकुमारी को केवली बना रहे हैं। श्वेताम्बर आम्नाय में मल्लिनाथ को मल्लिकुमारी कहा है। झाड़ू लगाते–लगाते कैवल्य सम्भव है क्या? भरत चक्रवर्ती ने पूर्णरूपेण राज्य का त्याग किया, जैनेश्वरी दीक्षा धारण की और उन्होंने ध्यान किया, इसके उपरान्त उनको कैवल्य प्रकट हुआ। अधिक बहुमान देने के चक्कर में व्यक्ति सिद्धान्त को खो देता है, इसलिये ज्ञानियो! अब मत कहना कि वस्तु है, लेकिन ममत्व नहीं है।

परिग्रह का त्याग जहाँ होगा, वहाँ अहिंसा धर्म होगा। जहाँ परिग्रह का त्याग नहीं है, वहाँ पूर्ण अहिंसा नहीं है और जब तक पूर्ण अहिंसा नहीं है, तब–तक ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं है। उभय परिग्रह से तात्पर्य बाह्य परिग्रह, अन्तरंग परिग्रह। अब मैं भविष्य में पाप नहीं करूँगा, ऐसा परिणाम प्रत्याख्यान और निश्चय से जो शुभाशुभ परिणाम हैं, भाव हैं, उनसे बन्ध हो रहा था, उन भावों का त्याग कर देना, यही निश्चय से प्रत्याख्यान है।

शुभ–अशुभ की उदीरणा से, अनेक प्रकार की वर्तमान की विशेषता से युक्त, जो दोष किये

हैं, वर्तमान में जो मेरे द्वारा शुभ–अशुभ भाव हुये हैं, परिणाम हुये हैं, उन सब दोषों का मैं निराकरण कर रहा हूँ। निन्दा कर रहा है, वह आलोचना है। भैया! आँख में कीचड़ है तो सामने कैसा दिखेगा? धुंधला दिखेगा। पीलिया रोग हो गया, तो पीला दिखेगा। दीवाल को पोंछ रहा है, क्यों! पीली है। मेरे मित्र! दीवाल को पोंछने की अपेक्षा आँखों के पीलिया को ठीक कर लेता। दीवाल तो जैसी है, वैसी है। जैसे स्वच्छ दिखने के लिए अनेक उपक्रम करते हो, ऐसे–ही अपने परिणामों को स्वच्छ करने के लिये आलोचना करो। परनिन्दा करने से तो नीचगोत्र का आस्रव–बन्ध होगा, निज निंदा करो बालक–वत् बिना छिपाये। ये बहुत बड़ी तपस्या है। जीवन में कोई भूल हो गई हो, कोई दोष हो गया हो, गुरुचरणों में निवेदन कर देना स्वामी! ऐसा दोष मेरे से हो गया। इसका नाम है आलोचना। व्यवहार और निश्चय से जो अनेक प्रकार के शुभ–अशुभ कर्म हैं, विस्तार को प्राप्त हैं, उनको अपने से भिन्न करके देखना, दोषों को निज में ही निहारना, निज से भिन्न करके निहारना, निज की साक्षीपूर्वक निज को ही गुरु स्वीकारके निज में ही साधक बनकर जो अपने दोषों की निन्दा कर रहा है, वह आलोचना है। मात्र कहने से काम नहीं बनेगा। अब मैं उनको छोड़ता हूँ। निज निन्दा। परनिन्दा करने के लिये कितना उपक्रम किया?

नगरपालिका का कचरा अपने घर में नहीं रखवाते, तो मेरे मित्र! तेरा स्वच्छ निर्मल आत्मा है इसमें दूसरों की निन्दा का कचरा क्यों फैलाते हो? माताओ! परनिन्दा में तो मिश्री–सी घुलती है, इसमें तो पहला नम्बर है आपका। माँ! तुम भी बेटे वाली हो, बहू वाली हो, दूसरों के घर के बारे में कहने से पहले ध्यान रखना, आपने पूरा जीवन नहीं जी लिया। अपन तुरन्त दूसरों की हँसी कर बैठते हैं कि ये दिन मेरे जीवन में न आयें। इसलिये प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना करो। **नित्य जो प्रत्याख्यान करता है, नित्य जो प्रतिक्रमण करता है, नित्य आलोचना करता है, वही आत्मा चारित्रवान् है। भैया! कपड़े उतार लिये, मुनि बनकर बैठ गये, इतना ही चारित्र नहीं है। प्रतिक्षण, प्रतिपल प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और निज की आलोचना होना चाहिये। यदि ये चल रहा है, तो इसका नाम चारित्र है।** विश्व में जितने दर्शन हैं सब क्रियाकाण्डों पर इति किये हुये हैं और जो अध्यात्म की चर्चा की उपनिषद् आदि में, तो वो भी चर्चा करते– करते परमात्मा के पास पहुँच जाते हैं और परमात्मा कहता है कि तुम कर्म करो, फल की चिन्ता मत करो, मेरे पर छोड़ दो। यानि मैं कर्म करूँ, फल परमात्मा देगा। सब कर्त्ता वाले दर्शन हैं। **कर्त्तापन से रहित आत्म–पुरुषार्थ–वादी जो दर्शन है वह जैनदर्शन है। अन्तरंग की तमश को धोने वाली कोई औषधि है, परम उपाय है, वह प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना है।** आचार्य

कुन्दकुन्द स्वामी इस बात को कह चुके हैं कि मात्र शब्द गुणकारी नहीं होता है, भाव प्रतिक्रमण ही प्रतिक्रमण है, भाव प्रत्याख्यान ही प्रत्याख्यान है, भाव आलोचना ही आलोचना है।

ज्ञान की ज्ञान में लीनता है, वही ज्ञानियो! षडावश्यक है। जो ज्ञानधारा, निज में है, वही सर्वस्य है। ज्ञान का परज्ञेयों में गमन ही अशुभ उपयोग है। **ज्ञान का पर अशुभ ज्ञेयों में जाना है अशुभ उपयोग की धारा, ज्ञान का पर शुभ–अवस्थाओं में जाना है शुभधारा और ज्ञान का निज में ही लीन होना है शुद्धधारा।** बाह्य दृष्टि से अनेक प्रकार के विकल्प हैं, यथार्थ में तो ज्ञान का ही वशीकरण है। गुण–गुणी को अभेद दृष्टि से देखते हैं, तो ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है। आत्मा ज्ञानगुण से रहित नहीं है, ज्ञान गुण आत्मा से रहित नहीं है। ज्ञान को सँभाल लेना ही साधना है। अनेक प्रकार के विचार पाले हुये हैं, उन अनेक प्रकार के असंयम में फलित ज्ञान को संयम में प्रवेश कराना है। अनेक प्रकार के भ्रमित ज्ञान को अपने पास में लाना है। संयम के विकल्पों से शून्य होकरके ज्ञाता मात्र ज्ञान को ही देखना प्रारम्भ करता है। ज्ञान का ही वेदन मात्र करता है, ज्ञान से ही वेदता है, वह उस जीव की अखण्ड शुद्धोपयोग की धारा है। **न मन को वश करने का विकल्प कीजिये, न इन्द्रियों को वश करने का विकल्प कीजिये। जिससे मन–इन्द्रियाँ भ्रमित हो रही हैं, जो मन और इन्द्रियों को साथ देता है, वह है कौन? वह ज्ञान है। ज्ञान को पकड़िये, मन का पापों में जाना समाप्त, इन्द्रियों का उत्तेजित होना समाप्त।** बड़े–बड़े धुरन्धर अपने आपको योगी कहकर चले गये, पर जिसे पकड़ना चाहिये था उसे नहीं पकड़ सके। ज्ञान को ही निहारना था। जो भी परिणमन हैं, वे चेतन के हैं। जब चेतन अपने स्वभाव पर हल चलाता है, तो कर्म अपने कर्मफल चेतना को भोगता है। जब चेतन अघातिया कर्मों का नाश कर देता है, उस दिन ज्ञानचेतना में लवलीन होता है। जिस विषय को आप सुन रहे हो, वह लोगों की आँखों का विषय नहीं है, वह चाक्षुष नहीं है, वह अचाक्षुष है। इसका वेदन वाच्य नहीं है, अवाच्य है, अनुभवगम्य है।

मुमुक्षुओ! स्थिर होकर वेदन करो। जो आपके भीतर संकल्प–विकल्प चल रहे हैं, इन संकल्प–विकल्पों को मत निहारिये। ये संकल्प–विकल्प उठ किस शक्ति से रहे हैं? जाग्रत किससे हो रहे हैं? उसे पकड़िये। जब–जब हममें अशुभ अथवा शुभ परिणाम आयें, उस समय सजग रहिये। ये कौनसी शक्ति है? इसे कौन पकड़कर लाया है? विद्युत है, सारी मशीनें चलती हैं, एक–एक उपकरण विद्युत से चलता है। सारे बाह्य द्रव्य निमित्त मात्र हैं, भीतर का द्रव्य तो यह है। इसलिये कहीं मत जाना। किसी से मिलना हो अपने हित के लिये तो अपने ज्ञान से मिलना और किसी से

मिलना हो अपने अहित के लिये तो भी ज्ञान से मिलना, क्योंकि चुनौती के लिये दिमाग चाहिये, तो ज्ञान का ही प्रयोग करोगे आप। ज्ञानी! द्वार बन्द करके, प्रकाश बन्द करके पाप करने बैठता है, ये बुद्धि लगाई थी कि नहीं लगाई थी? ५० के नोट को ५०० कैसे करना पड़ता है, यह तुझे पता है कि नहीं? कितने गरीबों को लूट रहा है, ये किससे कर रहा है? बोल, ज्ञानी! ज्ञान से ही न? इसलिये ज्ञान को सँभालो। धर्म को धर्म के रूप में निहारो, असाम्प्रदायिक हो जायेगा। अग्नि को तुमने केवली कुण्ड, सर्वज्ञ कुण्ड, गणधर कुण्ड में डाला सो जैन सम्प्रदाय में चला गया। अग्नि को तुमने वेदपाटियों के कुण्ड में डाल दिया, आर्य समाज के अग्नि कुण्ड में चला गया, तो अग्नि की वेदियाँ आर्यों की हो गई और पारसी लोग सीके पर टाँगे रहते हैं। कितने लोगों की अग्नि हो गई? मेरे मित्र! तू इस रूप में देखेगा, तो अग्नि साम्प्रदायिक हो जायेगी और अग्नि के ऊष्ण धर्म को देखेगा, तो अग्नि तो अग्नि है।

भैया! तू माँ को देखेगा तो माँ का रहेगा, पिता को देखेगा तो पिता का रहेगा और मेरे जैसा जियेगा, तो सारे विश्व का हो जायेगा। भैया! किसी पंथ–सम्प्रदाय, संतों का बनकर नहीं रहना। अपने को मात्र श्रमण बनकर रहना है। ज्ञानघन आत्मद्रव्य कैसा है? अब मैं अपने आप से मन को वश नहीं करना चाहता हूँ, इन्द्रियों को वश में नहीं करना चाहता हूँ, ज्ञान को ही ज्ञान में लीन करना चाहता हूँ। ज्ञान को लीन जिसने कर लिया, उसका मन भी वश होगा, इन्द्रियाँ भी वश होंगी। ज्ञानी! जिसका ज्ञान वश नहीं है, उसका कुछ भी वश में नहीं होता। भैया! जगत् में जितने पुण्य के काम होते हैं उन्हें भी तू जानता है, जितने प्रकार के पाप होते हैं उन्हें भी जानता है। भैया! जब तूने इस प्रवचन हॉल में प्रवेश किया था, तब अपने इस पापी मन को और पापी इन्द्रियों को घर में छोड़कर आये थे क्या? भैया! इस चौकी पर सीधे ही बिजली का तार लगा दो, कितनी लाइट भर जायेगी इस चौकी में? भैया! लकड़ी की चौकी है, नहीं भरेगी। **यदि गुरु के पास सुचालक बनकर जाओगे तो तुम विद्युत लेकर आओगे और कुचालक बनकर जाओगे तो तुम जीवनभर बैठे रहोगे, फिर भी कुछ नहीं ले पाओगे। भैया! जब भी गुरु के पास जाओ इन्वर्टर बनकर जाना, काष्ठ का फलक बनकर मत जाना, प्लास्टिक बनकर मत जाना, ये कुचालक हैं।** भैया! ये युवा बोल रहा है कि न मैं मन को घर में रखकर आया हूँ, न इन्द्रियों को रखकर आया हूँ। मैं दोनों को लेकर आया हूँ। यहाँ समलिंगी मेरे सामने हैं, विषमलिंगी भी मेरे सामने हैं, लेकिन तब भी इन्द्रियाँ भटक क्यों नहीं रहीं हैं? मन दौड़ क्यों नहीं रहा है? सब साधन तेरे पास हैं, फिर भी पाप प्रवृत्ति क्यों नहीं हो रही है? अपितु गद्गद्पना आ रहा है, ऐसा क्यों?

स्वामी! मैंने ज्ञान को ज्ञान में लगा रखा है, इसलिये इन्द्रिय–मन कुछ नहीं कर पा रहे हैं। जब ज्ञान को परज्ञेय में लगाते हैं, तब विकार होते हैं। जब योगी निर्विकल्प ज्ञान में निर्विकल्प ज्ञेय को लगाते हैं, तब कितना आनन्द आता है।

पहले धर्म को धर्म से समझा जाता है, फिर धर्म में प्रवेश किया जाता है। वस्तुस्वभाव समझ में आता है जीव को, कुछ त्याग नहीं कराया तब भी आप शान्ति से बैठे हो। मैंने आपको कुछ खिलाया नहीं, पिलाया नहीं, तब भी आप खाने को नहीं गये। जब आत्मा का भोजन आत्मा को मिलता है तब पुद्गल पिण्डों पर दृष्टि नहीं जाती है। इसलिये ज्ञानियों को ज्ञान का भोजन लगा देना चाहिये, फिर बाहरी अभक्ष्य छुड़वाने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। जिस दिन ज्ञान का प्रयोग प्रारम्भ कर देगा, अभक्ष्य स्वयं ही छोड़ देगा।

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः।।२२४।।

आचार्यभगवन् अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि हे जीव! ज्ञान की चेतना से ज्ञान ही अत्यन्त शुद्ध, निरन्तर शुद्ध, विशुद्ध प्रकाशित होता है। ज्ञान से ज्ञान का प्रकाश होता है और अज्ञान की चेतना से दौड़ता है। क्या? अज्ञान की चेतना से बन्ध दौड़ता है और शुद्ध ज्ञान को रोकता है? तेरे शुद्ध ज्ञान को रोकने वाला तेरा अज्ञान है। ज्ञान को ज्ञान में लीन करेगा तो ज्ञान आगे–आगे दौड़ता है और अज्ञान में प्रवेश करेगा तो बन्ध आगे–आगे दौड़ता है। 'ज्ञान स्वरूपोऽहम्'। 'अज्ञानभाव रहितोऽहम्' मैं ज्ञायक स्वरूप हूँ। ज्ञान को ज्ञान में देखो, चिद्–ज्योतिप्रकाश पुण्य भी चमकता दिखता है।

मित्रो! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पाँच पाप में से किसी भी एक पर दृष्टि जाती है, अन्धकार दिखाई दे रहा है, ज्योति नजर नहीं आ रही है। जो स्फूर्ति पुण्य में चल रही थी, **पाप के संचय के परिणाम आते ही, भोगवृत्ति की भावना आते ही चमक फीकी हो जाती है, पसीना छोड़ देता है, शरीर कम्पित हो गया, मन में विकार के विचार आते ही शुद्ध चेतना ढँक गई और बन्ध आगे–आगे दौड़ रहा है। प्रमाद ही विकार है।** जब अपनी साधना पवित्र होती है, तो अपने आप चेहरे की मुस्कराहट/चमक बढ़ती है। षट्कर्म अच्छे पालो, २८ कृतिकर्म अच्छे पालो, फिर देखो अन्दर का आनन्द। किञ्चित् भी प्रमाद संयम में आया है तो लोग पूजते तो रहेंगे, पर स्वयं का चेहरा प्रसन्न नहीं होगा। धर्म को धर्म से देखना, ये रासायनिक तत्त्व है। तत्त्व किसे कहते हैं? 'तस्य भावस्य तत्त्वं' जो वस्तु का स्वभाव है, वही तत्त्व है।

यह चेतन द्रव्य अपने चेतन धर्म से कहीं पृथक् नहीं हुआ। अनादिकाल के कर्मबन्ध की दशा में यह जीव परभावों को निजभाव स्वीकारता रहा। निज भाव परभावों को स्वीकार तो सकता है, पर परभावों को निजभाव बना नहीं सकता। अज्ञानी प्राणी इतना लिप्त हो गया कि अपने त्रैकालिक धर्म को भूल गया। जीव अनेक प्रकार के शुभाशुभ भाव लेकर भव–भ्रमण की संतति को वृद्धिमान किये है, उसे आचार्य भगवन्त कुन्दकुन्द स्वामी सर्वविशुद्ध ज्ञान–अधिकार में समझा रहे हैं। ज्ञानी! जो तूने अपराध किया है, उस अपराध की शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण कर, प्रत्याख्यान कर, आलोचना कर। यदि प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना के भाव मन में नहीं आ पा रहे हैं, तो इसमें किसी दूसरे को दोष मत देना, अभी दीर्घ संसार है और जिसका दीर्घ संसार है उसके प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना के परिणाम नहीं हो सकते। **जिनकी भवावलियाँ अभी लम्बी हैं, वह जीव प्रतिक्रमण आदि नहीं कर सकता। उसके भाव ही नहीं होंगे। परिणाम ही नहीं होंगे, वह प्रकट करने की जगह अपने दोषों को छिपायेगा, नहीं कह पायेगा गुरु के पाद–मूल में। निज निन्दा भी नहीं कर पायेगा। निज आलोचना भी नहीं कर पायेगा। निज के भीतर गर्हा भी नहीं करेगा।** अपने अन्दर प्रसन्न होगा कि मैंने ऐसा सुख भोग लिया। ज्ञानी! ये तेरा सुख नहीं था, अपितु तेरे दुःख–उत्पत्ति का साधन था। अशुभ करने पर मुस्कराहट, इसका तात्पर्य ये है कि अशुभ गति तेरी खुश है, शुभ गति तेरे से पूर्ण नाराज है।

जिसके ऊपर नरक/तिर्यञ्च गति प्रसन्न है, वही तो छल–कपट मायाचारी कर पायेगा और जिसको नरक/तिर्यञ्च का आशीर्वाद ही नहीं है, वह कहाँ छल–कपट कर पायेगा? ये ध्रुव सत्य है कि तिर्यञ्च–नरक का आशीर्वाद तेरे सिर से हट जाये, तो तेरे शुद्ध परिणाम होंगे और स्वर्ग/मोक्ष का द्वार खुला मिलेगा। 'भगवती आराधना' में लिखा है कि वृद्धावस्था रूपी चुड़ैल तेरी युवावस्था को खा जायेगी, चिन्ता मत करो। उसने तो खाया ही है, पर मृत्यु रूपी राक्षस निगल ही जायेगा। जब–तक पिशाचनी पीने–खाने आये और आयुकर्म का राक्षस उठाने आये, तब–तक हे ज्ञानियो! अपनी निन्दा, आलोचना, गर्हा करके अपने दोषों को शुद्ध कर लो, दोषों से दूर हो जाओ। हे ज्ञानी! यहाँ कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि **जब–तक शुद्धात्मदशा की प्राप्ति नहीं है, तब–तक व्यवहार प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना सब अमृतकुम्भ हैं। जब शुद्धोपयोग में लीन हो जाओ, वहाँ प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान का विकल्प आपके लिये विषकुम्भ है।** अपेक्षा ग्रहण करो। निश्चय–प्रतिक्रमण, निश्चय– प्रत्याख्यान, निश्चय– आलोचना और तीनों की एकता है निश्चय चारित्र, वहाँ अमृतकुम्भ ही है।

निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना से परिणत जो तपोधन हैं, वही अभेददृष्टि से निश्चय चारित्र को तपते हैं। इस लोक में मुझे सुख मिले, जितने प्रकार के भोग हैं सब भोगने को मिलें। भोगांतराय के क्षयोपशम पर, लाभान्तराय के क्षयोपशम पर जितने मिलने की सम्भावना नहीं है, उतने से कई गुना आकांक्षा निहित हैं। कभी–कभी यह **जीव आकांक्षा की तीव्रता में, मिलने वाले पुण्य का भी क्षय कर लेता है।** आपके भीतर इतना क्षयोपशम था कि एक श्लोक याद कर सकते थे एक घण्टे में, पर मुझे श्लोक याद करना है तो वो करना ही है, देखो कैसे होता है, मैं तो करके ही रहूँगा और शुरू अभी तक किया नहीं है। ऐसा सोचते–सोचते उस जीव ने मस्तिष्क को गर्म कर लिया। जैसे– ही ग्रन्थ खोलकर बैठा, उसको कुछ भी समझ में नहीं आता है। अध्ययन की आकांक्षा ने भी अध्ययन से शून्य कर दिया, क्योंकि ज्ञानी बनने के लिये भी ज्ञान आवश्यक है। चारित्र का पालन करने के लिये चारित्र का बोध होना आवश्यक है। **जगत् में बहुत सारे जीव हैं जो कार्य करने की भावना रखते हैं, पर कार्य करने की क्षमता नहीं रखते और क्षमता भी रखते हैं, तो समता नहीं रखते और समता के अभाव में क्षमता विलीन हो जाती है।**

दस किलोमीटर चलना और दस मिनिट का टेंशन, ये थकान समझ में आ जाती है कि किसमें अधिक है। इसलिये आकांक्षा जो है, कामना जो है, वह सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र की कमर तोड़ देती है। आकांक्षा/कामना सम्यक्ता के लिये अहेतुक है, परन्तु मिथ्यात्व के लिये पूर्ण समर्थकपना है। मोक्ष के लिए आकांक्षा अकिञ्चित्कर है। इस लोक में सुखानुभूति की अपेक्षा दूसरे से अच्छा–बुरा बोलना ये भी आकांक्षा है। किसी से अशुभ बोल रहे हो, आपको संतुष्टि हो रही है, इच्छा की पूर्ति, कामना की पूर्ति वे **कामनायें तुम्हारी शुभभूत भी हैं, अशुभभूत भी हैं। अशुभ कामनायें तो दुर्गति का ही साधन हैं। शुभ कामनायें सुगति का ही साधन हैं, परन्तु सिद्ध गति चाहिये तो दोनों कामनाओं से शून्य होना पड़ेगा।**

ज्ञानी! चादर छोटा है, मच्छर भी काट रहे हैं और तू सोना भी चाहता है, तो क्या करेगा? भैया! विषयकषाय के मच्छरसे बचना चाहते हो और कामना की ठंडी से सुरक्षित होना चाहते हो, तो आकांक्षा के पैर सिकोड़ लो, तो सुरक्षित हो जाओगे। भैया! कालिया नाग तेरे पीछे दौड़ रहा है, तू भाग रहा है, मार्ग कंकड़ीले हैं जिससे आप अच्छे से दौड़ भी नहीं पा रहे हो और साँप कंकरीली भूमि में बहुत तेज दौड़ रहा है, अब क्या करोगे? जो कपड़ा आपके पास है, हो सके तो शर्ट उतार देना और इस तरीके से फेंकना कि वह नाग के ऊपर गिर जाये, परिपूर्ण रूप से।

जब–तक वह उसमें लिपटेगा, तब–तक तुम भाग जाना। ज्ञानी! आकांक्षाओं का कालिया नाग तेरे पीछे है, इहलोक आकांक्षा, परलोक आकांक्षा, दो–दो जिह्वा वाले नाग मुँह फाड़े खड़े हैं, क्या करोगे? ज्ञानी! शील और संयम की चादर उसके ऊपर फेंक देना।

मेरे मित्र! अहंकार की पूर्ति के लिये जो आकांक्षा होती है, उसका नाम महत्वाकांक्षा और वासना की पूर्ति के लिये हो रही है, वह है आकांक्षा। मेरा मान, मेरा यश बढ़े, मेरी कीर्ति बढ़े, ऐसा भाव कर रहा है, हर विषय में महत्वाकांक्षा से भरा हुआ है। यहाँ तक कि उपदेश भी सुनने आया है और इस दृष्टि से बैठे हैं कि लोग समझें कि ज्ञानीजीव है, उसमें भी उसकी महत्वाकांक्षा बढ़ रही है। महत्वाकांक्षी पुरुष तनाव से मुक्त हो ही नहीं सकता है, क्योंकि हर जगह उसको बड़प्पन नजर आता है। मार्दव आर्जव धर्म कभी भी महत्वाकांक्षी के पास स्वप्न में भी प्रकट नहीं होता है। जैसे काले मुख वाले बन्दर के सामने लाल मुख का बन्दर नहीं आ पाता, ऐसे–ही जहाँ काली आकांक्षा/महत्वाकांक्षा बैठी हुई है, वहाँ संयम–शील–स्वभाव की लालिमा नहीं आयेगी। त्यागी–व्रती बन गये, सबसे भिन्न नजर आना चाहिये, ज्ञानी! पर्याय की भिन्नता, भावों की भिन्नता को निहार लो, पर जब मोक्ष होगा, तब प्रत्येक जीव के परिणाम सदृश्य ही होंगे, सदृश्य परिणाम से ही मोक्ष जायेगा। जितनों को मोक्ष हुआ, एक–से परिणाम से ही मोक्ष हुआ है, एक भाव से हुआ है।

मित्र! आपने दान लिखा दिया और सामने वाले ने लिख भी लिया, आपको देना भी पड़ेगा। ५० लोगों के नाम माइक पर बोले, पर तेरा नाम नहीं आ पाया, तो धीरेसे संचालक से कहता है कि मेरा नाम बोल। ये कौन बोल रहा है? महत्वाकांक्षा। धन मिल जाये, भोजन मिल जाये, इसमें महत्वाकांक्षा नहीं चलेगी, आकांक्षा चलेगी। आकांक्षा गुप्त होती है, महत्वाकांक्षा सबको दिखाई देती है।

ज्ञानियो! तीनलोक में दान का जो उत्कृष्ट पात्र है, वह दिगम्बर मुनि हैं। भैया! सही बताऊँ आप लोग बहुत पुण्यात्मा जीव हो। हम लोग तो तड़प जाते थे कि एक महाराज दिख जायें, आहार दे लूँ उनको। दूसरे गाँव में जाते थे। महाराजजी आये हैं, चलो दर्शन कर आयें। एक बार क्या हुआ एक नग्न व्यक्ति दिखा। मैंने सोचा कि चलो, दर्शन कर लूँ। लेकिन जैसे–ही दर्शन को झुका, वे खड़ाऊँ पहने थे, उनके पास पिच्छी–कमण्डलु भी नहीं था, वे नागा बाबा थे। मैंने कहा कि मेरे वीतरागी मुनि खड़ाऊँ नहीं पहनते, बिना पिच्छी–कमण्डलु के नहीं होते। वस्त्रधारी त्यागी, क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका सैकड़ों भी हों, उनकी भी भक्ति करना, चर्या कराना, लेकिन एक मुनिराज को

देखकर जो गद्गद् भाव होते हैं, वो अलग ही होते हैं। साक्षात् जिनेन्द्र की मुद्रा कोई है, तो दिगम्बर तपोधन हैं। अन्य मुद्राओं में कैवल्य नहीं होता, निर्वाण नहीं होता।

अपने जीवन को आकांक्षाओं महत्वाकांक्षाओं से सुरक्षित रख पाना, ये बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। ज्ञानी! कोई भी कषाय होगी, कोई भी विकार होगा, वह कण्ठ से गुटकता है, पाँचों इन्द्रियों की अनुभूति की सूचना कण्ठ से मिलती है और चेहरे पर झलकती है। समयसार व्याख्यान के काल में वक्ता के लिये जितने विषय का बोध होगा, उतने ही विषय की प्ररूपणा करेगा, तो ज्ञानी विषय बगीचा बन जाता है। ज्ञानी! एक वृक्ष बगीचा नहीं होता है, अनेक वृक्षों का समूह उद्यान होता है। ऐसी–ही वक्ता की विवेचना है, उसमें हर विषय की प्ररूपणा होना चाहिये, परन्तु मुख्य विषय मुख्य ही होना चाहिये। बिना सूप के भोजन अच्छा नहीं लगता है। सूप यानि दाल। रोटियाँ कितनी ही हों, मुख में चबाओगे लेकिन अन्दर नहीं जायेगी, परन्तु दाल के साथ अन्दर चली जाती है। ऐसे–ही ज्ञानियो! समयसार सुन रहे हो, उसमें अनेक न्याय, नीति, तर्क, दर्शन इन दृष्टान्तों आदि की दाल मिलाकरके अन्दर ले जाओगे, तो अच्छे से पहुँच जायेगी, नहीं–तो आदमी को लगता है कि क्या सुना रहे हैं महाराज? ऐसे–ही जो जिनेन्द्रदेव की वाणी है, उसका नय–निक्षेप, सप्तभंगी आदि से मिश्रित जो व्याख्यान होता है वह अपने–आप में तरल हो जाता है, सरल हो जाता है। नय और न्याय जो है, सीधे प्रयोग करोगे तो अधिक नहीं पचा पाओगे। उसको सिद्धान्त, अध्यात्म, आगम में मिश्रित करके बात करोगे तो आप सब समझ जाओगे।

यहाँ इहलोक, परलोक आकांक्षारूप जब आकांक्षा होती है, तब क्या होता है? मेरी ख्याति फैल जाये। बहुत बड़ी हानि है। इसने पता नहीं कितने चारित्र के हाथ–पैर तोड़ दिये हैं। जिस पद पर, जिस भाषा का प्रयोग कहीं स्वप्न में भी नहीं किया जा सकता हो, उस पद पर बैठा पुरुष ख्याति के राग में उस भाषा का प्रयोग कर बैठता है। बहुत सारे लोग दिगम्बर मुनि के मुख से बहुत–सी भाषाओं की कल्पना ही नहीं करते। विद्वत्ता के नाम पर यदि आपको गुस्सा भी आयेगी तो अन्य लोगों की अपेक्षा से भिन्न होकर बोलना पड़ेगी। माँ की डाँट, पिता की डाँट में भी अन्तर होता है। शिक्षक की डाँट में और गुरु की डाँट में भी महान् अन्तर है। डाँट भले ही तुम्हारी है, पर भाषा–समिति–विहीन न हो, वचन–गुप्ति–विहीन न हो, सत्यधर्म–विहीन न हो, द्वेषपूर्ण न हो, अरति–पूर्ण न हो, रति–भूत भाषा भी न हो। शुद्ध–बुद्ध भाषा हो, जुगुप्सा–भूत भाषा न हो, कलहकारी भाषा न हो, दम्भरूप भाषा न हो, सावद्य भाषा न हो। इन भाषाओं से शून्य जो भाषा है, वह दिगम्बर मुनि की भाषा है। ये सारी भाषायें पाप भाषायें हैं। जितनी ऊँची चोटी पर बैठा

वक्ता है, उसकी भाषा भी चोटी–भूत होना चाहिये।

भैया! तुम अपने आपको एक पिता का पुत्र मानकरके एक भाई का भाई मानकर के मत जीना। तुम भारतीय श्रमणपरम्परा में तीर्थंकर अर्हन्त के सनातन शासन के एक दिगम्बर मुनि बनकर बैठे हो। अनेक धर्मों का सम्मेलन चल रहा हो, वहाँ अलग से आपसे कहा जायेगा कि दिगम्बर श्रमण परम्परा से अमुख साधु पधारे हैं। ज्ञानी! पूरी सनातन श्रमण परम्परा आपके ऊपर दिखाई दे रही है। प्रत्येक मुनि को, प्रत्येक व्यापारी को पिता का पुत्रपना छोड़ देना चाहिये, भाई का भाईपना छोड़ देना चाहिये, माँ के सामने मचलने का दुलारपना छोड़ देना चाहिये। यदि शादीशुदा है तो पत्नी के सामने नाटक करना छोड़ देना चाहिये। साधु की पूजा होती है। पूजा हुये बिना साधु आहार नहीं लेता। उपवास कर लेगा, लेकिन बिना पूजा के आहार नहीं लेगा। किसी ने आधी पूजा कर दी, तब भी आहार नहीं ले सकते हैं। **'लाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षालक्षण निदानबन्धादि'** लाभ को देखे हुये, सुने हुये, ऐसे अनुभूत, पूर्व में भोगे हुये, भोगों की आकांक्षा, लक्षण निदानबन्ध आदि परलोक में मुझे अच्छा सुख मिले, मैं राजा बनूँ, सम्राट बनूँ, ऐसा निदान कर रहा है तो उसका गुणस्थान गिर जायेगा। **'समस्त परद्रव्यालम्बनोत्पन्न शुभाशुभ संकल्प–विकल्प रहितेशून्ये'** समस्त परद्रव्यों के आलम्बन से उत्पन्न शुभ–अशुभ संकल्प–विकल्प से रहित शून्य हो जाता है, विशुद्ध ज्ञान–दर्शन स्वभाव आत्मतत्त्व सम्यक्–दर्शन सम्यक्–ज्ञान अनुभवरूप अभेद रत्नत्रय के **'निर्विकल्प परम–समाधिसमुत्पन्न वीतराग सहज'** निर्विकल्प परम समाधि से उत्पन्न वीतराग सहज परम आनन्द स्वभाव में सुख रस स्वाद के समरसी भाव के परिणाम से, आलम्बन से भरी अवस्था से युक्त, केवलज्ञानादि अनन्त चटुष्टय ऐसा व्यक्ति रूप कार्य समयसार का उत्पादक, कारणसमयसार से युक्त होकर के आत्मा कर्त्ता कर्म का निवारण करता है। कैसे? मूल प्रकृति, उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तारित पूर्व में किये शुभ–अशुभ कर्म का प्रतिक्रमण करना है, वह निश्चय प्रतिक्रमण होता है, ऐसा जानना चाहिये। जो अनन्तज्ञानादि स्वरूप आत्मद्रव्य सम्यक्–दर्शन, सम्यक्–ज्ञान की अनुभूति स्वरूप, अभेद रत्नत्रय के लक्षण से, परम सामायिक में स्थित होकर के, आत्मा का निवारण करता है, कैसे? पूर्व में जो शुभ–अशुभ भावकर्म बांधे थे, उन शुभ– अशुभ अनेक प्रकार के विस्तार को प्राप्त हुये भविष्य के कर्मों को मिथ्यात्व रागादि परिणामों के होने पर जो बन्ध को प्राप्त होते हैं, सो उनका प्रत्याख्यान करता हूँ। ऐसे गुण से विशिष्ट तपोधन, जो बन्ध से प्राप्त कर्म हैं उन भावकर्मों को अपने भावों से भविष्य में आनेवाले कर्मों को छोड़ देते हैं, उनके निश्चय प्रत्याख्यान है। जो नित्य आनन्द एकस्वभाव से शुद्ध आत्मा

के सम्यक्–दर्शन, ज्ञान अनुष्ठान रूप अभेद रत्नत्रय आत्मा के सुख में, दु:ख में, जन्म में, मरण में सभी के प्रति उपेक्षा संयम में स्थित होकर के जो कर्ता वेदन करता है, अनुभव करता है, जानता है, उपेक्षा स्वरूप न जन्म से कोई प्रयोजन है, न मरण से कोई प्रयोजन है, न लाभ से, न अलाभ से कोई प्रयोजन। बस जो है, सो है। सहज है। ऐसी उपेक्षा से युक्त मुनि क्या जानता है? जो कर्म है, वह। किस रूप में? जो कर्म है, वह दोषभूत है, वह कर्म मेरी आत्मा का धर्म नहीं है। शुद्ध दशा। यही मानके चलना कि **कर्म का आत्मा में होना, यही सबसे बड़ा दोष है। कर्म कलंक है, कलंक निर्दोष नहीं है।** जो कर्म–कलंक से निर्दोष हो चुका है, अशुभ कर्म को अपना कोई नहीं मानता और शुभ कर्म को मानने में कोई कमी नहीं करता। अभी घाटा लग जाये तो भगवान् को बुलाने लग जाये और मुनाफा हो जाये सो क्या? मैंने पुरुषार्थ किया। सो कुछ ही दिनों में मालामाल हो गया, वहाँ भगवान् को भुला दिया। कितना अहंकारी जीव है? सबसे सस्ता परमात्मा। काम बिगड़े, सो भगवान्। तत्त्वज्ञानीजीव इन सबसे भिन्न होकरके कहता है कि जो दोष हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है। कर्म कैसे हैं? उदय को प्राप्त होते हुये। फिर भी कैसे? 'सुहमसुहं, शुभाशुभं' शुभ और अशुभ। फिर कैसे? अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तीर्ण मूल प्रकृति व उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक विस्तार रूप वर्तमान काल में उस पुरुष के निश्चय आलोचना होती है। इस प्रकार से जानना चाहिये। जो निश्चय रत्नत्रय शुद्धात्म स्वरूप में स्थित होकर निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय आलोचना करता है, कब तक? हमेशा। सभी समय में करता है। वह चारित्र को धारण करता है। ऐसा विचारकर वह पुरुष से अभेद नय से निश्चय चारित्र होता है। **शुद्धात्मस्वरूप में ही विचरण करना निश्चय चारित्र है।** इस प्रकार निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना, निश्चय चारित्र की व्याख्या पूर्ण हुई। मुमुक्षु! ये निश्चय रत्नत्रय सप्तम गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

उत्थानिक : **ममत्वभाव से बंध होता है।**

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८७।।
वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८८।।
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८९।।

संस्कृत छाया :

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्।।३८७।।
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्।।३८८।।
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यश्चेतयिता।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्।।३८९।।

अन्वयार्थ : (कर्मफलम् वेदयमानः) कर्म के फल का वेदन करता हुआ **(यः तु)** जो आत्मा **(कर्मफलम्)** कर्म–फल को **(आत्मानं करोति)** निजरूप करता है, मानता है **(सः)** वह **(पुनः अपि)** फिरसे भी **(अष्टविधम् तत्)** आठ प्रकार के कर्म को **(दुःखस्य बीजं)** दुःख के बीज को **(बध्नाति)** बाँधता है। **(कर्मफलं वेदयमानः)** कर्म के फल का वेदन करता हुआ **(यः तु)** जो आत्मा **(कर्मफलम् मया कृतं जानाति)** यह जानता/मानता है कि 'कर्मफल मैंने किया है' **(सः)** वह **(पुनः अपि)** फिरसे **(अष्टविधम् तत्)** आठ प्रकार के कर्म को **(दुःखस्य बीजं)** दुःख के बीज को **(बध्नाति)** बाँधता है। **(कर्मफलं वेदयमानः)** कर्म– फल का वेदन करता हुआ **(यः चेतयिता)** जो आत्मा **(सुखितः दुःखितः च)** सुखी और दुःखी **(भवति)** होता है **(सः)** वह **(पुनः अपि)** फिर से भी **(अष्टविधम् तत्)** आठ प्रकारके कर्म को **(दुःखस्य बीजं)** दुःख के बीज को **(बध्नाति)** बाँधता है।

समयदेशना

भव्य बंधुओ! आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुवज्ञायकस्वभावी भगवानात्मा के सहजस्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं।

पञ्चास्तिकाय के एकेन्द्रिय और समयसार के एकेन्द्रिय जितने स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं वे कर्म–फल–चेतना को भोग रहे हैं और त्रस कर्मचेतना और कर्मफल चेतना को भोग रहे हैं। जो प्राणों से अतिक्रान्त है, ऐसा शुद्ध जीव ज्ञानचेतना का भोक्ता है। जब चेतना के त्रिभाग करते हैं, तो यह समझने की आवश्यकता है कि चेतना जो है, ज्ञान–दर्शन है। कर्मसापेक्ष दशा में जब निहारते हैं, बन्ध प्रक्रिया में कर्म चेतना, उदय प्रक्रिया में कर्मफल चेतना और बन्ध–उदय से शून्य दशा में ज्ञानचेतना। अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा, किञ्चित् इनमें अन्तर है। प्राणों से अतिक्रान्त को जब हम शुद्ध ज्ञानचेतना की बात करते हैं, तो वहाँ सिद्ध भगवान् आते हैं, अरहिन्त परमात्मा भी स्यात् ज्ञानचेतना से युक्त होने पर भी संसार–अवस्था में द्रव्यप्राण हैं, इसलिये वहाँ पर भी कर्मफल चेतना और एक समय के लिये बन्ध होता है। तेरहवें गुणस्थान में और एक समय बन्ध की दृष्टि से जो ईर्यापथ बंध है, ईर्यापथ आस्रव है, वह जैसे आ रहा है, वैसे ही जा रहा है।

जब चित्त की व्याख्या करेंगे तो ग्रहण करना पड़ेगा कि वह कर्म भी है। समयसार की दृष्टि से कथन करेंगे तो यहाँ की व्याख्या में थोड़ा–सा अन्तर है। अन्तर यह है कि जो मैं कर्मों को भोग रहा हूँ, वह कर्मफल चेतना है। मैं ऐसा कर रहा हूँ, ऐसा भाव कर्मचेतना है। जो भोग और कृत इन दोनों से शून्य परिणाम है, वह ज्ञानचेतना है। **जो संसार–अवस्था में अपने आपको एकान्त से शुद्ध मानते हैं, उनको त्रिविध चेतना के बारे में चिन्तन करना चाहिये।** यदि त्रिविध चेतना का चिन्तन नहीं करोगे, तो आप एकान्त से सदाशिव मत में प्रवेश कर जाओगे, यानि संसार में होते हुये भी तू मुक्त है। भैया! तू मुक्त नहीं है, मुक्त होने की सामर्थ्य रखता है, मोक्ष जाने की सामर्थ्य है। पर त्रैकालिक शुद्ध हूँ। भैया! तू भगवानात्मा है कि नहीं? ज्ञानी! जैसा सिद्धशिला पर भगवान् विराजा है, स्वभावदृष्टि से वैसा ही हूँ, योग्यता से वैसा ही हूँ, लेकिन पर्याय रूप में नहीं हूँ। अब मैं त्रैकालिक शुद्ध हूँ, इसमें दो धारायें हैं। एक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है और एक द्रव्य स्वभाव में **'सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया'** शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा शुद्ध है कर्म–निरपेक्ष द्रव्यार्थिक दृष्टि से देख रहे हैं तब और द्रव्य स्वभाव से देखोगे,

तो आत्मा ही क्या, प्रत्येक द्रव्य शुद्ध ही है। द्रव्य स्वभाव से प्रत्येक द्रव्य त्रैकालिक शुद्ध रहता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यभूत कभी होता नहीं। मिट्टी से युक्त किट्टिमा से युक्त स्वर्ण है। मिश्रण अवश्य है, पर स्वर्ण परमाणु किट्टिमारूप नहीं है। किट्टिमा–परमाणु स्वर्णरूप नहीं हैं। नाली में पड़ा सोना गन्दा दिखाई दे रहा है, लेकिन तब भी सोने में गन्दगी प्रवेश की नहीं है, आच्छादित है। ऐसे–ही संसार–अवस्था में जिसे हम अशुद्ध आत्मा कह रहे हैं, उस अशुद्ध आत्मा में जो कर्मपिण्ड हैं, वह कर्म–पिण्ड स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुण से युक्त हैं, आत्मद्रव्य जो है, वह ज्ञान–दर्शन–गुण से युक्त है। आत्मा ज्ञान–दर्शन–गुण से भिन्न होकर स्पर्श, रस, गंध, वर्णभूत कब होगी? आत्मा तीनकाल में भी– किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से परद्रव्य–परगुणभूत होगी क्या? नहीं होगी। हे मुमुक्षुओ! **'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'** जो द्रव्य के आश्रित है, पर गुणों से निर्गुण है, वही गुण है। प्रत्येक द्रव्य का गुण अपने द्रव्य में अभिन्न होता है, स्यात्। प्रत्येक द्रव्य का गुण अपने द्रव्य में भिन्न होता है स्यात्। अब स्यात् क्यों लगाया? यदि द्रव्य गुण एक है, तो दो शब्द का प्रयोग क्यों और द्रव्य गुण एक नहीं है, तो द्रव्य का लक्षण क्या? गुणों के समूह का नाम द्रव्य है, फिर भी द्रव्य भिन्न है गुण भिन्न है। लक्ष्यभूत द्रव्य है, लक्षण गुण है, इसलिये संज्ञा, प्रयोजन, लक्षण की दृष्टि से द्रव्य व गुण में भिन्नत्व भाव है और अधिकरण की दृष्टि से अभिन्नत्व भाव है।

जितने भी बुद्धिजीवी लोग हैं, स्वार्थी हैं, वह मुनियों की सेवा बहुत करते हैं, इसमें कोई शंका नहीं है, पर भैया! थोड़ा स्वाध्याय भी किया करो। भैया! जो चर्चायें 'स्वरूप सम्बोधन' में हैं, वे अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलेंगी। ऐसा ग्रन्थ जिसमें सिद्धों को मुक्त ही नहीं अमुक्त भी कहा है। आत्मा को मूर्तिक, अमूर्तिक, आत्मा को अचेतन कहने की सामर्थ्य किसी में है, तो आचार्य अकलंक स्वामी में। विभाव से नहीं, स्वभाव से, आत्मा अचेतन है। यह दुनियाँ कहना जानती है कि कर्मबंध की अपेक्षा से, कर्म सापेक्षता में उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से आत्मा अचेतन है। इस शब्द को तो आलाप पद्धतिकार ने बहुत समय पहले कह दिया, लेकिन स्वभाव से अचेतन है, इस बात को अकलंक स्वामी ने तार्किक दृष्टि से समझाया है।

अस्तित्वं, वस्तुत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, चेतनत्वं, अचेतनत्वं, मूर्तित्वं, अमूर्तित्वं द्रव्याश्रया सामान्य गुणः। ये द्रव्यों के दस सामान्य गुण हैं। जो बन्ध है कर्मों का, वह बन्ध तो विजातीय है, असमान जाति है। हमारी समानजाति पर्याय का कोई नाम नहीं है। इसलिये योगी जब इस तत्त्व में प्रवेश कर जायेगा, आपका शुभ वचनयोग, शुभ काययोग आपका स्वतंत्र करते रहो। आपको निन्दा

करनी है, आपका अशुभ योग चल रहा है, करते रहो। आपकी स्तुति या निन्दा से मेरे द्रव्य–गुण–पर्याय में किञ्चित् भी परिणमन नहीं होता है। जब मेरे इस देह के परिणमन से मेरा परिणमन नहीं है, तो तेरे कर्म, नोकर्म, भाव कर्म के परिणमन से मेरे में परिणमन कैसा? मेरा जो परिणमन है, वह चेतन गुण ज्ञान–दर्शन मात्र ही है।

'उपयोगो लक्षणम्'। जगत् में ऐसी कौनसी आत्मा है निगोदिया से लेकर सिद्धों तक जिसमें ज्ञान–दर्शन नहीं है? इसलिये 'राजवार्तिक' ग्रन्थ की दृष्टि से आत्मा को ज्ञानवान् नहीं कहना, आत्मा को ज्ञानी कहना। क्यों? ज्ञानवान् और ज्ञानी में किञ्चित् अन्तर है, सामान्य से एकत्व है। जब न्यायिक दृष्टि से देखते हैं, तो धनवान् ये अनात्मभूत लक्षण है। ऐसे–ही 'ज्ञानवान्' अनात्मभूत है, 'ज्ञानी' आत्मभूत है। ज्ञानी! तेरा लक्षण ही ज्ञानीपना है। यदि तू ज्ञानी नहीं होगा, तो तू वैज्ञानिक हो जायेगा। गुण–गुणी में भिन्नत्व देखता है वैशेषिक दर्शन। ज्ञान स्वभाव है, इसलिये आत्मा मात्र ज्ञान–दर्शन की अपेक्षा से चेतन है। उसमें प्रमेयत्व आदि गुण हैं कि नहीं? यह चेतन है, कि अचेतन? इन गुणों की अपेक्षा से आत्मा अचेतन है। कर्म चेतना, कर्मफलचेतना, ज्ञान चेतना। अब जो त्रैकालिक शुद्ध नय की व्याख्या कर रहे हैं, त्रैकालिक शुद्ध को दो दृष्टियों में देखना, एक द्रव्यार्थिक नय से मात्र देखने की दृष्टि है, पर वो अशुद्ध ही मानते हैं बन्ध सहित अवस्था में, पर जहाँ मैं त्रैकालिक शुद्ध कह रहा हूँ, वह शक्तिरूप व्याख्या नहीं है, वह वस्तु व्याख्या है।

इन दोनों में क्या अंतर है? बड़े–बड़े योगी बड़े–बड़े ज्ञानी इस बात को समझ नहीं पाये और जब मैं कथन करता हूँ तो लोग ये कहते हैं कि वे तो एकान्त से बोल रहे हैं। हाँ, आपको मालूम होना चाहिये कि जब भी कथन होता है, एकान्त से ही होता है; परन्तु एक नय से कथन हो रहा है, सम्यक् नय से कथन हो रहा है, इसलिये मिथ्याभूत नहीं है। एकान्त दृष्टि से असम्यक् रूप कथन करेंगे तो वही एकान्त कथन मिथ्या में चला जायेगा। नय एवकार का प्रयोग करता है, अनेकान्त अपि का प्रयोग करता है। 'ही' और 'भी'। शक्तिरूप जो व्याख्यान है, वह सामर्थ्य को ग्रहण करता है। वस्तुस्वरूप का व्याख्यान है, वह स्वभाव को ग्रहण करता है। भैया! आपका शक्तिरूप व्याख्यान तभी सार्थक है, जब आपको वस्तुस्वरूप का निर्णय है। वस्तुस्वरूप से घृत दुग्ध में है। वस्तु–व्याख्यान उत्सर्ग मार्ग है, सामान्य है। शक्तिरूप व्याख्यान विशेष है। पर्यायदृष्टि विशेष कथन, पर्यायदृष्टि अपवाद मार्ग और जो द्रव्य है, उत्सर्ग है, सामान्य है, अनिवृत्ति है, ये सब आगमिक भाषा है। मौलिक शब्दावलि का प्रयोग नहीं होगा और ये जो सामान्य पुस्तकें छप जाती हैं उससे इतिहास नष्ट होता है।

वस्त्र धोकर लाओ, ऐसा आपने रजक से कहा। मेरे मित्र! वस्त्र साफ थे इसलिये कहा, कि मलिन थे इसलिये कहा? अब मेरा प्रश्न है कि मलिन थे स्वभाव से, कि शक्ति से? स्वभाव से ही है, तो साफ करोगे कैसे और मलिन नहीं है तो साफ करने दिये क्यों? भैया! वस्त्र की मलिनता आँखों में नहीं दिख रही है, आँखों से दिख रही है। वस्त्र साफ है, ये आँखों में दिख रहा है। मलिनता वस्त्र में नहीं है, वस्त्र का धागा–धागा स्वच्छ है, लेकिन बाहर की मलिनता प्रवेश कर गई है, इसलिये उपचार से वस्त्र मलिन है। स्वभाव से तो वस्त्र जैसा है वैसा है। यदि मलिनता वस्त्र में आ गई, तो कोई साबुन काम का नहीं होगा। जो वस्त्र का रंग है सूत का, सूत में मलिनता मिल गई है, कि सूत मलिन है? ज्ञानी! मलिनता पर वस्तु के संयोग की है, स्वभाव की नहीं है। आत्मा में मलिनता कर्म के संयोग की है, आत्मा मलिन नहीं है। भैया! धुलता क्या है? मैल। और कहते क्या हो? वस्त्र। कितना झूठ बोलते हो आप। लेकिन उपचार से महाराज! ये भी सही है कि वस्त्र धुल गये। आत्मा अपने ज्ञान–दर्शन स्वभाव की दृष्टि से कर्म के द्रव्य–गुण–पर्यायपने को प्राप्त नहीं होता। कर्म का धर्म स्पर्श, रस, गंध, वर्ण है और चेतन का धर्म ज्ञान–दर्शन गुण है, इसलिये दोनों का धर्म भिन्न–भिन्न होने के कारण आत्मा कर्मभूत हुई नहीं, कर्म आत्माभूत नहीं हुये, इस दृष्टि से मैं त्रैकालिक अपने स्वभाव में शुद्ध ही हूँ। इसे लोग नहीं समझ पा रहे हैं, इसलिये क्रियाकाण्डों में उलझे हैं। पुण्य–पुण्य कहकर यहीं भटक रहे हैं।

जब किसी भी पर्याय में जीव दिगम्बर मुनि बनेगा, उस समय तू आत्मा के इस स्वभाव–भाव का ही आश्रय लेकर निर्वाण प्राप्त करेगा। मैं मनुष्यपर्याय में शुद्ध हूँ, इसे नहीं देखेगा। मैं शुद्ध ही हूँ, इसका आश्रय लेगा। जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं है, वह अलिंगी है, अवक्तव्य, अवाच्य है एवं शुद्ध त्रैकालिक मेरे में है इसका आश्रय लेगा। मलिन वस्त्र में स्वच्छ को देखो, ये तुम्हारी शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि है, ये स्वभाव दृष्टि है और स्वभाव दृष्टि में मैं मनुष्य के मनुष्यपने को नहीं देख रहा हूँ। मैं तो उसे अमिश्र धारा में देख रहा हूँ, मिलावट त्रैकालिक नहीं है, स्वभाव त्रैकालिक है। **अमिश्र धारा जो है वह कर्मातीत है, समयसार का आलम्बन जब तक निर्ग्रन्थ नहीं लेता है, तब तक उस जीव को शुद्धोपयोग की प्राप्ति असम्भव।**

समयसार से प्रयोजन ग्रन्थ समयसार नहीं है। समयसार से प्रयोजन जो शुद्धात्म स्वभाव है उस शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति का ज्ञान समयसार ग्रन्थ से होगा। कुन्दकुन्द देव के अनन्त उपकार भूल नहीं सकते। भैया! इस पर्याय में तत्त्व का निर्णय करके ही जाना है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध शक्ति सम्पन्न हूँ, पर स्वभाव से मैं शुद्ध ही हूँ, परन्तु वर्तमान में असमान जाति पर्याय से

युक्त हूँ, इसलिये उनसे युक्त द्रव्य का द्रव्य भी अशुद्ध है, गुण पर्याय भी अशुद्ध है। असमान जाति पर्याय की प्रत्यासत्ति के कारण यदि ऐसा नहीं मानोगे, तो आज मुझे आप में कैवल्य ज्ञान होना दिखना चाहिये। **नय और प्रमाण का जिसमें युगपत् कथन है, उसका नाम न्याय है। युक्ति से आगम की जो सिद्धि कर रहा है, वह न्याय है।** 'नय प्रमाणाभ्याम वस्तु सिद्धि इति सिद्धा–सिद्धान्त:' जो भी वस्तु की सिद्धि होती है, वह नय–प्रमाण के द्वारा होती है, ये सिद्धांत सिद्ध है। जिसको नय–प्रमाण का ज्ञान नहीं है, वह श्रद्धा से ग्रन्थ पढ़ लेगा, परन्तु किसी को वस्तु की सिद्धि बता नहीं सकेगा। न्याय ग्रन्थ का शुद्ध पाठ करने वाले भारतीय श्रमण परम्परा में कोई हैं, तो दिगम्बराचार्य। बिना व्याकरण पढ़े कुछ भी समझ में नहीं आयेगा। मोक्ष जाने के लिये तो सिर्फ इतना सीख लो कि जीव अलग है, पुद्गल अलग है।

ज्ञानी! जब–तक स्थिरता का आलम्बन नहीं होगा, तब–तक आप जीवन में स्थिर हो नहीं पाओगे। इसलिये अध्ययन करना ही चाहिये। बनारसीदास ने चौदह वर्ष की उम्र में ही काम–शास्त्र लिख दिया था, विषय–कषायों से परिपूर्ण पुष्ट थे। ऐसे जीव को समयसार हाथ लग गया, तब उसने भाव बदले, तब उसने अपने द्वारा प्ररूपित कुशास्त्र को स्वयं बहती नदी में बहा दिया। जितने समाज में विकल्प हुये, अध्यात्म के नाम पर हुए हैं। वास्तव में समयसार ने विकल्प खड़े नहीं किये। समयसार से आज तक कोई जीव नहीं भटका है। समयसार में प्रत्येक विषय का स्पष्टीकरण है। हम लोग तो पढ़ रहे थे वर्षों से, इसकी सामूहिक वाचना तो बहुत समय बाद की है। कुन्दकुन्ददेव ने किञ्चित् भी समयसार में विपर्यास नहीं किया है। पण्डित बनारसीदासजी को समयसार मिला, अध्ययन किया, न्याय के ग्रन्थ उनके हाथ में नहीं आ पाये, इससे जीव भ्रमित हुआ और कुछ समय पूर्व जिसने भी समयसार पर प्रवचन करके लोगों को प्रभावित किया उस जीव को भी न्याय ग्रन्थों का पूर्ण अध्ययन नहीं था। इस कारण से जिन प्रमेयों को नय–न्याय की कसौटी पर कसकर बोलना चाहिये था, वे प्रमेय उनके स्पष्ट नहीं हो पाये। न्याय–विनिश्चय ग्रन्थ में वादीभसिंह सूरि ने लिखा है कि शुष्क घास खाने वाली गाय सहज से दूध देना जानती है, ऐसे–ही शुष्क न्याय को चरकरके काव्य शास्त्र का दूध निकाला जाये। न्यायशास्त्र को शुष्क शास्त्र कहा गया है। इसमें न कहानी है न कथायें हैं, मात्र शुद्ध तर्क है। अब जिस व्यक्ति की बुद्धि नहीं सँभल रही है, वह तो पागल होने की ही सम्भावना रखता है। आपको जो निर्णय करना है वह तर्क से करना। तर्क आगमिक होना चाहिये, अनागमिक नहीं चलेगा। भैया! तू अपने पिता की दृष्टि से पिता ही है, कि पुत्र ही है? बालक अपने पिता की दृष्टि से पुत्र ही है। **नय एकान्त ही होता है, प्रमाण अनेकान्त**

होता है। नय अंश की व्याख्या करता है, प्रमाण सर्वांश की व्याख्या करता है। नय अपनी बात करता है, पर की बात का तो त्याग करता है। अनेक धर्म एक अपेक्षा से नहीं हैं, अनेक धर्म अनेक अपेक्षा से हैं। वह अपने पिता की अपेक्षा से बेटा ही है, अन्य धर्म उसके अन्दर हैं ही, लेकिन शेष धर्मों का अभाव है क्या? नहीं। इसलिये विरुद्ध धर्मों को एक साथ देखते हुये भी अवरोधपूर्वक कथन करें, उसका नाम नय–प्रमाण है, वही तर्क है। **'अर्पितानर्पित सिद्धेः'** उसका अर्थ 'ऊहापोह' नहीं है। अर्पितानर्पित का अर्थ है एक की प्रधानता दूसरे की गौणता। भैया! जैसे गोपिका करती है, एक डोर को खींचती है, दूसरी को शिथिल करती है। मित्र! **शनैः शनैः कन्था, शनैः शनैः पन्थः, शनैः शनैः ग्रन्थः।'** आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज कहते थे कि एक–एक धागे से सिलकर कितनी बड़ी कथरी बन जाती है। एक–एक कदम बढ़ाओ तो कहाँ से कहाँ पहुँच जाते हैं। ऐसे–ही धीरे–धीरे पढ़ो। भैया! आज के विषय की जुगाली करना। ये ध्रुव सत्य है, कि ये विषय समझ में आ गया तो चिन्ता नाम की वस्तु तो चेहरे पर आ नहीं सकती। न्याय पढ़ने के लिये विभिन्न दर्शनों का ज्ञान आवश्यक है। **अन्य जो दर्शन हैं, वे विचारशील हैं, वे तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानते हैं। जैनदर्शन तत्त्वज्ञान से निर्वाण नहीं मानता, वह चारित्र से निर्वाण मानता है। जैनदर्शन कहता है कि आचरण के बिना विचार मात्र क्या कर सकते हैं?** तब अकलंक स्वामी कहते हैं राजवार्तिक ग्रन्थ में–

हतं ज्ञानं क्रिया–हीनं, हताचाज्ञानिना क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः।।त.वा.।।

भैया! एक अन्धा था, एक लंगड़ा था। दोनों मेले में जाना चाहते थे। सुना आपने, ये कहानी बनी है तो जिनागम से बनी है। भैया! एक व्यक्ति नेत्र विहीन, दूसरा व्यक्ति पैर विहीन। दोनों जंगल में बैठे हुये हैं। अचानक तूफान चला, बादलों का घर्षण हुआ, जंगल में आग लग गई। अब ज्ञानी देखनेवाला देखते–देखते झुलस रहा है, क्योंकि लंगड़ा चल नहीं पा रहा और अंधा व्यक्ति दौड़ रहा है, परन्तु कहाँ जा रहा है, वह उसे मालूम नहीं है। क्रिया से हीन ज्ञान हतम्, नाश को प्राप्त होता है और अज्ञानी की क्रिया नाश को प्राप्त होती है। कैसे? जैसे एक दौड़ते–दौड़ते जल रहा है और दूसरा देखते–देखते जल रहा है। अरे मित्रो! अंधे के कन्धे पर लंगड़ा चढ़ जाता तो एक रास्ता बताता, दूसरा मार्ग तय करता, तो दोनों की रक्षा हो जाती। ऐसे–ही जो मात्र ज्ञानी–ज्ञानी, वह हतम् और जो क्रिया–क्रिया छू–छू, हतम्। इसलिये माताओ! खूब सोला करना, चर्या का पालन करना, शुद्ध भोजन करना, पर यदि कोई तुझे छू भी जाये, तो उसके गाल पर चाँटा मत मारना।

बिना न्याय के तत्त्व का निर्णय नहीं होता है। **ज्ञान के बिना चारित्र अन्धा है और चारित्र के बिना ज्ञान लंगड़ा है।** दोनों हतम्। लेकिन एक–दूसरे का आश्रय लेंगे तो दोनों का उद्धार हो जायेगा।

ज्ञानियो! कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना, त्रिविध चेतना का व्याख्यान करते हुये कुन्दकुन्द देव गूढ़ रहस्य को समझा रहे हैं।

'वेदंतो कम्मफलं' कर्म के फल को वेदता हुआ 'अप्पाणं कुणदि' जो आत्मा को करता है **'जो दु कम्मफलं'** जो आत्मा से कर्म करता है अथवा आत्मा ही कर्मरूप हो रही है। आत्मा कर्म के फल को भोग रही है, आत्मा ने कर्म को किया, कर्म के फल को भोगते हुये **'सो तं पुणोवि बंधदि'** ऐसा जो मानता है, वह पुनः बन्ध को प्राप्त होता है। आत्मा ने कर्म के फल को भोगा, कर्म के फल को भोगते हुये आत्मा ने ही कर्म को किया है, ऐसी जिनकी मानसिकता है अथवा आत्मा ही कर्मरूप परिणत हो रही है, निज को कर्मरूप स्वीकार रहा है, ऐसा अज्ञानी जीव **'पुणोवि बंधदि'** पुनः बन्ध को प्राप्त होता है। **'बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं'** जो दुःख उत्पत्ति का बीज है, कौन? आठ प्रकार का कर्म। उस कर्म को करनेवाला कौन? आत्मा! कर्मवर्गणाओं का कर्त्ता नहीं है, आत्मा भावकर्म का कर्त्ता है। भावकर्म के निमित्त से कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणत हुई हैं। वस्तु दृष्टि से आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है। बन्धदृष्टि से आत्मा कर्मबन्ध का कर्त्ता है। आठ प्रकार के कर्म हैं, जो भव के बीज हैं, दुःख के बीज हैं, उन दुःख के बीजों को करने वाला अन्य पुरुष नहीं है, पुरुष ही है। अन्य पुरुष पर तुमने बहुत दृष्टि डाली है। हे पुरुष! अन्य पुरुष से दृष्टि हटा लेता, उत्तम पुरुष को देख लेता, तो तुझे मालूम चल जाता कि कर्त्ता कौन है? मेरे कर्म का कर्त्ता अन्य पुरुष नहीं है, मध्यम पुरुष नहीं है। मेरे कर्मों का कर्त्ता उत्तम पुरुष है। अहम् वह मैं है और जो मैं है वही कर्म का कर्त्ता है।

ज्ञानी! निर्बन्ध होने के लिये दृष्टि है, तो फिर शान्त हो जाओ। मेरे पुण्य के निमित्त, मेरे पाप के निमित्त, दोनों अन्य नहीं हैं। मैं ही हूँ। भैया! धर्म की चर्चा भिन्न विषय है। यदि धर्म का पक्ष है तो कभी भी पर निमित्तों पर तेरी दृष्टि जायेगी ही नहीं। ये अपनी अन्दर की कमजोरी को स्वीकारिये। मैं कब तक पर से दुःखी रहूँगा, मैं कब तक पर को सहन करूँगा, मैं कब तक आत्मा को समझाऊँगा? यदि तेरी आत्मा समझी होती, तो ये शब्द कहने की आवश्यकता ही नहीं होती। लोकमर्यादा में व्यवहारधर्म–मर्यादा में तुम रोक कर रखे थे। रुक चुकी होती, तो कषाय उत्पन्न क्यों होती? रोक कर रखा और रुक जाना, इनमें महान् अन्तर है। रोक कर नहीं रखना था, स्वीकारना

ही नहीं था। यदि पर निमित्तों को स्वीकार कर रखा है, इसलिये रोक कर रखा आपने। 'आत्मस्वभावं परभाव भिन्नं' को देखो, जानो, जाने दो, स्वीकारो मत। इसको जाने बिना तेरे व्रत की भी रक्षा नहीं हो सकती। दिगम्बर भेष की रक्षा की चर्चा की आपने, लेकिन दिगम्बर भाव की रक्षा करो। मेरे गुरु के ऊपर उपसर्ग न आये, संकट न आये, हे ज्ञानियो! आपने गुरु के भेष की रक्षा की है, परन्तु भावों की रक्षा करने वाला कोई है, तो गुरु ही है।

श्रावको! जैसे योगी की वैयावृत्ति करते हो, वैसे–ही उनके भावों की भी रक्षा करना सीखो। भावों की वैयावृत्ति करना सीखो। असमान जाति पर्याय के चित्र के राग में अपने स्वभाव को धूमिल क्यों कर रहे हो। राजा महाराजाओं का काल था तो वहाँ वृन्दावलि वखानने वाले महान् पुरुष होते थे। जैसा राजा चाहता था, वैसी ही प्रशंसा कर देता था। हे विद्वानो! तुम वृन्दावलि बखारने वाले पुरुष नहीं हो। अपने विषय–कषाय परिग्रह के निमित्त से तूने योगी को भिखारी बनाया है। बहुत पाप का बन्ध होगा ऐसे विद्वानों को जो महाराज से कह रहे हैं कि महाराज! अध्यक्षजी से कहकर मेरा टीका करवा दो, लिफाफा दिलवा दो। ऐसा भाव भी विद्वान् के मन में है और वीतरागी मुनि के माध्यम से ऐसा चाहते हैं, वे दिगम्बरत्व के घातक विद्वान् हैं। उच्च कर्म पर तुम शंका कर रहे थे, भावकर्म को हनन कर रहे थे, रात को भूखा–प्यासा पुरुष विलख रहा है, उसको दिगम्बर मुनि पानी पिला दे, तो क्या उसका हित नहीं हो जायेगा? जिसे लोक में हित कहा जाता है, वही अहित है। दिगम्बर मुनि प्यासे पुरुष को पानी नहीं पिलायेंगे, जिनवाणी सुनायेंगे। उससे कहेंगे कि हे जीव! पानी तो तूने अनन्त बार पिया, तू रात में पानी पीकरके रक्त–जैसा पाप मत कर। मुनि के द्वारा तो यही हित है। जैनत्व की रक्षा परिग्रह से नहीं है, आकिञ्चन धर्म से है। क्या करूँ, इसे तो लोग भूल गये। आडम्बरों को धर्म स्वीकार रहे हैं। हे मुनिराज! चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग कृत, कारित, अनुमोदन से है। आप इसकी अनुमोदना भी कर रहे हो, आपको उसमें आनन्द आ रहा है, तो वह आपका परिग्रह ही है। जब ये शिष्य हमारे परिग्रह हो सकते हैं, जो १० प्रकार का बाह्य परिग्रह है वह निश्चय नय से नहीं। उनमें से भी कितने बुद्धिपूर्वक छोड़ना पड़ेंगे। बुद्धिपूर्वक आप गृहीत को छोड़िये, अगृहित को छोड़िये। दोनों प्रकार के मिथ्यात्व को बुद्धिपूर्वक छोड़ना पड़ेगा। इसलिये हर बात को हम निश्चय में नहीं डाल सकते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय आ रही है। स्थूल कषाय तो समझ में आ रही है, नौकषाय भी समझ में आ रही है, ज्ञानी! बुद्धिपूर्वक छोड़िये। चौबीस प्रकार के परिग्रह का पूर्ण त्याग निर्ग्रन्थ मुनि को बारहवें गुणस्थान में होगा। उपशम की दृष्टि से ग्यारहवें गुणस्थान में और क्षय की दृष्टि से बारहवें गुणस्थान में, पर

अभी सचित्त, अचित्त, मिश्र ये त्रिविध परिग्रह हैं। मेरे शिष्य–शिष्यायें, चेले–चेली। हे आचार्यभगवान्! ये सचित्त परिग्रह है। शिक्षा–दीक्षा दो, फिर भी इनको परिग्रह ही स्वीकारना होगा। परवस्तु को निजवस्तु नहीं कहा जा सकता। ये पिच्छी संयम का उपकरण अवश्य है, फिर भी परिग्रह है, अचित्त परिग्रह है। पिच्छी–कमण्डलु से युक्त शिष्य, वे मिश्र परिग्रह हैं। ग्रन्थ भी परिग्रह है। निज स्वभाव से भिन्न तेरे लिये सभी परिग्रह हैं। इसलिये जो परिग्रह है, उसे परिग्रह ही स्वीकारना होगा। हे आचार्यभगवन्त! पंचाचार का पारायण पालन कराना मात्र नहीं है।

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्त– वरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ, सो आइरियो मुणी झेओ।।५२।

(द्रव्य संग्रह)

आचार्यभगवन् नेमिचन्द्र स्वामी कह रहे हैं। सबसे पहले अप्पम् शब्द का प्रयोग है। दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र, व्रत, तप आदि पंचाचार युक्त होकर जो योगीश्वर अपनी आत्मा को जोड़ते हैं, पर को भी जोड़ कर रखते हैं, वे आचार्यपरमेष्ठी हैं, उनका ध्यान करो। जब आचार्यत्व की पीठ पर बैठें, दीक्षा–शिक्षा, निग्रह–अनुग्रह, प्रायश्चित्त इतना करके शीघ्र निज में उतर जाओ, पर को भूल जाओ। कदाचित् किसी को कुछ कहना भी पड़े तो कहकर भूल जाइये। 'विस्मरणं दुरितं'। कुछ समय पहले मैं वहाँ गया था, उन्होंने ऐसा कह दिया था। नहीं–नहीं, शीघ्र भूल जाइये। ये जिनवाणी चल रही है, कोई लोक की व्याख्या नहीं है। जिनवाणी में जो है, वह सुनना पड़ेगा। दिगम्बर मुनि को आज्ञा है कि अपने गुरु के अलावा किसी मुनि से भी बात न करे। मुनि दो प्रकार के हैं, लौकिक मुनि, धर्मार्थ मुनि। जो मुनि समाज की, दान की, समाज नीति, राजनीति, दुनियाँ की व्यवस्थाओं में लिप्त हैं, ऐसे मुनि से दूर रहने का आदेश है। ऐसे मुनि को लौकिक मुनि कहा है। ऐसे मुनि से धार्मिक मुनि को दूर रहना चाहिये, क्योंकि बाहर की संगति जल्दी हो जाती है। हाँ, इनका नाम छप रहा है, फोटो छप रही है, मेरी भी छपना चाहिये। ज्ञानी! जब तू घर से निकलकर आया था, तब तूने ये नहीं कहा था कि मैं फोटो छपवाने के लिये मुनि बनूँगा। तू तो कर्म को नष्ट करने के लिये मुनि बना था। अब तू कर्म भोग में लिप्त होकरके समय को बर्बाद कर रहा है। लोकोत्तर मुनि जो समाज में तो बैठे हैं, **'समता सर्व भूतेषु संयमः शुभ भावना।'** सम्पूर्ण प्राणियों पर जिनका साम्यभाव है। जहाँ सम्पूर्ण आरम्भ–परिग्रह का त्याग हो चुका है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने 'योगसार प्राभृत' नाम का महान् ग्रन्थ लिखा है। जैन श्रमण–श्रमणियों को इस ग्रन्थ को कण्ठ में नहीं, चर्या में ग्रहण करना चाहिये। जो लौकिक मुनि हैं, वे भवाभिनंदी हैं–

'भैया! मैं इतना पुराना मुनि हूँ, तब भी आपको ध्यान नहीं है। सबके तो अभिनंदन ग्रन्थ निकल गये, मेरी स्मारिका भी नहीं छपा सकते हैं क्या आप? आप समाज को प्रेरित तो कर ही सकते हो।' मैं तो कहूँगा कि हे योगीराज! आप अपने भीतर कषाय को रोक कर रखे थे, वह तो भीतर वृद्धिमान हो रही थी। जो पर्यायों में पूर्ण है, वह परसमयी है। पत्रिका आदि में लिप्त होकरके अभिनंदन ग्रन्थ छपवा रहे हो, उसमें किसका अभिनंदन होगा? वर्तमान की पर्याय का ही तो होगा। **हे भवाभिनंदनीय! तू भव का अभिनन्दन चाहता है, भवातीत नहीं होना चाहता है। ये मोक्षमार्ग लोकाचार का मार्ग नहीं है, लोकोत्तराचार का मार्ग है।** साधना के पुण्य का दुरुपयोग मत करो। आत्मा के शत्रु कौन हैं? आप स्वयं। आचार्य का अर्थ पर में लिप्त होना नहीं है। निज की आत्मा को और रत्नत्रय पर चलने वाले मुमुक्षुओं की आत्मा को पंचाचार में लगाना, इसका नाम आचार्य है। जैसे मुनियों को अपने गुरु से ही बात करना, वैसे–ही आचार्यमहाराज को अपने दीक्षितों से ही बात करना, अदीक्षितों से अधिक बात नहीं करना। किसी साधु का स्वास्थ्य खराब है, उनकी वैयावृत्ति के लिये तो कह देना कि भैया! अमुख महाराज का स्वास्थ्य देख लेना। इतना कहकर भूल जाना। यदि वीरसेन स्वामी शिष्यों में ही उलझ जाते तो धवला जी की टीका कौन लिखता? कुन्दकुन्द देव चेला–चेली के राग में लिप्त हो जाते तो ८४ पाहुड नहीं लिख पाते। पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं–

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति।।४१।।

(इष्टोपदेश)

जो अपनी आत्मा में स्थिर है, उनके लिये कहा जा रहा है। आचार्य भी परिग्रह रख सकते हैं, मुनि भी परिग्रह रख सकते हैं। कुन्दकुन्द की वाणी का दुरुपयोग, मूल आचार्यपरम्परा का दुरुपयोग। परिग्रह से तात्पर्य? तुमको दीक्षा–शिक्षा देना है, उनको आप किसी श्रावक से पिच्छी आदि दिला रहे हो, वह भी परिग्रह ही है। भैया! जितने मृदुल चर्या वाले जीव हैं, वह भी परिग्रह ही हैं। सब मठ–मंदिरों में लिप्त हो गये हैं और दिगम्बरत्व का नाश करने के लिये कहते हैं कि कुन्दकुन्ददेव ने तो लिखा है। कुन्दकुन्द देव ने क्या लिखा और तुम कर क्या रहे हो?

कुन्दकुन्द देव नियमसार जी में कह रहे हैं कि हे योगीश्वर! मैं उन मुनियों की वन्दना करता हूँ जो गात्र–मात्र परिग्रह के धारी हैं। यानि कि जिनको अपना शरीर भी परिग्रह नजर आता है, उस परिग्रह के धारी हैं, शेष परिग्रह के धारी नहीं हैं। जब शरीर को ही परिग्रह मानते हैं, तब अन्य

परद्रव्यों को अपना कैसे मानें? मुनिराजों को परिग्रह की रक्षा करनी चाहिये। यदि परिग्रह की रक्षा नहीं करेंगे, तो मोक्ष नहीं मिलेगा, ये आगम का वचन है। हे ज्ञानी! तुझे मालूम होना चाहिये कि मैं परिग्रह की रक्षा के लिये ही तो अंजुलि लगाकर जाता हूँ। ये शरीर परिग्रह सुरक्षित रहेगा, तो रत्नत्रय धर्म अच्छे से पलेगा।

संक्लेशतापूर्वक मरना अच्छा है, कि समाधि सहित मरना अच्छा है? इसलिये साधना ऐसी करो जिससे (शरीर) परिग्रह सुरक्षित रहे, जिससे आप अच्छी आराधना कर सको। वीतराग दिगम्बराचार्य जयसेन स्वामी और अमृतचन्द्र स्वामी जैसा–ही मैं कह रहा हूँ। कम्बल आदि हमारी मूल परम्परा में नहीं है, नहीं तो ठण्डियों में कम्बल और गर्मियों में कूलर में बिठा दोगे आप। आकांक्षा गुरु की महिमा को भंग कर देती है। भैया! एक चपरासी की भर्ती के लिये योग्यता की आवश्यकता होती है और जो अरिहन्त के शासन में भर्ती होने जा रहा है उसकी बिना खोज–बीन के दीक्षा कैसे सम्भव है? आप जयपुर से किसी भी प्रतिमा को लाकर भगवान् बना देते हो क्या? एक पत्थर की मूर्ति के लिये तुम कितनी बार परखते हो, फिर इन मुमुक्षुओं को भगवान् बनाने के लिये कितनी परीक्षा होनी चाहिये? आचार्य कुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार जी में एक शब्द का प्रयोग किया है, दीक्षा के पूर्व दीक्षार्थी कैसा होना चाहिये? 'कल्याणकम्'। 'कल्याणकम्' शब्द का अर्थ होता है जो कल्याण का सहकारी निरोग शरीर है। जिसके शरीर में दोष है, उसको दिगम्बरी दीक्षा नहीं देना। भैया! जो क्षत्रिय, ब्राह्मण, जैन इन तीन को छोड़करके दिगम्बरी दीक्षा देता है उस आचार्य को संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिये, ये आगम–वचन है। समत्व की रक्षा कैसे करोगे आप? 'देस कुल जाइ सुद्धा।' भैया! सचित्त–अचित्त–मिश्र ये तीन प्रकार के परिग्रह कल्याण के कारण नहीं हैं। जो आपको शिष्य–शिष्याओं से बन्ध हो रहा है, उससे भी अपने आपको भिन्न करना पड़ेगा। मोक्षमार्ग में साधनाभूत पिच्छी, कमण्डल और शास्त्र ये तीन ही उपकरण हैं। नेत्र पलक वत् अन्तरंग बहिरंग परिग्रह है। नेत्र की पलक आँख की रक्षा करती है, इसलिये इसका नाम बाह्य उपकरण है और जो रेटीना आदि हैं वह अन्तरंग उपकरण हैं। सबसे संवेदनशील कोई अंग है, वह नेत्र है। नेत्र है तो चेहरे की शोभा है, नेत्र नहीं है तो चेहरे की शोभा नहीं है। ऐसे–ही हे योगीश्वर! जैसे नेत्र की रक्षा के लिये पलक आदि हैं, ऐसे–ही तेरे भावसंयम की रक्षा के लिये तेरे कोमल परिणाम हैं और संयम की रक्षा के लिये ये पिच्छी–कमण्डल हैं। ये उपकरण हैं, न कि परिग्रह के लिये हैं। यदि आप इनका प्रयोग जैसा है वैसा ही करते हो, तब ही हेतु हैं। ये पिच्छी धूप से बचने के लिये नहीं है। जब मुनिदीक्षा होती है और पिच्छी भेंट की जाती है तब कहा जाता

है, 'भो अन्तेवासिन्! संयम रक्षार्थं संयम उपकरणं ग्रहणं।' ये संयम की रक्षा के लिये संयम उपकरण हैं, इसे ग्रहण करो। ये तकिया बनाने के लिये नहीं है, न भूत भगाने के लिये है। ये मात्र जीवों की रक्षा के लिये है। विपर्यास नहीं करना। मृदुल चर्या तो लोग सीख लेते हैं। मृदुल चर्या का व्याख्यान नहीं होता, व्याख्यान तो उत्कृष्ट का ही होना चाहिये। मृदुल चर्या ये उसकी निजी व्यवस्था है, आगम की व्यवस्था नहीं है।

आचार्यभगवन्त कहते हैं कि आहार लेना ही अपवाद मार्ग है। राजमार्ग तो वह है जैसे बाहुबली स्वामी खड़े हो गये वैसे ही खड़े हो जाना। स्यात् नहीं, सत्य है। इसलिये ज्ञानी! परमार्थ दृष्टि से आहार लेना अपवाद है, लेकिन राजमार्ग पर प्रवृत्ति हो नहीं सकेगी, इसलिये तीर्थंकरों को भी आहार लेना अनिवार्य है, क्योंकि सारे जीवों का संहनन एक–सा नहीं है। जो कुयें का पानी का शुद्ध भोजन है, वह तो शुद्ध है। आपकी भाषा में कुयें के पानी और हाथ की चक्की का पिसा आटे का शुद्ध भोजन है; परंतु शुद्ध भोजन वो होता है जो मात्र पानी में उबली दाल और अग्नि में सिकी रोटी। न इसमें नमक, न मिर्च, न घी, कुछ भी नहीं; वह भोजन शुद्ध भोजन है। यदि आपने उसमें कुछ भी मिश्रण किया, तो वह अशुद्ध ही है। मुनियों को शुद्ध भोजन लेने की आज्ञा है और अशुद्ध भोजन लेने की भी आज्ञा है। कौनसा अशुद्ध भोजन? मिश्र वाला अशुद्ध भोजन, न कि होटलों का अशुद्ध भोजन।

कर्म तो कर्म है। कर्म का कर्त्ता आत्मा नहीं है, बन्ध का कर्त्ता आत्मा है। स्वभाव दृष्टि से जो है, सो है। **'वेदंतो कम्मफलं'** कर्म के फल को वेदता हुआ, **'मए कदं'** मैंने ही किया। **'मुणदि जो दु कम्मफलं'** ये कर्म का फल तो मैंने ही किया है, ऐसा जो मानता है, **'सो तं पुणोवि बंधदि'** वह भी बंध को प्राप्त होता है। **'बीयं दुक्खस्स'** जो दु:ख का बीज है, **'अट्ठविहं'** वह आठ प्रकार का कर्म है। **'वेदंतो कम्मफलं'** कर्म के फल को वेदता हुआ सुखी–दु:खी होता है। जो आत्मा पुन: बंध को प्राप्त होता है, जो दु:ख का बीज है, वह है ८ प्रकार का कर्म। वह पर कर्त्ता नहीं है, स्व कर्त्ता है।

सप्रतिष्ठित शरीर, पसीना जिसमें टपक रहा है, आपने अपना सूखा हाथ गीले चंदन में डाल दिया। हे अहिंसा महाव्रती! आप दूसरों को तिलक लगा रहे हो तो आपका अहिंसा महाव्रत लोप हो गया। रक्षा बन्धन के दिन कुछ श्रावक आये और बोले 'महाराज! धर्म की रक्षा के लिये राखी बाँध दो।' भैया! कौनसे शास्त्र में आपने पढ़ा कि दोनों हाथों से आशीर्वाद देना? कहीं लिखा–पढ़ा या कोई प्राचीन प्रतिमा मिली हो तो बताओ। पीठ ठोकना आशीर्वाद नहीं है, न सिर ठोकना

आशीर्वाद है। मात्र कर पात्र से, इतना आगम में लिखा है। साधु को नमस्कार किया तो मात्र धर्मवृद्धि। अब आपने पीठ ठोक दी किसी की, उसकी पीठ में कितने सम्मूर्च्छन जीव थे, सब मार दिये। 'मूलाचार' में कहीं भी नहीं लिखा कि मुनियों को पिच्छी से आशीर्वाद देना चाहिये। देखो भाई! रिमझिम पानी गिरता है तो किसान मुस्कराता है और मूसलाधार बरसता है तो बीज भी उखड़ ही जाता है। ऐसे–ही कुछ लोग ऐसे पढ़ते हैं जैसे मूसलाधार पानी बरस रहा हो तो उनका सब चला जाता है। अध्ययन तो रिमझिम–रिमझिम बारिस होना चाहिये, उपदेश भी रिमझिम–रिमझिम होना चाहिये। कोई हँसिया से नजर उतार रहा है, कोई कपड़े से भूत भगा रहा है, कोई नीम के झोरे से कालिया नाग का जहर उतार रहा है, तो कोई पिच्छी का प्रयोग कर रहा है। भैया! दिगम्बर मुनि को जो पिच्छी दी जाती है, वह मात्र संयम की रक्षा के लिये है **'अधिकरणं जीवाऽजीवाः।।**त.सू.।। स्वयं का उपकरण पिच्छी, जिससे मैंने शरीर का मार्जन किया है, ये अजीव है, इसमें भी हमारे शरीर के जीवाणु जायेंगे। दूसरा उपयोग करेगा तो घात होगा, क्योंकि वहाँ मिश्र हो जायेंगे। पहले के साधु आहार लेने जाते थे, उपदेश करते थे, बैठते थे, वैयावृत्ति होती थी, ठीक है, लेकिन मूल आगम ये नहीं है। आहार मौनपूर्वक लेना और जैसे–ही आहार हो श्रावक के घर, फिर शीघ्र निकल आना। श्रावक के घर में बैठने का, उपदेश देना का आगम में कोई वर्णन नहीं है। भैया! मालूम चला कि मेरी पूरी सामायिक हो गई और ये मुनिराज अभी पधारे। पूछा– क्या कर रहे थे? बोले– नियम दिला रहे थे। नियम दिलाना भी आचार्यों का धर्म है, मुनियों का धर्म नहीं है।

ज्ञान से भिन्न अन्य भावों में जो मैं ऐसा अनुभव करता हूँ, वह मैं हूँ, ये अज्ञान चेतना है। निज ज्ञानस्वभाव से भिन्न परवस्तु में निजत्व रखना, ये अज्ञान चेतना है। वह दो प्रकार की है 'कर्म चेतना और कर्म फल चेतना'। ज्ञान से भिन्न अन्य पदार्थों में 'इनको मैं करता हूँ' ऐसी जो परिणति है, उसका नाम है कर्म चेतना। निज ज्ञान से भिन्न अन्य द्रव्य को मैं वेदता हूँ, ऐसा जो भाव है, वह कर्मफलचेतना है। ये कर्मचेतना, कर्मफलचेतना संसारभ्रमण का बीज है। ये संसार का बीज (कर्मचेतना और कर्मफलचेतना) जो ८ प्रकार के कर्म हैं, वे संसार के बीज हैं। इसलिये मोक्षार्थी पुरुष के द्वारा अज्ञान चेतना का तो अभाव करना चाहिये। जगत् में बहुत सारे संन्यासी हैं जो चाहते हैं मेरा यश फैले। कीर्ति फैले, तुम्हारा कर्म से संन्यास नहीं, तो–फिर किसके लिये संन्यास? सम्पूर्ण कर्मों का मेरे से संन्यास हो जाये, अभाव हो जाये और सम्पूर्ण कर्म का फल से संन्यास हो जाये और उसको नचाकर के जो स्वभाव भूत भगवती ज्ञान चेतना है वही है अब उसे ही नचाना चाहिये।

हे योगीश्वरो! जगत् की कर्मचेतना व कर्मफलचेतना से संन्यास लेकर उनको छोड़ देना चाहिये और भगवती ज्ञानचेतना से युक्त होकर निरन्तर उसी का नृत्य करना चाहिये। उस एक ज्ञानचेतना को हृदयगत करना चाहिये। सम्पूर्ण कर्मों के त्याग की भावना से उसको नृत्य कराना चाहिये।

भगवती ज्ञानधारा ही आत्मा की सहज धारा है, भगवती प्रज्ञा की लीनता ही स्वरूप–लीनता है। निज ज्ञान को भूल करके जो ज्ञेयों में भ्रमण है, वह अतिक्रमण भाव है। निज ज्ञाता को छोड़कर ज्ञेयों में जाना अतिक्रमण है। निज ज्ञाता का निज ज्ञान में लीन होना निश्चय प्रतिक्रमण है। मन में ज्ञान का जाना भी अतिक्रमण है, वचन में ज्ञान का जाना भी अतिक्रमण है, काय में ज्ञान को ले जाना भी अतिक्रमण है। मन में, वचन में, काय में ज्ञान को नहीं ले जाना, ये ही ज्ञानियो! निश्चय प्रतिक्रमण है। निश्चय प्रतिक्रमण में लीन योगी को व्यवहार प्रतिक्रमण करने का विकल्प भी नहीं है, ऐसे श्रमण के लिये व्यवहार प्रतिक्रमण विषकुम्भ है; पर **जो योगी निज ज्ञान में लीन नहीं है, निज ज्ञाता को नहीं समझ रहा है, निज ज्ञप्ति को नहीं जान रहा है, उसके लिये व्यवहार प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है। दोष तो दोष है, दोष में निज को ले जाना महादोष है।** दोष में शोधन का भाव रखना, निश्चय से ये भी दोष है। जब तू दोष को देखेगा शोधन के लिये, पहले तेरे ज्ञान में ज्ञेय दोष ही बनेगा, उस समय तेरी दृष्टि दोष पर है, पर पर ही है, निज पर नहीं है, इसलिये दोष है। जब तू निर्दोष निज भगवती– प्रज्ञा को निहारेगा, उस समय तू दोष पर है कि अदोष पर है? वस्तुस्वभाव है, यही निश्चय प्रतिक्रमण है। दोष करने वाले की तो यहाँ व्याख्या ही नहीं है। जब निर्दोषता में जाना यह राग भी अतिक्रमण है, तो दोषी का दोष अतिक्रमण नहीं होगा तो क्या होगा? दोष का शोधन करूँ, ऐसा भाव भी निश्चय स्वभाव को भंग कर रहा है। जो दोष में लीन है, उसका सदोषपना अबंध भाव कैसा? निश्चय प्रतिक्रमण निज ज्ञाता का निज ज्ञान में लवलीन होना है। जिसके पास व्यवहार प्रतिक्रमण ही नहीं आया, उसके निश्चय प्रतिक्रमण क्या होगा? दोष पर दोष चल रहा है, फिर भी अपने आप में ये भाव नहीं आया 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं' उसका दीर्घ संसार है। दोष में मग्न है, आनन्दित है और दोष को अपनी कमजोरी कह रहा है, यही महादोष है। कर्मोदय है, इसलिये दोष लगता है, हे कर्माधीन मिथ्यादृष्टि! तू सर्वस्य कर्म का कह देगा तो निज का पुरुषार्थ कहाँ जायेगा? कर्माधीन, ईश्वराधीन, ईश्वरवादी बोलता है 'मैं क्या कर सकता हूँ? सब ईश्वर की इच्छा से हो रहा है।' कर्मवादी कहता है कि मैं क्या कर सकता हूँ? सब कर्म के उदय से हो रहा है। **मनमाने दोष करेगा और सब कर्म पर छोड़ देगा, तो तेरा निष्कर्म भाव कब प्रकट होगा? क्या कर्म**

के उदय से काम करना पुरुष के लिये अनिवार्य है? यदि कर्म–उदय आने पर भोग करना पुरुष के लिये अनिवार्य हो जायेगा, तो मोक्षमार्ग का विराम हो जायेगा। पुरुष कर्माधीन नहीं है, स्वाधीन है। कर्म के आने में पुरुष की स्वाधीनता नहीं है, कर्म के नाश करने में पुरुष की स्वाधीनता है। तूने पाप स्वाधीन होकर किये हैं, इसलिये कर्माधीन है। तू पाप नहीं करेगा, उदय में आयेंगे, नष्ट हो जायेंगे, नवीन नहीं आयेंगे, पुराने निर्जीव हो जायेंगे, बचेगा क्या?

मोक्ष होगा, इसकी स्वरूप की दृष्टि में व्याख्या कीजिये। मैं मुनिधर्म देखूँगा तो मैं दूसरों के द्वारा वन्दना के भाव रखूँगा, दूसरों के द्वारा सम्मान चाहूँगा। मुनिधर्म पूज्य है, इसको तुम सम्मान क्यों नहीं देते हो? फिर मेरे पास जो भी आयेगा मैं उससे कहूँगा कि सिर टेककर नमस्कार कर, क्योंकि मैं मुनि हूँ। **धर्म किसी का दास नहीं है, धर्म बलात्कार नहीं है, धर्म सहज है।** हे मुनिराज! आप कहो कि मैं अमुख नगर नहीं जाऊँगा, क्योंकि वहाँ के लोग मुझे लेने नहीं आये। हे मुनिराज! जिन राज को भूलकर, अपना बनाने के चक्कर में कितने विशाल मंदिर के दर्शन छोड़ दिये। भगवान् की वन्दना के लिये भी तुम्हें वन्दना चाहिये। मेरे पास तो चैत्यालय है, मैं कर लूँगा वन्दना यहीं, परन्तु जिनालय नहीं जाऊँगा, क्योंकि वो लोग लेने नहीं आये। मान का नाम स्वाभिमान है। भैया! कषाय को धर्म नहीं कहना। वे अहंकारी लोग हैं, जो स्वाभिमान की रक्षा, स्व के अभिमान की रक्षा, मान की रक्षा, अभिमान की पूर्ति को धर्म मानते हैं। देह के धर्मात्मा बहुत हैं, पर मार्दव–आर्जव स्वभावभूत धर्म को मानने वाले धर्मात्मा अंगुलियों पर गिनने लायक हैं। भगवान् की वन्दना करने में भी आपको अपनी वन्दना दिख रही है, वह भी अभिमान है। मैं मुनि हूँ, इसका सम्मान रखूँगा। मुनिधर्म तो सहज है। न मैं पूज्य हूँ, न अपूज्य हूँ। मैं निज गुणों का ही पुजारी हूँ, मैं निज गुणों से ही पूज्य हूँ और निज गुणों से ही पूजक हूँ, मेरे में अपूज्यपना कभी आता ही नहीं और मेरे में पूज्यपना किसी के द्वारा दिया जाता नहीं है। **दिगम्बरत्व पराधीन नहीं है, वह तो स्वाधीन है। वीतराग धर्म देहाश्रित नहीं है, वह तो आत्माश्रित है।** देहाश्रित लिंग है, चिह्न है। आत्माश्रित धर्म को भूलकरके, देहाश्रित पुण्याचरण को धर्म मानकरके, उसकी पूजा में लीन हो गये, घण्टों–घण्टों इस देह की पूजा में विलीन हो गये, एक घण्टे धर्मोपदेश दे देते तो कम–से–कम श्रावकों को तत्त्व सुनाई तो पड़ता।

जो लोग अहंकार–सम्मान चाहते हैं, वे अपनी आत्मा का अपमान करते हैं। देह का अपमान पराश्रित है, आत्मा का अपमान स्वाश्रित है। किसी ने मेरा अपमान किया देह को देखकर, लेकिन मैंने अपने भाव बिगाड़े जो मैंने स्वयं के द्वारा स्वयं का अपमान किया है और भाव नहीं बिगाड़े

तो मैंने अपनी आत्मा का स्वयं सम्मान किया है। पुण्यक्रियाओं के राग में पुण्य नहीं कर पा रहा है। एक कहता है कि मैं तो श्रीफल चढ़ाऊँगा, दूसरा कहता है कि मैं तो गोला चढ़ाऊँगा, श्रीफल गोले के राग में दोनों झगड़ गये। आये थे पुण्य करने, पाप करके चले गये। **जो उपशम भाव है, अकषाय भाव है, आत्मानंद स्वभाव है, वह मुनिधर्म है। ये प्रभुत्ता का मार्ग नहीं है, ये प्रभुत्वशक्ति का मार्ग है।** मेरा उद्देश्य अकषाय भाव में जीना है। घर क्यों छोड़ा? यहाँ आकर शिष्य के राग में, देह के राग में लिप्त हो जाऊँ, इन्द्रियसुख छोड़ा बुद्धिपूर्वक और यहाँ कषाय करके आत्म–सुख को भी नष्ट कर दिया। उपदेश है, निर्देश है, कर्तृत्व नहीं है, ये दृष्टि होना चाहिये आचार्य के भीतर। भैया! पण्डितजी आये, चले गये, नहीं किया नमस्कार, तो क्या दिक्कत? 'क्यों, मुनि की अवहेलना नहीं हुई?' हाँ, नहीं हुई। उनकी वन्दना न–करने से यदि आप कुपित होते, तो निश्चित ही मुनि की अवहेलना होती। जिसने वन्दना नहीं की, उसको मिथ्यात्व का बन्ध है, दुर्गति का बन्ध है। भावकर्म अशुभ है, वह तो कर्म का विपाक भोग रहा है, तुम कर्म का आस्रव क्यों कर रहे हो गुस्सा करके? जब लाभान्तराय कर्म का उदय होता है तो कोई कुछ नहीं कर पाता और जब लाभान्तराय कर्म का उदय नहीं है तो अन्तराय पर अन्तराय होते हैं।

जब मैं क्षुल्लक था और साथ में तीन साधु थे आचार्य महाराज के संग में, एक बार विहार चल रहा था, एक गाँव में चर्या के लिये निकले। मैंने चौके में देखा तीन–चार बुढ़िया मातायें हैं और वे घबड़ा रही हैं। मैंने अपनी अंजुलि छोड़ी और उन माताओं को धैर्य बंधाया और कहा कि– अच्छे से पूजा कर लो और आहार कराओ। नियोग देखो, सभी के अच्छे से आहार हो गये। मैंने सोचा कि आज तो डाँट पड़ेगी, क्योंकि मैंने अंजुलि छोड़ दी है। जैसे–ही बड़े महाराजजी के आहार हुये, वे बोले 'क्षुल्लक तो आहार भी दे सकता है।' जब पवित्र परिणाम होते हैं, विशुद्ध भाव होते हैं, तो पात्र और दाता दोनों के विघ्न भी टल जाते हैं। संक्रमण होता है। क्षुल्लक को साधु के पहले आहार नहीं करना चाहिये। धर्म को धर्म समझिये। धर्म खोकरके धर्म करना धर्म नहीं है। यदि कोई श्रावक भूल कर भी गया, तो मुनिराज को गुस्सा नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुम धर्म के लिये आये हो और धर्म को छोड़करके गुस्सा कर रहे हो। उत्तम क्षमा धर्म है और उसे छोड़ा आपने, किसके लिये? धर्म के लिये।

एक प्रश्न आया कि प्रशस्त काम के लिये गुस्सा किया जा सकता है क्या? भैया! गुस्सा प्रशस्त कब होती है, कषाय प्रशस्त कब होती है? चन्दन के मूठे में लगी आग भी अंगुली जलायेगी और बबूल की लकड़ी में लगी आग भी अंगुली जलायेगी। राजा दण्डक ने पाँच सौ

मुनियों को घानी में पेल दिया था, कुछ महाराज विहार करते हुये निकल रहे थे। एक श्रावक ने कहा महाराज! यहाँ से मत जाओ, दण्डक राजा ने पाँच सौ मुनियों को घानी में पेल दिया है। इन शब्दों को सुनते ही मुनिराज को अनुराग उत्पन्न हुआ धर्म के प्रति, मुनिराजों के प्रति। ऐसा अनुराग हुआ कि उनके बायें कंधे से एक अशुभ पुतला निकला, जो राजा दण्डक का राज्य और राजा को जलाकर वापस आया और मुनिराज को भी जला दिया। हे योगी! आपको तो त्रैकालिक धर्म देखना चाहिये था। हे श्रमणो! पर की पर्याय को पर ही स्वीकारिये, निज धर्म पर लक्ष्य कीजिये। उनका अशुभ मरण हो गया कि नहीं? कषाय कभी अच्छी नहीं होती। परम्परा की रक्षा, संघ का बहुमान, गुरु की प्रशंसा– ये तीन विषय जब–तक चलते रहेंगे तब तक उस संघ की समाधियाँ कभी नहीं होंगी। गुरुपरम्परा के राग में तुम भूल गये **'केवलि–श्रुत–संघ–धर्म–देवाऽवर्णवादो दर्शनमोहस्य'।**

शान्तिसागर, आदिसागर, शान्तिसागर द्वितीय क्या तीनों मुनिराज नहीं थे? तीनों वीतरागी मुनिराज थे। तुम श्रावकों को तो उपदेश देते हो कि मुनि की अवहेलना मत करना और तुम समाधि होने के बाद भी परम्परा के राग में उनकी अवहेलना की भाषा बोल रहे हो। क्या तुमको निधत्ति–निकाचित जैसे कर्म का आस्रव–बन्ध नहीं होगा? वे तो अपनी समाधि करके चले गये और तुम अहंकार के वश होकरके उन्हें छोटा–बड़ा कह रहे हो तो तुम्हारी बुद्धि छोटी अवश्य हो रही है। मुनि बनकर जीना बहुत कठिन है। पत्थर की प्रतिमा में जब हम उपचार से तीर्थंकर की वन्दना कर सकते हैं, तब चैतन्य आत्मा में निर्ग्रन्थ मुनि की वन्दना क्यों नहीं कर सकते? कुल मिलाकर धर्म के मर्म को नहीं सीख पाये आज तक।

'भगवती आराधना' में लिखा हुआ है कि सल्लेखना के काल में मुनि के कान में तेल डाल देना, नाक में तेल लगा देना, क्योंकि उपवास चल रहे हैं, शरीर सूखा है, शुष्क अवस्था में खुजली पड़ती है। कहीं अन्तिम श्वास निकलने का समय हुआ और कान की खुजली में ध्यान चला गया तो उनका कुमरण हो जायेगा। भैया! काले खेत की मिट्टी पानी पड़ने पर भुरभुरी हो जाती है और पानी पड़ने के बाद उस पर गाय आदि कोई निकल जाये और वह सूख जाये तो मिट्टी पत्थर–सी कड़ी हो जाती है। अगर किसी को लग जाये तो रक्त ही निकलेगा। ऐसे–ही जो मल है हमारे पेट का, जब शुष्क हो जाता है तो इतना कड़ा हो जाता है कि पेट में ही चुभन उत्पन्न करता है और कहीं मल रहा, तो चुभन होती रहेगी, तो उस पीड़ा को सहन करेंगे कि आत्मा को निहारेंगे कि परमात्मा का ध्यान करेंगे? इसलिये पूर्व से ही गरिष्ट भोजन का त्याग करा दिया जाता है। जितना

पेय हल्का रहेगा, उतने परिणाम विशुद्ध रहेंगे। पेट के साफ रहो, पेट को साफ रखो, तभी समाधि हो पायेगी। निर्यापकाचार्य परवस्तु है, वह आपको समझा ही पायेगा, भाव आपको ही सँभालना पड़ेंगे। पूर्व से तैयारी होना आवश्यक है।

पेट में मल के होने पर पीड़ा सताती है और सल्लेखना भंग होने की संभावना रहती है। जब पेट का द्रव्य मल सूखने पर पीड़ा होती है, भाव भंग हो सकते हैं, तो जिसके पेट में संघ–पंथ–आम्नाय के राग का मल रखा हो उसकी सफाई कैसे होगी? इसलिये आलोचना करो, प्रतिक्रमण करो, प्रत्याख्यान करो। हाँ भैया! अन्दर जाकर पता चलता है कि बाहर क्या है? ढोल में पोल। ये संघ, वो संघ ये सब अज्ञानधारा है। यदि विकल्प है तो शुद्ध मानिये कि सामायिक नहीं हो रही है। अरे! तू, तू है; पर, पर है। तुझे क्या लेना–देना? श्रुतसागर आचार्यकल्प ने कितनी सुन्दर बात कही। भैया! मैंने जीवनभर चर्या पर की की है, समाज के लिये और धर्म के लिये बहुत समय दिया, अब मैं समाज और धर्म को समय देना नहीं चाहता हूँ। अब शेष आयु के जो निषेक हैं वे मैं स्वयं को देना चाहता हूँ, अब मेरा समाज के लिये कोई संदेश नहीं है। जैसे निश्चयाभासी मेरे लिये पर हैं, वैसे–ही व्यवहाराभासी भी मेरे लिये पर ही हैं और मेरा देह ही मेरे से भिन्न है। मेरे में और इनमें अत्यन्ताभाव है। इनके भावों से मेरे में बन्ध नहीं होगा, इनके भावों से मेरा मोक्ष नहीं होगा, पर इनके राग में रागी होकरके निज के राग में लीन होकर बन्ध को प्राप्त हो जाऊँगा।

कहीं पंथ की, तो कहीं संघ परम्परा की रक्षा की बात हो रही है, स्वात्म तत्त्व की बात ही नहीं हो रही है। शान्ति से एक सामायिक पूरी कर लें तो उसके जीवन का कल्याण हो जायेगा। भैया! धर्म की रक्षा में लगे रहे, धर्म की रक्षा नहीं कर पाये। दान, क्रिया–कर्म करना– करवाना, ये बहिर्भाव हैं। निश्चय से तो आत्मद्रव्य ही धर्म है और जब अन्तरंग परिणति पवित्र होगी तभी संवेग भाव का जन्म होगा। धर्म–धर्मात्मा को देखकरके प्रसन्न–चित्त होना चाहिये, वह तो आज दिखाई ही नहीं दे रहा है। भैया! चारित्र तो दिखाई दे जायेगा, पर श्रद्धा दिखाई नहीं देगी। मिथ्यादृष्टि का चारित्र तो मिथ्या ही होता है। मेरे मित्र! अनुशासन भिन्न विषय है और आत्मानुशासन भिन्न विषय है। अनुशासन तो चर्या मात्र का दिख रहा है, आत्मानुशासन का पता ही नहीं चल रहा है।

जब मैं महाराष्ट्र गया, विहार करते हुये एक गाँव में पहुँचा। एक मुनि ने नियम दिलाया था कि किसी साधु को चौका नहीं लगाना, सब मिथ्यादृष्टि हैं। भैया! नियम आहारदान देने के होते हैं, नहीं–देने के नहीं होते हैं। समता और क्षमता दो गुण आवश्यक हैं। जब–तक व्यवहारिकता का बोध नहीं है, तब–तक अन्तरंग की बात समझ नहीं पाओगे। बहिरंग भाव मत देखिये, अन्तरंग

भाव भी देखिये। मैंने ९० साल के एक मुनिराज को 'वारसाणुप्रेक्षा' ग्रन्थ का स्वाध्याय करते देखा। पता नहीं क्यों वृद्धों को देखकर बड़ा आनन्द आता है। ग्रन्थ पढ़ते जा रहे थे और रिफिल से लिख रहे थे कापी पर। मैंने पूछा महाराज श्री! क्या कर रहे हैं? प्रवचन की तैयारी कर रहे हैं क्या? रत्नत्रय धर्म से युक्त आत्मा ही तो प्रवचन है। भैया! आत्मधर्म में आत्मप्रवचन की वंचना न हो जाये, अच्छी बातें नोट कर रहा हूँ। मैं तो बोलकर यहाँ बैठ गया हूँ, लिखनेवालों ने लिख दिया, अब ये देखो सल्लेखना की साधना में अपनी आत्मा में संस्कार डाल रहे हैं। व्यवहार धर्म भी देखो, परमार्थ धर्म के लिये।

भैया! किसी भी मुनि के बारे में अशुभ मत सोचना। जब आस्रव श्रावक को हो सकता है दर्शनमोहनीय का, तो साधु को कर्म कहाँ छोड़ेगा? गुरु की भक्ति तो करो, पर गुरु के राग में किसी दूसरे मुनि की अवहेलना मत करना। वन्दना करो, पर बन्ध न करो। एक नियम होना चाहिये। एकलविहारियों की संख्या बढ़ रही है, स्वेच्छाचारियों की संख्या बढ़ रही है। जितने निमित्तों से साम्यभाव सुरक्षित रहे, उतने ही सम्बन्ध रखो, बाकी के ज्ञानी! आत्मस्वभावं परभाव भिन्नं'। यहाँ कह रहे हैं 'प्रतिक्रमण स्वभावं भगवान्–आत्मा'। भैया! प्रत्येक साधु की सेवा करना, पर किसी की मृदुल चर्या का सहभागी मत बनना। अपने हाथ से किसी भी साधु को मोबाइल मत देना। उनसे कहना कि महाराज! मेरे गुरु ने जिनवाणी देना सिखाया है। **जो श्रावक साधुओं को अन्य उपकरण देता है, जो रत्नत्रय वृद्धि के साधन नहीं हैं, वह श्रावक यति–हत्या का दोषी है।**

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे।।२२५।।

अब यहाँ कृत कारित अनुमोदना (स्व के द्वारा कृत, पर के द्वारा कारित और पर की प्रशंसा अनुमोदना) इन तीनों से त्रिकाल (भूत, भावी, वर्तमान) और मन–वचन–काय से छोड़करके, सम्पूर्ण कर्मों को छोड़करके निज कर्म में लवलीन होता हूँ। अकर्तृत्व स्वरूपोऽहम्, सहजानन्द स्वरूपोऽहम्, समरसी भाव स्वरूपोऽहम्। मैं किसी भी कर्म का कर्त्ता नहीं हूँ, मैं प्रतिक्रमण नहीं हूँ, मैं प्रत्याख्यान नहीं हूँ। मैं आलोचनाभूत हूँ, मैं पर कर्म से शून्य हूँ। ज्ञानियो! आगे ४९ प्रकार से प्रतिक्रमण के भंग गिनाने वाले हैं। ज्ञानी! घर बैठकर इतना तो चिन्तन कर लिया करो। मेरा किसी से बैरभाव नहीं है। भैया! क्रिया में लिप्त होकर के धर्म को भूल मत जाना। ऐसे भाव बनाना कि आत्म–घट में जा सकूँ या न जा सकूँ, पर आत्मदृष्टि अवश्य खुली रहे।

ये जीव कर्तृत्व भाव से अनादि से जिया है और कर्तृत्व भाव ही अशांति का मूल बिंदु है।

अपने सहज स्वरूप पर दृष्टि ही नहीं ले गया, करने–करने के भाव में अपनी पर्याय के परमाणुओं का बोध नहीं कर सका। मेरी पर्याय का अभाव होगा, इस बात का भी बोध नहीं कर सका। जीवन जीते हुए जीवन के विनाश का चिंतन प्रारंभ कर देना चाहिए। जब से बोध होता है कि मेरा जीवन विलीन होगा, उसी क्षण से जीव को अपने आपमें प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता है। एक–एक क्षण प्रतिक्रमण का हो, प्रत्याख्यान का हो, आलोचना का हो। आलोचना के पूर्व लोचन बंद हो गए, तो ज्ञानी! तेरी समाधि भंग हो जाएगी। यहाँ २२५ नं. के कलश में आचार्यदेव इसी बात को कह रहे हैं– **'कृत कारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः'** कृत कारित अनुमोदना से तीनों कालों में मन वचन काय से कर्म का त्याग करता है **'परिहृत्य कर्मसर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे'** बहुत सारे ऐसे कर्म हैं जिन्हें तुम छोड़ चुके हो और बहुत सारे ऐसे कर्म हैं जिन्हें तुम कर भी नहीं पा रहे थे। योगी गृहस्थी के कर्म छोड़ दे, पर गृहस्थी के कर्म छोड़ने के उपरांत भी शरीर से कर्म नहीं कर रहे हो, पर भावों से कर्म कर रहे हो, तो अशुभ बंध तो हो रहा है। वचन से कर्म छोड़ दिए, पर मन से नहीं छोड़ पा रहे हो, बंध तो होगा। क्रिया से छोड़ दिया है, कर्त्तापन से छोड़ दिया है, पर करानेपन से नहीं छोड़ा तो बंध तो होगा। कर भी नहीं रहे हो, करा भी नहीं रहे हो, लेकिन अनुमोदना चल रही है, बंध तो होगा। इसलिए कृत–कारित–अनुमोदना से, मन–वचन–काय से मैं निष्कर्म का आलम्बन लेता हूँ। पहले पञ्चपरमेष्ठी का आलम्बन लिया, पापों का आलम्बन छोड़ा। अब परमेष्ठी का भी आलम्बन छोड़करके अपने अकर्तृत्व का आलम्बन लेता हूँ। मैं बंध–बंधक भाव से भिन्न होकरके एकमात्र स्वरूप सत्ता का आलम्बन लेता हूँ। योगी की प्रथम सहज धारा पर लक्ष्यपात करो। जीव ने स्थूल पापों का त्याग किया और देशसंयमपने को प्राप्त किया। अब उससे भी हटकर पाँच पापों का पूर्ण त्याग किया और महाव्रती का आलम्बन लिया। महाव्रती के आलम्बन में सराग दशा में पञ्चपरमेष्ठी के आलम्बन को प्राप्त हुआ, अपने स्वभाव भावों से निज को बचाने का पुरुषार्थ करता रहा, शुभोपयोग में लीन होते हुए शुद्धोपयोग पर लक्ष्य रखा। अब मैं निष्कर्म से युक्त होता हूँ। एक क्षण को अपने आपको दिगम्बरत्व में स्वीकारो और योगी की दशा में बैठ जाओ और चैतन्य धारा में डूब जाओ, क्या मैं अपनी देह का कर्त्ता हूँ? कर्म–नोकर्म का वेदक यह है। जब तक देह है, तब–तक कर्म–नोकर्म हैं। इसका परिणमन उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य तद्रूप हो रहा है, मेरी आत्मधारा का परिणमन आत्मभूत हो रहा है। चेतन–चैत्य परिणाम मेरी देह से स्पर्शित नहीं हो रहे हैं और देह मेरे से स्पर्शित नहीं है। देह का परिणमन अपने रूप चल रहा है, आत्मा का परिणमन अपने रूप चल रहा है। जब मेरे परिणमन में देह परिणामी नहीं है, तब मैं इसको

बचाने का कर्त्ता कैसा?' इसकी रक्षा का कर्त्ता कैसा, इसके नाश का भी कर्त्ता कैसा? परजीव के शरीर का घात मेरे तन से हुआ तो 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं' बोल दिया। परजीव के घात के वचन बोले तो प्रतिक्रमण कर लिया। मन में भी घात आया तो प्रतिक्रमण कर लिया। ज्ञानी परकृत पापों का तूने प्रतिक्रमण किया है, पर निज के मन में निज शरीर से राग किया, उसका 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं' किया कि नहीं? निज देह के प्रति राग वचन में आ गया, उसका प्रतिक्रमण किया कि नहीं? देह का राग देह से ही दिखाई दे रहा है, अपने शरीर के राग में मन से हिंसा, वचन से और काय से हिंसा। अब मैं निष्कर्म होता हूँ। 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं' ये प्रतिक्रमण है।

हे जीव! तू क्रोध पर भी क्रोध करते देखा जाता है। आपको गुस्सा आया, उस पर गुस्सा कर रहे हो कि मुझे गुस्सा आया क्यों? बंध पर बंध, आस्रव पर आस्रव, मान पर मान, मायाचारी पर मायाचारी, लोभ पर लोभ। कामादिक भाव हुए, अपने आपको नहीं रोक पा रहा है, तो 'क्यों नहीं भाव मेरे मानते?' ऐसा कहकरके पुनः परिणमन में जा रहा है। ईंधन डालने से अग्नि शांत नहीं होती, उसी प्रकार काम–इच्छा की पूर्ति करने से काम–इच्छा शांत नहीं होती। ऐसा हर जीव के साथ होता है, असंयम में ही असंयम। क्या किया? प्रतिक्रमण। ये तो ठीक है, आज जिनवाणी सुनने को मिल रही है सो सोच पा रहे हो कि मैंने ऐसे दोष किए हैं। कितने इंद्रिय–सुख में सुखी होकर जी रहे हैं। **कितने जीव ऐसे हैं जो इंद्रिय–सुख में लिप्त होकर वैराग्य जैसा उनको झलका, पर वैरागी नहीं हैं। वैराग्य जैसा झलका और वैरागी हुए नहीं, वे महादुःखी हैं। इंद्रियभोग छोड़ नहीं पा रहा है और भोग भी नहीं पा रहा है। दोनों धारा में क्लेस को प्राप्त हो रहा है, अरुचि को प्राप्त कर रहा है। इस अरुचि को आत्मरुचि में बदल दे, तो विषय भी छूट जाएगा, विषय भी मिल जाएगा। बिना विषय के तेरे परिणाम ठहर नहीं सकते हैं।**

लता के लिए सहारा चाहिए, ऐसे–ही भावों के लिए सहारा चाहिए। यदि अशुभ परिणामों से बचना है, तो शुभ का सहारा लीजिए। इतने महान् नहीं हो तुम संसार में कि बिना सहारे के पाप को छोड़ सको। जिन साधकों ने शीघ्र ज्ञान की ललक में शास्त्र पढ़ लिए और अब ग्रंथों में रुचि नहीं बची, हे निर्ग्रन्थो! अब समय को कहाँ निकालोगे? एक सीमा तक आप वैराग्यरूप दिखते रहे, सामाजिक स्थानों से विरक्त रहे और आयु के ढलते काल में आप लोक में लिप्त हो गए, क्योंकि अलिप्तता के मार्ग का जो आलम्बन था उसे तुम भूल गए। **जिज्ञासा उत्थान की जननी है, जिज्ञासा विकास की जननी है। जिज्ञासा भंग होते ही तेरा विकास रुक जाएगा और आप अपने मन, वचन और तन का दुरुपयोग ही करोगे।** ऐसे–ही साधक स्वाध्याय से शून्य हो गया,

तो वह या तो कुशास्त्रों को खोलेगा या समाज में लिप्त होएगा। वह खाली नहीं बैठ पा रहा। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना पर दृष्टि ही नहीं है। ये तीन इकट्ठे क्यों रखे? शोधन क्रिया। चावल कितने रूप में सफेदी पाता है? छिलका हटाया, लालिमा हटायी, फिर पानी में धोया बनाने के पहले। इसके बाद भी गड़बड़ी है। भात बनाने के पहले मांड निकालते हो, मांड हटाने का उद्देश्य क्या है? हे जीव! चावल इतना मादक द्रव्य है कि पहले छिलके हटाए, लालिमा हटायी, फिर पानी में बार–बार धोया। भात बनाया तब भी उसका मद पूरा नहीं गया। उबालने के बाद उसमें जो मांड होता है बहुत मादक होता है। उसकी मद शक्ति को कम करने के लिए आपने उसको भी हटा दिया। जैसे चावल के शोधन में इतनी प्रक्रिया है, तब कहीं श्वेत भात दिखाई दे रहा है, ऐसे–ही इस बद्ध आत्मा को आपको स्वच्छ करना है, तो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना करेगा, तब कहीं तेरी आत्मा स्वच्छ होगी।

दीक्षा मात्र समाधि नहीं। **आत्मपरिणामों की शोधपूर्वक जो निज में लीनता है, उसका नाम समाधि है।** वह कब संभव है? हे प्रभु! मैंने दोष किया है। वह पूरी धारा मस्तिष्क में आ रही है। जो–जो अपराध कर चुके हैं, वे–वे अपराध मेरी व्याख्या के सहन करने में सामर्थ्यवान नहीं हैं, वचन नहीं कहते हैं, जीभ लड़खड़ा जाएगी, नयन निज के चेहरे को नहीं निहार पाएँगे। भैया! जब किसी जीव की अशुभ खबरें, अशुभ समाचार पेपरों में पढ़ते हो तब आपको सोचना पड़ता है कि अरे! उसकी तो पत्नी भी है, उसके बेटे भी बराबर के हैं, इतना बड़ा अधिकारी था, उसने ऐसा पाप कर लिया, अब घर में चेहरा कैसे दिखाएगा? हे जीव! वह पकड़ा गया है, उसके लिए तुम सोच रहे हो, पर वैसे–ही काम आप से भी हो गए। अब आप सोचो कि प्रतिक्रमण का अर्थ क्या मान लिया है? जो शास्त्रों में छपा हुआ है, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी भाषा में उसे बाँच लेना? भैया! वह तो प्रतिक्रमण पाठ है, उस पाठ को करते समय आपके भीतर जो पाप हुए हैं, उसका पाठ किया कि नहीं? जो मैंने किया है, जीभ नहीं बोल पायी। जब आप प्रतिक्रमण करने बैठे, ग्रंथ पाठ वाले प्रतिक्रमण को हटा करके तब निज में ध्यान रखना, दर्पण सामने रखना, फिर यदि आपने वास्तविक प्रतिक्रमण किया है तब चेहरा देखना कि ये वही पुरुष है जिसके चित्र अखबारों में छप रहे हैं, जिसकी लोग आरती उतार रहे हैं, ये वही पुरुष है जिसे लोग अर्घ्य चढ़ा रहे हैं, पर इसने क्या अर्घ्यवान की कीमत की है? फिर निहारना उस चेहरे को और करना प्रतिक्रमण। क्या–क्या किया है? अभी कराने की तो बात ही नहीं कर रहा हूँ। विश्वास रखना, जितने तुमको पापी दिख रहे थे, जिनके प्रति तुम्हारी ग्लानि दिख रही थी, सबके प्रति तेरे मैत्री भाव भी आएँगे

और तुझे मात्र एक ही पापी दिखेगा, वह तू स्वयं ही होगा। 'मेरे से बड़ा पापी कौन होगा', फिर ये शब्द गूँजेगा। कम–से–कम जो खुले पाप कर रहे थे, उन्हें लोग पापी तो कह पा रहे थे, वे अपने आपको पापी मान करके माया में तो नहीं थे। अब मैं घोर मायावी आदमी हूँ। अब लोग मुझे पापी भी नहीं कह पा रहे हैं, क्योंकि मैंने धर्मात्मा का भेष बनाकर रखा है। पापी का भेष होता तो कम–से–कम ये जीव अपने भेष को देखकर ग्लानि तो कर लेता, पर तूने तो धर्मात्मा का भेष बनाकर के पाप किया। अपने आपको तू पापी भी नहीं सोच पा रहा है। मेरी आँख 'पर ने क्या किया' इस ओर दौड़ती रही। पर जो मैंने किया, अटवी हो, चाहे श्मशान हो, चाहे जिनमंदिर हो, चाहे निर्ग्रंथ गुरु के सामने, चाहे जिनवाणी हो, मेरे मित्र! मृत्यु के पूर्व बैठ जाना कि मैंने क्या किया? अहिंसा धर्म के पालन के राग में हिंसा कितनी की है? ऐसे–ही पाँचों व्रत और पाँचों पापों पर चिंतन करना। मैंने इतनी आयु के भोग तक पहुँच कर पूर्व में कितने भोग कर चुके हैं? क्या–क्या नहीं कर लिया? ऐसा भीतर जाकरके योगी सारे मल को धो डाले। देह शिथिल हो चुकी है, अब इससे पाप तो नहीं कर पाओगे। ६० साल के होते ही लोग कहने लगते हैं कि मैं अपना जीवन तो जी चुका हूँ, अब मैं बोनस का जीवन जी रहा हूँ, अब मैं अपनी मर्यादा से भिन्न जीवन जी रहा हूँ। मेरे मित्र! जब तुम्हें ज्ञात हो चुका है कि मेरा जीवन तो ६० वर्ष का था, अब जो जीवन में जी रहा हूँ, वह जीने के लिए नहीं है। जो तुम जी चुके हो, उस जीवन में जो तुमने पाप किए हैं, उन पापों की आलोचना करने के लिए जी रहे हो। जीवन जितना बचा है, उसमें निंदा–गर्हा–आलोचना कर लो, और अपनी शुद्धि करके जाओ। कुछ नहीं बचा, शरीर शिथिल है, तब भी बेटा–बेटी के राग में लिप्त है, देह से पाप नहीं हो पा रहे हैं, तेरे से, तो पर के पापों की अनुमोदना में क्यों जीवन नष्ट कर रहा है? अब वह पड़ा–पड़ा कुछ नहीं कर सकता है, इतना तो कर सकता है?

दो दृष्टि के कथन करते हैं, हे श्रमण! प्रभावना का क्षेत्र तेरा समाप्त हो चुका है। अब तूने गृहस्थावास्था से लेकर साधना के काल में भी कदाचिद् कोई अपराध कर लिया हो, ये जीवन का अंतिम समय उसके शोधन के लिए है। मैंने क्या–क्या किया है, सब बातें मस्तिष्क में आ रही हैं। श्रुतज्ञान का भी प्रयोग करो। क्रमभावी ज्ञान है। अपने पास के उस क्रमभावी ज्ञान से क्रम से देखो कि मैंने क्या–क्या पाप किए। क्रमभावी ज्ञान से पाप किए और अक्रमभावी पर फल छोड़ रहा है। ये तेरी अज्ञानधारा है। अरे अज्ञानी! तू केवली पर क्यों छोड़ रहा है? केवली ने न पाप किया, न पुण्य किया। मतिज्ञान श्रुतज्ञान से जो तूने शुभाशुभ परिणाम किए हैं, वह तेरे द्वारा किए गए हैं।

तूने जो पाप किए हैं, अब उन पापों को तू क्रम से देख। पहुँच जाओ भूत में। किसके भूत में? स्वयं के भूत में। वर्तमान में देखें स्वयं के भूत को, उसका नाम है प्रतिक्रमण। वर्तमान में देखें भूत के पापों का जो शोधन है, उसका नाम प्रतिक्रमण है। कषाय के लिए नहीं। जो तूने पाप किए हैं, उनके प्रक्षालन के लिए उनको याद करो। ये ही ज्ञान धारा है। लोगों ने ये समझ लिया है कि उनको याद करूँगा, तो बंध होने लगेगा। ज्ञानी! भोगाकांक्षा की दृष्टि से याद करेगा, तो बंध होगा। 'अहा! मैं ऐसा भोगता था, ऐसा आनंद आता है।' तू स्मृति कर रहा है तो बंध बँधेगा। 'पूर्वरतानुस्मरण' पूर्व में रति का स्मरण करना, ये तो अशुभ बंध का कारण है। पर पूर्व में किए खोटे पापों की निंदा करना, वो मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो। इससे बंध नहीं होगा, इससे निर्जरा होगी, संवर होगा। **भूत का शोधन वर्तमान में इसका नाम प्रतिक्रमण और वर्तमान में ही भविष्य की अशुद्धि का त्याग कर देना, इसका नाम है प्रत्याख्यान। वर्तमान का वर्तमान में ही शोधन करना, इसका नाम है आलोचना।** जो मैंने किया है, जो मैंने कराया है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के राग में पर को पापों से प्रभावित कराता है और जब पर प्रभावित हो जाएगा तब तेरी इच्छा की पूर्ति होना प्रारंभ हो जाएगी। भैया! इस अज्ञानधारा पर चिंतन तो करो। युवावस्था में, किशोरावस्था में, विद्यार्थी अवस्था में कितने लोगों को अशुभ की शिक्षा दे चुका है जीव। उन बेचारों को कैसे जीव ने छला है। वे नहीं जानते थे कि ये अपनी इच्छाओं का जाल मेरे ऊपर फैला रहा है, वे ये ही समझते थे कि ये तो मेरा मित्र बन रहा है, पर तू मित्र नहीं बना, उसका शत्रु बना था। जो आज समझ में आ रहा है, ये उस समय समझ में आ जाता, तो ज्ञानी! तू कितना महान् होता। इस सच्चाई को कौन समझ पाता है? भैया! यहाँ कोई नाटक होता तो उसके प्रदर्शन को देखने हजारों लोग आते, पर सत्य को कौन सुनता है? यही निर्णय कर लो, स्वर्ग जाने वाले कितने हो पाएँगे? सिद्ध बनने वाले कितने हो पाएँगे? सर्वाधिक पापियों की संख्या है, मिथ्यादृष्टियों की संख्या है। और जो समझने की पात्रता को प्राप्त हो चुके हैं, वे भी कितना समझ पा रहे हैं? जिनको समझने की पात्रता का प्रमाण–पत्र दे दिया गया है, हे श्रमण! अब तुम समझ रहे हो, ये उनकी समझ में आ रहा हो ये नियत नहीं है। परलोक में आँख जा रही है, तो निजलोक में आँख बंद हो रही है।

एक माँ कहती है कि– 'आज अष्टमी/चतुर्दशी है। बेटी! में हरी नहीं बनाऊँगी, नहीं खिलाऊँगी, तू बनाकर खिला देना।' ये राग सता रहा था। किया नहीं, करा तो दिया। ये बौद्धदर्शन की परंपरा अपने मस्तिष्क से निकालिए। बौद्धदर्शन में मारूँगा नहीं, मरे प्राणी का माँस खा लूँगा। मृतक का माँस खाने में दोष नहीं मानते बौद्ध। तड़फ–तड़फ कर मर जाएगा उसे उठाकर खा लेंगे। चाहे मरा

हो, चाहे मरवाया हो, मारा हो, कृत–कारित–अनुमोदना माँस का पिंड कभी शुद्ध नहीं होता है, अभक्ष्य ही होता है। ऐसे–ही जिसका हरी खाने का त्याग है, वह किसी को हरी खिला भी नहीं सकता और खिलाने की अनुमोदना भी नहीं कर सकता। आपका आलू खाने का त्याग है और आप कहते हैं कि मैं नहीं बनाऊँगा, जिससे बनवाना हो सो बनवा लो। ये भी कह सकते थे कि क्या आवश्यकता है? भैया! गृहस्थी में राग के वश बहुत पाप करता है जीव। स्वयं का रात्रिभोजन का त्याग है, मेहमान आ गए, अब तुझे राग सता रहा है कि ये भूखे रह जाएँगे। अरे! रह जाने दो, समय पर आए क्यों नहीं? नहीं देना है। पूछना ही नहीं है। मात्र ठहरने की व्यवस्था कर देना। बोलना कि चलो मंदिर चलते हैं, भगवान् की आराधना करेंगे, स्वाध्याय करेंगे, उसको भी तो समझ में आना चाहिए कि मैं क्यों बेसमय आया। जो पाप में लिप्त करे वह व्यवहार 'व्यवहार' नहीं है, वह तो अनाचार है। अब जब वह अगली बार आएगा तो सोच कर आएगा कि बेसमय नहीं जाना हमको। ऐसा लोकाचार किस काम का जो लोकोत्तराचार का नाश कर दे? और लोकाचार में कहीं योगी फँस गए तो उनका लोकोत्तराचार गया। कोई भक्त पधार गया छह बजे, तब आपने कह दिया कि भाई भोजन कर आओ। महाराज! जो भूखे होते हैं, वे स्वयं खा लेते हैं, आप अपने व्रत को दोष क्यों लगा रहे हो? जो दर्शन करने आया है, वह स्वयं सोचकर आया होगा। वह भी सोचता है कि ये पूछेंगे नहीं और न ही किसी श्रावक से कहेंगे। भैया! अपनी व्यवस्था बनाकर चलो।

एक बार क्या हुआ कि एक श्रावक आया अपनी अटैची लेकर और महाराज के कमरे में रख गया दूसरा श्रावक आया, उसने पूछा, आप अपना सामान यहाँ महाराज के कमरे में क्यों छोड़ गए? वह बोला, 'तू क्या जाने? इससे सुरक्षित स्थान कहीं नहीं मिलेगा।' ऐसे भी लोग होते हैं। ज्ञानी! तुमको तो सुरक्षित स्थान दिख रहा है, पर कोई अजैन बंधु आ जाए, उसने आपके सामान को देख लिया, वह यह भी तो कह सकता है कि देखो दिगम्बर साधु सामान आदि भी रखते हैं। इसलिए साधुओं के कक्ष में श्रावकों को न अपने कपड़े उतारना चाहिए, न कोई सामग्री रखना चाहिए। एक बार क्या हुआ, एक श्रावक ने छतरपुर में महाराज के कमरे में कपड़े बदले और आहार देने चला गया। उसी दिन खजुराहो से कुछ अंग्रेज लोग आए। उनके गाइड ने कहा कि चलो, जैन साधु दिखाएँ। वह लेकर आया। उनको आहार दिखाए और उन्हें लेकरके वह महाराज के कक्ष में पहुँच गया। वह अपनी भाषा में बोलता है कि ये क्या? अब जो जैनी भाई थे वह समझा रहे थे कि ये हम लोगों के हैं, जो गाइड था वह भी समझा रहा था, लेकिन उनके मस्तिष्क

में चढ़ गया कि नहीं, ये बाहर नंगे घूमते हैं और अंदर कपड़े पहनते हैं। इसलिए भक्ति, प्रेम, वात्सल्य, अमर्यादा में न बह जाएँ, श्रावकों को साधुओं के पास मर्यादा में ही रहना चाहिए। **'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयं न चरणीयम्'** शुद्ध होने पर भी लोक के विरुद्ध है तो ऐसा काम मत करना भैया। अपने प्रमाद से जिनशासन का उपहास न हो जाए। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए। साधना के क्षेत्र में कितनी सावधानी चाहिए? भैया! जैसे आप गाड़ी चलाकर घर से आए। यहाँ थे, तब मुख्य लक्ष्य क्या था? आपका स्वाध्याय में जाना, ये तेरा मुख्य लक्ष्य था। पर हे मित्र! जैसे ही आपने गाड़ी को चलाया रास्ते में, और–कोई लक्ष्य थे कि नहीं? यदि उन लक्ष्यों को भूल गया होता तो यहाँ आ नहीं सकता था।

अतीत, वर्तमान और अनागत काल संबंधी समस्त कर्म को कृत–कारित–अनुमोदना से और मन–वचन–काय से त्याग करके मैं परम उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का अवलम्बन करता हूँ। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष प्रवृत्ति करता है।

मुमुक्षु! एकमात्र निज समरसी भाव ही जीव का निज स्वभाव है, ऐसे निज चैतन्य शांत स्वभाव को नहीं पहचानने के कारण जीव ने तत्त्व में अतिक्रमण किया है। **विषयकषायों का सेवन चारित्र का दोष है। तत्त्व में विपरीत श्रद्धान का होना, ये सम्यक् का अभाव है और दर्शनमोहनीय का दूषण है।** 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं' ये जीव ने चारित्र के दोष का तो कर लिया, पर श्रद्धा के दोष का 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं' किया कि नहीं किया? भैया! तत्त्व समझ में नहीं आया या तो आपने छोड़ दिया या सोच लिया कि ये सम्यक् नहीं है। मेरे मित्र! आप छद्मस्थ हो, आप केवली नहीं हो, श्रुतकेवली नहीं हो, न ही सर्वांगश्रुत के ज्ञाता हो और वर्तमान में जितने आगम ग्रंथ हैं उन सभी का आपने अध्ययन कर लिया हो, ये भी नियत नहीं है और जितना आपने अध्ययन किया है वह संपूर्ण आपके मस्तिष्क में आ गया हो, यह भी निश्चित नहीं है। मेरे भीतर देव को देवरूप शास्त्र को, शास्त्ररूप, गुरु को गुरुरूप जानने की श्रद्धा तो है, लेकिन फिर भी जो शास्त्र में लिखा हुआ है वह समझ में नहीं आ रहा है, तो तू ये सोचता है कि ये हो नहीं सकता है। ऐसा चिंतन मन में आ गया, वह आपके श्रद्धागुण की कमी हो रही है। यदि आज्ञा सम्यक्त्व है, तो सबसे पहले जीव क्या बोलेगा? जो आगम में लिखा है, वह ध्रुव सत्य है। ये मेरे ज्ञान की कमी प्रज्ञा की न्यूनता है कि मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। वीतरागी आचार्यों ने जो लिखा है, वह सत्य ही होगा। यदि विश्वास नहीं है तो जीव को लक्ष्य के निर्णय में शंका, संशय, विपर्यास ये सम्यक्–ज्ञान के दोष हैं और शंका है तो सम्यक्त्व में ही दोष है। जिनवाणी से तात्पर्य लाल पुस्तक,

पूजा की नहीं समझ लेना। जिनवाणी से तात्पर्य वीतरागी दिगम्बराचार्यों के द्वारा लिखित जो वाणी है, वह जिनवाणी है। कोई जीव द्वेष के वश, राग के वश, अपनी बात लिखकर बैठ जाए, उसकी जिनवाणी संज्ञा नहीं है।

आप्तोपज्ञनुल्लङ्घ्य – मदृष्टेष्ट – विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्।।र.क.।।

आप्त के द्वारा कथित हो, परस्पर विरोध से रहित हो, किसी के द्वारा उल्लंघन न किया गया हो, खोटे मार्ग का खण्डन करने वाली हो, ऐसी जो वाणी है, उसका नाम है जिनवाणी। पहले जिनवाणी की परीक्षा करना चाहिए। किसी ने आपको पुस्तक दे दी, कोई लेख पढ़ने को दे दिया तो पहले देखना कि ये पूर्वाचार्यों से मिलान खा रहा है कि नहीं? यदि खा रहा है तो स्वीकार है। तर्क, आगम, पूर्वाचार्य इन तीन से मिलान खाना चाहिए, वही शास्त्र 'शास्त्र' होगा। हे माँ! सभी विद्वानों की, साधकों की, सभी मुनियों की सुनना। मुनि पद की विनय रखना, विद्वान् की विद्वत्ता का ध्यान रखना; परंतु वे जो बोल रहे हैं, उसे शीघ्र स्वीकार मत कर लेना। वक्ता की पूर्वाचार्यों पर आस्था कितनी है? वक्ता है, तो मात्र वक्ता ही है, बकता नहीं है। निर्णय वकील से नहीं होगा, निर्णय तर्क से होगा, आगम से होगा। आगम विहीन तर्क तो मात्र कुतर्क है। जिस तर्क से आगम का खंडन हो, वह तर्क 'तर्क' नहीं, कुतर्क है। आज वर्तमान में क्या हो रहा है? जैनियों की गाली हो गई मिथ्यादृष्टि। प्रत्येक व्यक्ति अपनी बात रखता है और दूसरे को मिथ्यादृष्टि बोल देता है। हे जीव! रयणसार जी ग्रंथ में लिखा है कि ज्ञान के बल से जो व्यक्ति स्वच्छंदी होकर कथन करता है, वह कुदृष्टि यानी मिथ्यादृष्टि है। इतना भय होना चाहिए कि मेरे निमित्त से जिनश्रुत की विपरीतता न हो जाए, मेरे निमित्त से अर्हंत प्रवचन का विपर्यास न हो जाए। **जैसे उन्मत्त हाथी किसी प्राणी का ध्यान नहीं रखता, किसी को भी कुचल सकता है, ऐसे–ही उन्मत्त वक्ता किसी के सम्यक् प्राणों का ध्यान नहीं रखता, किसी के भी सम्यक् प्राणों का नाश कर सकता है।**

वस्त्र उतारना बहुत सरल है, वासना उतारना भी सरल है, पर पंथ का राग उतारपाना बहुत कठिन है। घोर–घोर तपस्वी हो गए, मास–मास के उपवास करने वाले जीव हो गए हैं, सबकुछ छोड़कर आ गए हैं, पर अपनी परंपरा/आम्नाय/पंथ का राग नहीं छोड़ पाए और जब तक नहीं छोड़ पाएँगे तब तक न समाधि, न सल्लेखना, न मोक्षमार्ग। ज्ञानी! इतना सरल नहीं है मस्तिष्क को स्वच्छ रख पाना। भैया! किसी ने नारियल चढ़ा दिया, तो किसी ने गोला, पर भैया! नारियल वाला भगवान् को भूल रहा है, गोला वाला भी भगवान् को भूल रहा है, दोनों की इच्छा है कि

अध्यक्ष मेरी बात माने। मंदिर में नारियल ही चढ़ना चाहिए, गोला ही चढ़ना चाहिए, भगवान् गौण हो चुके हैं, पर सत्य ये है कि न नारियल धर्म था, न गोला धर्म था। धर्म तो लोभ–कषाय का त्याग था। प्रभु की आस्था धर्म थी। आपने कषाय के आवेग में आकर इसको आम्नाय शब्द से जोड़ दिया, पंच शब्द से जोड़ दिया। भैया! तुम धर्म से शून्य हो चुके हो। न प्रभु को तेरे गोले से प्रयोजन है, न नारियल से प्रयोजन है।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ! विवांत वैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।।

हे प्रभु! आप पूजने वाले पर प्रसन्न नहीं होते हो और निंदा करने वाले पर नाराज नहीं होते हो, फिर भी मैं आपकी वंदना कर रहा हूँ, क्यों? अपने कर्मों को समाप्त करने के लिए, चित्त को पवित्र करने के लिए। **जीव मानकषाय को लेकर बैठेगा, तो सत्य नहीं कह पाएगा। मानी–क्रोधी पुरुष कभी सत्य की प्ररूपणा नहीं कर पाएगा। क्रोध, लोभ, भीरुत्व, हास्य का त्यागी ही आगम कहेगा।** जीव समझ नहीं सका और समझाने बैठ गया, ऐसे पुरुष से मिथ्यात्व फैलेगा और समझदार के पास आने का मन किया नहीं, क्योंकि अहंकार था। जब–जब पंथ/आम्नायें बनी हैं, ऐसे लोगों से ही बनी हैं। मेरे से किसी का घात हो गया 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं' प्रायश्चित्त करता हूँ, प्रतिक्रमण करता हूँ। मेरे मित्र! द्रव्यहिंसा का तू प्रतिक्रमण करके आ गया; पर प्रदेश में तू क्या–क्या बोलकर आया है आगम के विरुद्ध, उसका तूने प्रतिक्रमण किया क्या? धर्मास्तिकाय की असादना की, 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं'। पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ की असादना हो गई, 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं'। तैंतीस असादनाएँ हमारे आगम में लिखी हैं। जिसे घूमने से ही समय नहीं है, वह आगम अध्ययन कहाँ करेगा और बोलने बैठ जाएगा, तो वह अनर्थ ही करेगा।

ज्ञानी! अकालमरण नहीं होता, ऐसा कहने वाले ने मिथ्यात्व फैलाकर रख दिया है। अपने यहाँ दो धाराएँ हैं। आगमधारा, अध्यात्मधारा। जब हम जीव से कहते हैं कि तू निजगुण में लीन हो जा, निज उपयोग में लीन हो जा; आयुकर्म के क्षय से मरण होगा, पर के द्वारा मेरी आयु हरी जाती नहीं वह तो अपने नियत समय पर ही नष्ट होगी, वही मेरा मरण है। **घातक के प्रति भी घात भाव मत करो। यह अध्यात्मधारा बोल रही है।** क्या आप मुझे आयु दे सकते हो या मेरी आयु ले सकते हो? मरण तो आयु के क्षय से होगा। इसलिए हे योगीश्वर! कषाय मत करो। जो आयुकर्म है, वह मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ, वह आयुकर्म नहीं है। कर्म जड़धर्मी है, मैं चैतन्यधर्मी हूँ। मेरा मरण होता ही नहीं, आयुकर्म का ही क्षय होता है। मैं त्रैकालिक हूँ। मैं अनुत्पन्न हूँ, मैं

आज तक उत्पन्न हुआ ही नहीं हूँ। जो नहीं है, वह उत्पन्न होता नहीं, मैं तो अनुत्पन्न ही हूँ। जो घात हो रहा है, वह देह का हो रहा है, द्रव्यप्राणों का हो रहा है। चैतन्य ज्ञायकभाव का घात होता नहीं, निश्चय से, इसलिए मेरा मरण नहीं है। उपसर्ग करने वाला भाव कषाय का कर्त्ता है, द्रव्य आयु का हर्ता है, अशुभ निज वचनों का कर्त्ता है। मेरे उपसर्ग का कर्त्ता द्रव्य हो नहीं सकते। मैं तो मैं हूँ। ऐसा ध्यान करता है निर्ग्रन्थ योगी।

भैया! देह के मुनियों को देखकर रखा है, सुनकर रखा है, अब आत्मा के मुनि के बारे में सुनो। वह मुनि ही नहीं है, जो दूसरे मुनि पर लांछन लगा रहा है, पत्राचार कर रहा है। वह मुनि नहीं है जो दूसरों की निंदा कर रहा है। माइक– मंच से कोई मुनिपना नहीं है। जब मुनिपने में बैठेगा तो कहेगा कि मेरे आत्मप्रदेश भिन्न हैं, देहप्रदेश भिन्न हैं। जब देह–प्रदेश ही मेरे नहीं हैं, तो मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश यानि कि दुनियाँ के प्रदेश मेरे कहाँ से हो गए? क्षीर–नीर की भाँति आत्मा देह के प्रदेश एकमेक हैं। बंध दशा में तब भी एकत्वभूत नहीं है। वो प्रदेश मेरी आत्मा से अत्यंत भिन्न हैं, जिनमें क्षीर–नीर का भी संबंध नहीं है, वे अन्य प्रदेश, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश आदि मेरे कहाँ से हो गए? ये शुद्ध अज्ञानदशा है। मैं बुंदेलखण्डी साधु हूँ, मैं कन्नड़ी साधु हूँ आदि–आदि। भैया! रत्नत्रय–धारी साधु होता है, प्रदेशों में साधु कहाँ से उत्पन्न हो गया? अभी तो स्थूल परसमय नहीं छूटा है, तो सूक्ष्म परसमय छूटने में बहुत देर लगेगी। भैया! आप लोगों ने बहुत पुण्य कमाया होगा सो जिनवाणी सुन रहे हो। मित्र! ध्यानस्थ दशा में वीतरागी योगी अपने स्वरूप का चिंतन करता है, उपसर्ग–परीषहों को निज स्वभाव नहीं स्वीकारता। ऐसा चिंतन करता है कि मरण तेरे से होता नहीं। तू मरण करता नहीं, तो प्रतिक्रमण किसके लिए? प्रायश्चित्त–प्रत्याख्यान, अहिंसा धर्म किसके लिए? जब किसी का मरण होता ही नहीं है, तब पाप क्या? देश के विद्वानों को आवश्यकता है, जितना गहरा समयसार का अध्ययन होना चाहिए, उतना ही गहरा सिद्धांत–शास्त्र का ज्ञान होना चाहिए और जितना गहरा अध्यात्म–शास्त्र का ज्ञान होना चाहिए, उतना ही गहरा सिद्धांत–शास्त्र का ज्ञान होना चाहिए, लेकिन आज ये तो है नहीं और ज्ञानी बनकर विपर्यास फैला रहे हैं। भैया! आप मुनि बनकर सागर बन गए। किसी ने आपसे कहा 'भगवन्! अखण्ड चिद्रूप भगवान्– आत्मा के बारे में आपका क्या सोच है?' तो आप कहोगे कि तू सोनगढ़िया कहाँ से आ गया? स्वामी! मैं जा रहा हूँ, पर ये प्रश्न आपके लिए छोड़कर जा रहा हूँ। आत्मा शब्द को सुनते ही तुम चिल्लाने लग गए तो तुम मुनि बने क्यों? पिच्छी–कमंडल ढोने के लिए बने हो क्या? जगत् को नंगा भेष दिखाने के लिए बने हो क्या? घर की व्यवस्था अच्छी नहीं चल रही थी सो पेट भरने के लिए

बने हो क्या? आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति के लिए बने हो क्या? जब आपको आत्मा शब्द पर चिढ़ है, तो आप मुनि बने क्यों? जिनको आत्मा पर रुचि नहीं है, उनका मुनि बनने का उद्देश्य क्या था? मुनि बनना था कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति था? सच्चा ध्यायी तो मुनि ही होता है और उसे आत्मा की बात कड़वी लगे तो वह मुनि है ही नहीं। व्यवहार का उद्देश्य क्या है? निश्चय की प्राप्ति है। क्या व्यवहार में ही डूबके चले जाना है? लोग कहते हैं कि ये बोल कौन रहा है? कोई नहीं बोल रहा है, ये महावीर का निश्चय पक्ष बोल रहा है, ये वर्द्धमान का व्यवहार पक्ष बोल रहा है। जो निश्चय को ही मानता है, व्यवहार को नहीं जानता है, वह साध्य को जान तो गया, पर साध्य की प्राप्ति का लक्ष्य उसके पास नहीं है। वह कभी साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता। दुग्ध में घृत है ये जान लिया, लेकिन कभी प्राप्त नहीं कर सकते, क्यों? निश्चय से जान तो लिया है, पर जब–तक प्रक्रिया नहीं करेगा, घृत निकलेगा कैसे? और जिसने दुग्ध से घृत बनाना तो प्रारंभ कर दिया, पर घृत को निकालकर स्वीकार करना नहीं चाह रहा है, तो तेरे बनाने का उद्देश्य क्या था? मात्र रस्सी को घूमाते रहना, अंदर से गोले नहीं निकालना, बस? ये व्यायाम क्यों? इसलिए परमार्थ दृष्टि व्यवहारदृष्टि।

अकाल मरण नहीं मानेगा, तो मिथ्यादृष्टि क्यों? अब हेतु सुनिये। हे जीव! द्रव्यत्व का नाश कभी होता नहीं। जब असमान जाति पर्याय से युक्त जीव मर गया, ये द्रव्यों का वियोग होना ही हिंसा है और द्रव्य प्राणों की हिंसा से बचना ही अहिंसा है। अहिंसा महाव्रत का जो पालन है, वह चेतन प्राणों की रक्षा का है। द्रव्य प्राणों की रक्षा से इसके परिणाम खराब न हों, इसका ज्ञान–दर्शन विपरीत न हो, यह चेतन प्राणों की रक्षा है? यह द्रव्य भावों का मरण न हो, इसलिए द्रव्य प्राणों की रक्षा है। पर जो जीव आ रहे हैं शरीर से वह संसार अवस्था में शरीर भी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से चेतन भूत हैं। चींटी काटे तो कष्ट होगा कि नहीं? शरीर को, कि आत्मा को? आत्मा को होगा। इसलिए द्रव्यानुयोग की विपरीतता को स्वीकार मत करना। द्रव्यानुयोग विपरीत नहीं है, अज्ञानी की सोच विपरीत है। निश्चय से ए–इन्दिया, बे–इन्दिया, ते–इन्दिया, चउइन्दिया, पंचिंदिया ये सब पौद्गलिक हैं, तो इनके घात से हिंसा नहीं होना चाहिए? मेरे मित्र! ये पर्याय को स्वतंत्र देखने के लिए तो पौद्गलिक हैं, पर उस पौद्गलिक पर्याय में जो चेतन विराजा है उनको एकेन्द्रिय आदि जीव स्वीकारिये और उनको स्वीकार करके उनकी रक्षा कीजिए। रक्षा नहीं करोगे तो अहिंसा धर्म ही नहीं होगा। जब प्रथम धर्म ही नहीं है, तो शेष धर्म क्या जैनत्व है? किसके लिए? धन्य हैं वे योगीश्वर जिनको खुजली पड़े तो पहले पिच्छी से मार्जन करेंगे, फिर

खुजाएँगे। भैया! अकाल–मरण है, तो क्या महाराज आयुकर्म के क्षय से होगा ये मरण? जितना बंध किया है, उतना भोगेगा, ये नियत नहीं है। कोई जीव सौ वर्ष की आयु बांधकर आया और पचास वर्ष की आयु में एक्सीडेंट हो गया, तो जो शेष पचास वर्ष के आयु के निषेक थे उनका क्या होगा? जीव सोचता है कि आत्मा भटकेगी। भैया! ये कमंडल है, इसमें पानी भरा हुआ है, छोटे मुख से निकालो तो देर में निकलेगा, बड़े मुख से निकालो तो जल्दी निकलेगा और किसी ने हथौड़ा पटक दिया इसके ऊपर, तो फिर एक बार में ही निकल गया। ऐसे–ही जो जीव शांतपरिणामी सौ वर्ष की आयु का बंधक है, साधनारत है, असंक्लेशी है, विष नहीं खाता, श्वास निरोध नहीं करता, व्यर्थ का प्राणायाम नहीं करता, शीत–ऊष्णता से बचता है, ऐसा जीव अपनी पूरी सौ वर्ष की आयु पूर्ण करता है। कोई जीव सौ वर्ष की आयु का बंध करके आया है और लक्षणशास्त्र के अनुसार दीर्घ कर्ण, दीर्घ नासिका, दीर्घ बाहु, सुडौल शरीर, रक्त अधर, रक्त हाथ की हथेलियाँ, रक्त पैर के पंजे पुण्यात्मा जीव अपनी आयु भोगने आया है परिपूर्ण, पर ऐसा आदमी मरते देखा गया ३० वर्ष की उम्र में, तब तुम्हारा लक्षण शास्त्र कहाँ चला गया? ज्ञानी! लक्षण शास्त्र तो बिल्कुल सही था, पर किसी ने असमय में विष खा लिया तो आयु का क्षय होगा कि नहीं होगा? निश्चयाभासी जीव इस विषय को समझ नहीं पा रहे, वे अकाल मरण नहीं मान रहे। उनके लिए 'कार्तिकेय स्वामी' कह रहे हैं मिथ्यादृष्टि। **'औपपादिक चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः'** जो अकाल–मरण नहीं मानते उन्हें 'तत्त्वार्थ सूत्र' पर भी श्रद्धान नहीं होता है। तीर्थंकर भगवान् और असंख्यात् वर्ष की आयु वाले भोगभूमियाँ जीव, इनका भी अकाल मरण नहीं होता, शेष जीवों का अकाल मरण होता है। भगवान गुरुदत्त स्वामी उनको आग लगा दी थी द्रोणगिरि पर्वत पर, अकाल मरण हुआ। पाण्डव आदि पर उपसर्ग हुआ, इनका अकाल मरण हुआ। राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में इनका वर्णन है। हाँ, तद्भव मोक्षगामी का भी अकाल मरण नहीं होता है।

विष की वेदना से, रक्त के क्षय से, श्वास के निरोध से, शीत–ऊष्ण की वेदना से, आहार के निरोध से आयु का क्षय होता है। साधु जो शीत–ऊष्ण सहन कर रहे हैं, वे विवेक के साथ कर रहे हैं। आगम में पेट के चार भाग किए हैं। किस मौसम में कैसा भोजन करें? शीतकाल में दो भाग में भोजन, एक भाग में तरल, एक भाग खाली और ग्रीष्म काल में एक भाग में भोजन, दो भाग में तरल और एक भाग खाली। जब ऐसी प्रवृत्ति करेगा, तो बीमार क्यों होएगा? शरीर में शक्ति कम है, वीर्यान्तराय का क्षयोपशम नहीं है और आप एकदम खुले आकाश में बैठ गए शीत

में, बर्फ पड़ गयी, अकाल मरण हो गया। न जहर खाया, न शीत–ऊष्णता की वेदना। आहार भी किया, लेकिन तीव्र संक्लेशता के परिणाम रखोगे तो अकाल मरण हो जाएगा। आज के डॉक्टर क्या बोलते हैं? हृदय की धड़कन बढ़ गयी, मस्तिष्क की नस फट गई। हुआ क्यों? 'संक्लेश मुक्त मनसा' साधना के क्षेत्र में अपने मन को संक्लेशता से मुक्त कीजिए। कष्ट–सहिष्णु बनो। कष्ट आए तो कोई विकल्प नहीं, पर विचलित नहीं होना, दु:खी मत होना। अब ५० वर्ष में मृत्यु हो गई। शेष आयु का क्या होगा? मेरे मित्र! जैसे एक क्षण में कमंडल का पूरा पानी बह गया था, ऐसे–ही मृत्यु के पहले आयुबंध करेगा जीव। जीवन में आठ अपकर्ष काल आते हैं। पूरी आयु में आठ कालों में बंध न हो, तो मृत्यु के अंतर्मुहूर्त पहले असंक्षेपद्धाकाल में बंध होगा। जीव बिना बंध प्राप्त किए मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा। तत्काल में जो परिणामों की धारा होगी, वैसा आयुबंध करेगा और जो शेष निषेक होंगे, अंतर्मुहूर्त में वहीं खिर जाएँगे। पूरे खिरे हैं, इस दृष्टि से स्वकाल मरण हुआ। असमय में खिरे हैं, इसलिए अकाल मरण हुआ।

समयसार जी में बंध का अधिकार भिन्न है, सर्वविशुद्ध ज्ञान का अधिकार भिन्न है। एक कर्म सापेक्षता का कथन कर रहा है, दूसरा कर्म को निरपेक्ष करके उपादान की प्रधानता से कथन कर रहा है। कुंभकार घट बनाता है, वह भी सत्य है। मिट्टी घट बनती है, वह भी सत्य है। कुंभकार बनाता है, यह निमित्तदृष्टि है, मिट्टी घट बनाती है, उपादान दृष्टि। पर दोनों के योग से ही घट बनता है, ये ध्रुव सत्य है। भैया! दूध के अंदर सारी शक्ति है। कितनी सारी मिठाइयाँ व्यंजन दूध से बनते हैं। हे जीव! तुझे तो खाने–पीने में आनंद आता है, पर भैंस को देखो, सूखा घास–भूसा खाकर कैसे दूध बनाती है? ऐसे–ही निर्ग्रंथ तपोधनों को सूखे नय–न्याय पढ़ने के बाद आगम के सरस रहस्यों को निकालना होता है। **पहले योगी स्वाध्याय करते हैं, फिर तत्त्व का निर्णय करते हैं। जब दुनियाँ सोती है, तो वे तत्त्व का निर्णय करते हैं, तब अध्यात्म स्वरूप का कुंभ बनता है।** हे जीव! तूने इन हेतुओं से अकाल मरण नहीं माना हो तो आगम पर अश्रद्धान का प्रतिक्रमण कर लेना 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं'। मैंने किया हो अश्रद्धान, कराया हो अश्रद्धान, अनुमोदना की हो अश्रद्धान की तो 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं'। सब देखने के बाद सबको भूल जाना। मैं तो देश के सभी साधुओं से मिल लेता हूँ व्यवहार से, पर किसी भी संघ की किसी भी व्यक्तिगत क्रिया को स्वीकार नहीं करता। भैया! जीवद्रव्य को देखो, तो प्रत्येक जीव में भगवान् दिखाई देते हैं।

पानी सबसे टकराता हुआ भी नहीं छोड़ता अपने स्वभाव को, तब पानी बन पाता है सागर। ऐसे–ही ज्ञानियो! सारे जगत् से टकराते चलो, पर अपने स्वभाव को नहीं छोड़ना, तब बनोगे तुम

सिद्धों के सागर। श्रद्धान में कमी उसे आए जो उसे स्वीकारे, श्रद्धान में कमी उसे आए जो उसकी विपरीतता में गमन करे, श्रद्धान में कमी उसे आए जिसे तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र ही मोक्षमार्ग है, बीच के कोई भी शिथिल मार्ग मोक्षमार्ग नहीं हैं। वीतरागी देव को ही देव मानता हूँ, वीतरागी निर्ग्रन्थ तपोधन, भावलिंगी मुनि को ही मुनि मानता हूँ। जब भावलिंग स्वीकार कर लिया, तो द्रव्यलिंग अपने आप हो जाएगा। मैं सच्ची वीतराग वाणी को ही जिनवाणी मानता हूँ। भैया! तू बैल को गाय कह सकता है, हजारों लोगों को अपना शिष्य बनाकर कहलवा सकता है। विपर्यास तेरी वाणी में है, तेरी श्रद्धा में है, लेकिन वस्तु में विपर्यास होता ही नहीं। गाय गाय ही रहेगी, बैल बैल ही रहेगा। जिनवाणी पर तो कूट–कूटकर, अकाट्य श्रद्धान होना चाहिए। परमेष्ठी की आराधना द्वैतभूत है। श्रावक को भगवान् की भक्ति अष्टद्रव्य से करनी चाहिए। साधु को भी भगवान् की भक्ति अष्टद्रव्य से करनी चाहिए। तीर्थंकर के पादमूल में कभी खाली हाथ नहीं जाया जाता। श्रावकों का अष्टद्रव्य जल, चंदन, अक्षत आदि हैं, पर दिगम्बरों का अष्टद्रव्य अष्ट अंगों को झुकाकरके जो परमात्मा की वंदना कर रहे हैं, वह अष्ट द्रव्य से पूजा है।

खाली हाथ मैं कभी भगवान् को नमोऽस्तु नहीं करता हूँ। मेरे हाथ में श्रीफल नहीं होता, पर पिच्छी होती है। आगम में वर्णन है कि दिगम्बर मुनि को बिना पिच्छी हाथ में उठाए न वंदना करना चाहिये, न मंगलाचरण करना चाहिये। पूज्यों के गुणों में अनुराग है, इसका नाम भक्ति है। स्तोत्र पाठ आदि मुनियों के द्वारा पूजा है। पर आप जो चढ़ा रहे हो उसमें आरंभ–सारंभ होता है। दिगम्बर मुनि षट्काय की हिंसा के त्यागी होते हैं। जल प्रासुक करेंगे तो गर्म करना पड़ेगा, इसलिए वे ॐ ह्रीं जलं फलं में न लग करके वे ऊँ हीं नमः की जाप करते हैं। द्वैत भक्ति में द्वंद्व है।

जब व्यवहार में हों तब द्वैत भक्ति करें और निश्चय में हों तो अद्वैत भक्ति करें। द्वैत अनेक रूप हैं। आप दिगम्बर मुनियों से जल–चंदानादि अष्टद्रव्यों से पूजा करवाना चाहते हो तो क्या मुनियों के आवश्यक और श्रावकों के आवश्यक एक हैं? नहीं, भिन्न हैं। दान करना, पूजा करना ये श्रावक का धर्म है, न कि मुनि का धर्म है। ध्यान करना, अध्ययन करना ये यति का धर्म है। **'साधु कार्यं तपःश्रुतः' साधु का कार्य तप करना, श्रुत में लीन रहना है।** यदि जगत् के षट्कर्तव्यों का पालन योगी कर रहे हैं तो वे न साधु हैं न श्रावक। श्रावक पूजा करे तो उसको नियम से धोती–दुपट्टा पहनना चाहिए। नग्न व्यक्ति भगवान् की पूजा नहीं कर सकता, अभिषेक नहीं कर सकता। नग्न व्यक्ति मुनि को दान नहीं दे सकता। उत्तरीय वस्त्र अधोवस्त्र, ये वस्त्र अनिवार्य हैं। यज्ञोपवीत धारण कर इंद्र बनकरके पूजा करना चाहिए। हे दिगम्बर मुनिराजो! आप तद्रूप

कल्पना भी करते हो। आटे के मुर्गे की संकल्पना करने से आटे के मुर्गे की बलि का दोष लगा है। यदि आप अपने आपको इंद्र बनाकर पूजा करने की आकांक्षा करते हो, तो आप दिगम्बर मुनि नहीं बचे, नग्न मात्र हो। यदि आप ऐसे करते हो तो आगम की विधि का लोप कर रहे हो।

एक सम्राट् था। वह बाहर निकला घूमने को। लोग रोड पर काम कर रहे थे। उसमें कुछ महिलाएँ सिर पर टोकनी रखकर काम कर रही थीं। वह सम्राट जो घूमने निकला था, वह वापिस हो गया। ये नारियाँ इतनी मेहनत कर रही हैं और मेरी महारानियाँ दिनभर खाती हैं और सुख से रहती हैं। चलो, सबको काम दें। और जाकरके रनवास में कहता है कि कल से सभी रानियाँ अपना काम स्वयं करेंगी तथा सारी दाइयाँ अपने काम समाप्त करके छुट्टी को प्राप्त हों। सम्राट का एक वृद्ध कंचुकी था, उसने देखा कि प्रात: एक रानी बाल्टी लिए घूम रही थी। वह कंचुकी पूछता है कि हे रानी! आज रनवास का माहौल कुछ अलग–सा क्यों दिख रहा है? चारों तरफ क्यों मातम–सा छाया हुआ है? कुछ समझ में ही नहीं आ रहा है? एक रानी बड़े धैर्य के साथ कहती है कि आप मेरे पिता–तुल्य हो, हम राजपुत्रियों ने कभी धूप नहीं देखी, डोली से नीचे पैर नहीं रखा, पता नहीं आज स्वामी को क्या हो गया? कंचुकी मुस्कराकर कहता है कि आप मुझे कुछ समय दो। राजघराने में काम करते–करते इतना अनुभव तो हो ही जाता है। वह बोला कि मैं राजनीति पढ़ा नहीं हूँ, पर राजनीति देखी तो है। वह राजसभा में पहुँचता है। हे स्वामी! प्रणाम। आपका परंपरागत सेवक एक प्रार्थना करना चाहता है। हे स्वामी! आपके श्रृंगार के लिए, भगवान् की पूजा के लिए काश्मीर से केशर आती है और इतनी कीमती केशर कि राजकोष ही पूरा खाली हो जाता है, तो क्यों न हो अपने ही नगर में केशर की खेती की जाए? धीमान के पास श्री नहीं होती और श्रीमान के पास धी नहीं होती। कंचुली बड़ा समझदार था। उसने कहा महाराज! उचित स्थान चाहिए, इसलिए इन महलों को तुड़वा दो, यहाँ केशर लगाएँगे। सारे भवन तुड़वाकर काश्मीर से केशर मँगाकर वहाँ लगाई, पर कुछ दिनों में ही सारे पौधे सूख गए। कंचुकी के लिए राजाज्ञा हुई कि केशर कहाँ गई? वह बोला महाराज! मैंने प्रयास तो पूरा किया। आप सोचिये, मेरी भावना कितनी पवित्र थी। मैं तो राजकोष की रक्षा करना चाहता था, लेकिन नाथ! क्या करूँ? अब इस बात को किसी कृषि वैज्ञानिक से पूछा जाए। कृषि वैज्ञानिक को बुलाया और पूछा कि भाई! इतनी केशर लगाई थी, क्यों नहीं हुई? वह बोला, हे राजन्! बीज भी अच्छा है, खाद– पानी भी दे रहे हो, लेकिन केशर जिस प्रदेश में, जिस भूमि पर उगती है वह भूमि नहीं है, वह प्रदेश नहीं है, वहाँ जैसा मौसम नहीं है, इसलिए केशर उग नहीं सकती। कंचुकी बोला– राजन्! क्षमा करो, अभयदान

दो। मैं एक बात कहना चाहता हूँ। राजा बोला, कहिए। नाथ! जब कश्मीर की केशर यहाँ नहीं उग सकती है, तब राजमहल में उत्पन्न हुई पुत्रियाँ रोड पर बाल्टी कैसे ढो सकती हैं? आप स्वयं सोचें, आपकी बुद्धि कहाँ चली गई? राजा समझ गया और कह दिया कि सब दाइयाँ अपने–अपने काम करो और महारानियों से काम बंद कराओ। ऐसे–ही ज्ञानी! जो जिसकी क्रिया है उससे ही वह क्रिया कराओ और जो ज्ञान तत्त्व की बात है उनसे ज्ञान की बात करो।

भैया! आप ऋण की धन में वायर लगा दोगे, तो फॉल्ट हो जाएगा, प्रकाश नहीं होगा। ज्ञानी! दान दोनों देते हैं, पर अंतर है। श्रावक आहारदान देता है और साधु ज्ञानदान देता है। तीर्थंकर भी क्षायिक दान देते हैं। मित्र यही तो विपर्यास हो रहा है कि शब्द–समानाधिकरण देखते हो, अर्थ–समानाधिकरण भी देखना चाहिए। दान शब्द एक–सा है, पर दोनों के अर्थ भिन्न हैं। ज्ञानी! आज का प्रतिक्रमण अकाल मरण पर गया है। अब इतना कह देना कि मेरे से आगम के विरुद्ध कहीं विपर्यास हुआ हो तो 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं'।

कृत–कारित–अनुमोदना पूर्वक, मन–वचन–काय त्रिविध प्रकार से जीव ने जो पूर्व में अशुभ किए हैं, उनका निराकरण करना 'प्रतिक्रमण' है। यहाँ आचार्यभगवन् अमृतचंद्र स्वामी ४९ भङ्गों से प्रतिक्रमण समझा रहे हैं 'यदहम कार्षं' जो मैंने किया। 'यदचीकरं' जो मैंने कराया। 'मनसा च वाचा च' मन से वचन से। मैंने मन के द्वारा स्वयं खोटे भाव किए, मैंने मन के द्वारा खोटे भाव कराने की अनुमोदना की, मैंने मन से दूसरों से करवाया। नरक के नारकी की भी हिंसा तूने की है। रावण का जीव नरक में पड़ा हुआ है और आप 'पद्म पुराण' का स्वाध्याय कर रहे हो वहाँ उसकी पीड़ा का वर्णन मिल गया, यहाँ आप कहते हो कि हाँ ऐसा ही होना चाहिए था। वह बेचारा तो नरक में अपने कर्म के बंध के फल को भोग ही रहा है, पर आप उसके अशुभ की पीड़ा का चिंतन करके अशुभ का बंध कर रहे हो कि इसको ऐसा ही फल मिलना चाहिए था। उसको तो मिल ही रहा है, तुमको चिंतन करने की क्या आवश्यकता थी? जिसके प्रति तुम्हारा शत्रु भाव है, उसके प्रति शीघ्र ही कह देते हो कि हाँ ऐसा ही होना चाहिए। वह तो अपना फल भोग ही रहा था, पर आपने सोचकरके एक पञ्चेन्द्रिय जीव की हिंसा कर ली है। उसका प्रतिक्रमण करो। भारत पाकिस्तान के बीच में कोई विकल्प सामने आ जाए तो हमारे मन में कैसे भाव आते हैं?

हे जीव! तू अपने घर में बैठा हुआ है, पर कितने जीवों के बारे में सोच रहा है अशुभ मन से। यहाँ मन से कितना पाप सोच चुके हो और कितना पाप कर चुके हो। तन से कितना पाप

करते हो, मन से कितना कर चुके होते हो? मन से क्रोध कषाय की। मन से मान, माया, लोभ कषाय कराई। स्वयं के मन से माया करना और स्वयं के मन से दूसरे से माया करवाना। स्वयं के मन से क्रोध/मान करना, स्वयं के मन से दूसरों में क्रोध मान करवाना।

तू स्वयं विषय–विकारों से भरा हुआ है, तू स्वयं काम–विकारों से उन्मत्त हो रहा है। तेरे मन में स्त्री का चिंतन चल रहा है और वह स्त्री यहाँ है नहीं, पर हे जीव! तू उस नारी का चिंतन करके मानसिक अब्रह्म का सेवन कर रहा है। उससे उसमें स्वयं पाप बंध कर रहा है। उसके मिलने पर ऐसा कहूँगा, वह भी ऐसा करेगा। तू अपने मन से, अपने मन में स्वयं दोष करा रहा है और अपने ही मन से दूसरे के अंदर दोष उत्पन्न कराने की सोच रहा है। झूठ बोल नहीं पाते हैं जीव कितनी बार, पर मन में झूठ सोच चुके होते हैं। ज्ञानी! कितने प्रकार के भाव बनाते हैं? मिलो उन परिणामों से। जितना परिग्रह तेरे घर में नहीं है, उतना परिग्रह तेरे मन में है। कमा पाता है एक रुपया, कमाने के भाव रखता है लाखों रुपए और सोचता है कि मैं भैया को भी बताऊँगा वह भी ऐसे ही कमाएगा। हे जीव! स्वयं तो पाप कर ही रहा है मन में और अपने ही मन में दूसरों के पापों का ध्यान कर रहा है। अब करो प्रतिक्रमण कि मैंने ही मन से पाप किए, मैंने ही मन से पाप कराए।

हे जीव! आप नहीं सोचते कि किस जीव का क्षयोपशम तीव्र है कि मंद? कर्म नहीं सोचते कि आप किस दृष्टि से पाप कर रहे हो। कर्म कहेंगे कि तेरा धर्म चिंतन करना है और मेरा धर्म बंधना है। चाहे ज्ञानी तू मंदिर में बैठा हो, चाहे बाजार में। तुम्हारे मन में भाव चल रहे हैं। क्या मंदिर में बंध नहीं होता? भैया! प्रतिक्रमण चल रहा है, इधर देख लिया, उधर झाँक लिया प्रतिक्रमण करते हुए। ज्ञानी! शरीर से संकेत चल रहे हैं, तो मेरे मित्र! अब इस प्रतिक्रमण का भी प्रतिक्रमण करो। कितना छल महामायाचारी? कायोत्सर्ग चल रहा है, अंगुली रखी थी। अंगुली पर जीभ हिल नहीं रही है और आत्मा भटक रही थी। अब करो प्रतिक्रमण का भी प्रतिक्रमण। मैंने तो पढ़ लिया है, अब नंबर दूसरे का है। वह पढ़े, हम तो बातें कर रहे हैं। वह द्रव्य तुम्हारा छूट रहा है कि नहीं? छूट रहा है। छूटा है, उसे पूरा कब करोगे? और बीच प्रतिक्रमण में आकर बैठ गए। शुरू से सुना नहीं, किया नहीं, इसका क्या होगा? साधना का मार्ग शुद्ध ईमानदारी का मार्ग है।

मैं दिग्वंदना के लिए निकला हूँ, उसी में कर लूँगा प्रतिक्रमण। भैया! न तेरी सामायिक ही हुई, न प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण इसलिए नहीं है, क्योंकि सामायिक का काल है और सामायिक इसलिए नहीं है, क्योंकि तुम प्रतिक्रमण कर रहे हो। भैया! कर्मक्षय के लिए भी मायाचारी कषाय, क्या निर्बन्धता दिलाएगी? भगवान् के राग में, भगवान् की भक्ति करना भी अतिक्रमण है। हे जीव!

प्रथम ग्रास रखने के राग में तूने दूसरे जीव से मायाचारी की। उसका बंध होगा कि नहीं? चल रहा था स्वाध्याय, हम कर रहे थे प्रतिक्रमण। न तुम्हारे स्वाध्याय की क्रिया पूर्ण हो रही है, न प्रतिक्रमण की क्रिया पूर्ण हो रही है। गुरु पढ़ा रहे हैं क्लास और हम कर रहे हैं पाठ। ज्ञानी! न ये समझ में आ रहा है, न वह समझ में आ रहा है। दुगना वीर्यान्तराय कर्म का बंध कर चुके हो। क्यों? सुन भी रहे हो, पढ़ भी रहे हो और मन में मायाचारी कर रहे हो। जैसे ४९ प्रकार से प्रतिक्रमण है, वैसे–ही ८० प्रकार से प्रमाद के भङ्ग हैं। समयसीमा के चक्कर में समय भङ्ग मत कर लो। समय कालद्रव्य है, समय ही आत्मद्रव्य है। हे जीव! 'काल' समय के पीछे 'आत्म' समय को नष्ट मत करो।

मैंने मन से स्वयं किए, कराये और अनुमोदना की है। **भैया! उपवास कर लेना सरल है, पर किसी के प्रति अशुभ की अनुमोदना नहीं करना, ये कठिन है।** यथार्थ में दिगम्बर मुनि इसलिए बनते हैं कि जैसे मेरा मुख से मौन है वैसे ही मेरा हर प्रकार से मौन रहे। अनिष्ट संयोग था तुम्हारे सामने, उसका वियोग हो गया। तुम शांति महसूस कर रहे हो। भैया! चिंतन करो कि मैंने अपने अनिष्ट संयोगी को वियोग कराने में चिंतन किया 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं'। जो मेरे लिए इष्ट था, उसके राग में मैंने किसी अन्य को भी नहीं देखा, तो हे भगवन्! तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पीड़ा के काल में कि हाय मैं दुखी हूँ, दुखी हूँ, उस पीड़ा के काल में मैंने आत्महत्या के परिणाम कर लिए। भैया! आत्मघात तो नहीं हुआ, पर घात तो हो चुका। भैया! इसका प्रतिक्रमण किया क्या? प्रायश्चित्त किया क्या? भैया! जो बंध किया है उसमें निमित्त उत्पन्न हो सकते हैं। भैया! निज सुधार के भाव रखो। एक गलती तो कर ही ली है और दूसरी भूल तू ये कर रहा है कि अपनी गलती पर संतुष्ट होकर दूसरे से कह रहा है कि मेरे स्थान पर आप होते तो क्या करते? ज्ञानी! अभी भी आपको अपनी गलती महसूस नहीं हो रही है। भैया! जो अशुभ भाव आ रहे हैं, उसमें तूने पञ्चेन्द्रिय संज्ञी या श्रावक है तो उस श्रावक की और मुनि है तो तूने उस मुनि की हत्या कर दी है, इसका प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण करो। लगता ये है कि दूसरे ने संक्लेशता दी है, पर सत्य ये है कि तेरे अंदर संक्लेशता भरी हुई है। दूसरा संतुष्टि देता है, संक्लेशता देता है, तुम्हारा सोच विपरीत है, लेकिन जब तेरा सोच शौच हो जाएगा तब दिखेगा कि मेरा ही सोच गलत है। इसमें मेरा ही दोष है। क्षयोपशम नष्ट होता है। आयु कर्म नष्ट होता है। जितनी संक्लेशता बढ़ेगी उतना तेरा क्षयोपशम नष्ट होगा। वचनबल पुण्य से मिला है, इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। आवश्यकता पर बोलो, सीमित बोलो, मधुर बोलो। मार्ग नहीं देख रहे, लगे हैं बोलने। माना कि

आप मुनिराज हो, मोक्षमार्ग पर चल रहे हो, तो मोक्षमार्ग को देखकर बोलिए और मार्ग/रोड पर चल रहे हो तो मार्ग देखकर चलिए।

जो जीव भण्ड वचन बोलते हैं, जिनके वचनों में विनय नहीं है, किञ्चित् मात्र भी उनको न दीक्षा शिक्षा गुरु दिखे हैं, न ज्येष्ठ गुरु दिखे हैं। नहीं समझ पा रहे हैं कि क्या बोलना चाहिए मुझे और किससे बोल रहे हैं तो समझ लो कि मोक्षमार्ग तुम्हारा रुक चुका है। भावशुद्धि के सद्भाव में अशुद्ध भाषा मुख से निकल ही नहीं सकती है। भावशुद्धि में भाषा विशुद्ध होगी, तथोपपत्ति। भाव अशुद्धि में विशुद्ध भाषा नहीं होगी, अन्यथोपपत्ति। प्रत्येक समय की साधना को, प्रत्येक तत्त्व व्याख्या को तथोपपत्ति अन्यथोपपत्ति में देखिए। 'वाचा', ज्ञानी! कोई कान में मंत्र भी फूँक दे कि ऐसा बोल दो जो बोलने के लिए बोल रहा है वह पाप वस्तु है, पर उसके बोलने से तुम नहीं बोलते हो, बोलते अपनी बुद्धि से हो। बहुत सारे ऐसे व्यक्ति हैं जो स्वयं तो अच्छे बने रहते हैं, पर दूसरे के कान में फूँककरके अपनी बात दूसरों से कहलवाना चाहते हैं, वे स्व–पर के शत्रु हैं और वे महाअज्ञानी जीव हैं जो दूसरों की बात को सुनकर तुरंत बोल पड़ते हैं। स्वयं का मस्तिष्क है, स्वयं की प्रज्ञा है, उसका उपयोग कीजिए। निर्णय अपने विवेक से लेना। **शीघ्र कुपित होना, शीघ्र निर्णय ले लेना, ये जीवन के ह्रास के दिन हैं।** जो भाव तुम्हारे भीतर चल रहे हैं, वे तुम जानो। कर्म तो बंधना ही है, लेकिन जिसकी भाषा अशुभ हो चुकी है, उसका विश्वास नष्ट हो चुका है। खता जानते हो? खता यानी फोड़ा। बच्चा कहता है कि मेरे शरीर में खता हो गया। बेटा खता तो खत्म हो जाएगा, पर खता का दाग नहीं जाएगा। गुरु क्षमा तो कर देगा परिणाम मात्र से, पर तुम्हारे प्रति जो एक श्रेष्ठता का भाव था वह मध्यस्थता में बदल जाएगा। द्वेष नहीं रखेंगे, नहीं तो अनर्थ हो जाएगा। गाथाओं को याद करने के साथ जीवन की गाथा को याद करना अनिवार्य है। भैया! जीवन में ऐसा इतिहास बनाकर जाओ कि लोग तुम्हें नमस्कार करें।

ज्ञानी! जहाँ 'था' शब्द लग जाता है, वहाँ इतिहास बन जाता है। आज यहाँ हूँ, वर्तमान चल रहा है। कल वहाँ था, आज का दिन उनके लिए इतिहास है। जीने का भाव है, वह भी बंध भाव है। मरने का भाव है, वह भी बंध भाव है। 'क्या करूँ' ये कहने का भाव भी बंध भाव है। तो फिर कुछ नहीं। जो है, सो है। भैया! नमक खाया कभी? उसका स्वाद कैसा है? खारा कैसा है? वह तो जो है, सो है। खाकर देखो। 'वाचा'। सत्य तो ये है कि जो पाठ किया, उसका भी प्रतिक्रमण करो। मैंने अशुभ मन में किया, कराया, अनुमोदना की। वचन से स्वयं किया, कराया, अनुमोदना

की। वह मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो। **'यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।** जो तूने किया, दूसरे से करवाया, अन्य के करने की अनुमोदना की मन से, वचन से, मेरा वह दुष्कर्म मिथ्या हो।

'यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति। मैंने जो किया, कराया, अनुमोदना की मन और काय से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। **'यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं,समन्वज्ञासिषं मनसा चा कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।'** मैंने जो वचन से काय से किया कराया अनुमोदना की। शरीर से हाथी जैसे डोल रहे हो उन्मत्त हो, पर उसके साथ में कितने जीवों का विघात हो रहा है, ये पता ही नहीं। भैया! जरा–सा मच्छर बैठ गया, तुरंत हाथ पटक दिया। कछुआ छाप या आलआऊट लगाकर सो रहा है और कह रहा है कि हे भगवान्! मेरा पाँचों पापों का त्याग। जाल तो फैला दिया है, अग्नि के अंगारे रखकर सो रहा है और कह रहा है कि पाँचों पापों का त्याग। मुख में रख ली पान–सुपारी और सो गया और कहता है कि मेरे पाँचों पापों का त्याग, रात्रि में आहार–पानी का त्याग।

ये युवा हैं, भोले भाले हैं। ये तो चमत्कार को नमस्कार करते हैं। इसलिए झूठी मायाचारी मत करना जीवन में। भैया! तंत्र–मंत्र वास्तव में जिसको आते हैं, वह व्यापार नहीं करेगा। जो सच्चा वैद्य होगा, वह मरीज के घर का पानी नहीं पियेगा उस दिन। मंत्रवादी को हमने देखा है, वह जिसके घर में ठीक करने जाता है, वह उसके घर का पानी नहीं पीता है। आप तो ऐसे मंत्रवादी हो जो पहले से कह रहे हो कि इतना चाहिए, फिर तुम्हारे यहाँ आऊँगा। इसका मतलब है कि ये व्यापार है तेरा। कालसर्प योग महामृत्युंजय उन्हीं को है जो अज्ञानी हैं, पर तत्त्वज्ञानी को कुछ नहीं है। भैया! दैव पर ही विश्वास रखो। भाग्य और भगवान्, तीसरा कुछ नहीं। मेरे मित्र! छल करने से स्वर्ग में स्थान नहीं मिलेगा, नरक में स्थान मिलेगा। नरक में इसलिए नहीं जा सकता कि तू हिंसादिक पाप नहीं कर रहा है। स्वर्ग इसलिए नहीं जा सकता है, क्योंकि तू मुनिव्रत का पालन नहीं कर रहा है। मायाचारी चल रही है **'माया तैर्यग्योनस्य'।** न नरक मिलेगा न स्वर्ग मिलेगा। निगोद पक्का है। यदि मायाचारी मिट गई, तो तिर्यञ्चों की संख्या कम नहीं हो जाएगी? उनकी संख्या को पूरी करने वाले भी तो चाहिए। पञ्चम काल में मरने वाले जीव सर्वाधिक तिर्यञ्च और नरक में ही तो जाते हैं। मनुष्य की संख्या उससे कम, स्वर्गों में जाने वालों की संख्या उससे भी कम है। इसलिए वचन सँभालो, तन से उपदेश ज्यादा दो। जो शरीर के द्वारा मैंने किया हो, कराया हो, वह मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो। जो मैंने किया हो, कराया हो मन से, वचन से, काय से, वह मेरा

दुष्कृत मिथ्या हो।

'यदहमकार्षं, यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति' जो मैंने किया हो, अन्य के करते हुए की अनुमोदना की हो, मन से वचन से, काय से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने कराया हो और अन्य को करते हुए की अनुमोदना की हो मन–वचन–काय से, वह मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो। जो मैंने किया, कराया मन से, वचन से, वह मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो। जो मैंने किया हो, अन्य से करते हुए की अनुमोदना की हो मन–वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने कराया हो अन्य से, करते हुए की मन–वचन से अनुमोदना की हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया हो, अन्य से करते हुए की मन से, काय से अनुमोदन की हो, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने कराया हो, अन्य से करते हुए की अनुमोदना की हो, मन से तथा काय से वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया हो कराया हो वचन से तथा काय से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया हो, अन्य से करते हुए की अनुमोदना की हो वचन तथा काय से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने कराया हो, अन्य से करते हुए की अनुमोदना की हो, वचन से काय से वह, दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया हो, कराया हो मन से वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया हो, अन्य के करते हुए की अनुमोदना की हो मन से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने कराया हो, अन्य की अनुमोदना की हो मन से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया हो, कराया हो वचन से वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया हो, अन्य की अनुमोदना की हो वचन से वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने कराया हो, अन्य करते हुए की अनुमोदना की हो, वचन से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया हो, कराया हो शरीर से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया हो, अन्य की अनुमोदना की हो शरीर से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने कराया हो, अन्य की अनुमोदना की हो शरीर से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने मन–वचन–काय से किया हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने मन–वचन–काय से कराया हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने करते हुए की मन–वचन–काय से अनुमोदना की हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने मन–वचन से किया हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने मन–वचन से कराया हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने अन्य करते हुए की मन–वचन से अनुमोदना की हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने मन से तथा काय से किया हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने मन से तथा काय से दूसरे से कराया हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो अन्य से करते हुए की मन से तथा शरीर से अनुमोदना की हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या

हो। जो मैंने वचन तथा काय से किया हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने वचन से तथा शरीर से कराया हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने अन्य से करते हुए की वचन तथा काय से अनुमोदना की हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया मन से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने कराया हो, मन से वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने अन्य करते हुए की अनुमोदना की हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने वचन से किया हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने वचन से कराया, वह दुष्कर्म मिथ्या हो। जो मैंने अन्य करते हुए की वचन से अनुमोदना की हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने किया हो शरीर से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने कराया हो शरीर से, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो। जो मैंने अन्य करते हुए की शरीर से अनुमोदना की हो, वह दुष्कर्म मेरा मिथ्या हो।

इस जीव ने अनादिकाल से अविद्या के वशीभूत होकर माया मिथ्या निदान इन त्रिशल्यों से अपनी आत्मा की वंचना की है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इनके माध्यम से निज की आत्मा को बंध में बद्ध किया, वही जीव एक–एक व्यक्ति के निमित्त से असंख्यातलोकप्रमाण कर्मास्रव को प्राप्त हुआ है। यूँ सोचा है इस जीव ने कि मैंने तो एक ही प्रकार से परिणाम किए हैं। लेकिन पाप के प्रकार पाँच हैं। पाप के भेद ५ नहीं हैं। जितने प्रकार के हिंसक परिणाम हैं, उतने–रूप हिंसा पाप हैं। जितने रूप अब्रह्म परिणाम हैं, उतने रूप असत्य पाप हैं। जितने चोरीभूत परिणाम हैं, उतने ही चोरीभूत पाप हैं। जितने परिग्रह भूत परिणाम हैं, उतने प्रकार का परिग्रहभूत पाप है। एक समय में निज के परिणामों के भङ्गों को निहारो। उन भङ्गों को देखने पर लगता है जब आगम से कह रहा है कि सिद्धों के अनंतवें भाग और अभव्य सिद्ध के अनंत गुणे कर्म का आस्रव–बंध एक समयप्रबद्ध रूप हो रहा है, तो वहाँ सोचने की आवश्यकता है कि मैंने नाना प्रकार के भाव किए हैं।

जब पाप परिणामों का ही मालूम नहीं है, तो पाप प्रक्षालन का क्या ज्ञान होगा? शरीर में कहाँ–कहाँ कीचड़/मल लगा हुआ है यदि इसका बोध होगा, तभी तो उसको धोने के परिणाम करोगे। जब आपको ज्ञात ही नहीं है, तो धोओगे क्या? कई बार ऐसे अज्ञानी जीव होते हैं कि अपने ही शरीर का मल अपने शरीर में छपा कर आ जाते हैं। शुद्धि तो करके आए, पर शुद्धि नहीं कर पाए। जब आपको अपने शरीर की शुद्धि का ज्ञान नहीं है, तो तुम परिणामों की शुद्धि क्या कर सकोगे? कहीं जीव स्वयं के भावों से स्वयं बंध करके आया है और यहाँ आकर तू मुस्करा रहा है। ज्ञानी! तू हँसी का पात्र है कि नहीं? देह का मल तो पानी से धुल जाएगा, साबुन से धो

लोगे, लेकिन ज्ञानियो! भावों के मल को धोने के लिए कोई पानी है, उसका नाम है विशुद्ध परिणामों से बालक वत् अपने गुरु के चरणों में पापों की आलोचना कर लेना। आलोचना से बड़ा कोई पानी नहीं है। लोचन में कीचड़ है तो धुँधला दिखता है। दृष्टि में दोष आ जाता है तो दृष्टि विकृत हो जाती है। हे ज्ञानी! जिसकी आत्मा में ही मल है, आत्मा ही जिसकी दूषित है, उस जीव का मोक्षमार्ग कैसे दिखाई देगा? दोष अज्ञानता में हुआ, प्रमाद में हुआ, कषाय के उद्वेग में हुआ, वासना के वशीभूत होकर हुआ, इत्यादिक हेतुओं से दोष लग सकता है, पर दोष लगने पर दोष नहीं स्वीकारना, ये महा–अहंकार महा–मद और महा–पापत्व भाव का प्रतीक है।

दोष लगने के बाद भी जिसके अंतरंग में शोधन के भाव हैं, वह सरल हो जाएगा। जब तक आलोचना नहीं कर लेगा, वह चैन से नहीं बैठेगा। क्राँच की फली जरा–सी शरीर पर लग जाए, तो सर्वांग में खुजली व्याप्त हो जाती है। जब तक उसका उपचार न हो जाए, उसको शांति नहीं मिलती। उसे फिर न बैठकर शांति मिलती, न लेटकर शांति मिलती है। उपाय सोचता है कि कैसे मैं ठीक होऊ? ऐसे–ही सम्यक्–दृष्टि मुमुक्षु और निर्ग्रन्थ वीतरागी तपोधन किञ्चित् भी परिणामों में क्राँच की फली–जैसी परिणति बन गई तो ऐसे तड़पता है कि कब मैं आलोचना कर लूँ। क्षणमात्र भी समय बर्बाद नहीं करता। मेरे से दोष हो गया, प्रमाद से हो गया, अज्ञानता से हो गया। उसकी आलोचना में प्रमाद क्यों कर रहे हो? **मान और माया ये दो कषाय जब तक रहेगी तब तक निर्दोष आलोचना नहीं हो सकती।** इतने जोर से बोला कि गुरु समझ ही नहीं पाए, दोष भी बोल दिए तो छोटा–सा प्रायश्चित्त मिलेगा। परिणामों की शुद्धि करना चाहते हो तो छल किस बात का? ये कभी मत सोचना कि मैंने अपने दोष प्रकट कर दिए तो गुरु क्या सोचेंगे? सच्चे वीतरागी तपोधन गुरु हैं तुम्हारे, तो वह यह नहीं सोचेंगे कि यह कैसा है? वह तो यह सोचेंगे कि धन्य हो इस जीव के परिणामों को कि एक समय विकृत परिणाम होने के बाद भी अपने भीतर के परिणामों को किसी को बताने की सामर्थ्य है, ये उसकी विशुद्धि बोल रही है।

परिणामों के शोधन के लिए आलोचना है, प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान है। परिणामों के शोधन के लिए जो दिया जाता है, उसका नाम प्रायश्चित्त है। शिष्यों को संक्लेशित करने के लिए प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है। शिष्यों में शत्रुता को न देखा जाए, शिष्यों में वात्सल्यता का ध्यान रखा जाए। जो पात्र स्नेही है वह उपकार करने में समर्थवान हैं। ऐसे गुरु के लिए कहा गया है कि **जो रत्नत्रय से स्वयं विशुद्ध हैं, जो धर्म का पालन करने में समर्थवान हैं, भवरूपी संसार से पार कराने में खेवटिया हैं वे गुरु हैं।** ये निमित्त नैमित्तिक व्याख्या है, क्योंकि आप

स्वयं में कितने ही प्रायश्चित्त लेते रहोगे, पर आपको विश्वास नहीं होगा कि मैंने जो लिया है वह सही है कि नहीं? भैया! प्रायश्चित्त स्वयं में होता नहीं है। महान् ग्रंथ समयसार जी में आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान की व्याख्या कर रहे हैं। क्या कलई के बर्तन में कभी दूध मधुर रहता है? क्या पीतल के बर्तन में सुबह की दाल–सब्जी शाम तक अच्छी रहेगी? क्या दूध स्वच्छ रहेगा? पीतल के बर्तन में, कलई के बर्तन में रखा सामान जब खराब हो सकता है, फिर जिसके हृदय में अशुभ भावों की पीतलता भरी हो, कलई पुती हो, वहाँ ज्ञानी! तेरी आत्मसाधना दूध की माधुर्यता स्वच्छ रहने वाली नहीं है। इसलिए पात्र को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त है, आलोचना है। माँ! बर्तन को इतना घिसना कि बर्तन फूट न जाए, ऐसे ही पात्र को इतना घिसो कि पात्र में छिद्र न हो जाए। शिष्य को इतना कसो कि संक्लेशता का छिद्र न आ जाए।

नीति है कि क्षत्रिय को भूमि मिल जाए तो खुश, ब्राह्मण को दक्षिणा मिल जाए खुश, पर गुरु तो प्रणाम करने मात्र से खुश हो जाते हैं। भैया! कितने ग्राहक आकर तुमको परेशान करते हैं, पर एक वस्तु भी वह खरीदकर ले जाए तो सारी परेशानी समाप्त हो जाती है।

भैया! तू जितनी शांति से कपड़े लपेटता है, उतनी ही शांति से परिणामों को लपेट लेता, तो ये कपड़े क्यों लपेटने पड़ते? माँ! गृहस्थी चलाने में कितनी शांति बरतती हो। भैया! आगमिक अध्ययन करने के उपरांत ही आचार्यत्व का निर्वाह करना चाहिए। यदि शिष्य ये सोच बैठे कि मुझे क्लेश दिया जा रहा है, तो वह अज्ञानी है। शांतचित्तता होना गुरु के अंदर अनिवार्य गुण है। **कषाय में कभी निर्णय नहीं लेना। जब परिणाम शांत हों, तभी निर्णय लेना।** पञ्चम काल में नहीं, हर काल में। क्या कषाय तात्कालिक है? नहीं। कषाय त्रैकालिक है। पाँच पाप त्रैकालिक हैं। आत्मा त्रैकालिक है। मात्र काल को दोष मत दो। हर काल में कषायी लोग हुए हैं और अकषायी लोग हुए हैं, तभी तो बंध करके यहाँ तक आए हैं। काषायिक भाव से भरकरके आचार्यत्व का निर्वाह करोगे, यदि अधिकार का दुरुपयोग करके दूसरे प्राणी को पीड़ित कर रहे हो, तो ये ध्यान रखना, आपको हिंसा का पाप लगेगा, जबकि आप अहिंसा महाव्रती हो। शिष्यों के भावों की विशुद्धि के लिए तो आप प्रायश्चित्त दो, पर किसी कसाई गुरुभाई ने गुरु के चरणों में जाकर निवेदन कर लिया कि स्वामी! अमुख महाराज ने ऐसा किया। आपने न देखा न सुना और उसकी बातों में आकरके आपने उससे बोल दिया कि उठक–बैठक लगाओ, उपवास करो, धूप में खड़े हो जाओ। हे स्वामी! ये कोई आतंकी राजा की व्यवस्था नहीं है, ये जिनशासन की व्यवस्था है। आप मोक्षमार्ग के नेता हो।

भैया! **कुंभकार भी घट बनाता है तो ऊपर से तो थाप मारता है, पर नीचे हाथ लगाता**

है। अगर थाप–थाप मात्र लगाए और नीचे हाथ न लगाए, तो घट बनेगा कि फूटेगा? फूटेगा। ऐसे–ही गुरु का कर्त्तव्य है कि वह ऊपर से समझाए, प्रायश्चित्त दे, लेकिन साथ में भावों की विशुद्धि की रक्षा करते हुए हाथ का सहारा भी दे। भैया! प्रायश्चित्त–शास्त्र पढ़े बिना आचार्य नहीं बनना। अरे भाई! संहिता का अध्ययन तो बार–बार करना चाहिए, कहीं आपसे अनर्थ न हो जाए किसी के साथ। ऐसा नहीं कि जीवन में एक बार प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ लिया आचार्य ने, बस, हो गया काम। भैया! पूरी खोजबीन करके ही प्रायश्चित्त देना चाहिए, नहीं तो प्रायश्चित्त शास्त्र का अविनय हो जाएगा।

हे मित्र! तुम चींटियों की रक्षा के भाव रखते हो, धूप–छांव में चलने पर पिच्छी से मार्जन करते हो, सूक्ष्म जीवों की विराधना से भी बचते हो, लेकिन क्या आपको इतना बड़ा मुनि नजर नहीं आ रहा? गुरु से झूठी शिकायत करके, उसको दंड दिला करके तुम कौनसे महाव्रत का पालन करना चाहते हो? भैया! क्या है इस जगत् की लीला? पिच्छीधारियों ने पिच्छीधारियों पर उपसर्ग कर दिए। हे पञ्चम काल! जैसा लिखा है, वैसा दिखना प्रारंभ हो चुका है। मुख से बाण–जैसे शब्द निकल रहे हैं, ये दिगम्बरों के द्वारा दिगम्बरत्व का ह्रास है। जो मुनि बनकरके परसंघों के साथ अशुभ वचन का प्रयोग करे, भाण्ड वचन बोले, अशुभ भाषा का प्रयोग करे, तो वह महादण्ड का भागीदार है। आठ वर्ष का बालक कुछ भी अपराध करे तो माता–पिता को दोष लगता है। यहाँ तो आठ वर्ष की सीमा दे दी है, पर धर्मग्रंथों की सीमा जो है वह यह नहीं है कि आठ वर्ष तक शिष्य कुछ करे तो गुरु पर जाएगा। यहाँ तो जिस आचार्य का शिष्य है, शिष्य मनमानी क्रिया कर रहा है, अशुभ/भण्ड वचन बोल रहा है, अशुभ कोई भी काम करता है और गुरु नहीं समझा रहे हैं या उसको नहीं सँभाल पा रहे हैं, तो गुरु भी दण्ड का अधिकारी है। इसलिए आगम कह रहा है कि उनको ही संग्रहित करना जिनका निग्रह करने में तुम समर्थ हो।

ज्ञानी! बहुत गंभीर विषय है। एकेन्द्रिय की रक्षा के भाव हैं, तो क्या शिष्य के गाल पर चाँटा मारा जा सकता है? नहीं। जो प्रायश्चित्त की विधि है, उसी को करिए आप। उपलक्षण मात्र देखकरके उसका दुरुपयोग मत करना, नहीं–तो 'भगवती आराधना' में लिखा है कि पैर से प्रताड़ित कर सकते हैं आचार्य। अरे भाई! उस विषय को ले करके तुम प्रारंभ मत कर देना। इतना सिर पर मत बिठाओ कि तुम्हें पैर से गिराना पड़े। स्वयं के भविष्य का ध्यान रखोगे, तो जैनशासन की प्रभावना होती रहेगी।

भैया! कोई रोगी आकरके कहे कि डॉक्टर साहब! मैं आपका ध्यान रख रहा हूँ। आप बदनाम

न हो जाएँ, इसलिए मैं पथ्य का सेवन कर रहा हूँ। अरे भाई! मेरा ध्यान मत रख। तुझे अपनी मृत्यु से डर लगे, मरने से बचना चाहता है, तो मुझ पर एहसान मत कर और मरने से नहीं है डर, तो मेरे पास आया ही क्यों था? **जिस शिष्य को कर्मबंध से डर हो, उसे ही दीक्षा लेनी चाहिए। जिसे संसार से भयभीतपना हो, उसे ही संघ में रहना चाहिए।** अगर संसार से भय नहीं है, तो जिस मार्ग से आया है उसी मार्ग से वापिस चला जाए ताकि मोक्षमार्ग में दूषण तो न फैले। आप वापस चले जाओगे तो मात्र लोकनिंदा होगी और आपकी आत्मनिंदा होगी; पर विपरीत व्याख्या करते रहोगे तो जगत् में धर्मात्माओं के प्रति अश्रद्धा बढ़ेगी। क्या जरूरत थी कुंदकुन्दाचार्यजी को समयसार में आलोचना की व्याख्या करने की? क्या जरूरत थी आचार्यभगवन् अमृतचंद्र स्वामीजी ने ४९ प्रकार से प्रतिक्रमण की व्याख्या की? अब ४९ प्रकार से आलोचना की व्याख्या कर रहे हैं। भावों का कितना अनुसरण कर पाता है, जब क्रियाओं की आलोचना जीव नहीं कर पाता है?

एक शब्द साधुओं के लिए जहर है। कौनसा? 'चलता है'। कोई दोष हो गया, 'क्या महाराज से छोटी–छोटी बातें बोलूँ, इतना तो चलता है।' भैया! आपको पता होना चाहिए कि बट का बीज छोटा होता है। फूँको तो उड़ जाता है। लेकिन पर्वत पर गिर जाए तो पर्वत के टुकड़े कर देता है। जब अंकुरित होता है तो पर्वत को फाड़ देता है। किसी मंदिर के शिखर पर, बड़े–बड़े भवन पर उग जाए तो उसे नीचे ही आना पड़ जाएगा। **जैसे शिखर पर उगा बट का बीज शिखर को नष्ट कर देता है, वैसे–ही चारित्र की शिखर पर उगा दोष का दाना तेरे चारित्र रूपी शिखर को नष्ट कर देगा, क्षत–विक्षत कर देगा।** भवन का स्वामी भीतर तो सफाई करता ही है, बाहर भी देखता रहता है कि कोई पौधा तो नहीं उग रहा है। ऐसे–ही तत्त्वज्ञानी जीव अपने संयमरूपी भवन की सुरक्षा के लिए सावधान रहता है, कहीं काषायिक भाव के पौधे तो नहीं उग रहे हैं? विकारों के पौधे तो नहीं उग रहे हैं? शिथिलाचार के अंकुरण तो नहीं हो रहे हैं? शीघ्र निकाल देता है। ज्ञानी! आत्मकल्याण की दृष्टि है तो छोटी–सी गलती को पर्वत के समान स्वीकारना चाहिए, नहीं–तो चारित्र समाप्त हो जाएगा। भैया! छिपाने का काम नहीं है, ये गुरु का काम है कि शिष्य ने जो आलोचना की है, उसको अंदर पी जाए। ऐसा तो नहीं कि जब–तक शिष्य तुम्हारे मन का चल रहा था तब–तक सब दोष छिपा कर रखे और जब प्रतिकूल हो गया तो दोष प्रकट कर दिए। ये संघ क्यों टूटते हैं? विघटन क्यों होता है? एक शिष्य के द्वारा दूसरे शिष्य के बारे में सुनकरके शिष्य को डाँटना, ये आचार्यों की बहुत बड़ी अज्ञानता है। कुछ ऐसे अज्ञानी शिष्य

भी होते हैं, जो ये सोचते हैं कि मुझे इसलिए डाँटा जा रहा है कि मुझे देखकर दूसरे शिष्य सुधर जाएँ।

ज्ञानी! सोच को ठीक करो। तुम्हारी ही गलती पर तुम्हें डाँटा जा रहा है। भैया! आपसे कोई भूल हुई है, उसका तो प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाना, पर ये लपेटा–लपेटी नहीं करना कि मैं ही क्यों, अमुख सागर क्यों नहीं? ऐसा शिष्य कभी पवित्र नहीं हो पाएगा। क्यों? वह अपनी शुद्धि नहीं चाहता है, दूसरे की अशुद्धि देखकर के अपने को संतुष्ट कर रहा है कि ये भी तो कर रहे हैं, मैं कोई गलत नहीं कर रहा हूँ। लपेटने की आदत जिसकी पड़ जाए, वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता है। भैया! जिन कपड़ों को पहन कर सो जाता है तू, उनमें सिकुड़न हो जाती है। उन्हें पहनकर तू कहीं बाहर नहीं जाता है। उन्हें शुद्ध करके तुरंत प्रेस करवाता है। भाई! प्रेस करने का क्या उद्देश्य? एकदम ताजगी रहती है। **जो व्यक्ति आलोचना नहीं कर रहा है, प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान नहीं कर रहा है, उसके दोषों में कपड़ों–जैसी सिकुड़न होती है। जैसे कपड़ों की सिकुड़न शोभाविहीन हो जाती है, ऐसे–ही आलोचना विहीन शिष्य के परिणाम सिकुड़ जाते हैं। जब सिकुड़े कपड़े पहनकर तू बाहर नहीं जाता है, तो मुक्तिवधू के पास कैसे जा सकता है? जिसके परिणामों में सिकुड़न है, वह मुक्तिवधू का वरण नहीं कर सकता है।** आलोचना का भाव ही प्रेम है।

भैया! अनंत काल से मायाचारी की है, सो पञ्चम काल में आए हैं। जिस युवावस्था में लोग नारियों को निहारते हों, ऐसे काल में आप जिनधर्म की ओर बढ़ रहे हो, अपने दोष की आलोचना करके अपने पापों को धो रहे हो। कठोर–से–कठोर प्रायश्चित्त में भी करुणादृष्टि है, ज्ञानी! पुनः दीक्षा ही क्यों न दी जा रही हो। कोई पाप करता है तो अब तू घर भाग जा। नहीं, छेदोपस्थापना। जब शिष्य छेदोपस्थापना भी नहीं करना चाह रहा है, तब भी आचार्य उसे अपना शत्रु नहीं बनाएँगे। करुणादृष्टि से देखेंगे। क्या करूँ इस बेचारे के उपादान की योग्यता ही नहीं है इतनी पवित्र। उस समय आचार्य खेद–खिन्न भी नहीं होते कि हमारा एक शिष्य कम हो गया। ये तो संसार की दशा है। लोग आते–जाते रहते हैं, आते जाते रहेंगे, परंतु उस समय आपके भाव क्या हों? क्या कर सकते हैं? यदि मैं केवली होता, तो मैं और–अच्छे से समझा सकता, पर मैं छद्मस्थ ही तो हूँ। मैं और–क्या समझा सकता हूँ? मिथ्यात्व–परिणामी को भगवान् नहीं समझा सके, मरीचि चला गया था कि नहीं समवसरण से? ऐसे–ही कोई शिष्य भाग भी जाए तो आचार्यों को उनके प्रति अशुभ भाव नहीं लाना चाहिए। बालकबत् आलोचना करना। निश्चल, निष्कषाय, निर्ममत्व भाव

से निज की आलोचना करना, निज की निंदा करना। मोक्षमार्ग कठिन नहीं है। एक बार दोष छिपा लिया, तो वह आदत में आ गया।

ज्ञानियो! जो दोष छिपाता ही रहेगा, इसका निर्णय सल्लेखना का समय बताएगा। **जिस जीव का संक्लेश परिणाम से मरण हो रहा है, जिस जीव का विशुद्धि का अभाव होकरके मरण हो रहा है, हाय–हाय करके मर रहा है, उसने जीवन में साधना के काल में नियम से विराधना की है।** सहज, न स्वयं को कष्ट न दूसरे को परेशानी, और आत्मा अरहंत की आराधना करते हुए चली जाए, फिर वहाँ गूँजेगा कि जो अरहंतों की गति हुई है, हे प्रभु! वह शाश्वत गति मेरी भी हो। चौबीस घंटे में एक बार तो कम–से–कम ये चिंतन हृदय में गूँजना चाहिए। श्रमणो! मेरे से भी ममत्व छोड़ दो और दूसरे क्या कर रहे हैं इस बात को भूल जाओ, क्योंकि अपन सभी जब घर से निकले थे, तब किसी सागर से परिचित नहीं थे, आप मात्र आत्मकल्याण के परिचय के लिए आए थे। उसी को लक्ष्य में रखो।

भैया! गिलास में पानी है कि पानी में गिलास है? गिलास में पानी है, तो जहाँ से पानी प्रारंभ होता है, वहाँ गिलास होता है क्या? और जहाँ गिलास होता है वहाँ पानी होता है क्या? नहीं होता। मेरे मित्र! इसी दृष्टि पर दृष्टि रखना। ऐसे–ही जहाँ तू है, वहाँ तेरे माता–पिता नहीं हैं और जहाँ माता–पिता हैं, वहाँ तू नहीं है, फिर ये गुरुभाई मेरे कहाँ से हो गए? व्यवहार से जैसे गिलास में पानी है, ऐसे–ही हम संघ में व्यवहार से हैं, पर मैं कहीं किसी के साथ नहीं हूँ। मैं तो जो हूँ, सो हूँ। संघ में रहकर संघ को संग नहीं मानता। भैया! हर व्यक्ति की प्रवृत्ति एक–सी नहीं हो सकती। मित्र! जब आपकी दोनों आँखें एक–सी नहीं हैं, आप किसी से भी दिखवा लें, सभी की दोनों आँखें एक–सी नहीं होती हैं। जब तेरी दोनों आँखें एक–सी नहीं होती हैं, जब तेरी दोनों आँखों के चश्मे के नंबर एक–से नहीं हैं, तो तू दूसरे की आत्मा के नंबर अपने–जैसे क्यों लगाना चाह रहा है? भावों के नंबर एक–से देखना चाह रहा है, जो कि संभव नहीं है पञ्चम काल में। मेरे मित्र! यह जगत् है, सबके साथ रहो, देखते रहो, जानते रहो, पर वस्तुस्वरूप तो 'जो है, सो है' आचार्यभगवन् ने सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार में जो प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त आलोचना की व्याख्या की है, वह लौकिक नहीं है, अलौकिक है, अनूठी है। न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, न करते हुए की अनुमोदना करता हूँ, मन–वचन–काय से। मन से और वचन से क्या–क्या नहीं करा दिया? दूसरे के लिए क्या–क्या मन में सोच लिया? क्या–क्या वचन से नहीं बोल दिया? नहीं मित्र! शरीर में करने की ताकत नहीं है, तो कम–से–कम मन से करना बंद कर दो। कितने ऐसे लोग

हैं, जो अपाहिज हैं, चलते–फिरते नहीं बनता, फिर भी कितने लोगों की मुख से बोलकर हत्या करा देते हैं। मन से सोच करके कितने जीवों को मार देते हैं।

ज्ञानी! जब तन से सामर्थ्य समाप्त हो चुकी, तू कर कुछ नहीं पा रहा, तो मन और वचन को भी विराम दे दे, तो तेरी समाधि का स्थान तैयार हो जाए। देश, समाज, राष्ट्र कब और किसके होंगे? आपको देह का परिवर्तन होगा, तो क्षेत्र का भी परिवर्तन हो जाएगा। आज इस देश, क्षेत्र, कुल में जन्मे, कल कहीं और जन्मोगे। कोई नियत है क्या? सब विकल्प छोड़ दो। **आनंदमय जीवन जीने के लिए कोई दृष्टि है तो उसका नाम साधुजीवन है। यथार्थ मानिये, बहुत सारा सुख जीव के पास है, पर जीव वेदन नहीं कर पाता है।** भैया! जितनी साता तेरी सत्ता में है, उस साता को भी तू साता से नहीं भोग रहा है। भैया! बंद कमरे में बंद होकर रहो, पर बंध मत करो। ऐसा जीवन जी सकते हो क्या? यही साधुजीवन है। भैया ९९ प्रतिशत परदृष्टि वाले ही जीव होते हैं जो यही सोचते रहते हैं कि अमुख ने ऐसा किया वैसा किया। भैया जब टेंशन में होता है तो इतना बड़ा चेहरा तनक–सा हो जाता है। कितना ही गोरा हो, टेंशन में चेहरा साँवला हो जाता है। कितना ही काला व्यक्ति हो, चित्त प्रसन्न है तो उसका चेहरा चमकता दिखता है। भैया! शरीर से कुछ नहीं होता, भावों की विशुद्धि ही सबकुछ है। मुस्करा लो, भैया! जिस दिन दूसरों के बारे में सोचना प्रारंभ कर दोगे, उस दिन मुस्कराहट समाप्त। चिंता होते ही सबसे पहले चेहरे की मुस्कराहट जलती है, एक समय में दो पर्याय नहीं होती हैं।

इस प्रकार भूतकाल, वर्तमान काल, भविष्यत काल संबंधी समस्त कर्मों को कृत–कारित–अनुमोदना तथा मन–वचन–काय से त्याग करके मैं श्रेष्ठ–उत्कृष्ट निष्कर्म– निष्कलंक अवस्था का अवलंबन करता हूँ। कर्म के करने, कराने से एवं अनुमोदना से संसार का भ्रमण होता है, इसलिए कर्मों में प्रवृत्ति से विराम लो, यही पुरुषार्थ करो और जो कर्म किए हैं उनका प्रायश्चित्त ग्रहण करो।

जो प्रतिक्रमण किया है कृत, कारित, अनुमोदना, मन– वचन– काय से। कितने ही प्रकार से। जीव ने भूत में जो अतिक्रमण किया, इनका वर्तमान में निराकरण करना प्रतिक्रमण है। आचार्य महाराज ४९ प्रकार के प्रतिक्रमण समझा रहे हैं। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कलशों के माध्यम से इसको समझा रहे हैं।

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२६।।

मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से कर्म किए हैं, उन समस्त कर्मों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। मैं समस्त कर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरंतर वरत रहा हूँ। खोटे कर्म किसी से भी हो जाएँ, लेकिन मंद कषाय परिणाम होते हैं तब लगता है कि ये क्या हो गया? जैसे शरीर में लगी चोट तब–तक पीड़ा देती है, जब–तक लगी हो, इसके बाद शांत हो जाती है। शरीर पर पत्थर फेंककर कोई मार दे तो जब लगता है तब पीड़ा होती है, बाद में धीरे–धीरे ठीक हो जाती है।

संयम के पथ पर आरूढ़ हुआ जीव जब पतित होता है, जब– जब तत्त्व की व्याख्या चलती है तब मन कहता है कि मैं भी इनके साथ रह पाता। वे जीव अच्छे हैं, संयम से गिरने पर भी संयम से दूर नहीं हैं। भावना भाते रहो, कभी भी भावना मत छोड़ो। भैया! ऐसे लोग भी हैं जो कभी संयमी थे, पर बेचारे अशुभ कर्म से अथवा अशुभ कर्म के उदय से या अशुभ कर्म करने से संयम से दूर हो गए। वे अब साधु को देखना पसंद नहीं करते।

मोक्षमार्ग में नट से भी अधिक संतुलन बनाने की आवश्यकता है। वहाँ तो दो बाँसों पर रस्सी थी, यहाँ तो ज्ञानी अपने भावों को, राग–द्वेष के स्तंभों के बीच कैसे सँभालता है। युवाओ! युवावस्था की तीव्रता को नहीं सँभाल पाओ तो कम–से–कम इतना सोचते रहना कि मैं क्या कर रहा हूँ? **मदिरा का नशा घंटे दो घंटे में चला जाता है, पर मोह का मद जीव का भव–भव में नहीं उतरता है। इसलिए पहले मोह को मंद करो।** आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि मैंने मोह से अंधे होकर, अज्ञान से युक्त होकर जो कर्म किए हैं। जीवन की अंतिम श्वास के पूर्व ऐसा भाव करना कि मेरी अंतिम श्वास इनका प्रतिक्रमण करके निकले। सल्लेखना के समय अंतिम प्रतिक्रमण होता है। धन्य है उन युवाओं को जिन्होंने मुनिराज के समक्ष निंदा की है, आलोचना की है। अपनी मृत्यु होने के पहले आज तक जो भी खोटे काम हो गए हों, प्रायश्चित्त ले लेना, प्रतिक्रमण कर लेना।

साधु जितना प्रतिक्रमण– प्रायश्चित्त करता है, उतना विशुद्ध होता है। अपने द्वारा हुई गलतियों को नहीं छिपाना। भावों को साफ करो, नहीं–तो दुर्गंध शुरू हो जाएगी। उसके लिए ही प्रतिक्रमण है। आचार्य भगवन् कहते हैं हे प्रभु! मेरे से जो भी दुष्कर्म हुए हैं, उन संपूर्ण दुष्कर्मों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। मैं प्रतिक्रमण करके निष्कर्म होकरके आत्मा के चैतन्य स्वरूप में आत्मा से ही नित्य निज आत्मा में ही निवास करता हूँ।

आचार्य महाराज ४९ भंगों का वर्णन कर रहे हैं।

१. अतीतकाल में जो मैंने कर्म किया, कराया और दूसरे से करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से, काय से, ये मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
२. अतीतकाल में मैंने जो किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
३. जो मैंने किया कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४. जो मैंने किया कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वचन तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
५. अतीतकाल में जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
६. जो मैंने किया, किराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
७. जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
८. जो मैंने किया और कराया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
९. जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से और काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
१०. जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
११. अतीतकाल में जो मैंने किया और कराया, मन से तथा वचन से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
१२. जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
१३. जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
१४. जो मैंने किया और कराया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
१५. जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
१६. जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा

दुष्कृत मिथ्या हो।

१७. जो मैंने किया और कराया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

१८. जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

१९. जो मैंने कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

२०. अतीतकाल में जो मैंने किया और कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

२१. जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

२२. जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

२३. जो मैंने किया और कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

२४. जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

२५. जो मैंने कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

२६. जो मैंने किया और कराया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

२७. जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

२८. जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

२९. अतीतकाल में जो मैंने किया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

३०. जो मैंने कराया मन से, वचन से तथा काय से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

३१. जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से, काय से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

३२. अतीतकाल में जो मैंने किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

३३. जो मैंने कराया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

३४. जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

३५. जो मैंने किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

३६. जो मैंने कराया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
३७. जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
३८. जो मैंने किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
३९. जो मैंने कराया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४०. जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४१. अतीतकाल में जो मैंने किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४२. जो मैंने कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४३. जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४४. जो मैंने किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४५. जो मैंने कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४६. जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४७. जो मैंने किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४८. जो मैंने कराया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।
४९. जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

भूतकाल में किए गए कर्म को ४९ भंगपूर्वक मिथ्या करने वाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर निरंतर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करता है। जैसे पहले किसी ने धन कमाया और उसके प्रति ममत्व भाव छोड़ दिया, भोगने का भाव छोड़ दिया, तो वह नहीं–कमाने के समान है। इसी तरह जीव ने जो पहले कर्मबंध किया था, उसको अहित रूप जान करके उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फल में लीन नहीं हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बाँधा था वह नहीं–बाँधने के समान है। इस प्रकार प्रतिक्रमण–कल्प पूरा हुआ, ऐसा जानना चाहिए।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी टीका में आलोचना–कल्प का वर्णन कर रहे हैं–

१. वर्तमान में मैं कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से।
२. मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से तथा

वचन से।

३. मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से तथा काय से।

४. मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ वचन से तथा काय से।

५. मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से।

६. मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ वचन से।

७. मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ काय से।

८. न मैं करता हूँ, न कराता हूँ मन से, वचन से, काय से।

९. मैं न तो करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से, वचन से तथा काय से।

१०. मैं न तो करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से, वचन से तथा काय से।

११. न मैं करता हूँ, न कराता हूँ मन से तथा वचन से।

१२. न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से तथा वचन से।

१३. न तो मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

१४. न मैं करता हूँ, न कराता हूँ मन से तथा काय से।

१५. न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से तथा काय से।

१६. न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से तथा काय से।

१७. न मैं करता हूँ, न कराता हूँ वचन से काय से।

१८. न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ वचन से तथा काय से।

१९. न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ वचन से तथा काय से।

२०. न तो मैं करता हूँ, न कराता हूँ मन से।

२१. न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से।

२२. न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से।

२३. न मैं करता हूँ, न कराता हूँ वचन से।

२४. न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ वचन से।

२५. न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ वचन से।
२६. न मैं करता हूँ, न कराता हूँ काय से।
२७. न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ काय से।
२८. न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ काय से।
२९. न मैं करता हूँ मन से, वचन से तथा काय से।
३०. न मैं कराता हूँ मन से, वचन से तथा काय से।
३१. मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन नहीं करता मन से, वचन से तथा काय से।
३२. न तो मैं करता हूँ मन से तथा वचन से।
३३. न मैं कराता हूँ मन से तथा वचन से।
३४. न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से तथा वचन से।
३५. न मैं करता हूँ मन से तथा काय से।
३६. न मैं कराता हूँ मन से तथा काय से।
३७. न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से तथा काय से।
३८. न मैं करता हूँ वचन से तथा काय से।
३९. न मैं कराता हूँ वचन से तथा काय से।
४०. न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ वचन से तथा काय से।
४१. न मैं करता हूँ मन से।
४२. न मैं कराता हूँ मन से।
४३. न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से।
४४. न मैं करता हूँ वचन से।
४५. न मैं कराता हूँ वचन से।
४६. न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ वचन से।
४७. न मैं करता हूँ काय से।
४८. न मैं कराता हूँ काय से।
४९. न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ काय से।

इस प्रकार आलोचना के ४९ भंगों का कथन हुआ। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी इसी को कलश रूप में कह रहे हैं।

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२७।।

मोह के विलास में फैला हुआ जो उदय में आता हुआ कर्म है, उन सबकी आलोचना करके मैं निष्कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरंतर वरत रहा हूँ। यह निश्चय चारित्र को अंगीकार करने वाले का कथन है।

ज्ञानी यह विचार करता है कि वर्तमानकाल में जो कार्य उदय में आ रहे हैं, यह पहले जो कर्म बाँधे थे उनका कार्य है। इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ। मैं तो शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा हूँ। आत्मा की ज्ञान–दर्शनरूप प्रवृत्ति है। अत: मैं उदय में आने वाले कर्मों का ज्ञाता–दृष्टा मात्र हूँ। मैं अपने स्वरूप में ही हूँ। ऐसा विचार करना निश्चय चारित्र है।

आत्मा निज स्वभाव से परिणत असहायभूत है, निर्बन्ध है। उस परम सत्य के तत्त्व की व्याख्या करते हुए आचार्यभगवन् प्रत्याख्यान की विधि का वर्णन कर रहे हैं। प्रत्याख्यान करने वाला जीव कहता है कि

१. मैं भविष्य में कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से, वचन से तथा काय से।
२. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से तथा वचन से।
३. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से तथा काय से।
४. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से तथा काय से।
५. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से।
६. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से।
७. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा काय से।
८. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा मन से, वचन से तथा काय से।
९. मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से, वचन से तथा काय से।

१०. मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से, वचन से तथा काय से।
११. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा मन से तथा वचन से।
१२. मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से वचन से।
१३. मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से तथा वचन से।
१४. मैं न तो करूँगा न कराऊँगा मन से तथा काय से।
१५. मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से तथा काय से।
१६. मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से काय से।
१७. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा वचन से तथा काय से।
१८. मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से तथा काय से।
१९. मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से तथा काय से।
२०. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा मन से।
२१. मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से।
२२. मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से।
२३. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा वचन से।
२४. मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से।
२५. मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से।
२६. मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा काय से।
२७. मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा काय से।
२८. मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा काय से।
२९. मैं न तो करूँगा मन से, वचन से तथा काय से।
३०. मैं न तो कराऊँगा मन से तथा वचन से।
३१. मैं न तो करूँगा मन से तथा वचन से।
३२. मैं न तो कराऊँगा मन से तथा वचन से।
३३. मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से तथा वचन से।
३४. मैं न तो करूँगा मन से तथा काय से।
३५. मैं न तो करूँगा मन से तथा काय से।
३६. मैं न तो कराऊँगा मन से तथा काय से।

३७. मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से तथा काय से।
३८. मैं न तो करूँगा वचन से तथा काय से।
३९. मैं न तो कराऊँगा वचन से तथा काय से।
४०. मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से तथा काय से।
४१. मैं न तो करूँगा मन से।
४२. मैं न तो कराऊँगा मन से।
४३. मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से।
४४. मैं न तो करूँगा वचन से।
४५. मैं न तो कराऊँगा वचन से।
४६. मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से।
४७. मैं न तो करूँगा काय से।
४८. मैं न तो कराऊँगा काय से।
४९. मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा काय से।

इस प्रकार से प्रतिक्रमण के समान ही प्रत्याख्यान के ४९ भंगों का वर्णन हुआ। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कलश में कह रहे हैं–

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२८।।

प्रत्याख्यान करने वाला कह रहा है कि भविष्य के समस्त कर्मों का त्याग करके, समस्त मोह को नष्ट करता हूँ। इससे मैं समस्त कर्मों से रहित होकर चैतन्यस्वरूप आत्मा में नित्य ही वर्तता हूँ। यह निश्चय चारित्र की अपेक्षा कथन है। **समस्त आगामी कर्मों से रहित, चैतन्य की प्रवृत्ति रूप अपने शुद्धोपयोग में रहना, सो प्रत्याख्यान है।**

ज्ञानी! व्यवहार चारित्र में प्रतिज्ञा में जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान होता है। निश्चय चारित्र की प्रधानता से शुद्धोपयोग के विपरीत जितने कर्म हैं, वे सब आत्मा में दोष स्वरूप हैं। इस प्रकार प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ, ऐसा जानना चाहिए।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी समस्त कर्मों के त्याग की भावना को नचाने संबंधी कथन को पूरा करते हुए कह रहे हैं–

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे।।२२९।।

संपूर्ण विषय जो तीनों कालों में हमने ग्रहण किए हैं, कर्म का संचय किया है, ऐसे संपूर्ण कर्मों को छोड़कर उनसे दूर होकर के तीनों कालों के कर्मों को अर्थात् भूत के भी और वर्तमान के भी तथा भविष्य में करने का प्रत्याख्यान कर दिया है। ऐसे तीनों काल संबंधित (त्रैकालिक) कर्मों का शुद्ध नय का आलम्बन लेकर, कर्मों को छोड़करके, आत्मस्वरूप में आत्मा को निष्कर्ष करके विलीन हुआ। शुद्धनय का आलम्बन करके शुद्धनय में विलीन हो। धन्य हो उस योगी के लिए जो मोह को विलीन करता है। वंदना करो उस महाश्रमण की जो अटवी में बैठ करके, नदी तट पर बैठ करके जगत् के संपूर्ण द्रव्यों को मात्र ज्ञातादृष्टा की दृष्टि से निहारते हैं। किंचित् भी पर में हेय–उपादेय दृष्टि नहीं है। **उतने ही समय का अपना मुनिपना है जितने समय परद्रव्य में उपादेयता नहीं है। जितने समय तक परद्रव्य में उपादेयता नहीं है, उतना ही वीतराग भाव है। यदि परद्रव्य में उपादेयता है, तो निज में नियम से निज के लिए हेय बुद्धि है।** कोई जीव पुण्य की प्रबलता में परवस्तु में उपादेय बुद्धि लगाए हुए है, तो वो समझ नहीं पा रहा है। इतनी स्थूल बुद्धि चल रही है कि उसमें निज की हेयता उसको समझ में नहीं आ रही है। पर यथार्थ मानना कि निज की हेयता ही पर में उपादेयता है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी समस्त कर्मफल संन्यास की भावना को बताते हुए कलश कह रहे हैं–

विगलंतु कर्म विषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम्।।२३०।।

समस्त कर्मफल की संन्यास भावना करने वाला कहता है कि कर्मरूपी विषवृक्ष के फल मेरे द्वारा बिना भोगे ही खिर जाएँ। जो कर्म उदय में आ रहे हैं, उनका मैं ज्ञाता–दृष्टा मात्र रहूँ, भोक्ता न बनूँ। अर्थात् वे उदय में आने वाले कर्म मेरे बिना–भोगे हुए ही समाप्त हो जाएँ।

किसी ने घर से संन्यास ले लिया, किसी ने राजनीति से ले लिया, यहाँ इस संबंध की चर्चा नहीं है। यदि तुम भीतर बैठे विषय–कषाय से संन्यास ले रहे हो तो–ही संन्यास है। संपूर्ण तत्त्व के फल की भावना से संन्यास लेने को आचार्य महाराज कलश में कह रहे हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, इनके भेद–प्रभेद करें तो १४८ भेद होते हैं। ज्ञानी इन समस्त कर्मों के फल को त्यागने की भावना करता है। कर्मों के जो फल हैं, वो विषवृक्ष के ही फल हैं। उसकी भावना इन कर्मफलों

को भोगने की बिल्कुल नहीं होती है। जीव का जब सातावेदनीय का उदय होता है, तो पुण्य के कारण बहुत–सी सामग्री भोगने को मिलती है, परंतु ज्ञानी उनको भी विषफल के समान ही मानता है। आचार्य महाराज टीका में १४८ कर्मों के विषय में कथन करते हैं।

पण णव दुअट्ठवीसा चउतिय णउदीय दुण्णि पंचेव।
बावण्णहीण वियसय पयडिविणासेणहोंति ते सिद्धा।।

ज्ञानावरण कर्म की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाइस, आयु की चार, नाम की तिरानवें, गोत्र की दो, अन्तराय की पाँच इस प्रकार १४८ कर्मप्रकृतियाँ होती हैं। इन प्रकृतियों का नाश कर सिद्ध होते हैं। इस प्रकार १४८ कर्म की उत्तरप्रकृतियों के फल के त्याग की भावना करना चाहिए। तीनलोक और तीन काल से संबंध रखने वाले ऐसे जो मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना, ख्याति, पूजा, लाभ, देखे, सुने, अनुभव किए भोगों की आकांक्षारूप जो समस्त परद्रव्य हैं उनके आलम्बन से होने वाले शुभ–अशुभ संकल्प–विकल्प से रहित होना चाहिए।

जब–तक यह जीव कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से दूर नहीं होता, तब–तक ज्ञानचेतना पर नहीं पहुँच पाता है। क्योंकि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ये दोनों अज्ञानरूप हैं। ज्ञानचेतना शुद्ध ज्ञानरूप है। इन दोनों में आपस में रात–दिन का भेद है, जब यह जीव समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करता है तो एकमात्र चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है। अविरत, देशविरत और प्रमत्त दशा वाला ज्ञान–श्रद्धान में निरंतर यह भावना रखता है। जब जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्त कर एकाग्रचित्त हो ध्यान लगाता है, केवल चैतन्य मात्र अवस्था में उपयोग लगाता है, तब निश्चय चारित्र रूप शुद्धोपयोग भाव से श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी इसी विषय को कलशों द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं–

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता।२३१।।
यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरंसः।।२३२।।
अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।

पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतनां स्वां
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु।।२३३।।
इतः पदार्थ प्रथनावगुंठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलंज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते।।२३४।।

सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञानचेतना की भावना करने वाला ज्ञानी कहता है कि मैं सकल कर्मों के फल का त्याग करने से मैं चैतन्य लक्षण वाले आत्मतत्त्व को ही भोगता हूँ। मेरे यह काल की आवली अनन्त प्रवाह रूप है, वह आत्मतत्त्व के उपयोग में लगी रहे। मेरे उपयोग की प्रवृत्ति अन्य में नहीं जाए। अगर ऐसी भावना नहीं होती है, तो व्यवहार चारित्र शुभकर्म को ही बाँधता है, यह मोक्ष का उपाय नहीं बन पाता है। **ज्ञानचेतना की भावना का फल यह है कि जीव अत्यंत तृप्त रहता है। अन्य की तृष्णा नहीं करता है। ज्ञानचेतना ही भव का अंत करनेवाली है, परमानंद को देनेवाली है।**

आगामी कलश में आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो व्यक्ति पूर्वकाल में अज्ञान के कारण कर्म करता है, उसके उदय आने पर स्वामी होकर नहीं भोगता है और निश्चय से अपने आत्मस्वरूप में तृप्त रहता है। किसी भी अन्य प्रकार की तृष्णा नहीं करता है। वह वर्त्तमान काल में एवं आगामी काल में रमणीय कर्मों से रहित सुखमय, स्वाधीन स्वरूप दशा को प्राप्त करता है। ऐसी दशा उसने संसार–अवस्था में पहले कभी नहीं पाई थी। इस ज्ञानचेतना के फल से आगामी काल में केवलज्ञान प्राप्त कर सब कर्मों से रहित अवस्था मोक्ष को प्राप्त करता है।

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना से ज्ञानचेतना–स्वभाव को पूर्ण करें। सदाकाल आनंदरूप रहता है। ज्ञानीजन कर्म से तथा कर्म के फल से अत्यंत विरक्त भावना को निरंतर भाता है और समस्त अज्ञान चेतना का अच्छी तरह नाश कर लेता है। अपने निज रस से प्राप्त स्वभावरूप ज्ञान चेतना के आनंद का अमृत पान करता है। यहाँ सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार का कथन चल रहा है। इसमें ज्ञान को कर्त्ता–भोक्तापने से भिन्न बताया गया है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ज्ञान को सब वस्तुओं से पृथक् दिखलाते हैं। सब द्रव्य के भावों से भी पृथक् बतलाते हैं। सब वस्तुओं के भिन्नत्व के निश्चय से अलग किया गया ज्ञान निश्चल होता है। ज्ञान सब आकुलता से रहित होता है, ऐसा जानना चाहिए। ज्ञान द्वारा ज्ञेयों को जानने पर भी ज्ञेयों का नहीं हो जाता, ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, ज्ञेयों से पृथक् ही रहता है।

आचार्यभगवंत संपूर्ण परद्रव्यों का प्रत्याख्यान करने की व्याख्या कर रहे हैं। सकल कर्म

संन्यास का वर्णन कर रहे हैं। संपूर्ण न्यासों से, संपूर्ण स्थापनाओं से, ट्रस्ट से, निक्षेप से अपने को भिन्न कर पाना, ये बहुत बड़ी साधना है। संन्यास यानि कार्य करने से संन्यास लेने वाले संन्यासी बहुत हैं देश में। घूमने वाले संन्यासी बहुत हैं। अपनी कषायों से संन्यास लेने वाले संन्यासी बहुत कम हैं। किसी ने घर से संन्यास लिया, कोई राजनीति से संन्यास ले रहा है, लेकिन भीतर बैठे विषय–कषायों की परिणति से संन्यास ले रहा है कि नहीं ले रहा है? जो तूने संन्यास लिया है, उससे संन्यास हुआ कि नहीं हुआ? मैंने घर छोड़ा, मैं संन्यासी हो चुका हूँ। नहीं, अभी और संन्यासी होना है। जो तू छोड़कर बैठा है, उस पर तेरा संन्यास नहीं है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी आत्मख्याति टीका में कह रहे हैं 'सकल कर्मफल संन्यास भावना।'

आठ कर्मों के १४८ भंग हैं। कर्मों की उन १४८ प्रकृतियों के परभूत फल को तूने कैसी आदत से भोगा है। एक वर्ष के उपवास, एक माह के उपवास। रसना इन्द्रिय का भोग छोड़ दिया, उससे आने वाला स्वाद भी छोड़ दिया, लेकिन इसमें ध्यान तपस्या से मेरा प्रत्याख्यान हो रहा कि नहीं? मेरे मित्र! उस रस को तूने रसना से ग्रहण नहीं किया, लेकिन मानकषाय का रस यश के रूप में अवश्य स्वीकार कर रहा है। उस मान का जगत् में क्या आनंद है। उस सम्मान में लवलीन हो रहा था। सभी इंद्रियों के विषय छोड़कर बैठा था, मात्र मानकषाय का रसपान कर रहा था। आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों से आप जो रस लाए, वह रसना से चखा, लेकिन यश और मान की पुष्टि में स्वभाव से सर्वांग में इस भूख में व्यक्ति घंटों–घंटों भूखा बैठ सकता है, आहार को नहीं निकलता, मानकषाय का भोग करो। ज्ञानियो! इस सत्य में प्रवेश करो। हे श्रमणो! पाँच इन्द्रिय के द्रव्य भोगों का प्रत्याख्यान कर लिया है। जिस विषय को आज तक हमने सोचा नहीं था, आज उसी विषय की चर्चा कर लो। चिंतन में भी नहीं लाए। अरे! मैंने इसका संन्यास ही नहीं किया। मेरा यश फैले, ऐसा भाव मन में आ रहा है, ये भी कर्म भोग है। मेरा ज्ञान बढ़ जाए, ये भी कर्म भोग है। मेरे अज्ञान का नाश हो जाए, ये भी कर्म भोग है। कौनसे अज्ञान का नाश हो जाए? लोक में जिसे अज्ञानी कहते हैं, मैं ही शास्त्रों का ज्ञानी हो जाऊँ, मैं ही पण्डित हो जाऊँ, लोक मुझे स्वीकार करे, ऐसा भाव मन में आ रहा है। बस, मित्र! कर्मफल सिद्धांत से संन्यास पाऊँ। मेरा पुण्य है, मैं आनंद मय हूँ।

ज्ञानी! तू पुण्य का भोग कर रहा है। आनंद में क्या मनुष्यपर्याय का भोग नहीं चल रहा? क्या निज के सुस्वर नाम के नामकर्म का भोग नहीं चल रहा? क्या निज की यश:कीर्ति का भोग नहीं चल रहा है? ज्ञानी! जितनी प्रशस्त परिणतियाँ हैं, उन सबका परिणमन तो तू कर ही रहा

है। जो भोग में अनुभूति चल रही है, उसमें आस्रव–बंध भी चल रहा है। भैया! मुझे कोई चिंता नहीं है। मेरे माता–पिता ने तो इतना कमा कर रखा है कि हम तो शांति से रह रहे हैं, शांति का जीवन जी रहे हैं। हे जीव! यदि तू ऐसा भी चिंतन कर रहा है। कुछ भी नहीं कमा रहा है। कुछ व्यापार भी नहीं कर रहा है। मैं तो पापकर्मों से दूर हूँ। पाप भोगों से दूर हूँ। ज्ञानी! तू पाप कर्मों की क्रियाओं से दूर अवश्य है, पर पुण्य के फल का उपभोग तो कर रहा है। उसमें आकर फूल रहा है। उससे पापास्रव होगा कि नहीं? पूर्व का द्रव्य रखा था, सो भोग लो। क्या नारी–भोग ही भोग है? क्या पुरुष–भोग ही भोग है? इसको छोड़ने के बाद भोग नहीं है क्या? यदि स्त्री–पुरुष के संभोग मात्र को भोग मानते हो, तो सोलह स्वर्ग के ऊपर जितने देव हैं वहाँ **'परेऽप्रवीचारः'** वहाँ प्रवीचार ही नहीं होता है क्या? किसी एक भोग को छोड़ने से वह संन्यासी हो जाएगा क्या? भोगातीत हो पाया क्या? सर्वार्थसिद्धि के देव भोगातीत हैं क्या? हे जीव! तैंतीस सागर तक देवायु का भोग कर रहा है। **जो संतोष है, जो आह्लाद है, वह सब भोग है, पुण्य भोग है। मेरे पास इतने शिष्य हैं, सभी मेरी आज्ञा में चलते हैं। अल्प समय में कितने लोग हमारे पास आ गए। वे भी शांत–परिणामी हैं। मैं कितना ज्ञानी हो गया हूँ। ऐसी अनुभूति यदि मैं ले रहा हूँ तो, मित्र! मैं भी अपनी साधना का भोग भोग रहा हूँ।** उससे आनंदित हो रहे हैं। इसलिए कोई भी आचार्यभगवंत अपनी शिष्यमंडली को निहार करके प्रमुदित न हों कि ये सब मेरे हैं। ये सब तेरे सचित्त परिग्रह हैं। उस परिग्रह में अनुरक्त रहेगा, यदि तू ज्यादा गहरे में चला गया और एक अंतर्मुहूर्त के आगे तुम्हारा प्रवेश हो गया, लम्बे कहीं प्रवेश कर गए, तो परिग्रह रहित भी निगोद जा सकते हो।

संपूर्ण रूप से जो तीनों कालों में मैंने कर्म ग्रहण किए हैं, कर्म का संचय किया है, ऐसे संपूर्ण परद्रव्यों को छोड़कर, उनसे दूर होकर, तीनों कालों के द्रव्यों को, मैंने भूत में किए हैं, वर्तमान में कर रहा हूँ, भविष्य में करने का अभी प्रत्याख्यान। अपने चैतन्य आत्मस्वरूप में स्थित होता हूँ। शुद्धनय का आलम्बन करके मोह को विलीन करता हूँ। धन्य हैं, उन योगियों को वंदना करना, उन महाश्रमण की जो अटवी मैं बैठकर, जंगलों में बैठकर, नदी–तट पर बैठकर निहार रहे हैं जगत् के संपूर्ण द्रव्यों को मात्र ज्ञातादृष्टि से। किञ्चित् भी पर में उपादेय दृष्टि जिसकी नहीं है। भाई! उतने ही समय का मुनिपना है, जितने समय पर में उपादेयता नहीं है, उतना ही वीतराग भाव है। यदि पर द्रव्य में उपादेयता नहीं रही तो निज में ही बुद्धि सहज कर लोगे। पर द्रव्य में उपादेय दृष्टि, इसका तात्पर्य क्या है? **जिसकी निज के प्रति हेय बुद्धि है, उसकी पर में उपादेय**

बुद्धि है। जीव पर की उपादेयता में अपनी हेय बुद्धि को समझ नहीं पा रहा है। जैसे कोई पुरुष मोटा है, मस्त है, उस व्यक्ति को जो वर्तमान की सहज मीठी–मीठी मधुर–मधुर ठंडी हवा चल रही है, उसको असर नहीं पड़ रहा है। तो क्या मौसम की शीतलता का अभाव है? उस व्यक्ति को वेदन नहीं हो रहा है, लेकिन शरीर पर प्रभाव पड़ रहा है। मौसम परिवर्तित हो गया तो शरीर दु:खी होने लग गया। आपको भले ही ठंडी नहीं लग रही है, पर शरीर आपका स्वस्थ है, सबल है। आप सामान्य ठंडी को महसूस नहीं कर रहे हो तो क्या ठंडी नहीं है? वहीं दुर्बल व्यक्ति सी–सी करने लग गया। ऐसे–ही कोई जीव पुण्य की प्रबलता में परवस्तु में उपादेय बुद्धि लगा बैठा है। वह समझ नहीं पा रहा है। इतनी स्थूल बुद्धि चल रही है कि उसको निज की हीनता समझ में नहीं आ रही है। पर यथार्थ मानना, निज की हेयता के कारण ही पर में उपादेयता है। शब्दों में नहीं कह पाया। आपके पकड़ने का विषय नहीं बन पाए, लेकिन है प्रतिपल/प्रतिक्षण। निज में दृष्टि होती तो पर में राग आता कैसे? जो मित्र की यादें आती हैं, उसे आप हाथ में पकड़े हो। बिना राग के नहीं पकड़े हो। हे जीव! जब तू लिख रहा था? तो किसको पकड़े था लेखनी को। उपयोग का उपयोग कहाँ था? हे उपयोगी! उपयोगी होकर भी उपयोग पर उपयोग नहीं था, पर पर उपयोग था, निज का उपयोग तेरा हट गया है। पर की उपादेय दृष्टि ने निज को एक क्षण के लिए हीनता रूप में पहुँचा दिया। इतनी कीमती लेखनी हो गई कि तुझे अपनी ध्रुव भगवान्–आत्मा पर लक्ष्य नहीं। आप उसे समझ नहीं पाओ, पकड़ नहीं पाओ, इसका तात्पर्य ये नहीं समझना कि हमारी हेय बुद्धि नहीं है। जब तेरी निज की उपादेय दृष्टि बुद्धि होती है, जब तुझे लेखनी दिख रही थी, उस काल में अन्य कोई द्रव्य तुझे झलक नहीं रहा था। ऐसे–ही निज उपयोग में लीन हुआ योगी, उस काल में जगत् के चराचर द्रव्यों के होने पर भी लेशमात्र भी अपने उपयोग को पर उपयोग में नहीं ले जा रहे थे। उसकी आत्मतत्त्व में उपादेयदृष्टि है।

हे जीव! जैन संप्रदाय के लिए तेरा भाव है, वह भी तेरे निज से हेय दृष्टि। जैनधर्म की प्रभावना के लिए तुम साधना कर रहे हो, वह भी निज से हेय दृष्टि है। उपादेय दृष्टि पर लक्ष्य होना चाहिए। अब मैं धर्म की प्रभावना के लिए नहीं हूँ, जिसे तुम धर्म कह रहे हो, वह संप्रदाय है, आम्नाय है, परंपरा है। **जिसमें मैं दीक्षित हुआ हूँ, वह परंपराभूत है; लेकिन परमार्थ दृष्टि से जो धर्म है, वही धर्म होगा। न पिच्छी तेरा धर्म है, न कमंडल तेरा धर्म है। न दिगम्बरत्व मेरा धर्म है, न श्वेताम्बर मेरा धर्म है। ज्ञान–दर्शन ही मेरा धर्म है।** जब संपूर्ण द्रव्यों से योगी संन्यास ले लेता है, उस काल में उस योगी को मात्र अपना धर्म दिखाई देता है, अन्य कुछ भी

दिखाई नहीं देता है। एक ओर निर्ग्रन्थ श्रमणों के अंदर की अनुभूति चल रही है। मूलाचार जी ग्रंथ में कहा है हे श्रमण! जो निज उपादेयता में लवलीन है, पर से संन्यास ले चुका है। निज सद् में ही न्यास जिसका है। जगत् के अन्य न्यास जिसके निकल चुके हैं, ऐसा संन्यास में लीन हुआ योगी है।

सामने किसी पथिक ने किसी जीव का वध कर दिया तब भी उस विकल्प से दूर है। मैं इसकी रक्षा करने जाऊँ, ये भाव भी उनके निज की हिंसा है। अब मैं परवस्तु में कहीं नहीं हूँ। जगत् में सब मिथ्या है। वस्तुव्यवस्था व्यवस्थित चल रही है। मैं निज में अव्यवस्थित हूँ, ये बहुत बड़ी व्यवस्था व्यवस्थित थी, वह अव्यवस्थित हो रही थी, उसको व्यवस्थित कर रहा हूँ। भाई! जब जाना हो सो तुम चले जाना, पर आज ध्यान से तुम समझ ही लो, सुन ही लो। बहिन की विडम्बना हो गई। माँ–बहिन को डाकू ने लूट लिया। माँ पूछ रही थी कि बेटे! यहाँ कोई लुटेरा तो नहीं है, चोर डाकू तो नहीं है? पूछ लेते हैं, सुख–दु:ख की बातें कर लेते हैं। वहाँ तो सामने महा दु:ख उमड़ रहा था। लेकिन योगी आँख खोलकर नहीं देख रहा था। ये था संन्यास। भैया! यदि आपने किसी पर्वत पर बड़ा–सा महल बनाकर रहना शुरू कर दिया। तू कह ले संन्यासी, पर मैं तो नहीं कह पाऊँगा उसे संन्यासी। पर में न्यास, जिसका ट्रस्टों में उपयोग जा रहा है वह पर का न्यास है। वहाँ संन्यास कहाँ? हे संन्यासी! **जिसका निज देह पर भी न्यास नहीं है, वह स्थूल संन्यासी है। जिसको कषाय पर भी कषाय न हो, अकषाय पर भी कषाय न हो, दया पर दया न हो, अदया पर भी दया न हो, दया–अदया भाव से शून्य है, वह संन्यासी सूक्ष्म है।**

पूरी पर्याय निकल जाएगी, हम समझ ही नहीं पाएँगे कि जीवन का वास्तविक धर्म क्या है। २४ प्रकार के परिग्रह का त्याग करने वाले मुनियों की चर्चा आपने अनेक बार सुनी है। स्थूल रूप से तो आप १० प्रकार के बहिरंग परिग्रह को ही जान पाए हो, अंतरंग के परिग्रह को नहीं पहचान पा रहे हो; लेकिन पूर्ण परिग्रह का त्यागी कोई है विश्व में, उसका नाम है सिद्ध भगवान्। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणी, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय ये आठ कर्म हैं। ये आठ कर्म मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है। ये पर वस्तु हैं। जब तक परवस्तु मेरे आत्मा के प्रदेशों में आलम्बित है, अवस्थित है, तब–तक परिग्रह है। इसलिए वृहद् प्रतिक्रमण में मुनिराजो! आप पढ़ते हो कि जो त्याग आप करते हो वह तो आप त्यागी हो। जो त्याग आप कर रहे हो गुणस्थान क्रम से, सहज परिणति से, अपनी योग्यावस्था में त्याग कर रहे हैं, लेकिन जिस ज्ञानावरणादि आठ कर्म–परिग्रह की व्याख्या कर रहे हैं, उसके पूर्ण त्यागी तो सिद्ध परमेश्वर हैं और एकदेश त्यागी

अरिहंत भगवान् हैं। उस परिग्रह के त्याग का जो उपक्रम चल रहा है, वही मुनि–अवस्था है, वही श्रेणी आरोहण है, वही उपशम भाव है, वही क्षपक भाव है। इसलिए जो पुरुषार्थ चल रहा है, उस पुरुषार्थ का त्याग उसके पास है; लेकिन अशरीरी भगवान् कर्मातीत है; इसलिए वह पूर्ण त्यागी है।

सिद्ध परमात्मा का संन्यास हो चुका है। परिपूर्ण संन्यास हो गया। अभी आपने घर का त्याग किया, अष्ट द्रव्यों का त्याग किया, पर बहुत सारे द्रव्य स्वीकार भी किए। बुद्धिपूर्वक पिच्छी स्वीकार की, कमंडल स्वीकार किया, जिनवाणी स्वीकार की, श्रावक का आहार स्वीकार किया और शरीर स्वीकारने के लिए नहीं, यह जीवत्व शरीर को स्वीकारे है। कर्म की १४८ प्रकृतियों को स्वीकारे है। परंतु यदि इसमें हर्ष–विषाद रूप परिणाम चल रहे हैं, तो स्थूल रूप से भोग भी चल रहा है। पुण्यभूत भोग, पापभूत भोग। अब उस निर्ग्रंथ तपोधन की छटवें गुणस्थान से व्याख्या करो। छटवें–सातवें गुणस्थान में दोलायमान गति चल रही है जिसकी, उस जीव को त्रिकाल नमस्कार हो। धन्य हो आपकी परिणति को, आपने मिथ्यात्व व अविरति का त्याग कर दिया है, इस परिग्रह से आप दूर हो गए हो। जब सप्तम में होते हो तो प्रमादी प्रमाद से भिन्न होता है। जब छटवें में होते हो तो प्रमाद अभिन्न होता है। कैसे समितियों को पाल रहे हो, कैसे महाव्रतों को पाल रहे हो? इस पालना के साथ एक वर्ष में कितनी बाह्य साधना की उन्नति की, कितनी अंतरंग साधना की उन्नति की? साधकों को कम–से–कम अपने दीक्षा दिवस पर संयम को याद कर लेना चाहिए। वह विषय अलग है कि श्रावकों ने पूजा कर ली, अर्घ चढ़ा लिया या जिनवाणी भेंट कर दी। ये तो श्रावकों ने आपके संयम की वंदना की है, पर तुमने अपने संयम की वंदना नहीं की है। कभी–कभी देखा जाता है कि दीक्षा दिवस पर इतना असंयम हो गया कि पटाखे फूट गए, फुलझड़ियाँ चल गईं और बहुत सारे रागात्मक कार्य हो गए। गीत–संगीत चल रहा है, कवि सम्मेलन चल रहा है। इसको आप अपने पक्ष से मत सोचो। जो मैं कह रहा हूँ उस पर ध्यान दो। आप संन्यासी थे, भले ही कवि सम्मेलन तुम्हारे दीक्षा दिवस पर हो रहा हो। कवि राग में कविता पढ़ रहे थे। वे ज्ञानी पाखंड को पीकरके ही कविता पढ़ रहे थे। परिपूर्ण रूप से आप कुछ भी कहो, कोई वीतरागी नहीं हो। जिस गुणस्थान पर हो, ये हर समय भाव लाना। देखो, कोई कहे कि मुझे तो दीक्षा का पता ही नहीं चला, तो इसका मतलब है कि आपने चिंतन ही नहीं किया। एक दृष्टि यह है कि निज ध्यान में लीन हो जाए कि जीव को पता ही नहीं चले कि मेरी दीक्षा हो गई है। एक दृष्टि यह है कि जीव को पता ही नहीं कब दीक्षा ले ली है। बस क्रिया–क्रिया, ऊपरी आडम्बर, पता ही नहीं

है कि मैं क्या कर रहा हूँ। २४ घंटे यही बात चल रही है। **ज्ञानी! ये दीक्षा दिवस नहीं है कि मैंने आपको जिनवाणी भेंट कर दी, लोगों ने आपकी प्रशंसा कर दी। ये सब तो बाहर का विषय है। अंतरंग का विषय तो ये है कि इस एक वर्ष में आपने अपनी कषायों को कितना शांत करना सीखा, कषायों को कितना जीता है।** कुछ विषयों पर दृष्टि घटी है और कुछ पर बढ़ तो नहीं गई।

भैया! अज्ञानता में मत जीना। जैसे कोई व्यक्ति शादी कराकर बसे, उसका जीवन क्या है? कमाकर लाओ, घर में रखते जाओ, फिर चले जाओ, फिर लाओ, बस, उसका इसी में जीवन चल रहा है। ऐसे– ही दीक्षा ले ली, आचार्य बन गए, शिष्यों का संग्रह कर लिया, दिनभर उनको खदेड़ते रहो कि तुम क्या नहीं कर रहे हो, तुम क्या कर रहे हो। इसमें ही तुम्हारा जीवन नष्ट हो गया कि सबको प्रतिक्रमण कराऊँ, सबको स्वाध्याय कराऊँ, सबकी सामायिक पर ध्यान दूँ। ऐसे ही लक्ष्य बनाकर बैठे रहे तो हे योगीश्वर! तुम जिस उद्देश्य से आए थे, वह तुम्हारा उद्देश्य कहाँ गया? तुम तो यहाँ गृहस्थी चलाना शुरू कर दिये हो, अज्ञानता में जी रहे हो। किसी ने कुछ नहीं किया तो डाँट दिया। भैया! ये तुम क्या कर रहे हो? लो, अब ये तुम्हारी पर में दृष्टि चली गई। साधुओं को स्वाध्याय करना चाहिए, जिससे उसको पता चले कि अज्ञान एक प्रकार का नहीं होता है, अज्ञान अनेक प्रकार का होता है। बिना व्यवहार चारित्र के जीने वाला जीव निज में जीएगा कब? अव्रती को पहले व्रती बनना चाहिए। **'व्रती ज्ञान–परायणः'** ये शास्त्रज्ञान की व्याख्या नहीं चल रही है।

पहले अव्रती को व्रती बनना चाहिए। फिर व्रती क्या करेगा? सतत ज्ञान में लीन हो जाओ। जब ज्ञान में लीन हो जाएगा, फिर क्या करेगा? जब श्रुतज्ञान में लवलीन होगा, फिर परमार्थ ज्ञान की ओर बढ़ेगा और जब परमार्थ में लवलीन होगा तो परम पद को सहज ही प्राप्त कर लेगा। इसलिए जब–जब द्रव्यानुयोग की व्याख्या हो, जब–जब फल की व्याख्या हो, केले की व्याख्या होती है, केला इतना सुंदर फल होता है। भैया! जो भी ग्रंथ होंगे पाक साहित्य के, इतिहास के, सबके अंदर फलों का वर्णन जरूर मिलेगा। कदली फल, आम्रफल ये भारत के प्रसिद्ध फल हैं। कदली फल यानि केला। जब फल की व्याख्या हो रही है तो इतना तू भी जानता है कि बिना फूल के फल नहीं आता और फूल जो है बिना डाल के नहीं आता और डाल जो है बिना स्कंध के नहीं होगी और स्कंध जो है बिना तना के नहीं होगा और तना जो है बिना जड़ के नहीं होगा और जड़ जो है बिना बीज के नहीं होगी। ज्ञानी जब समयसार की व्याख्या होने लग जाए तो शुद्ध फल

की व्याख्या समझना। उसमें फूल, पत्ता, डालियाँ, तना, स्कंध, बीज है और जड़। जड़ जो है, वह बीज से तैयार होती है। ऐसे–ही सम्यग्दर्शन बीज है।

जैसे बीज के अभाव में तरू नहीं होता है। न उत्पत्ति, न वृद्धि, न फल। ऐसे–ही सम्यक्त्व के अभाव में न ज्ञान, न दर्शन, न चारित्र। सम्यक्त्व गुण है और जब सम्यक्चारित्र की व्याख्या चल रही हो तो वहाँ ज्ञान–दर्शन तो अपने–आप बैठा हुआ है। जब अभेद रत्नत्रय की व्याख्या चले, तो वहाँ भेद रत्नत्रय तो बिराजा ही है। जो ये कहता है कि भेद रत्नत्रय के अभाव में अभेद रत्नत्रय तो होता ही होता है, ज्ञानी! वह तो गाय के सींग से दूध निचोड़ रहा है और बंध्या के बेटे को पिला रहा है। ज्ञानी! जो केले की जड़ को खाएगा, वह संतान को जन्म नहीं दे पाएगा और केले के फल को खाएगा तो हजारों पुत्रों को उत्पन्न कर लेगा। देखो, जिनसे ब्रह्मचर्य सहज नहीं पलता था वो लोग ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जानकरके अपने आपको नपुंसक बना लेते थे। इसे जैनदर्शन स्वीकार नहीं करता। **शक्ति को नष्ट करके शील का पालना क्या पालना? शक्ति के होने पर संयमित रहना, इसका नाम शील है।** जंगलों में जो ऋषि आदि रहते थे, कंदादि का सेवन करते थे। वैदिक दर्शन में कहा है कि केले की जड़ जो है उसका शर्बत बनाकर पीलो उससे शक्ति क्षीण हो जाती है जिससे कभी संतान को जन्म नहीं दे पाओ और वही केले के अंदर वो ताकत है। केले के फल को खाएगा दूध के साथ तो विपुल वीर्य की उत्पत्ति होती है। कारण समझो। वस्तु एक है, पर अलग–अलग स्थान पर अलग–अलग फलदान शक्ति उसके अंदर है।

ज्ञानी! चारित्र का अभाव हो ही जाएगा, ऐसा नहीं है। जब–तक बीज नहीं फलेगा, तब–तक जड़ नहीं आएगी और जड़ का भाग ऊपर आएगा, तब जड़ मिट जाती है। मतलब यह कि जड़ का स्थान समाप्त हो जाता है, तब तना प्रारंभ होता है और जब तना का स्थान समाप्त हो जाता है, तब डाली प्रारंभ होती है। जब डाली समाप्त होती है, वहाँ फूल लगता है और जब फूल समाप्त हो जाता है, वहाँ फल लगता है। बताओ, अभाव किसका है इसमें? भैया! ये हाथ है, इतना ही हाथ है कि पूरा है? भैया! जब कुहनी का भाग समाप्त होगा, तब मध्य का भाग प्रारंभ होगा और मध्य के भाग से चलोगे तब कलाई आएगी और जब कलाई की सीमा समाप्त होगी तब हथेली आएगी। अब भैया! आप से प्रश्न है कि इसमें अभाव किसका हुआ है? ज्ञानी! सीमाएँ तो बँटी हैं, पर इसमें अभाव किसी का नहीं है। ऐसे–ही जो ज्ञानी कहते हैं कि व्यवहार चारित्र का अभाव होने पर निश्चय चारित्र होता है, ये अज्ञानियों की भाषा है। **व्यवहार चारित्र की सत्ता में ही निश्चय चारित्र का प्रादुर्भाव होता है।** वृक्ष के पास बच्चे पत्ता नहीं तोड़ते, डाली नहीं तोड़ते,

फल में ही पत्थर मारते हैं। उन्हें क्या दिखता है? ऐसे–ही जब व्यवहार चारित्र का पालन करते हुए जीव निश्चय में लीन होता है तो व्यवहार चारित्र गौणता को प्राप्त होता है, परंतु अभाव को प्राप्त नहीं होता है। जड़ में ही सारी अवस्थाएँ होती हैं। ऐसे–ही व्यवहार चारित्रधारी ऐसा न हो जाएगा कि निश्चय में पहुँचते ही उसे कपड़े पहना दो? यह तो समयसार का विपर्यास हो रहा है। मेरे मित्र बिना व्यवहार चारित्र धारण किए उन्होंने फल को तोड़ना चाहा है तो न फल मिला न जड़ मिली, मात्र व्याख्यान का विषय मिला। यदि भैया मुनिराज सामायिक को बैठ गए तो एषणा समिति का पालन कर रहे हैं या भाषा समिति का पालन कर रहे हैं? क्या वचन गुप्ति का पालन कर रहे हैं? क्या ईर्या समिति का पालन कर रहे हैं? क्या आदान–निक्षेपण समिति का पालन कर रहे हैं? क्या व्युत्सर्ग समिति का पालन कर रहे हैं? क्या–क्या पालन नहीं कर रहे हैं? ऐसा तो नहीं है कि सामायिक के समय में सभी समितियों का अभाव करके बैठते हों? ध्यान में लीन मुनिराज, उनके २८ मूलगुणों का पालन होता है। आगम की भाषा को समझो। प्रवृत्तिमूलक धर्म, निर्वृत्तिमूलक धर्म। जो व्यवहार चारित्र है, वह प्रवृत्तिमूलक है और जो निश्चय चारित्र है, वह निर्वृत्तिमूलक है।

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं, ववहारणया दु जिणभणियं।।४५।।

(द्र.सं.)

अशुभ की निर्वृत्ति, शुभ की प्रवृत्ति, व्रत–समिति–गुप्तिरूप व्यवहार चारित्र है।

बहिरब्भंतर किरिया, रोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं, तं परमं सम्मचारित्तं।।४६।।

(द्र.सं.)

मेरे मित्र! जो क्रिया पालनभूत थी, वह व्यवहारचारित्र है। मुनि बनकर षट्काय की हिंसा में किञ्चित् भी तेरा आशीर्वाद आदि है, तो तेरा व्यवहारचारित्र भी नहीं है। आपने कह दिया कि यहाँ जमीन खोद दो, नींव भर दो, गड्ढा भर दो, परंतु आपको ये बोध नहीं हुआ कि जमीन में गड्ढा खुदवाना हिंसा है। यदि इसे धर्म मानकर लीन हो जाओगे तो मुनिधर्मपने से शून्य हो जाओगे।

यहीं अनुभव कर लो। जो विषय यहाँ सुन रहे हो, इस विषय के आगे कोई भी विषय लाओ, तब आपको समझ में आ जाएगा कि सब व्यर्थ है। विश्राम देना सीखो। तन को नहीं, चिंतन को। वैद्य लोग यदि रोगियों के चित्त को विश्राम दिलाने की विद्या सीख लें तो विश्व के रोगी उसी दिन

ठीक हो जाएँ। विद्वान् लोग विश्राम दिलाना सीख जाएँ तो समाज के देश के विवाद समाप्त हो जाएँ। भैया! यथार्थ मानिये हम लोगों की समस्याएँ सुलझाने पहुँच जाते हैं, ये भी एक समस्या है। दो लोगों का आपस में वाद–विवाद हो गया, तीसरा पहुँच गया समझाने। दोनों लड़ करके घर पहुँच कर माला फेरने बैठ गए और सोचते हैं कि आज हम से भूल हो गई है। बात इतनी बढ़ गई है कि मैं क्षमा माँगने तो नहीं जा पाऊँगा, फिर भी मन कह रहा है कि णमोकार की एक माला तो फेर ही लेना चाहिए। अब तीसरा पहुँचा, तो वह सोचता है कि अब इनकी सुनना पड़ेगी, इनको समय देना पड़ेगा। हम तो पहले से ही परेशान थे, जिन विषयों पर उनको राख आ रही थी, अब वे विषय फिर उभरेंगे। मैं तो थक चुका हूँ, लड़करके अभी दो के बीच में बात थी, अब तीसरे को और सुनाना पड़ेगा। संसार का समाधान यानि एक नई समस्या। तो क्या करना चाहिए? दोनों में इतनी दूरी कर दो। अग्नि पर बटलोई रखी थी, वह गर्म थी, आप फूकोगे तो जूठी कर दोगे, क्योंकि मुँह से फूकोगे। कुछ अज्ञानी लोग होते हैं वे साधु को आहार देने गए, गिलास ठंडा कर रहे थे दूध का, उन्होंने फूँक दिया मुख से। अभक्ष्य कर दिया। अशुद्ध हो गया। कोई टीबी का रोगी था, कैंसर का रोगी था, उसने फूँक दिया, साधु को रोग पीड़ित कर दिया। माँ! अपने बेटे को भी ये फूँका–फाकी मत करो। पंखा हिलाओगे तो हो सकता है कोई वस्तु उड़कर उसमें गिर जाए। तो क्या करना चाहिए? आप बटलोई को चूल्हे से दूर कर लीजिए और थोड़ा समय दे दो। विश्वास रखना, दूध स्वयं ही ठंडा हो जाएगा। जो सौपादिक दशा थी, अग्नि की उपाधि से दूध गरम हुआ था, वह चली गई, दूध सहज धर्म में आ गया। ऐसे–ही आप दूर चले जाओ, कोई साता की आवश्यकता नहीं है, कोई समझौते की आवश्यकता नहीं है। यही कारण है, दिगम्बर योगी समझे न समझे, कहीं ये संप्रदाय की मुद्रा न बना बैठे। सत्यता उस मुद्रा में क्या थी? हण्डी को अग्नि पर से चूल्हे पर से उतारकर दूर रखा था, अपने आप ठंडा हो गया। ऐसे–ही गृहस्थी की जो विषय–कषाय की अग्नियाँ थीं, उनसे अपने आपको दूर उठाकर ले जाना और फिर उनके पास बिल्कुल नहीं जाना। ज्ञानी! दिगम्बर मुद्रा का उद्देश्य, साधु बनने का उद्देश्य मात्र इतना है कि जो बहिरंग निमित्त हैं उनसे अपने आपको दूर कर लेना, कषायभाव अपने आप शांत हो जाएँगे। आप दूध चूल्हे से उठा ले गए और सिगड़ी पर रख दिया, हीटर पर रख दिया, तो क्या दूध ठंडा होएगा? ऐसे–ही मेरे मित्र! तुम दिगम्बर मुनि बन गए, घर की अग्नि छोड़कर आ गए। यहाँ संस्थाओं की अग्नि पर बैठ गए, समाज की अग्नि पर बैठ गए। ये सिगड़ी और चूल्हे की अग्नि बदल रहे हो आप। आपने कुछ नहीं किया। ठंडे होने को निकले थे, पर चूल्हे ही बदले, ठंडे होने

का कोई प्रयास नहीं किया। सत्य है कि नहीं? परम सत्य है। एक क्षण ऐसा आता है कि संघ का पक्ष भी आपको समाप्त हो जाता है। मैं साधु हूँ, मैं मुनि हूँ, ये पक्ष भी समाप्त हो जाता है। ये ध्यान मुद्रा है। यहाँ व्याख्यान किस चीज का चल रहा है? आप तो यही देखते रहो कि मैं कर्म से सहित हूँ। भैया दूध गिलास में है कि गिलास दूध में है। दोनों नहीं है। फिर तू माँ से क्यों कहता है कि दूध का गिलास दे दो? क्योंकि गिलास दूध से भरा हुआ है। ऐसे–ही मेरे मित्र! आत्मा में कर्म नहीं हैं। कर्म में आत्मा नहीं है, पर आत्मा में कर्म भरे हुए हैं। जैसे गिलास दूध से भरा हुआ है। बस यही तो समयसार है। दूध कहाँ से प्रारंभ होता है गिलास में? भैया! मस्तिष्क लगा। जहाँ से गिलास समाप्त होता है, वहाँ से दूध प्रारंभ होता है और जहाँ से दूध समाप्त है, वहाँ से गिलास प्रारंभ होता है। ऐसे–ही जो कर्म हैं, वे आत्मा में हैं अवश्य, पर कर्म आत्मा नहीं है। भैया! इतनी श्रद्धा बनाना कि मैं स्वतंत्र हूँ। आप स्वतंत्र हो, जैसे शर्ट शरीर पर होने पर शर्ट स्वतंत्र है, शरीर स्वतंत्र है। ऐसे–ही मेरी आत्मा जगत् के संपूर्ण परद्रव्यों से स्वतंत्र है, परतंत्र किञ्चित् भी नहीं है। भैया! किसी के गाल पर चाँटा मार दिया, फिर कहता है कि जो है, सो है। मित्र! ये आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि वक्ताओं की शैली में कमी है, श्रोताओं के सुनने में कोई कमी नहीं है। भैया! तू तो बहुत बड़ा हो गया। जब ८ वर्ष का बालक मुनि होकरके केवली भगवंत बन जाता है, पर पञ्चम काल में नहीं होता तो कोई बात नहीं है। कुन्दकुन्द स्वामी, जिनसेन स्वामी लघुवय में जिनदीक्षा को प्राप्त करके महान्–महान् ग्रंथ लिखकर चले गए। भैया! ऐसा करके जाओ, आजीविका करते–करते तो दुनियाँ जीकर चली जाती है। भैया! समझ में आ गया कि मुनि बनने का उद्देश्य क्या है, पर कहाँ चले गए। संप्रदाय में चले गए। भीतर का विषय पकड़ो। यही दृष्टि अनेकांत की थी। कोई संप्रदाय नहीं था। अनेकांत स्याद्वाद दृष्टि संप्रदाय नहीं थी। यही मान लिया कि दिगम्बर मुद्रा से ही मोक्ष होगा, पर वास्तविकता कुछ–और थी। दिगम्बर मुद्रा, भेष की मुद्रा मोक्ष नहीं दिला रही है। दिगम्बर मुद्रा का भेष भावों को दिगम्बर करा देता है, इसलिए दिगम्बर मुद्रा मोक्ष का कारण है।

चूल्हे से स्थानांतरण मत होओ, वस्तु को नीचे रख दो, कुछ समय दे दो, कोई साधन नहीं करना। पाँच इंद्रिय विषयकषायों के जो साधन हैं, उन्हें हटा दो और उनसे हट जाओ, कोई साधना नहीं करना। आरंभ–परिग्रह से हट जाओ, विषय–कषायों से हट जाओ। उनसे आप हट जाओ, अपने को उनसे हटा दो। कोई साधना नहीं करना। ज्ञानी! यही तो साधना है, क्योंकि **साधना करने का राग भी असाधना है।** इसका मतलब भैया! पागल बनकर घूमना नहीं है। एक बार ऐसा

जीवन तो जीकर देखो। अनंत बार अनंत जीवन जी गए, क्या मिला? अनंत बार करने कराने में समय नष्ट किए, एक पर्याय ऐसी दे दो अपने आपके लिए जिसमें कुछ नहीं करना। विश्वास रखो, जितने विषमताओं के स्थान हैं, न उन स्थानों की आवश्यकता पड़ेगी, न स्वास्थ्य केंद्रों की आवश्यकता पड़ेगी यदि व्यक्ति सबकुछ करना बंद कर दे। वस्तुव्यवस्था समझ में आ रही कि नहीं? जिन भूमियों पर तुम लोग पूजा कर रहो हो, जिन तीर्थंकर भगवंतों की आराधना कर रहे हो, मेरे मित्र! कम–से–कम ५ मिनट वहाँ बैठकरके इसमें लगा दो कि आप इतने महान् हो कैसे गए? इन पत्थर की प्रतिमा को हम भगवान् मानकर पूज रहे हैं। सत्य उत्तर यही है कि इन्होंने सबकुछ करना छोड़ दिया था, इसलिए इतने महान् हो गए कि आज हम उन्हें परमेष्ठी के रूप में पूज रहे हैं। और अपन क्या कर रहे हैं? उनमें जुड़करके सबसे भिन्न आनंद लूटना चाहते हैं। ज्ञानी! उनसे जुड़करके तुम उन–जैसे नहीं बन सकते हो। भैया! ये बहाने बना–बना करके लोगों ने अपने आपको छल डाला। कोई हुंडा दोष बोलता है, कोई काल दोष बोलता है। ये सब छलिया लोग हैं। ये निज का ही छल कर रहे हैं। ज्ञानी! काल दोष है कि तू पर्वत पर नहीं बैठ सकता, वृक्ष के नीचे नहीं बैठ सकता, नदी के किनारे नहीं बैठ सकता; लेकिन मेरे मित्र! अपने आपको स्थिर करके, सारे काम छोड़कर बैठ जाओ, क्या काल दोष?

संसार में सर्वाधिक सौपादिक दशा है। कर्मातीत भगवान्–आत्मा में यह सौपादिक अवस्था किञ्चित् भी नहीं है। **जो मेरा निज–भाव नहीं है, उस भाव में भाव को ले जाना, यही भव/गति भ्रमण का कारण है।** मेरा भाव भवातीत है। भाव यानि परिणाम, भाव यानि पदार्थ।

मेरा निज भाव भवांतरभूत है यानि मेरा निज स्वभाव अन्य स्वभाव से भिन्न है। मेरा जीवत्व भाव जीवांतरभूत है। मेरा जीवद्रव्य अन्य जीवद्रव्यभूत नहीं है। मेरा चेतन गुण अन्य चेतनभूत द्रव्य नहीं है, तो मेरा निज भाव अन्य जड़भावभूत कैसा? जब मैं अपने निज गुणों को मेरे भूत नहीं स्वीकारता, मैं अपने कार्यों को निज भूत नहीं स्वीकारता, तब मैं जगत् के प्रपञ्चों को निजभूत कैसे स्वीकारूँ? मुझे तत्त्व का पूर्ण निर्णय हो चुका है कि मेरे अंतरंग में उत्पन्न होने वाले रागादिक परिणाम मेरे शुद्ध निज स्वभाव भाव नहीं हैं। ये कर्म की सत्ता के निमित्त से मेरी आत्मा में रागादिक भाव उत्पन्न हो रहे हैं, इन भावों का अभाव नियत है। मेरे अंतरंग में होने वाले रागादिक भावों का अभाव नियत है। ये मेरे निज स्वभाव–भाव नहीं हैं, ये भाव मेरे शत्रु हैं। मेरे भीतर उत्पन्न हो रहे, मेरे ही रागादिक भाव मेरी आत्मा के शत्रु हैं।

ज्ञानियो! बाहर के अन्य पदार्थों को तुम निमित्त बना करके रागादिक परिणाम मान रहे हो,

ये तेरे लिए घातक नहीं है। वो तो तेरे भीतर तेरे में उत्पन्न परिणाम ही तेरे लिए घातक हैं। जैसे– भैंस का उगा हुआ सींग ऐसा मुड़ा कि भैंस की आँख में जाकर घुस गया। भैंस के माथे पर उगे सींग ने भैंस की आँख को फोड़ दिया। स्वयं के नाखून स्वयं का घात कर देते हैं, ये तो अपने यहाँ नामकर्म का उदय है, कर्म सापेक्ष है। जैसे नामकर्म का उदय स्वयं के अनुभाग से स्वयं को उदीर्ण कर रहा है। भैया! कभी किसी के राग में द्वेष में आकरके ये मत कहना कि मैंने इस जीव का हित किया है या अहित किया है। ये जीव आत्मभूत होकरके कभी तेरा हित अहित नहीं कर सकता।

आत्मभूत अहित करने वाला कोई है, तो तेरी आत्मा के ही परिणाम हैं। **आज तक अनंत संसार में परभावों से किसी का परिभ्रमण नहीं हुआ, संसार का परिभ्रमण निज के ही भावों से है। दूसरों के द्वारा अशुभ शब्द भी क्यों न बोले जाएँ, तेरी आत्मा में घातक नहीं होंगे। दूसरोंके द्वारा तुझे सुख के गीत गाए जाएँ, तेरी आत्मा में संतोष नहीं होगा। निज की कषाय की मंदता में ही संतोष है और निज की कषाय उद्वेगता में ही विषाद है।** भावान्तर मेरा भाव नहीं है। श्रमणों के लिए तो ये ही सूत्र उपादेयभूत है।

हे मुनीश्वर! तुम किस शक्ति के बल पर जी रहे हो? बुद्धिपूर्वक सबकुछ छोड़कर आए हो, अब तुम्हारे पास है क्या जिसके बल पर तुम जी रहे हो? जब तुम्हें ये एहसास हो रहा था कि ये मेरा है, ये तुम्हारा अज्ञान भाव था, लेकिन जबसे तुमने ये समझ लिया है कि निज भाव से भावांतर मेरा भाव नहीं है, उसी दिन से ये खुशी प्रारंभ हो चुकी है। ध्रुव सत्य है कि जिस दिन आपका भेदविज्ञान जाग्रत हो जाएगा, तेरे चेहरे की विषादता विलीन हो जाएगी। जीव के अंतस् से पर–सापेक्षता पलायन कर जाएगी, उसी दिन से आनंद प्रारंभ हो जाएगा और जब–तक आप अपने आपको कहीं पराया स्वीकार रहे हो तो आपके चेहरे पर मुस्कुराहट है, पर आनंद नहीं है। स्वभाव को समझो, सद्भाव को समझो।

हे जीव! पहले तो तू अपने स्वभाव को समझ कि मेरा द्रव्य स्वतंत्र है, स्व–भाव को समझ, फिर इस स्वभाव के स्वभाव को समझ। पहले अपने द्रव्य को समझ, फिर अपने द्रव्य के स्वरूप को समझ। जब तू अपने द्रव्य को ही नहीं समझ पा रहा है, तो अपने द्रव्य के स्वरूप को क्या समझेगा? जब तू आम खरीदकर लाता है तो ये कहता है कि मेरा आम अच्छा है। पहले तो तू अपनी ही टोकरी का आम समझेगा, फिर इसके बाद चखने की बात आएगी कि ये खट्टा है कि मीठा है। ऐसे–ही ज्ञानियो! पहले ये समझो कि मेरा आत्मद्रव्य मेरा ही है। इसके उपरांत फिर सोचिए

कि मेरे आत्मद्रव्य का स्वाद कैसा है, स्वभाव कैसा है? पहले तो अपने द्रव्य को भिन्न कीजिए। द्रव्यांतर से लक्ष्य बनाइए। अपने स्वयं के एक द्रव्य को अनेक द्रव्यों से पृथक् कर देने से वही विषय स्वयं का लक्ष्य है। आत्मभूत, अनात्मभूत। जिस व्यक्ति की आँखों पर चश्मा है, उसको बुलाकर लाइये, तो आप क्या करोगे? भीड़ में से उस व्यक्ति को उठाकर लाओगे, तो चश्मे ने क्या किया? उसको भिन्न कर दिया, पृथक् कर दिया, पहचान करा दी कि ये मनुष्य है। अनात्मभूत चश्मा अनात्मभूत लक्षण है। भैया! डॉक्टर का लक्षण क्या है? यदि आला गले में लटक रहा है तो ये डॉक्टर है।

भैया! ये आत्मभूत है कि अनात्मभूत? ज्ञानी! उसे तो कोई दूसरा भी लटका सकता है। उसके लटके मात्र से डॉक्टर नहीं है। जिसको उस विद्या का ज्ञान है, उसका आत्मभूत लक्षण उसके भीतर बैठा है, भिन्न नहीं है। हे श्रमण! **दिगम्बर मुद्रा, पिच्छी–कमण्डल, आपके अनात्मभूत लक्षण हैं और निज भावों की विशुद्धि, निज स्वभाव की लीनता, निज की अनुभूति, निज कषायभाव की मंदता, ये भावमुनि का आत्मभूत लक्षण है। अनात्मभूत लक्षण तो मुनि के द्रव्यलिंग में भी होता है। अनात्मभूत लक्षण मुनि का अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव में भी होता है। अनात्मभूत लक्षण मोक्षमार्ग नहीं है, ये तो मोक्षमार्गी का बाहरी लक्षण मात्र है, आत्मभूत लक्षण जीव का मोक्षमार्ग है।** श्रावको! आप तो क्रमशः चिह्न देखोगे, तभी कह पाओगे। किसी के गले में आला देखोगे तभी वैद्य समझ पाओगे। आपको तो बाह्य पहचान करना है। लेकिन योग्यताएँ कैसी हैं, ये तो वही जीव समझ सकता है कि मैं किस रोग के उपचार करने की योग्यता रखता हूँ। ऐसे–ही आप तो मात्र पिच्छी–कमण्डल ही देखेंगे, दिगम्बर मुद्रा ही देखेंगे और उनके पास चले जाएँगे; लेकिन ये योग्यता तो उनके ही भीतर है कि मेरी विशुद्धि की लीनता क्या चल रही है। पर्याय के धर्मात्मा के बिना पर्यायी का धर्मात्मा दृष्टिगोचर होता नहीं, लेकिन पर्याय मात्र से दिखने वाला धर्मात्मा हो, ये कोई नियम नहीं है। जब पर्याय का धर्मात्मा इतना पूज्य हो जाता है, लोग सम्मान देते हैं, पूजा करते हैं, तो मेरे मित्र! परिणामों का धर्मात्मा कितना पूज्य होगा?

भैया! पर्याय की पूजा पराधीन है, परिणामों की पूजा स्वाधीन है। पर्याय की पूजा पराश्रित है। वह पर को ही पूज्य दिखती है, पूजने वाले को किञ्चित् मात्र भी नहीं दिखती है। भैया! ये श्रावक आपको पूजते हैं, अर्घ्य देते हैं, विश्वास मानना, ये पुण्य उसी के पल्ले में जाएगा, तेरे लिए उसमें से कुछ मिलने वाला नहीं है। यदि मान आ गया तो इतना मिल जाएगा कि नीच गोत्र का आस्रव हो सकता है। कभी–कभी तो ऐसा सोचता हूँ कि देश में जितने श्रमण हैं वे सब एकसाथ

बैठकर समयसार की वाचना करें। हर व्यक्ति एक तत्त्व को जान करके यही समझता है कि मैं सबकुछ जान गया हूँ, मैं भी यही समझ रहा था कि मैं सबकुछ जान गया हूँ, पर सबकुछ जानने के बाद भी जाननहारे को नहीं जान पाया हूँ। जब जीव कुछ नहीं जानता, तब अपने आपको ज्ञानी स्वीकारता है और जबसे जानने लगता है, तब पता लगता है कि मैं क्या हूँ। अब मुझे मालूम चल गया है कि मैं महा–अज्ञानी जीव हूँ; श्रुतकेवली नाम का यहाँ कोई ज्ञानी है क्या? केवल्यज्ञान का कोई ज्ञानी यहाँ बैठा है, इस अपेक्षा से सभी जीव अज्ञानी हैं, परंतु भो ज्ञानी! आप प्रश्न कर सकते हो कि फिर आप हम सबसे ज्ञानी क्यों बोलते हो? हाँ, फिर भी ज्ञानी, क्योंकि बिना ज्ञान के जीवद्रव्य होता ही नहीं है, इसलिए आप ज्ञानी हो।

'उपयोगो लक्षणं' जीव का लक्षण ही उपयोग है। वह उपयोग ज्ञानमयी–दर्शनमयी है। भैया! तेरी पर्याय की पूजा पर को पुण्य देगी। जब अर्हंत की पाषाण की प्रतिमा पूजनेवाले को पुण्य दे देती है, तो दिगम्बर मुनि की मुद्रा पूजनेवाले को पुण्य क्यों नहीं देगी? नियम से देगी। लेकिन हे मुनिराज! अपनी पूजा को देखकर पूज्यपने से शून्य मत हो जाना। पर के परिणाम जो तेरी पूजा कर रहे हैं, उनको तो पुण्य मिलेगा, लेकिन तुझे पुण्य तभी मिलेगा जब तू परिणामों से मुनि बनेगा। कर्मनिर्जरा का साधन पर से मेरी पूजा नहीं है। कर्मनिर्जरा का साधन रत्नत्रय से मेरे द्वारा मेरी पूजा है। श्रावको! आप तो करो पूजा अच्छे से मुनियों की चावलों से, पर मुनिराज करें पूजा अक्षय ज्ञानस्वरूप से निज ज्ञान–आत्मा की। संसार में कोई अक्षत है, उसका नाम ज्ञान है। निज के लिए ज्ञान अक्षय है। जब गाय चरके आए और जुगाली करे तभी तो फैन निकलता है, उसके मुख से और भूखी गाय जुगाली करे तो फैन निकलेगा कहाँ?

भैया! जब आप शिशु थे, तब माँ के आँचल का पान किया था कि नहीं? भैया! कम–से–कम इतना तो याद रखना चाहिए कि जब माँ का आँचल मुख में होता है बच्चा तभी तक अच्छे से दूध पीता है, तब उसके मुख में झाग निकलता है। जब–तक माँ के आँचल में दुग्ध है, तब–तक बच्चे के मुख में झाग निकलेगा और माँ के आँचल में दुग्ध ही नहीं है, तो झाग (फैन) किस बात का? जब तुम्हारे अंतस् में तत्त्व होगा, तभी जिनवाणी का फैन निकलेगा। तुम्हारे अंदर कुछ है ही नहीं, तो रुखा–सूखा मुख चलाते रहो, कुछ निकलनेवाला नहीं है। कम–से–कम जितना जीवन बचा है, अब जीते–जीते जिओ, हर पल को अनुभव करके जिओ। देखो मैं कैसा था, अब कैसा हो गया? कम–से–कम ऐसा ध्यान रखेगा तो ये ध्यान रहेगा कि मेरा चमकता चेहरा था, वह नहीं बचा, तो आगे ये भी नहीं बचेगा। ज्ञानी! इतना समय निकल गया, वह तो गया। जो कल था,

वह आज तू बचा क्या? कल बचेगा क्या? आज अपने 'थे' शब्द लगा रहे हैं। मेरे मित्र! तेरे नाम के पीछे थे' लगे, इसके पहले कुछ करके चले जाओ। ज्ञानी! ये तो लगना ही है। 'है' वर्तमान, 'था' भूत, 'गा' भविष्य। कितने सारे बेचारे जीव 'थे' में और 'गे' में हैं को भूल रहे हैं। मुमुक्षु! थे और गे दोनों द्रव्यों को देखो तो आनंद रहेगा। मैं क्या हूँ, इसे देख। अब क्या होगा? नाई की दुकान पर गया और बोला मेरे बाल कितने सफेद हैं, कितने काले हैं? वह कहेगा कि थोड़ा ठहर, अभी नीचे रखता हूँ, फिर देख ले। भैया! कुछ भी नहीं है जगत् में। बस, भैया! दो में जीव परेशान है। किसमें? था और गा। अरे! ये तो देख साथ में कि मैं हूँ क्या? अरे! मैं वही हूँ जो भगवान् हैं। एक व्यक्त परमात्मा है, एक अव्यक्त परमात्मा है। मैं अव्यक्त परमात्मा हूँ और सिद्धालय में बैठा व्यक्त परमात्मा है। मेरे और उनमें कोई अंतर नहीं है। जैसा चैतन्य धर्म उनके भीतर है, वैसा चैतन्य धर्म मेरे भीतर भी है। भाव को देख, भाव को मत देख। निज भाव को देख, निज भाव में परभाव को मत देख।

भैया! देह तू है, कि तू देह है, कि तू देह में है? देह में आप हो, कि आप में देह है? दोनों अलग हैं तो तू क्या है? मैं, मैं हूँ। ज्ञानी! इस मैं, मैं हूँ' को नहीं जान पा रहा है, बाकी सबकुछ जान रहा है। बड़े–बड़े ऋषि मुनि योगी बन जाएँ, जीव तब भी पर्याय के राग में पर्यायी को भूल गया और पर्याय की पूजा में निज की पूज्यता को भूल गया। जब देह ही मेरी निजभूत नहीं है, तब तू मेरा कब से हो गया? मैं मैं हूँ, तू तू है, कह देना अपने पिता से। यदि इतना समझ में आ जाए तो सारे जगत् की तू–तू मैं–मैं समाप्त हो जाए। सही बात है, लेकिन मानता नहीं। फिर भी रागी क्या कर रहा है? तू–तू मैं–मैं। भैया! परेशानी कहाँ है? मैं, मैं है कि तू मैं है?

आचार्यभगवंत क्या कह रहे हैं? परभाव निजभाव नहीं है, निजभाव परभाव नहीं है। भैया! मैं आगम की भाषा इसलिए बोल रहा हूँ कि इन बच्चों को पता तो चले कि धर्म की भाषा क्या है और जगत् की भाषा क्या है। भाव यानि पदार्थ, भाव यानि परिणाम। निजभाव ही निज–आत्मा, परभाव ही परपदार्थ। मेरे आत्मद्रव्य से भिन्न जितने परद्रव्य हैं, वे सब परपदार्थ। मेरे पर्याय की असमान जाति पर्याय परपदार्थ है। तुमने मेरी पूजा नहीं की। ठीक है, व्यवहार में नवधा भक्ति होना चाहिए, पर चर्या किसकी? मेरे मित्र! उस चर्या में जो नवधा भक्ति है, उसमें निमग्न मत होना। ये बहुमान मुनिचर्या का हो रहा है। उसे तुम अपनी पूजा मत मान लेना। कोई श्रावक भूल जाए तो आक्रोश मत करना। वह अपने पुण्य को भूल गया है, पर तेरे पुण्य को नहीं लूट रहा है। तू यदि

गुस्सा हो गया है तो तूने अपनी पूजा को खो दिया है। यह विषय भी सबको समझने का है। इसमें सुधार भी करें। जैसे–ही श्रावक ने पड़गाहन किया, उस बेचारे श्रावक का लोटा गिर गया और आप सोच रहे हो कि अपशकुन हो गया, चलो लौट चलें। ज्ञानी! अभी तक तो अपशकुन नहीं हुआ था, वह तो पर का लोटा गिरा था, पर तेरे भाव में आ गया कि अपशकुन हो गया। ये अपशकुन अवश्य हो गया। अब तू लौटे, चाहे जाये, अपशकुन हो गया। भैया! क्या करूँ? इन विषयों पर हमारा ध्यान चल नहीं रहा है। लोटा क्या गिरा, आप तो लौटकर चले गए, पर पूछो उस श्रावक से, उसके भीतर क्या हो रहा है। उस बेचारे के संकल्प–विकल्प और जब घर पहुँचता है तो क्या होगा? महाराज लौट गए। अरे! कैसे लौटे? इसने लोटा गिरा दिया था। पूरे घर के ताने–बाने उसको दिनभर सुनने पड़े। यदि तनिक खड़े रहते, बेचारा उठा लेता और तुम चल देते। विश्वास मानना, तेरा मंगल भी होता, उसका महामंगल हो जाता। पर धैर्य चाहिए। **'परस्परोपग्रहो जीवानां'।** भैया! हूँ–हूँ करोगे तो भूत बनोगे। साधु बनने के पहले श्रावक जरूर बनना और चौका लगाना, तब आपको ज्ञात रहेगा कि कितनी परेशानी बढ़ती है। फिर तुम साधु बनोगे तो हूँ–हूँ नहीं करोगे।

यदि आपको अंतराय आ गया और कोई श्रावक डाँटे किसी को कि इसने अंतराय करा दिया, तो उस समय उससे कहना कि कोई जीव इतना पापी नहीं है जो साधु को अंतराय कराए। हर व्यक्ति के परिणाम अच्छे होते हैं। अब मेरे ही लाभ–अंतराय कर्म का उदय आ गया। शत्रु भी होगा तब भी वह साधु को अंतराय नहीं कराएगा। आपका दान–अंतराय कर्म का उदय था, मेरा लाभ–अंतराय कर्म का उदय था, इसलिए बीच में जो आ गया है उसका नाम अंतराय है। यदि तुम क्लेश करोगे तो और–कर्म का आस्रव बंध होगा।

भैया! इतनी समता–क्षमता चाहिए, तब इतना बोल पाएगा। जैसे कोई सज्जन पुरुष किसी से ऋण लेता है और देनेवाला प्रसिद्ध होता है, ऐसे–ही साधुपुरुष कष्ट/उपसर्ग के आने पर प्रसन्न होते हैं कि चलो मेरा एक ऋण उतर गया। चरणानुयोग में नहीं लिखा कि करणानुयोग को भूल जाओ। आचार्यमहाराज इतने मोटे बड़े–बड़े ग्रंथ भले ही न पढ़ा पाएँ संघ को, पर जैसे–ही संघ में प्रवेश करें तो ये बातें तो पढ़ा ही देनी चाहिए कि बेटा! तुम जो दीक्षा ले रहे हो, वह चरणानुयोग के लिए ही नहीं, करणानुयोग के लिए भी ले रहे हो। अंतर समझो। चरणानुयोग यानि चारित्र का पालन, आचरण का पालन। आचरण का पालन कर इसलिये रहे हैं कि कहीं कोई जीव–घात मेरे से न हो जाए। जब धूप से छाँव में जाते हैं तब भी मार्जन करते हैं। करण यानि परिणाम। **जो भी**

चरण की पद्धति है, वह करण की विशुद्धि के लिए है और चरण से ही करण तुम्हारा बिगड़ने लग गया तो मित्र! वह करण चरण किस काम का जिससे करण नहीं सुधरा? ये बोध होना चाहिए।

डॉक्टर साहब! जिन पोथियों से तूने अध्ययन किया है, उन पोथियों से उपचार करता है कि अनुभव से करता है? उन पोथियों को देखकर अनुभव करेगा तो तू रोज एक मार कर आएगा। माना कि किसी साधु को बुखार आ गया और उसने शास्त्र में पढ़ लिया कि रोग परीषह जीतना चाहिए। मेरे मित्र! परीषह उत्तर–गुण है। क्षमता थी नहीं, वैद्यों ने बिना बोले यदि उपचार किया तो शांति से स्वीकार कर लेते। पर अब रोग इतना बढ़ गया कि सहन नहीं हो रहा, अब तो मुख से हाय–हाय कहना प्रारंभ हो गया। अब तो स्व प्रभावना भी नष्ट हो गई। धर्मप्रभावना भी नष्ट हो गई। अब तुम्हारे मन में भाव आ गया कि मेरे से नहीं बनता। अब निर्दोष चर्या तो हो नहीं सकती। अब तो पद छोड़ देना चाहिए। मेरे मित्र! उस दिन जो निर्दोष औषधि मिल रही थी, उसे तू ले लेता, तो इस खिंचाव के चक्कर में साधु पद नहीं छोड़ना पड़ता। जो मुनि गुरु–आज्ञा से नहीं चल पाए, वे सभी परेशान रहते हैं। मालूम चला कि उत्तरगुण के पालन करने के राग में मूलगुण छोड़ बैठे। औषधि ले लेते, फिर प्रायश्चित्त कर लेते। सच तो ये है कि श्रावक मुनियों का आहार इतनी शुद्धि से बनाता है वही उसकी औषधि है। बस, लेने की पद्धति ठीक होनी चाहिए।

हे माँ! साधु को बच्चे के जैसे आहार कराओ। ये सारे विषय व्यवहार के हैं। श्रावक के अंदर विवेक नाम का गुण भी होता है। उपादान योग्य नहीं है तो कितना ही वीर पुरुष हो, कितना ही ओजस्वी हो, २८ साल का युवा हो, लेकिन बंध्या स्त्री को पुत्र–जन्म नहीं करा सकता है। इसलिए योग्यता भी चाहिए उपादान की। उपादान की सत्ता में ही निमित्त कार्यकारी होता है। यदि उपादान की योग्यता नहीं है, तो निमित्त अकिंचित्कर है।

मुमुक्षु! भव का अभाव करना है तो निज भाव को समझो। जो निज भाव को समझ लेता है, वह भव का नाश कर लेता है। मैं स्वाति संस्थान नाम कर्म के फल को भी नहीं भोगता हूँ। ये तो देहाश्रित है। जैसे साँप की बामी होती है, ऊपर पतली, नीचे मोटी। ऐसे–ही कुछ लोगों के शरीर होते हैं जिनके हाथीपांव हो गए। नीचे का भाग खूब मस्त है, मोटा–मोटा। ऊपर एकदम पतला। ये स्वाति संस्थान है। इसे पाकरके विकल्प मत करना। ये आत्माश्रित नहीं है। पर व्यवहार से देखोगे तो जिनका पुण्य क्षीण है उनके ही शरीर बेढंगे होते हैं। भैया! पुण्य का दुरुपयोग मत करना। ये चमकता चेहरा मिला है, ये चेहरा तो देहाश्रित है। मैं इसका भोक्ता नहीं हूँ, ये कर्म तो विषफल है

तो बिना भोगे ही नष्ट हो जाता है। ऐसे–ही कर्मों के फल को नहीं भोगना। ज्ञानी! तेरे घर में सम्पत्ति थी कि नहीं? फिर भी तुम यहाँ ब्रह्मचारी बनकर बैठे हो। भैया! तुम कर्म के फल को बिना भोगे यहाँ आए हो। जो पुण्य तुम्हारा था, तद्रूप जो उस अवस्था में आता था, अब तुमने संयम धारण कर लिया है, अब वह तुम्हारे संयम के रूप में प्रकट हो रहा है। ये निर्जरा का कारण बनेगा। चक्रवर्ती जो है, वह वैभव छोड़कर मुनि बन जाता है तो पुण्य के फल को भोगे बिना भी वह जब उज्जवल शुक्लध्यान में लीन होते हैं, तेरहवें गुणस्थान में जाते हैं, उस समय पाप का छेदन करके पुण्य का ही सर्वाधिक क्षय करते हैं। पुण्यप्रकृति का क्षय करते हैं।

ज्ञानी! द्रव्य में आनंद मत लूटो, न खुश होओ, न हीन भाव लाओ। बस, 'जो है, सो है'। स्वाति संस्थान नामकर्म फल का भोक्ता नहीं हूँ। मैं तो चैतन्य आत्मा से चैतन्य आत्मा का संवेदन करता हूँ। किसी की पीठ पर किसी की छाती पर कुब्ज निकला रहता है। जिन लोगों ने मंदिर का धन खाया, साधुओं को गाली दी है, खोटे काम किए, सो इतने बाहर निकल गए। भैया! मंदिर की गोलक का द्रव्य कभी मत लेना। पूर्व में तपस्या की थी, सो ये पंडित संज्ञा को लिए हो। मंदिर की द्रव्य से कभी किसी का सम्मान मत करना। मैं कुब्जक संस्थान नामकर्म का भोक्ता नहीं हूँ, मैं तो चैतन्य आत्मा से चैतन्य आत्मा का ही संवेदन करता हूँ। मैं वामन संस्थान नामकर्म का भोक्ता नहीं हूँ। वामन यानि बौना। लेकिन वेदों में बौने को बड़ा प्रशस्त कहा है। मैं तो चैतन्य आत्मा से चैतन्य का भोक्ता हूँ। मैं हुण्डक संस्थान नामकर्म का भोक्ता भी नहीं हूँ। किसी के गाल पिचके, आँखें धसी हुई, पेट पिचका, बिल्कुल बेढंगे। ये हुण्डक संस्थान नामकर्म के हैं। मैं तो चैतन्य आत्मा से ही चैतन्य का भोक्ता हूँ।

चिद्रूप चेतन पिंड ज्ञानघन आत्मद्रव्य स्व की असमान जाति पर्याय से भिन्न है। जो स्व की असमान जाति पर्याय से भिन्न हैं, तो निज द्रव्य से द्रव्यान्तरभूत पर की पर्यायों से अभिन्न कैसा? अज्ञानी प्राणी पर की पर्यायों में इतना लिप्त हो गया। चाहे उसने धर्म के मार्ग को चुना हो, चाहे गृहस्थ मार्ग को चुना हो, यदि पर पर्यायों में लिप्त हो रहा है, वह बहिरात्मा ही है। परमेष्ठी की पर्याय को परमेष्ठी के रूप में स्वीकारना। आराध्य आराधक भाव को व्यवहार से। परमेष्ठी निज द्रव्य नहीं हैं। तत्त्व की गहराई में प्रवेश करो, कहीं ऐसा न हो कि उन परमेष्ठी को तो भिन्न स्वीकारें जो परमेष्ठी पद पर आसीन नहीं है। ऐसे जीव के पर्याय के राग में लिप्त होकर हम कहीं अपने परमार्थ से शून्य तो नहीं हो रहे हैं। यदि परमेष्ठी की पर्याय में राग रहा तो दुर्गति में नहीं जाएगा, परंतु परमेष्ठी से मिलने की पर्याय के राग में लिप्त हो रहा है तो मुमुक्षु! तेरी दुर्गति निश्चित है।

बेटे के प्रति प्रीति दिख रही है, घरवालों के प्रति प्रीति दिख रही है, जबकि मैं अपने परिवारिक आदि संघ का भोक्ता नहीं हूँ, मैं तो चेतन से चेतन का ही संचेतक हूँ। जब मैं चेतन चेतन का ही संचेतक हूँ, उस स्थान पर मुझे जगत् की किसी भी द्रव्य की पर्याय स्वीकार नहीं है।

हे जीव! तेरी पर्याय भी तेरे कल्याण का साधन नहीं है। धर्म का विषय भिन्न है। जिसे तू धर्म मान रहा है, वह तेरा धर्म नहीं है। संपूर्ण पक्षों से अतिक्रांत है, संपूर्ण बंधों से अतिक्रांत है। जो धर्म है, वह आत्मा का ज्ञायकभाव ही है। बाकी सब विधि अधर्म है। उस ज्ञायकभाव को भूलकर कहीं ऐसा न हो जाए कि हम शब्दों में लवलीन होकर, शब्दब्रह्म में लिप्त होकर आत्मब्रह्म से दूर हो रहे हैं। प्रतिक्षण/प्रतिपल ध्यान रखने की आवश्यकता है। मेरी पर्याय, मेरा राग है, आपका असंयम दशा की पर्यायों में राग है, पर समय। **ज्ञानी! निश्चय से स्वसमय कोई है तो दर्शन–ज्ञान–चारित्र की स्थिरता ही स्व समय है।** हम पर समय में हैं, कि स्व समय में है? चिंतन करो खूब अच्छे से। हर्ष भाव भी कषाय भाव है, विषाद भाव भी कषायभाव है। जो–जो मेरी–जैसी भाषा बोले, वह मेरा ही है। यह भी पर समय ही है। तीर्थंकर सर्वज्ञदेव जैसा वक्ता मुझे प्राप्त हुआ है, उनके उपदेश मेरे आत्मब्रह्म को प्रकट करने में निमित्त हैं, लेकिन वे निमित्त मात्र ही हैं। मेरा आत्मब्रह्म जब भी प्रकट होगा, मेरे आत्मद्रव्यों से ही प्रकट होगा। इसलिए ज्ञानियो! संपूर्ण भूल को निकाल देना परिपूर्ण रूप से। मैं अच्छे से साधना करता हूँ, ये हर्षित भाव आ रहा है। ज्ञानी! खोज करो, इसमें मानकषाय कितनी है? ये आनंद मान कषाय का है, कि ये आनंद आत्मा की सहज दशा का है? आपने भजन गाया, उसमें चार लोगों ने ताली बजायी। आपको लगा कि मैंने तो आत्मा का भजन गाया था। आपने आत्मा के ध्रुव स्वभाव की प्ररूपणा करने वाले भजन को गाया, पर ताली तेरी आत्मा पर नहीं बजी थी, तेरी आवाज पर थी। उस आवाज की प्रशंसा सुनकर जो गद्गद् भाव आ रहा है, ये शुभोपयोग है कि अशुभोपयोग है? सुनने वाले ने तो अनुमोदना की है, पर हे सुनाने वाले! यदि तेरे मन में ऐसा भाव आ रहा है कि अहो! वह मेरी प्रशंसा कर रहा है। मित्र! तेरे को असंयमाचार आ चुका है, क्योंकि तुझे अपनी प्रशंसा का भाव आ चुका है। वर्तमान में जो पर्याय के निषेक अवशेष हैं संपूर्ण पर्यायों से, अम्नायों से, अपने आपको अलग कर सके, पृथक् कर सके, तो आज से अभ्यास प्रारंभ कर दो, अन्यथा किसी भी पक्ष का राग रहा तो दुर्गति निश्चित है। समयसार में कोई अम्नाय नहीं है, कोई पक्ष नहीं है।

जो पक्षों से अतिक्रांत है, उसका नाम समयसार है। ये जो समयसार ग्रंथ है, वह समयसार नहीं है। ये तो समयसार की प्ररूपणा करने वाला ग्रंथ है। **रत्नत्रय गुणों से मंडित योगी की आत्मा**

ही समयसार है। इसे समयसार इसलिए कहा गया जैसे– घी का घड़ा। जैसे घृत का घट नहीं होता। घट में रखे होने के कारण उपचार से मिट्टी के घट को घृत का कुम्भ कहा जाता है। ऐसे–ही जिस ग्रंथ में समयसार स्वरूप की प्राप्ति की प्ररूपणा की गई है उस ग्रंथ का नाम समयसार है, लेकिन समयसार ग्रंथ नहीं है। समयसार तो निर्ग्रंथ है। जहाँ–जहाँ ग्रंथ है, वहाँ–वहाँ संसार है। प्रवचन का अर्थ सुना आप लोगों ने कभी? 'निर्ग्रंथ पवयणं।' 'भगवती आराधना' दिगम्बर जैन अम्नाय का महान् ग्रंथ है। इसमें लिखा है 'जो निर्ग्रंथता है, वही प्रवचन है और जहाँ निर्ग्रंथता नहीं है वहाँ प्रवचन का अभाव है।' और निर्ग्रंथता क्या है? सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र ये ही निर्ग्रंथता और यही है प्रवचन। और जहाँ रत्नत्रय का अभाव है, वहाँ है संसार। भगवान् महावीर का जीव मारीचि की पर्याय में ३६३ मिथ्यामत चलाकर गया और स्वयं महावीर बनकर के भी उनको मिटा नहीं पाए। भैया! जब–तक ये तुम्हारी पर्याय मौजूद है, तब–तक तत्त्व का निर्णय कर लेना, अन्यथा तत्त्व में विपर्यास रहा तो शरीर की साधना शरीर की पूजा करा देगी, पर परमेष्ठी पद को नहीं दिला पाएगी। एकेन्द्रिय जीव को भगवान्–आत्मा कहा है। द्रव्यदृष्टि से एकेन्द्रिय जीव को भगवान्–आत्मा तो कहा है, पर एकेन्द्रिय जीव की पूजा नहीं की, लेकिन उसकी पर्याय की प्रत्यासत्ति की दृष्टि से उसकी पूजा करोगे तो ये द्रव्यमिथ्यात्व है। ऐसे–ही इस महान् ग्रंथ को समझ लिया तो ये अशरीरी बनाने वाला ग्रंथ है। अशरीरी स्वरूप को कहने वाला ग्रंथ है। क्या आपकी पर्याय का राग आपको परमात्मा बनाएगा? आपकी पर्याय की दृष्टि आपको परमात्मा बनाएगी क्या? 'पज्जयमूढ़ा परसमया' जो पर्याय में मूढ़ है, वह परसमय है। **जब तक आपकी पर्याय परमेष्ठीभूत नहीं है, आप आदरणीय/सम्मानीय हो सकते हो, लेकिन पूजनीय नहीं हो सकते।** यदि आपने अपने आपको पूज्यनीय स्वीकार लिया, तो आपकी पर्याय की लीनता यानि भाव–मिथ्यात्व तो कूटकर भरा ही है, द्रव्यमिथ्यात्व और प्रकट हो गया। मेरा उद्देश्य किसी जीव के प्रति अश्रद्धान उत्पन्न कराना नहीं है, सम्यक् श्रद्धान उत्पन्न कराना है। कदाचित् आपने इनकी मूर्ति बनवा कर स्थापित कर दी और उस मूर्ति की आपने पूजा करना प्रारंभ कर दी, तो जैसे लोक में अनेक मिथ्यात्व फैले हैं, ऐसे–ही द्रव्य मिथ्यात्व प्रारंभ होंगे। यदि आप स्वयं भी यहाँ आकर कहोगे कि भैया! मैं भगवान् नहीं हूँ, मेरी पूजा मत करो। लेकिन आप कहोगे कि यहाँ से भगो, आप कौन होते हो? ये मेरी श्रद्धा का विषय है। जब मेरी असंयमी पर्याय पूज्य नहीं है, तो इनकी असंयमी पर्याय पूज्य कहाँ से हो गई?

चित्रों को चित्र मात्र मानना, प्रतिमा को प्रतिमा मानना। अरिहंत की प्रतिमा ही आपको पूज्य

है। **सम्यक्त्व से देवत्व की प्राप्ति होती है, ज्ञान से यश मिलता है, चारित्र से पूजा होती है और तीनों की एकता से शिवत्व की प्राप्ति होती है।** ये आगम–वचन है। यदि हमने श्रद्धा मात्र को पूज्य मान लिया, तो फिर क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव समरभूमि में चक्र चला रहा है भाई के ऊपर, तो क्या मैं उसको अष्ट द्रव्य से पूजने जाऊँगा? वहाँ नहीं, यहाँ सम्यक् दृष्टि की पूजा की है। व्याख्या जो अमृतचंद्र स्वामी कर रहे हैं, वह कौनसा सम्यग्दृष्टि? वीतराग चारित्र के अविनाभावीभूत वीतराग सम्यग्दृष्टि। जो जीव अपने जीवन को यूँ ही व्यतीत कर रहा है, सामान्य रूप से वह बहुत बड़ी भूल कर रहा है। देव–शास्त्र–गुरु पर श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन। सात प्रकृतियों का क्षय/क्षयोपशम करणानुयोग का सम्यग्दर्शन। वीतराग धर्म पर रुचि–प्रतीति ये द्रव्यानुयोग का सम्यग्दर्शन। श्रद्धान, ये जो भी आपको चाक्षुष सम्यक्त्व होगा वह मात्र देव–शास्त्र–गुरु की पूजा करा रहा है। २५ दोषों से रहित होकरके वह व्यवहार सम्यग्दृष्टि दिख सकता है। निश्चय सम्यक्त्व आपके चक्षु का विषय नहीं है। करणानुयोग का सम्यक्त्व भी आपके क्षेत्र का विषय नहीं है और जो व्यवहार सम्यक्–दर्शन है, वह अनेकांत दोष से दूषित हो सकता है। आवश्यक नहीं है कि आप यहाँ समयसार ग्रंथ की वाचना कराओ, देव–शास्त्र–गुरु की पूजा करो। आवश्यक नहीं है कि आप आँखें बंद करके शांत बैठे रहो तो आप सम्यग्दृष्टि हो। युद्धभूमि में युद्ध कर रहा है क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव, उसका तो सम्यक्त्व चल रहा है और यहाँ जो आँखें बंद करके बैठा है, उसका मिथ्यात्व चल रहा है। इसलिए किसी भी जीव को देखकर आप यह निर्णय नहीं कर सकते हो कि यह सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि आप छद्मस्थ हो और ये छद्मस्थ का विषय नहीं है, ये तो अवधिज्ञानी महामुनिराज का विषय है, केवली भगवंत का विषय है। बहिरंग भक्ति को देखकर आप कह सकते हो, लेकिन निश्चय सम्यक्त्व या निश्चय मिथ्यात्व की व्याख्या आप नहीं कर सकते हो। अभव्य जीव भी ग्यारह अंग का ज्ञाता होकरके निर्दोष संयम का पालन करके ग्रैवेयक तक जा सकता है।

ज्ञानियो! कहीं हमारी भक्ति उपकार के राग में निज के अपकार में प्रवेश न कर जाए। उपकारी के उपकार के राग में कहीं मेरी आत्मा का अपकार न हो जाए। जितने जगत् में मिथ्यात्व को बोलने वाले लोग हैं, उपकारी के राग में इनको पूज रहे हैं, कोई कहता है कि मेरा भूत उतर गया, कोई कहता है कि मुझे धन मिल गया, कोई कहता है कि मेरा परिवार बस गया। पर हे ज्ञानी! ये सब पागलपन है। **साता का उदय है, पुण्य का उदय है, तो भूतों के घर में भी धन मिल जाएगा, शत्रु के घर में सम्मान मिल जाएगा और यदि तेरे अशुभ कर्म का उदय है तो तेरे ही घर में डाका पड़ जाएगा। जितने लोक में मिथ्यात्व फैले हैं, सब उपकारी के राग में फैले हैं।**

इसलिए जैनदर्शन उपकारी को पूजता नहीं, पूजा करता नहीं। उपकारी तो अनंत हो सकते हैं, पर वीतरागी भगवंत ही होते हैं और जैनदर्शन उपकारी की नहीं, वीतरागी की पूजा करता है। जैनदर्शन में मात्र २४ तीर्थंकर होते हैं और वे ही पूज्य हैं। पञ्चपरमेष्ठी ही पूज्य हैं। जिस जीव में न चारित्र नजर आता हो, न सम्यक्त्व दृष्टिगोचर हो, न श्रद्धान दिखाई देता हो, हम उसको ऐसा महिमा मण्डित न कर जाएँ कि आने वाली पीढ़ी के सिर पर हम मिथ्यात्व का बोझ रख जाएँ।

मैं स्वाति संस्थान नामकर्म के फल को भोगने वाला नहीं हूँ। मैं तो चैतन्य आत्मा का चैतन्य आत्मा से ही संवेदन करता हूँ। यहाँ समयसार में तो अमृतचंद्र स्वामी परमेष्ठी तक की बात नहीं कर रहे हैं। उपकारी अनंत प्रकार के हैं, भैया! मोक्षमार्ग के उपकारी। यथार्थ में यदि जिनागम से कहें तो मात्र पञ्च परमेष्ठी ही हैं, लेकिन इनका उपकार भी यहीं हेय मानकर छोड़ देना। इसलिए छोड़ देना कि पंडित–पुजारी हमारे उपकारी हैं, क्योंकि इन्होंने पञ्चपरमेष्ठी का स्वरूप बताया है। यदि मैं इनके उपकार में लग गया और इनकी ही प्रतिमा विराजमान कर ली, तो द्रव्य मिथ्यात्व फैलाने का निमित्त मैं बन गया।

मैंने कर्नाटक आदि बहुत क्षेत्रों में विहार किया है। वहाँ राम के भक्त तो बहुत कम मिलेंगे, हनुमान और कृष्ण के भक्त बहुत कम मिलेंगे, वहाँ बाबा के भक्त बहुत मिलेंगे। वहाँ एक व्यक्ति तो ऐसा था जो स्वयं गाँजा चरस पीता था और वहाँ उसके मंदिर बने हुए हैं। भैया! जिनालय में मात्र पञ्चपरमेष्ठी ही दिखाई देना चाहिए। जिनबिम्ब की प्रतिमा ही होना चाहिए, जिनबिम्ब की तस्वीर नहीं होना चाहिए। जब मैं महावीर की तस्वीर को पूज्य नहीं मानता हूँ, तो जगत् की अन्य तस्वीरों को कैसे मानूँगा? दीवाली के दिन भगवान् के निर्वाण कल्याणक को मनाइए, गौतम स्वामी के केवलज्ञान को मनाइए, यही दीपावली है, न कि आप खील–बताशे पूजो, न कि धन–दौलत/रुपया–पैसा पूजो और न ही तिलक लगाकर चित्रों को पूजो, खाते–बहियों को पूजो। ये दीवाली नहीं है। निर्वाण आज के दिन ही हुआ है मोक्ष–लक्ष्मी की प्राप्ति तार्थंकर महावीर को प्राप्त हुई और गौतम स्वामी को कैवल्य हुआ है, यही दीवाली है। बीच में अनेक मार्ग खुल गए। भैया जब राग का अभाव करेगा, तो आत्मा ही करेगा और जब वीतरागता प्रकट कर लेगा, तब संसार का जो ताप है वह समाप्त हो जाएगा। इसलिए राग जो है, वह कोई भिन्न वस्तु नहीं है। राग वीतरागता का ही विभाव भाव है। आत्मा का ही विभाव भाव है। यदि आत्मा का विभाव भाव नहीं मानेगा, तो साधना का उद्देश्य क्या है?

भैया! मीठा दूध पिया है? दूध में शक्कर है, कि बाहर से आयी? जब हम दूध की मधुरता का व्याख्यान करेंगे तो दूध में माधुर्य दिखेगा, लेकिन वास्तविकता में दूध में माधुर्य नहीं है। दूध तो दूध है। ऐसे–ही **जब संसारी आत्मा के विभाव गुण की व्याख्या करेंगे तो राग भिन्न दिखेगा, आत्मा भिन्न दिखेगी और जब अखण्डभूत बात करूँगा तो रागभूत आत्मा दिखेगी। उस रागभूत आत्मा में से तुम राग को हटा दोगे तो वीतराग पर्याय प्रकट होगी।** अभी जो तुम ध्यान कर रहे हो, राग पर्याय की सत्ता में अशुद्ध आत्मा शुद्ध आत्मा का पुरुषार्थ कर रहा है, वह पुरुषार्थ जैसे दुग्ध में घृत को देख रहा है। वह आँख से नहीं दिखता, प्रयोग करने पर ही निकलता है। ऐसे–ही इस समय हे संसारी जीव! ये निर्ग्रंथ दशा है। उस घृत को देख लिया आपने, पर मक्खन निकालने का पुरुषार्थ चल रहा है। भैया! मीठे मधुर दूध का मैंने खट्टा स्वाद भी देखा है।

भैया! जो भी देखेगा, ज्ञान से ही देखेगा। क्या आपने दूध को मट्ठा बनते हुए देखा है? भैया! इन्होंने आपको सिखाया, आपने अपना लिया, बाकी इनका सम्मान करके विदा करो। लेकिन आपने उनको स्थापित कर लिया। ज्ञानी! तू तो चला जाएगा। आगे आने वाले लोग उन्हें ही पूजेंगे और मालूम चला कि अर्हंत देव की प्रतिमा गोण हो गई और आपके द्वारा स्थापित प्रतिमा प्रधान हो गई। उपकारी तो अनंत हो सकते हैं, पर उपकारी के उपकार को मैं नहीं भूलूँगा। साधुपुरुष उपकारी के उपकार को नहीं भूलते हैं। मेरा प्रश्न है, सिद्ध भगवान् तुम्हारा उपकार करने आएँगे क्या? फिर भी आप उन्हें पूजते कि नहीं? क्यों पूजते हैं? आदर्श के रूप में तो आपके पिता भी पूज्य हैं। आदर्श के लिए कोई भी जगत् का मिथ्यादृष्टि जीव भी पूज्य है। आदर्श पूज्य नहीं है, आदर्श सम्माननीय है। उपकारी भी पूज्य नहीं है। उपकारी सम्माननीय है। आदर्श एक बहुत स्थूल विषय है। पूज्य वीतरागता है। **'वंदे तद्गुण लब्धये',** उन–जैसे बनने के लिए वंदना कर रहा हूँ, उनके गुणों की प्राप्ति के लिए वंदना कर रहा हूँ। वे मेरे–जैसे हों, इसलिए नहीं। मैं उनके–जैसा होऊँ, इसलिए वंदना कर रहा हूँ।

जो अर्हंतदेव के द्रव्य गुण पर्याय को जानता है, देखता है, वह जीव अपने द्रव्य–गुण–पर्याय को जानने के लिए जाने, तो उस जीव का मोह क्षीण हो जाता है। जो मोह की विलीनता है, वह मेरा कल्याण है। अर्हंतदेव मेरा कल्याण नहीं है। उनका द्रव्य, गुण, पर्याय मेरा कल्याण नहीं है। मेरा कल्याण तो निज के द्रव्य–गुण–पर्याय को समझ करके मोह से विलीन हो जाना, रहित हो जाना, यह मेरा कल्याण है। 'पंचाध्यायी' को आप मानते हो। प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य

ये सम्यग्दर्शन के बहिरंग लक्षण हैं। प्रशम आदि भाव मिथ्यात्व के मंद उदय में भी जीव कर लेता है और अपने यश:कीर्ति के राग में इतना शांत होकर बैठ जाता है कि आपको लगेगा कि इससे बड़ा महान् तपस्वी तो दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। परंतु वह अपने मानकषाय में इतना डूबा हुआ है कि उसके लिए अनंतानुबंधी मानकषाय की अनुभूति प्रशम भाव नहीं है। इसलिए आचार्य विद्यानंद स्वामी ने 'श्लोकवार्तिक' नाम के ग्रंथ में लिखा है कि प्रशम आदि जो परिणाम हैं, ये अनंतानुबंधी कषाय का जिसका अभाव हो चुका है, उसी के प्रशम आदि गुणों को स्वीकार किया है। जो सम्यग्दृष्टि जीव होगा, उसका अनंतानुबंधी का अभाव होगा। लेकिन व्यवहार से पहचान आप कर भी लो, क्योंकि मैं तो पर्याय को धर्मात्मा देख सकता हूँ और आप भी पर्याय के धर्मात्मा को देख सकते हो, लेकिन परिणामों के धर्मात्मा को देखने के लिए आपके पास कोई शक्ति नहीं है, परिणामों का धर्मात्मा आपके चक्षु का विषय नहीं है, लेकिन पर्याय का धर्मात्मा भी आगम से घटित होना चाहिए। पर्याय के धर्मात्मा का श्रद्धान कहीं वैराग्य और देव दृष्टि पर हो, उसकी पुष्टि कहीं सराग की आराधना पर लगी हुई है, तो व्यवहार से वैराग्य की उसकी दृष्टि में सम्यक् की झलक नहीं है। यदि झलक दिखती भी है, तब भी उसकी परमेष्ठी–जैसी मूर्ति बनाकर पूजा नहीं की जा सकती है। भैया! ये मत समझ लेना कि जहाँ जैन शब्द जुड़ा है वहाँ सब पवित्र ही होगा। जैन शब्द से जैनत्व की पहचान नहीं है। जैसा आगम में लिखा है वैसा नहीं कर पाए तो मालूम चला कि मेरी अंतिम समय तक दृष्टि पर्याय में ही चली गई। अपनी पर्याय से तो मोह छोड़ दिया, लेकिन मित्र की पर्याय में लिप्त हो गया। भैया मुझे भी महावीर की पर्याय का राग छोड़ना होगा। भैया! जो आप मुझे आचार्य कह रहे हो, इस आचार्य पद का भी मुझको त्याग करना होगा। सिंहासन का भी विसर्जन करना पड़ेगा। यहाँ तक कि जब सल्लेखना का समय आएगा तब पिच्छी भी वोस्सरामि, कमंडल भी वोस्सरामि। पिच्छी–कमंडल मेरा स्वरूप नहीं है। द्रव्य चिह्न है, शुद्धि के उपकरण हैं। यहाँ तक कि ये दिगम्बर मुद्रा भी मेरा निज स्वरूप नहीं है। ये देहाश्रित धर्म है। आत्माश्रित जो धर्म है वह मात्र मैं चैतन्य चैतन्य हूँ। चिद्चिद् स्वरूपोऽहम्। जब चिद्चिद् स्वरूप पर दृष्टि जाएगी, उस काल में जीव को जगत् का कोई भी द्रव्य दिखाई नहीं देगा, कोई पर्याय दिखाई नहीं देगी। कोई परद्रव्य दिखाई नहीं देगा, मात्र चैतन्य चैतन्य ही दिखाई देगा। परंतु ज्ञानी का लक्ष्य पर लक्ष्य ही नहीं गया। अलक्ष्यों में लक्ष्य खोज रहा है, पर अलक्ष्य में लक्ष्य मिलेगा कहाँ?

ध्रुवधाम चैतन्य पिंड ज्ञानघन आत्मद्रव्य है। जब यहाँ कह रहे हैं कि हे जीव! मैं वज्रवृषभ

नाराच सहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। ये पौद्गलिक है, ये पर द्रव्य है, मैं चैतन्य द्रव्य हूँ। मेरा ज्ञान–दर्शन धर्म है। सहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त है। मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ। मैं अपनी देह से भिन्न हूँ। जो ये नाम तेरा किसी ने रख दिया है, उसको गाली देकर कोई बुलाये तो तू अपने परिणामों से पूछना क्या हुआ? जैसे तूने अशुद्धरूप संज्ञा को अपने भीतर प्रवेश कराकर रखा है, वैसे चिद्रूप को रख लेता तो इस नाम से तुझे राग–द्वेष नहीं होता। मेरे भीतर कहीं वासना का जन्म तो नहीं हो रहा है? बेटे को तुमने जन्म दिया है व्यवहार भाव से, पर वासना के राग में तुमने संतान को जन्म नहीं दिया। ये देखना अच्छे से कि अपनी कामवासना की पूर्ति को करने के बाद भी उसे भी कर्त्ताबुद्धि से कह रहा है कि यह बेटा मेरा है। हे जीव! पर के कर्म–नोकर्म का तू कर्ता बना बैठा है। संतान से ही कर्तृत्व बुद्धि हटा ले और अपना बेटा कहना बंद कर। मुख से नहीं, अंतरंग से कहना प्रारंभ करो। और जिस भवन में आप रह रहे हो, वहाँ ईंट–चूना जो तुमने संग्रहित करा कर रखा हुआ था, आप कह रहे हो कि कण–कण स्वतंत्र दिख रहा है, उसमें मेरा कुछ भी नहीं लगा है, पर ये जीव फिर भी कह रहा है कि यह भवन मैंने बनवाया है। मेरे मित्र! इस भवन को बनवाने का कर्त्तापन छोड़ो। जो चाक्षुष विषय दिख रहे हैं, इनकी कर्त्ताबुद्धि नहीं छोड़ रहे हो तो अचाक्षुष विषयों से कर्त्ताबुद्धि हटने वाली नहीं है। आप ये भूल ही जाओ कि समय आएगा तो सब ठीक कर लूँगा।

मेरे मित्र! समय तब ही आएगा जब तू करना प्रारंभ करेगा। हाँ, भैया! अनादि की भूल है, ऐसा कहकर तू संतुष्ट होता रहेगा तो सुधार कब करेगा? और अनादि की भूल कह करके उसे अनंत तक ले जाएगा क्या? उस अनादि की भूल को हमने ही तो किया है। उस अनादि की भूल को, अनादि के संस्कार को भूलने के लिए ही तो साधु बने हो। यदि ऐसा कहते रहे तो आप कभी भगवान् बन नहीं पाओगे। अनादि के संस्कार को तोड़ते–तोड़ते साधु बन जाना। जब तू अनादि मिथ्यादृष्टि जीव होगा, सम्यक् के साथ, वहाँ से तोड़ना प्रारंभ करेगा। वहाँ से तोड़ते–तोड़ते सम्यग्दृष्टि होगा, फिर तोड़ेगा। फिर देशव्रती होगा, फिर तोड़ेगा। फिर महाव्रती होगा, फिर तोड़ेगा। फिर श्रेणी आरोहण करेगा, फिर तोड़ेगा। फिर क्षपकश्रेणी से उपशम भाव, औपशमिक चारित्र, क्षायिक चारित्र, ग्यारवें गुणस्थान में गया, फिर तोड़ेगा। और गिरेगा यदि बारहवें में गया तो तोड़ दिया सो तोड़ दिया। अब ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में तेरहवें गुणस्थान में आकर के कैवल्य को प्राप्त करेगा, तब तोड़ेगा और तेरहवें का तोड़ पक्का हो गया तो चौदहवें में ऐसा तोड़ेगा, ऐसा तोड़ेगा कि फिर कभी नहीं तोड़ना पड़ेगा। भैया! ये सब प्रपंच है। निर्णय तो भीतर का है। इसलिए शांत होकर बैठे रहें,

गुणस्थान क्रम से देखो कि मेरे गुणस्थान को तोड़ने की धारा चल रही है? नहीं चल रही है और तोड़ने की धारा नहीं चल रही है, तो तभी से बैठना प्रारंभ करो। कर्तृत्वबुद्धि छोड़ो। इतना तीव्र मोह होता है जीव को कि जहाँ–जहाँ पर का संबंध लेकर चलेगा वहाँ नियम से कर्त्ताबुद्धि होगी। वहाँ आकुलित भाव होंगे।

मेरे मित्र! इन भावों को तुझे बुद्धिपूर्वक छोड़ना पड़ेगा, तब कहीं तू अपने आप में सुधार कर पाएगा। आप यहाँ से जाओगे तो कपड़े बदलोगे, मैं जाऊँगा तो कुछ नहीं करूँगा, प्रतिक्रमण करने बैठ जाऊँगा। आप बार–बार घड़ी देख रहे होंगे कि मेरा भोजन का समय हो गया। इस जीव को विकल्प आ रहा है। क्यों आ रहा है? क्योंकि इस जीव को खाने का तनाव है। मैं प्रत्याख्यान किए बैठा हूँ, सो मुझे कोई विकल्प नहीं है। जिनका प्रत्याख्यान नहीं है, वह कितनी बार सोच चुके हैं। **जब–तक परद्रव्य से संबंध स्थापित रखेगा, तब–तक तेरे अंदर शांति आ ही नहीं सकती। यदि शांति चाहिए, तो परद्रव्य का बुद्धिपूर्वक प्रत्याख्यान कर दो।**

मेरे मित्र! बिना कार्य के जगत् में कोई भी द्रव्य होता ही नहीं। जो रागदृष्टि से युक्त है, वह करनी में कार्य करता है और जो रागदृष्टि से रहित है, वह बिना करनी में कार्य करता है। क्रियावर्ती शक्ति जीव और पुद्गल में है। भैया! देखो ये क्या कह रहा है। थाली पर बैठेगा, ग्रास तोड़ेगा, मुख में लाएगा और कहेगा कि स्वमेव हो रहा है।

मेरे मित्र! जो स्वमेव हो रहा है, वह अर्थ पर्याय का परिणमन है और जो तू ग्रास तोड़कर मुख में रख रहा है, वह स्वमेव नहीं हो रहा है, वह राग करवा रहा है। राग भोग रहा है, जीवद्रव्य की पुद्गलद्रव्य की विभाव–व्यंजन–पर्याय का परिणमन चल रहा है। अब राग का कर्त्ता कौन? राग का कर्त्ता कर्म नहीं है, राग का कर्त्ता चेतन ही है। यदि चेतन कर्त्ता नहीं होगा, कर्म को तू कर्त्ता मानेगा, वह द्वय–क्रिया–कारक भाव मिथ्यादृष्टि। यदि पुद्गल कर्म मेरे राग का कर्ता है, तो मेरे राग का फल भी पुद्गल ही भोगेगा और पुद्गल का कर्त्ता पुद्गल भोक्ता तो हे चेतन! तू संसार में शुद्ध हो गया। भैया! 'अष्टसहस्त्री' ग्रंथ का स्वाध्याय करना पड़ेगा। यदि 'अष्टसहस्त्री' नहीं पढ़ा, तो समयसार तो समझ ही नहीं सकता। भैया! राग ही बंध कराता है। राग विभाव–भाव है। उसका भोक्ता भी विभाव–भाव है। राग कराएगा कौन? तेरा ही पुरुषार्थ। राग मिटाएगा कौन? तेरा ही पुरुषार्थ। महावीर का पुरुषार्थ तेरा राग नहीं हटाएगा, तेरे निज के पुरुषार्थ से ही तेरा कल्याण होगा। सारे जगत् से तेरे को दूर होना पड़ेगा। भैया! जो तुम जगत् के कार्यों का पुरुषार्थ कर रहे हो, उस पुरुषार्थ को छोड़ दो।

भैया! जो तू विषय–कषाय आरंभ–परिग्रह का पुरुषार्थ कर रहा है उसको छोड़ दे। यही तेरे निज का पुरुषार्थ है। हे भैया! तू मुनिराज तो बनना, पर मुनि बनकर मत बैठना। तू मुनिराज बनकर बैठ जाएगा तो तेरे जगत् के सारे पुरुषार्थ स्वयं ही छूट जाएँगे। यहीं परम पुरुषार्थ प्रारंभ हो जाएगा। इसके बिना कुछ होने वाला नहीं है। तेरी आत्मा में अनंत गुण हैं और अनंत गुणों का परिणमन चल रहा है और जितने गुण उतनी पर्यायें भी हैं मेरे अंदर। जितने विभाव–भाव हैं, उतनी विभाव पर्यायें भी हैं मेरे अंदर। जो स्वभावभूत हैं, उतनी स्वभाव पर्याय भी हैं मेरे अंदर। जैसे वृक्ष में पत्ता है कि नहीं, तना है कि नहीं, डाली पुष्प फल है कि नहीं? एक–एक को देखेगा तो सब भिन्न दिखेंगे। अखण्ड रूप से देखेगा तो अखण्ड वृक्ष दिखेगा। ऐसे–ही आत्मा को भिन्न करके देखेगा तो आत्मा भिन्न दिखेगी और राग को भिन्न करके देखेगा तो राग भिन्न दिखेगा और आत्मा को अखण्ड देखेगा तो अशुद्ध आत्मा की ही विभाव–भाव राग–पर्याय है। कोई अलग से राग नहीं आता है। जब वह स्वभाव को देखेगा तो केवलज्ञान केवलदर्शन, ये आत्मा का गुण है। वह आत्मा ही है और राग का अभाव करेगा तो आत्मा ही करेगा। तब वीतरागता का प्रगटीकरण करेगा। जब वीतराग प्रकट करेगा, तो संसार का जो अधिकरण चल रहा था, वह समाप्त हो जाएगा। इसलिए राग जो है, वह कोई भिन्न वस्तु नहीं है। राग आत्मा का विभाव–भाव है। यदि विभाव–भाव नहीं मानेगा, तो मेरे मित्र! साधना का उद्देश्य क्या?

भैया! 'अष्टसहस्री' का अध्ययन किया? 'न्याय दीपिका' पढ़े? 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में चारों अनुयोगों की व्याख्या लिखी हुई है। जीव इन सबको जान ले और लक्ष्य आपका द्रव्यदृष्टि पर होना चाहिए। द्रव्यानुयोग पर नहीं, आत्मद्रव्य पर। न्याय जो है, वह द्रव्यानुयोग ही है।

क्षयोपशम अपना–अपना है। अपने क्षयोपशम से दूसरे को जान सकूँ, इतना क्षयोपशम नहीं है। इसके आगे उसी ग्रंथ की दूसरी गाथा का कोई और व्याख्यान करता तो वह और ऊँचा बोलता। इसका मतलब यह है कि यदि इस बात को नहीं स्वीकारोगे तो सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो पाएगी। हमसे भी अधिक ज्ञानी कोई है। इसका मतलब कोई सर्वज्ञ ही है। अगर ये मान कर बैठ गए कि जो मैं जानता हूँ, वही सबकुछ है, तो वहीं पर सब समाप्त। जिस दिन कण–कण स्वतंत्र है समझ में आ जाएगा, उस दिन तू घर में रह नहीं पाएगा। समझना मेरा धर्म है, समझना मेरा पुरुषार्थ है। भैया! मुझे अपनी पर्याय से राग छोड़ना पड़ेगा, अन्यथा समाधिमरण संभव नहीं है। सल्लेखना के काल में ही ग्रंथों से निर्ग्रंथ होना पड़ेगा। इसलिए यदि अपने प्रति किञ्चित् भी करुणा हो तो न तस्वीरों में लिप्त होना, न पत्रिका में लिप्त होना। यदि देखना है तो जो व्याख्या कुन्दकुन्द देव ने

की है सर्वज्ञ की वाणी से, उसे स्वीकारना। संसार में लिप्त होकर अपनी विडम्बना मत कर लेना। **'णाणा जीवा णाणा कम्मा'।** भैया! ये देखना कि मेरी कषाय कितनी मंद हो रही है। यह निज की पर्याय भी परवस्तु ही है, वह भी असमान जाति पर्याय; लेकिन स्वभाव–व्यंजन–गुण–पर्याय मेरा स्वरूप है, विभाव–भाव मेरा स्वरूप नहीं है।

यह चेतन ज्ञानघन आत्मद्रव्य परद्रव्यों से परिपूर्ण भिन्न है। कर्म की सत्ता के होने पर भी कर्म स्वरूप निज को नहीं स्वीकार रहा है। कर्म की सत्ता के सद्भाव होने पर भी निज को कर्म से भिन्न निहार रहा है। यह है द्रव्यदृष्टि।

प्रश्न हो सकता है कि कर्म की १४८ प्रकृतियाँ हैं। १४८ कर्मप्रकृतियाँ आत्मा से बध्य हैं। विभाव व्यंजन पर्याय से युक्त मैं दृष्टिगोचर हो रहा हूँ। ८४ लाख योनियों में भ्रमण कर रहा हूँ। पर यहाँ पर कषाय–नोकषाय होने पर भी भोक्तत्व भावों का निषेध क्यों कर रहे हैं? निर्बंध अशरीरी सिद्ध परमात्मा, उनको यहाँ चिंतन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे चिंतनातीत हो चुके हैं। **जहाँ तक राग की दशा है, वहाँ तक विकल्पात्मक चिंतन है। जहाँ राग दशा का अभाव है, वहाँ निर्विकल्प धारा है। जहाँ अशरीरी अवस्था है, वहाँ ज्ञानशरीरी आत्मा है। मुक्त आत्मा कर्मादि से मुक्त है, ज्ञानादि से अमुक्त है।** ऐसा सिद्ध परमेश्वर किसी भी विषय का ध्यान करता नहीं और किसी भी विषय का ज्ञान भी नहीं करता। परमात्मा के न कर्तृत्व दृष्टि से ध्येय–ध्यातापना है, न ज्ञेय–ज्ञायकपना है। ध्येय–ध्यातापना तो आप अरिहंत अवस्था तक स्वीकारिए। परंतु आप कहो कि ध्येय–ध्यातापना अरिहंतों में है, सिद्धों में नहीं है, पर ज्ञेय–ज्ञायकपना तो मानो। परंतु ज्ञानियो! ज्ञेयज्ञायकपना भी सिद्धों में नहीं है। तात्पर्य जहाँ इच्छा है, जहाँ विकल्प है, कामना है, आकांक्षा है, वहीं बुद्धिपूर्वक ज्ञेय–ज्ञायकपना है। ऐसा ज्ञेय–ज्ञायकपना बुद्धिपूर्वक न सिद्धों में है न अरिहंतों में। वे ज्ञेय–ज्ञायकपने से शून्य हैं। व्यवहार से कहा जा रहा है कि परमात्मा सारे जगत् को जान रहा है, देख रहा है, पर यथार्थ में परमात्मा निश्चय से निज स्वरूप का ही ज्ञाता–द्रष्टा है और निज स्वरूप के विकल्प का भी ज्ञाता कर्त्ता नहीं है, इसलिए आत्मज्ञ है। विकल्पभूत ज्ञेय–ज्ञायक भाव से रहित है। कौन? परमात्मा। अरिहंत परमात्मा भी, सकल परमात्मा भी, निकल परमात्मा भी। दोनों ही परमात्मा इन विकल्पों से शून्य हैं। किसी प्रकार का विकल्प वहाँ नहीं है। इसलिए जहाँ तक जानने का भाव है, वहाँ तक छद्मस्थ धारा है। देखने का भाव है, छद्मस्थ धारा है। कैवल्य धारा में द्रव्य–गुण–पर्याय झलकती है द्रव्यों की। वे जानने–देखने के विकल्प से शून्य हैं, फिर जो कर्म–कर्मफल चेतना से युक्त हैं जीव और अशुद्ध ज्ञानचेतना से युक्त हैं जीव।

ऐसे जीव ध्येय ध्यान की दृष्टि से युक्त हैं। मेरे ध्यान में परमात्मा अनंत बार आए, पञ्चपरमेष्ठी अनंत बार आए। अन्य परज्ञेय अनंत बार मेरे ध्यान का विषय बने। जितने शरीरिक, मानसिक, वाचनिक कष्ट हैं, पीड़ाएँ हैं, सब पर ज्ञेयों को ज्ञेय बनाने के कारण हैं। हर्ष भी परध्येयों को ध्येय बनाने का कारण है, विषाद भी परध्येयों को ध्येय बनाने के कारण है। जो–जो पर को ध्येय बनाएगा, ज्ञेय बनाएगा, उसको दु:खी होना ही होगा। ज्ञानी! आप दोनों युवा यहाँ शांति से बैठे हो। अभी आप जिनवाणी मात्र सुन रहे हो अन्य संकल्पों–विकल्पों से दूर होकर। **किसी क्षण तेरी दृष्टि किसी कन्या पर चली गई तो आनंद तेरा भिन्न हो चुका है। जैसे–ही परज्ञेय आया मस्तिष्क में, परध्येय बनाया तूने, वैसे–ही कष्ट प्रारंभ हो चुका है और लंबा गहरा चिंतन में ले गया। मस्तिष्क गर्म हो गया है। वस्तु का मिलना पुण्य–पाप पर आलम्बित है। वस्तु का मिलना लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम पर आधारित है, परंतु चित्त का ले जाना चित्त की चंचलता है।** इच्छा की पूर्ति हो जाए, ये नियत नहीं है। इच्छा दौड़ रही है अनियत रूप से। अनियत इच्छा का जो गमन चल रहा है, वह व्यक्ति को परेशान किए हुए है। उसे कुछ दिखाई नहीं दे रहा है, मार्ग नहीं दिखाई दे रहा है।

व्यक्ति जब थकने लगता है, तनाव में इतना परेशान हो जाता है कि अपने आपको हीन–दीन समझने लगता है। निज के समीकरण को बनाकर रख पाना बहुत कठिन है। जमीन पर गर्त होने पर समीकरण करते हो कि नहीं? जमीन पर गड्ढे होने पर आप उन्हें भरते हो कि नहीं? ऐसे–ही निज के भावों में कुटिलता, हीनता, दीनता, आदि के गर्त होने पर उसको साम्यभाव से समीकरण की कला आनी चाहिए। विभाव भाव के गर्तों से अपने आपका समीकरण करें जैसे–ही परिग्रह पर लक्ष्य जाता है, परज्ञेयों पर लक्ष्य जाता है, वह तेरी आत्मा में एक–एक गड्ढा है। **भैया! जिन–जिन को तनाव मुक्त होना हो, दु:ख से मुक्त होना हो, क्लेश मुक्त होना हो, वे पर ज्ञेयों को अपना ज्ञेय बनाना छोड़ दें। जैसे ही पर को ज्ञेय बनाया, मेरी वेदना प्रारंभ हो गई। पर का वेदन ही वेदना है। चाहे अपनी देह का वेदन करो, चाहे अन्य देहों का वेदन करो, जो–जो पर का वेदन करेगा, वह वेदना देकर ही जाएगा। जिनको वेदना से मुक्त होना है, वे अपने ज्ञान को परज्ञेयों से मुक्त कर लें।** जिनको अपने कर्मों से मुक्त होना है, वे अपने आपको पर ज्ञेयों से मुक्त कर लें। जब–तक अपने ज्ञान को परज्ञेयों से मुक्त करने की विद्या नहीं आ रही है, तब–तक ज्ञानियो! आप अपनी वेदना से मुक्त नहीं हो पा रहे हो। मानसिक वेदना जीव को अधिक है, शारीरिक वेदना अल्प है। शरीर में कहीं कुष्ट हो तो कोई उपचार कर देगा, लेकिन आपको मानसिक

रोग है तो उसका कोई उपचार नहीं कर पाएगा। इस वेदना को उत्पन्न किसने किया? यदि आपने व्यक्ति को स्वतंत्रता का बोध करा दिया, इससे बड़ा कोई उपकार नहीं है। हमारे धर्म की जो शैली जा रही है, वह परतंत्रता की ओर जा रही है, जबकि धर्म स्वतंत्रता की ओर जाता है, पर आपने शैली को मोड़ दिया है। कहीं आपने कलश मिट्टी आदि पर आलम्बित करा दिया, ग्रह नक्षत्र आदि के नाम पर आलम्बित करा दिया, यानि उसकी स्वतंत्रता का हनन किया आपने, जबकि आदमी को स्वतंत्रता का बोध हो जाए कि मैं पर से भिन्न हूँ। घर में कोई बीमार हो गया तो वह आराम से चारपाई पर विश्राम कर रहा है। ज्ञानी पीड़ित व्यक्ति की सेवा तो करो, पर अपनी स्वतंत्रता का अभाव मत कर देना। वह रोग से रोगी है, दु:खी है। तुम शोक से दु:खी हो, रोगी हो। दोनों ही रोगी हो गए। अब तुम्हारे घर की व्यवस्था का क्या होगा? यदि द्रव्यानुयोग की दृष्टि को जगत् के प्राणी समझ लें, तो हर व्यक्ति आनंदमय जीवन जीएगा।

भैया! यह पेन है। वह मैं हूँ, कि मैं वह हूँ? मैं पेन नहीं हूँ। यह टूट जाता है, भैया! क्या मैं टूट गया? मैं पेन नहीं हूँ, पेन मैं नहीं है, मैं पेन से भिन्न हूँ। इसको अच्छी तरह से सोच लो। अगर यह टूट गया, इससे मेरा क्या नाश होगा? बिना खूटे के, बिना रस्सी के कोई बंधन इसमें है, वह राग का बंधन है। यह पेन मैं नहीं था, आगे भी नहीं होगा। जिसने ऐसी स्वतंत्रता का वेदन कर लिया, वह कह पाएगा 'ठीक है। जो है, सो है।' परविषयों में निजत्व बुद्धि को हटाकर निज में निज का रमण जो करा लेता है, वही पूर्ण सत्य वैज्ञानिक है, वही वीतराग विज्ञानता को जानता है।

भैया! दो धाराएँ आपके पास हैं। एक चाक्षुष है, एक अचाक्षुष है। जो चाक्षुष द्रव्य है, उसके कारण अधिक परेशान हैं। सद्भाव या अभाव को मैं ही तो देख रहा हूँ जो बध्यमान कर्म–नोकर्म किए, कर्म अनुभव में आ चुके हैं। देह दिख रही है, दृश्यमान देह में आप देख रहे हैं। मैं संसारी हूँ, आप कैसे कह सकते हो कि मैं संसारी नहीं हूँ? विसंवाद क्यों हो रहा है? संसार स्वरूप तेरा है क्या? मैं संसारी हूँ, तो संसार स्वरूप हूँ, ऐसा कह रहा है जीव। दृश्यमान संसार–अवस्था में आप अपनी संसार–अवस्था को देखिए। उसके लिए समयसार से बध्यघात में अबध्य को निहारिए। विकारी भाव में अविकारी भाव को देखिए, फिर बड़ी सहजता से इन युवाओं को तुम समयसार में प्रवेश करा सकते हो।

भैया! शांति में आनंद है कि नहीं? अभी तुम सुख में हो कि नहीं? अभी तुम्हें यहाँ न भोजन मिल रहा है, न पानी मिल रहा है, न कोई सिनेमाहाल में तू है। किसी इंद्रिय का विषय तू

यहाँ नहीं भोग रहा है। तू सुखी किस बात पर है? यहाँ पर ज्ञान मिल रहा है। भैया! देनेवाला तेरे से दूर है, फिर सुख किस बात का? ये शांति तेरे अंदर किसने भर दी है? **जीव! तेरे अंदर शांति किसी ने भी नहीं भरी है, तू शांतिमय ही है, तू आनंदमय ही है; पर मस्तिष्क में जो परज्ञेयों को ज्ञेय बना लेता है, उनसे अशांति वृद्धिमान होती थी। इस समय आप अन्य कहीं उपयोग नहीं ले जा रहे हो। पर से भिन्न होने में जो आनंद है, परज्ञेयों परद्रव्यों में नहीं है। परद्रव्यों का आनंद जो है, वह चंचलभूत है, अशांत भूत है। जो परद्रव्यों से भिन्न निजत्व की अनुभूति है, वही परम स्वभाव है। वही परम धर्म है।** यही वस्तु का स्वभाव है। ये जो सुख है, अतीन्द्रिय है। इस सुख की अनुभूति अनंतभूत है। पर चित्त की चंचलता, भावों की वक्रता, ये जीव को सुख में स्थिर नहीं होने दे रही है। इसलिए प्रतिक्षण अनुभूति आगम की आना चाहिए।

बंध में अबंध को निहारिये। मैं श्रुतज्ञानावरणी कर्म का भोक्ता नहीं हूँ। मैं आत्मा से आत्मा का ही संवेदक हूँ। अचाक्षुष धारा, इंद्रियों से दिखनेवाले विषय, चंचलभूत हैं, अस्थिरभूत हैं, अतीन्द्रिय विषय आनंदभूत हैं, स्तम्भित हैं, शांत हैं। अचाक्षुष में चाक्षुष को निहार लीजिए, मिश्र में अमिश्र को निहारिए, दूध में मिश्री का स्वाद भिन्न कीजिए। मिश्र में लिप्त होकर अमिश्र को भूल रहा है। चंचलता की अनुभूति को आनंद कह रहा है, जबकि वह कषाय थी। कषाय की अनुभूति में आनंद मान रहा है जबकि वह भी अज्ञानता है। हँसी का प्रसंग छेड़ दिया– 'अहा! क्या आनंद आया। आज सारी सभा आनंदित हो रही थी।' पर मेरे मित्र! कषाय की अनुभूति चल रही थी। जिसे तू आनंद मान रहा था, वह दु:ख था। जैसे मिथ्यादृष्टि जीव किसी कुदेव आदि के स्थान पर जाकर आनंद मान रहा है, ऐसे–ही अज्ञानता की देवी के पादमूल में तू निर्मल भावों की गर्दन को नष्ट कर रहा है और विषय–कषाय की बेदी पर अपनी बलि दे रहा है। **जिस क्रिया के करने पर विश्राम करने के परिणाम आएँ, वह कोई धर्मक्रिया नहीं है। थकान महसूस हो, ग्लानि महसूस हो, आपत्ति झलके मन में, वे सब पापक्रियाएँ हैं।** पर से भिन्न, मंत्र–आराधना से भिन्न, परमात्मा की आराधना से भिन्न, निज स्वरूप की लीनता में प्रवेश करेगा, उसको सुख की अनुभूति होगी–ही–होगी। असमान जाति पर्याय में अपने आपको भिन्न करके निहारिए। जब तत्त्व की गवेषणा में सारे जगत् के विषय विषभूत हो जाते हैं, वह वीतराग सम्यक् है।

भैया! राग के परिवर्तन को धर्म मान लिया लोगों ने। मालूम चला कि तीन समय की बैठक वाली सामायिक तो कर ली, पर सारा समय गया समाज में। भैया! अनंत पर्याय समाज को दीं, पर अब ये मुनि पर्याय सामायिक के लिए है, समाज के लिए नहीं है। नहीं–तो कीड़ा–सा काटता

है कि मेरा चातुर्मास हो रहा है कोई ऐसा काम नहीं हुआ। तो तोड़ेगा, जोड़ेगा, फोड़ेगा। ज्ञानी! सामायिक करो, समाज में मत जाओ। भैया सामायिक ही सामयिक काम है। लोग कई बार पूछ चुके कि तीन बार ही सामायिक करना चाहिए क्या? मैंने कहा कि कोई जरूरी नहीं है। जहाँ समय मिले, वहीं बैठ जाना। तीन समय तो करना ही करना। बाहर की गप्पों की अपेक्षा से आँखें बंद करके बैठ जाना अच्छा है। भैया! यहाँ ही नहीं, घर में भी हाथ पर हाथ रखकर बैठें, वही धर्म है। जब भी खाली समय मिले, आँख बंद करके बैठ जाना। दुनियाँ की कोई भी शक्ति आ जाए, हिलना मत।

वैज्ञानिकों की दृष्टि से कोयला हीरा बन जाता है। ऐसे–ही ज्ञानी! आत्मा–भगवान् बनती है। जैसे कोयला हीरा बन सकता है तो ये बहिरात्मा अंतरात्मा कैसे नहीं बन सकता है?

जीवद्रव्य चैतन्य ज्ञानघन, टंकोत्कीर्ण परमपारिणामिक भाव से युक्त आत्मद्रव्य कर्म के धर्म से भी भिन्न है। कर्म का धर्म आत्मद्रव्य से भिन्न है। परधर्म में इतना अकिञ्चित् भाव आ रहा है कि आत्म–धर्म, कर्म–धर्म का भेद नहीं कर पा रहा है। जीव अनादि अविद्या के वश हुआ इतना संस्कारों से संस्कारित हो चुका है। गहनतम संस्कार हैं कि यह मान कर चलता हूँ कि देह मैं हूँ। माना कि ग्रंथों के माध्यम से यह बोध भी हो गया कि देह मेरे से भिन्न है, मैं देह से भिन्न हूँ। इस बात को मिथ्यादृष्टि जीव भी कह लेता है, लेकिन निर्णय भीतर का है कि मेरा देह से राग कम कितना हो रहा है?

ज्ञानियो! संसार में दु:ख का कोई मूल है तो देह में आत्मबुद्धि है। मैं चिन्मयी हूँ, द्रव्यत्व दृष्टि से मैं भगवत–वत् हूँ। आत्मा की शुद्ध दशा पर विचार करोगे तो मुझे तो मात्र सिद्धालय में जाना है, मेरी सिद्धि तो ध्रुव है। कर्म आत्मधर्म नहीं है, इस दृष्टि से त्रैकालिक अपने स्वभाव में हूँ। मेरा आत्मद्रव्य त्रैकालिक स्वतंत्र है। निज आत्मद्रव्य की त्रैकालिक स्वतंत्रता का जब–तक निर्णय नहीं करेगा, तब–तक सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ क्यों करेगा और कैसे करेगा? जब–तक निज स्वतंत्रता का बोध नहीं होगा, तब–तक परतंत्रता को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। परतंत्र वही होता है, जिसे स्वतंत्रता का बोध होता है। आपका भारत देश भी लंबे समय तक परतंत्र रहा। सब घुल–मिल चुके थे कि समझ रहे थे कि हमारे लिए तो कोई भी राजा है। अपन को तो जीना है। जब उनको स्वतंत्रता की अनुभूति हुई, तब परतंत्रता का बोध हुआ। जब–तक जीव को स्वतंत्रता की अनुभूति नहीं होगी, तब–तक परतंत्रता का बोध नहीं होगा।

बँधा हुआ पशु हरी घास चर रहा है, उसको दाना खाने को मिल रहा है, सुखमय जीवन

जी रहा है; लेकिन जब बाहर दौड़ता हुआ कोई पशु दिखाई देता है तब उसको समझ में आता है कि मैं हरी घास अवश्य खा रहा हूँ, लेकिन खूँटे से बँधा हूँ। छूटे पशु को बँधा पशु देखता है तो वह विचार करता है कि सामने हरी घास अवश्य है, लेकिन खूँटे से बँधा हुआ हूँ। बँध में सुख नहीं है, सुख तो मोक्ष में है। ऐसे–ही जब तुझे अनंत सिद्धों का बोध होता है आगम के माध्यम से, गुरूपदेश से, अनुभव से कि मैं कहीं–न–कहीं बंध को प्राप्त हूँ, पराधीन हूँ, सहज अनुभूति से दूर हूँ, जब सहज अनुभूति का अनुभव कर लेता है कल्पना में, ध्यान में। कल्पना के माध्यम से आनंद आता है कि नहीं? आँख बंद करके सम्मेदशिखर के स्वर्णभद्र कूट की याद करो। पार्श्वनाथ स्वामी ध्यानस्थ बैठे हुए हैं और अघातिया कर्मों का नाश करके अ इ उ ऋ ऌ इतने ह्रस्व स्वरों के उच्चारण मात्र में जो समय लगता है उतने समय में प्रभु सिद्धत्व को प्राप्त हो लिए, कर्मातीत हो गए, बंधातीत हो गए, बंध का अभाव हो गया। हे वर्द्धमान! मुक्ति की अनुभूति तो आपने सिंह की पर्याय में ही कर ली थी, मुक्ति की प्राप्ति आपने महावीर की पर्याय में की है। मुक्ति की अनुभूति नहीं तो अविरत सम्यग्दृष्टि कैसा? और मुक्त ही है, तो अविरत सम्यग्दृष्टि कैसा? मुक्ति की प्राप्ति तो चौदहवें गुणस्थान में होती है, चौथे गुणस्थान में तो अनुभूति होती है। एक द्रव्यदृष्टि और एक सिद्धांत दृष्टि। निश्चय दृष्टि, व्यवहार दृष्टि दोनों दृष्टियों को समझो। चतुर्थ गुणस्थान–वर्ती जीव को यदि सिद्धत्व की अनुभूति नहीं है परोक्षभूत, तो सम्यक्त्व किसके लिए? ब्रह्म गुण की प्राप्ति किसके लिए? अरहंत के चरणों की श्रद्धा के लिए श्रद्धा है, कि निर्ग्रंथ के चरणों की श्रद्धा के लिए श्रद्धा है, कि जिनवाणी की श्रद्धा के लिए श्रद्धा है, कि कर्मातीत होने के लिए इन तीनों पर श्रद्धा है? इन तीनों पर आस्था तो है, पर इन तीनों पर टिके रहने के लिए नहीं है। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित होने के लिए इन पर श्रद्धा है। जिनको द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के बंध का बोध नहीं हो, उनके लिये देव–शास्त्र–गुरु की श्रद्धा 'धम्मं भोगणिमित्तं' भोग के निमित्त है।

आपके श्रीमुख से अशुभ शब्द निकल जाए तो आपको पश्चात्ताप होता कि नहीं? ये वेदन करो। अशुभ क्रिया हो जाए। आपके शरीर से तो आपको लगता है कि आज अच्छा नहीं किया। हे जीव! भावकर्म का अशुभ होना, नोकर्म का अशुभ होना दिखने लग जाए और द्रव्यकर्म की सत्ता में दोनों हो रहे हैं, जब आपको ये लगने लग जाए कि मैंने ये अशुभ किया है, वजन महसूस हो रहा हो कि ये नहीं करना था। बुद्धिपूर्वक मैंने अब्रह्म सेवन किया, मैंने हिंसा की, मैंने असत्य भाषण किया, मैंने चोरी की, परिग्रह संचय किया, तो मेरे परिणाम भारी–भारी दिख रहे हैं। मैं

अपने आपको प्रमुदित देखना चाहता हूँ, पर खुशी आ ही नहीं रही है। मित्र! एक साधु को देखो, कुछ भी उसके पास नहीं है, तब भी चेहरे पर चमक है। मित्र! नोकर्म उन्हीं का चमकेगा, जिनका भावकर्म पवित्र है। जिनकी भावविशुद्धि नहीं है, चेहरा काला दिखेगा। जिसके परिणाम अच्छे हैं, वृद्धावस्था देह में आने पर भी चेहरे में चमक की वृद्धि होती है।

मैं बंधनबद्ध हूँ, ये आपको महसूस हो रहा कि नहीं हो रहा? जब–तक बंध का वजन महसूस नहीं हो रहा, तब–तक मुक्ति की प्राप्ति का लक्ष्य हो ही नहीं सकता। चिंतन निज में करना। निंदा निज में होती है। आलोचना गुरु के चरणों में होती है। गुरु के चरणों में आलोचना करना– स्वामी! मैंने ऐसे–ऐसे परिणाम कर लिए, क्रियाएँ कर लीं। जब गुरु को वह सुना देगा, तो वहाँ पुन: सोचना पड़ेगा कि मेरी कमी गुरु को मालूम चल चुकी है, अब मुझे कितना और सावधान रहना चाहिए। निंदा गर्हा के साथ आलोचना आवश्यक है और आलोचना के साथ प्रतिक्रमण आवश्यक है और प्रतिक्रमण के साथ प्रत्याख्यान आवश्यक है। इसलिए यहाँ पर कह रहे हैं। बंध का बोध उसी को होगा, जिसको स्वतंत्रता की अनुभूति है। जिसने जन्म से सिर पर बोझ रखा हुआ है, उसे पता ही नहीं है कि ये भी वजन है; पर जिसने हल्केपन को जान लिया है, वह समझेगा कि यह वजन है।

अभी तक जीव अशुभ में सुख देख रहा है। बोलता है कि मुझे राजसुख छोड़कर मुनि बना दो। यानि कि मुनि बनने में दु:ख है। जिसे तुम सुख बोल रहे हो, अरे! तुम्हें तो कहना चाहिए कि मैं अनंत दु:खों को छोड़कर सुख को प्राप्त हुआ हूँ। जब तक तुम्हारे मस्तिष्क में गूँज रहा है कि मैं इतनी संपत्ति छोड़कर आया हूँ, इतना वैभव कुल परिवार की विभूति को छोड़कर आया हूँ, कितने लोग मेरे से प्रभावित रहते थे, मैं कितना कुछ छोड़कर आया हूँ, मेरे मित्र! विश्वास रखिए, आप अभी दु:ख में सुख मान रहे हो। भैया! तू नहीं भी बोलना चाहे तो मान बुलवा देता है कि मैं बहुत प्रभावशाली था। मैं छोटे–मोटे घर से मुनि नहीं बना हूँ। ये मान क्यों बुलवा रहा है? जिससे सामने वाला प्रभावित हो जाए और उनकी व्यवस्था अच्छे से बना दे कि महाराज अच्छे घर के हैं, इनको कष्ट नहीं होना चाहिए। हे जीव! कष्ट से ही आया और कष्ट के लिए ही बोल रहा है। तूने अभी कष्ट को कष्ट स्वीकारा ही नहीं है।

जिस दिन तुझे संसार के सुखों में कष्ट महसूस होगा, उस दिन तू तपस्या में सुख मनाएगा और विषयों में दु:ख मनाएगा। कहीं–न–कहीं अभी हम वैरागी तो हुए हैं। वैरागी कई प्रकार के होते हैं। अभी रहने का राग छोड़ा है। वहाँ से अभी हटे नहीं हैं। हट गए होते तो ये शब्द ही नहीं गूँजता और जहाँ है अभी, वहाँ की अनुभूति प्रारंभ नहीं हुई। ग्लानि मत करना, मैं आपको

एक दृष्टांत दे रहा हूँ। अनार का रस पीने वालों का मल काला हो जाता है और दूध पिएगा उसका मल सफेद होगा। आज तुमने अनार का रस पिया, इसके पूर्व बीते कल आपने बहुत दूध पिया था और आज प्रात: मल विसर्जन करने जाओगे तो कहोगे कि महाराज मल काला तो नहीं निकला। ज्ञानी! कल के दुग्ध का जो मल था, वह अभी इतना अधिक था कि वह ही अभी काम कर रहा है। दूसरे दिन देखना, काला मल निकलेगा। हे जीव! जो ऊपर मल की परत रखी हुई थी, उसने पता नहीं चलने दिया। खाया परसों था, आज का खाया हुआ असर नहीं कर रहा है। आप में जो पूर्व का संस्कार रखा हुआ था, ऐसे–ही आप छोड़ कर तो आ गए हो, उसका संस्कार रखा हुआ है। यहाँ की अनुभूति प्रारंभ हुई नहीं है, सो छोड़ कर तो आ गए, पर यहाँ का आनंद नहीं आ रहा। क्यों? जिसके लिए आए थे, वहाँ पहुँचे ही नहीं हैं। विश्वास रखना, यदि वहाँ पहुँच गए तो जीवन के किसी भी पल में घर की याद आ नहीं सकती है। जो जीव ने 'चिंत्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो' सो इंद्र नाग नरेंद्र अहमिंद्र के नाहीं कह्यो। निज में लीन श्रमण की जो अनुभूति है, वह इंद्र नाग नरेंद्र के भी नहीं है। कोटि–कोटि अप्सराओं में रमण करने वाला सौधर्म इंद्र भी उस सुख का वेदन नहीं कर पाता जिसको वीतरागी दिगम्बर मुनि एक श्वास प्रमाण काल में करता है। जिसको अपने वंश, नगर, कुल, जाति आदि की याद आती हो, विश्वास रखना, अभी जीव वहाँ पहुँचा नहीं है जहाँ उसे पहुँचना चाहिए था। हे श्रमण! हे योगी! इंद्रियों का दमन करने वाले! जब–तक तुम्हारा विकल्प जाति और लिंग में लगा हुआ है, तब–तक आपमें परम ज्ञान की सत्ता का उद्घाटन नहीं हुआ। वे प्राप्त नहीं कर पाएँगे परम पद परमात्मा का। जिस घर को तुम छोड़कर आए थे, उस घर के लोग तो आनंद ले रहे हैं कि मेरा सगा दिगम्बर मुनि है, वे तो तुम्हारे मुनि–अवस्था की स्मृति कर रहे हैं।

कर्म–नोकर्म का भोक्ता मैं नहीं हूँ। मैं आत्मा का आत्मा से ही संचेतक हूँ। इस दृष्टि में जाएगा योगी, तब लगता है कि हे श्रावक! आर्त्त–रौद्र ध्यान तेरे पास प्रधान है, धर्म्यध्यान उपचार से है। मुख्य धर्म 'ध्यान' तो छटवें गुणस्थान में है और शुद्ध धर्म्यध्यान सातवें गुणस्थान में है। चतुर्थ पञ्चम गुणस्थानों में धर्म्यध्यान स्वीकार है, लेकिन उपचार से। इसलिए पंडित टोडरमलजी ने भी लिखा कि मोक्षमार्गी होसी। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्गी होगा।

आचार्यभगवंत पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव को लिखा है, यथार्थ में तो सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र इन तीनों की एकता जहाँ है, वहाँ मोक्षमार्ग है। यहाँ तो उपचार मोक्षमार्ग है। एकदेश प्रारंभ कर रहा है। लेकिन मार्ग कहाँ बनेगा? जब तीनों की एकता

होगी। धवला जी की दृष्टि से जहाँ हम शुक्लध्यान ग्यारहवें गुणस्थान से प्रारंभ करते हैं, वहाँ धर्म्यध्यान दसवें गुणस्थान तक है। अब जो भद्र ध्यान है, भद्र परिणाम है, उपचार धर्म्यध्यान है। ऐसा 'भावसंग्रह' ग्रंथ में लिखा हुआ है। मूल जो धर्म्यध्यान है, सविकल्प, वह छटवें गुणस्थान से है और शुद्ध धर्म्यध्यान सातवें गुणस्थान से है। अब ये भेद क्यों कर दिया? 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग क्यों किया? इसलिये कि किञ्चित् भी मिश्रधारा है, वहाँ शुद्ध धारा नहीं है। चतुर्थ पञ्चम गुणस्थान में आर्त्त–रौद्र ध्यान के चारों पाए पाये जाते हैं। छटवें गुणस्थान में भी आर्त्त ध्यान आ जाता है। जीव को गुरु महाराज ने बोल दिया कि विहार करो। अब मुझे गुरुमहाराज से दूर जाना पड़ेगा। यदि ये विकल्प भी तुम्हारे मन में आ रहा है इष्टवियोग। कहीं फोड़ा हो गया, बुखार आ गया। अचानक भाव मन में आ गए कि मुझे बहुत पीड़ा है। आर्त्तध्यान पीड़ा चिंतन। काँटा पैर में चुभ गया। 'अरे! यहीं पड़ा था। मुझे ही लगना था।' अनिष्ट संयोग हो गया। जब आर्त्तध्यान आप चतुर्थ पञ्चम षष्टम गुणस्थान में मानते हो, तो फिर इन सबकी दुर्गति होना चाहिए? बोले, नहीं होगी। क्यों? आर्त्तरौद्र ध्यान तो दुर्गति का ही कारण है, लेकिन सम्यक् की सत्ता के कारण ये सम्यक् की महिमा है कि ये इतना अशुभभूत नहीं होता जो कि दुर्गति में ले जाए, लेकिन ये ही आर्त्त–रौद्र ध्यान मिथ्यादृष्टि को होगा तो नियम से तिर्यञ्च नरक जाएगा। अब मुनिराज ही नहीं, सम्यक्–दृष्टि जीव भी तिर्यञ्च नहीं बनेगा और प्रथम नरक में भी नहीं जाएगा। तो–फिर देशव्रती कैसे जा सकता है? महाव्रती कैसे जा सकता है? परंतु इतना ध्यान रखना, ये आर्त्त–रौद्र ध्यान करने से नहीं बच रहे हैं। दुर्गति में ये सम्यक् देशव्रत और महाव्रत के प्रभाव से बच रहे हैं। नहीं–तो आप कहो कि आर्त्त–रौद्र ध्यान की क्या महिमा होगी। आर्त्त–रौद्र ध्यान तो दुर्गति का ही कारण है, लेकिन जहाँ सम्यग्दर्शन, देशव्रत, महाव्रत है, वहाँ उन व्रतों के प्रभाव से उस जीव की दुर्गति नहीं हो रही है। अब जो आर्त्त–ध्यान हैं, छटवें गुणस्थान में निदान को छोड़कर, इसलिए वहाँ शुद्ध धर्म्यध्यान नहीं है। शुद्ध धर्म्यध्यान का मतलब है जहाँ अन्य खोटे ध्यान हों ही न। शुद्ध धर्म्यध्यान तो सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। सप्तम गुणस्थान में किसी भी प्रकार का आर्त्त–रौद्र ध्यान होता ही नहीं है। ध्यानस्थ दशा है, निर्विकल्प दशा है। सातिशय में भी नहीं और निरातिशय में भी नहीं। इसलिए ध्यान दो। जहाँ आचार्यों ने यूँ कहा निर्विकल्प श्रुत, श्रुत में शुद्ध की लीनता, श्रुत की अखण्ड धारा, जहाँ इनकी व्याख्या करते हैं, वहाँ पञ्चम चतुर्थ, स्यात् षष्टम, उसके नीचे की तो बात ही नहीं करना। इन गुणस्थानों में श्रुतज्ञान की शुद्ध अखण्ड धारा नहीं है, क्योंकि जो आप समझ के रखे हो वह बहुत स्थूल परसमय की बातें हैं। मैं समयसार आत्मख्याति टीका से बोल रहा हूँ। शुद्ध अखण्ड

श्रुतज्ञान की धारा। अब आप कहो कि महाराज। मैं श्रुतज्ञान से ही सबकुछ जान रहा हूँ। मेरे श्रुत की अखण्ड धारा चल रही है। ज्ञानी! नहीं चल रही है। श्रुत की अखण्ड धारा से मतलब समझिए। जैसे शांतिधारा छोड़ रहे हो।

सत्यता ये है कि जिस लोटे में आपने पहले से जल रखा है, उसी से पूर्ण धारा होना चाहिए। जो ऊपर से पानी डाल देते हैं, वो सब भङ्ग कर रहा है। आप ऊपर से विघ्न कर रहे हो। फिर एक भी समय का अंतराल नहीं पड़ना चाहिए। वह अखण्ड शांतिधारा चल रही है। अब इतना वीभत्स दृश्य होता है कि दूसरा ऊपर से डाल रहा है। अरे! तुमको भाव है तो हाथ लगा लो, लेकिन इतना पर्याप्त जल भरके रखो कि फिर ऊपर से न भरना पड़े। पानी की स्थिरता में हलन–चलन हो गया। आपके डालने से।

आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान बिना परद्रव्य की सापेक्षता से होते हैं क्या? जैसे कि पहला रौद्रध्यान हिंसानंदी। तो कोई हिंस्य भी है, हिंसक भी है। निज के परिणाम भी कलुषित कर रहे हो। हिंसक भाव तभी आ रहे हैं जब हिंस्य आपके अंदर था। वह सामने नहीं है, लेकिन सामने है। मृषानंदी झूठ यानी किससे बोलोगे? कोई है। अब झूठ वाला सामने नहीं है, तब भी तुम्हारा खोटा चिंतन झूठा चल रहा है। ज्ञानी! जो विषय आगम में नहीं है, इन मुमुक्षुओं को समझाना अच्छे से, नहीं–तो मेरे मित्र! देखते–देखते दुर्गति नियत है। जो विषय आगम में नहीं है, यदि उस विषय को तुम अपने चिंतन का विषय बना रहे हो, ये असत्य है कि नहीं? जो तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी ने अपनी वाणी में नहीं कहा, जो पूर्वाचार्यों ने नहीं कहा, उसे तुम ज्ञान का विषय बना रहे हो, ये असत्य है कि नहीं? वह मृषा है और मृषा बोलकर तुम आनंदित हो रहे हो, ये आनंद किसका है?

टंकोत्कीर्ण परमपारिणामिक भाव से युक्त अशरीरी भगवान्–आत्मा परद्रव्यों से अत्यंत भिन्न है। बंध दशा की व्यवस्था को बंधभूत समझता हुआ जीव बंध में ही निर्बंध को निहार रहा है। बंध नहीं है, तो निर्बंध कैसा? बंध स्वभाव ही निर्बंध के ज्ञायकत्व का ज्ञान करा रहा है। निर्बंध भाव जो है, वह बंध भाव का बोध करा रहा है। **बंध का अभाव निर्बंध है। निर्बंध स्वभाव है, बंध विभाव है। विभाव–भाव का अभाव ही स्वभाव–भाव का प्रादुर्भाव है। जो विभाव–भाव को नहीं स्वीकारता, उसका स्वभाव–भाव भी स्थापित नहीं होता। विभावभूत आत्मा स्वभाव–भाव में स्थापित नहीं होता। विभावभूत आत्मा ही स्वभाव–भाव को प्राप्त होती है।** विभाव दशा पर शंका है, वह आत्मा के स्वभाव दशा में शंकित ही है। द्रव्यदृष्टि ध्रुव दृष्टि है।

द्रव्यदृष्टि से हम स्वभाव को निहार रहे हैं। पर्याय की प्रत्यासत्ति में आपको बंध दिखाई दे रहा है। यदि आप वर्तमान की पर्याय में बंध नहीं स्वीकारेंगे, तो प्रश्न ये है **'संसारिणो मुक्ताश्च'** जीव के दो भाग किए, संसारी और मुक्त। तो मुक्त और संसारी इन दोनों में अंतर क्या है? यदि आप अंतर नहीं मानते हो तो दो प्रकार के सिद्ध हो गए। एक राग–द्वेष में लवलीन विषयासक्त सिद्ध और दूसरा राग–द्वेष से रहित, विषय कर्म से रहित, सिद्ध। जो जीव आत्मा को संसार में शुद्ध ही मानता है, पर्याय की प्रत्यासत्ति की मलीनता को नहीं स्वीकारता है, उस जीव के यहाँ सिद्ध भगवान् भी विषयसेवी हैं।

ज्ञानी! इतने बड़े विपर्यास को दूर करना है तो आपको पर्याय की प्रत्यासत्ति स्वीकारना होगी। जो जीव जिस पर्याय में है, उस समय उस जीव की परिणति वैसी है। कर्मभूत आत्मा नहीं होती है। तेरे चेहरे का प्रतिबिम्ब झलक रहा है, इसी प्रतिबिम्ब को बार–बार झाँक–झाँककर देख रहा है। अपने नयनों से दर्पण के माध्यम से तू अपने चेहरे का भोग भोग रहा है। इसका भी बंध होगा। अच्छा लगता है कि नहीं? हर कक्ष में दर्पण है। जब–जब निकलता है, तब झाँक करके ही निकलता है। मोहकर्म का भोग अपने द्वारा कर रहा है। इधर दृष्टि ही नहीं है जो द्रव्यदृष्टि शुद्धात्मस्वरूप है। इस गूढ़ स्वरूप को निहारने वाला ज्ञानी है। तेरे बेटे की माँ भगवान्–आत्मा है कि नहीं? द्रव्यदृष्टि से तू भगवान्–आत्मा है कि नहीं? द्रव्यदृष्टि क्या? प्रकट परमात्मा। **यदि तू बोल रहा है कि मैं परमात्मा ही हूँ। हे जीव! तू भी परमात्मा, तेरे बेटे की माँ परमात्मा, फिर परमात्मा का परमात्मा के साथ व्यभिचार कैसा? परमात्मा का परमात्मा से संबंध कैसा?** तेरी भाषा अनर्थ कर देगी। १८ दोषों से रहित परमात्मा को तुम भोगी बना दोगे। मित्र! कर्मों की १४८ प्रकृतियों से बद्ध आत्मा परमात्मा नहीं है, परमात्मा–शक्तिसंपन्न है। यदि तू परमात्मा मानता है नित्य रूप, तो संसारी और सिद्ध में कोई अंतर ही नहीं रहेगा। सत् का दोष आ जाएगा। यदि सारा विश्व एकत्वभूत है, तो जीव–तत्त्व की विराधना कर देगा। सांख्य हो गया है तू। सांख्य दर्शन के निरसन के लिए कहा गया है समयसार ग्रंथ, समय पूर्व। आपको जैनदर्शन के ग्रंथों का अध्ययन करना होगा। जिसको न्यायदीपिका, अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तंड, आलाप पद्धति आदि ग्रंथों का ज्ञान नहीं है वह समयसार का क्या निर्णय करेगा? सत् हम सत्ता को मानते हैं। प्रत्येक द्रव्य की सत्ता को स्वतंत्र मानते हैं। यहाँ सिद्धों में और संसारी में भेद नहीं करोगे तो व्यभिचार नाम का दोष आ रहा है। जैसे सांख्य ने सारे द्रव्यों को एकत्वभूत माना, पर हमने माना शुद्ध संग्रहनय, अशुद्ध संग्रहनय। संग्रहनय के दो भेद, कहाँ से बोल रहा हूँ? नयचक्र से बोल रहा हूँ। तब तू कहता है

कि मैंने तो ग्रंथ को देखा ही नहीं है। मेरे मित्र! जब तूने ग्रंथ को ही नहीं देखा, तो तू निर्वाण कैसे करने लग गया? अनधिकृत चेष्टा किस बात की? उस विषय का बोध होना चाहिए, तब निर्णय करिये आप, अन्यथा अज्ञानी होना श्रेष्ठ है। अधूरे ज्ञान की अपेक्षा मोह रहित अज्ञानी मोक्षमार्गी है और मोह सहित ज्ञानी दीर्घ संसारी है।

हे जीव! अल्पज्ञान भी यदि मोह रहित है, स्तोक है (स्तोक यानी कम, अल्प) वह भी आपके लिए मोक्ष का कारण है। बहुत ज्ञान भी यदि मिथ्यात्व सहित है, मोह सहित है, तो संसार का ही कारण है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि हे जीव! पर्याय की प्रत्यासत्ति है। पर्याय की प्रत्यासत्ति यानि पर्याय की नजदीकता। जो जीव जिस पर्याय में होगा, उसके परिणाम वैसे होंगे। श्वान को श्वान की चेष्टा किसने सिखाई, सिंह को क्रूरता किसने सिखाई, अजगर को निगलने की प्रवृत्ति किसने सिखाई? जो जीव जिस पर्याय में होता है, उस पर्याय की प्रत्यासत्ति से तद्गुण उसमें प्रकट होते हैं। उसी लोई से रोटी बनाओ तो स्वाद बदला, पूड़ी बनाओ तो स्वाद बदला, कचौड़ी बनाओ तो स्वाद बदला, लड्डू बनाओ तो स्वाद बदला। आटा वही है, पर स्वाद बदला। ऐसे–ही जो द्रव्य जिस पर्याय में होगा, उस समय उसकी परिणति वैसी होगी। यदि आप ऐसा नहीं मानते हो तो आपकी चार क्रियाएँ नहीं बनती हैं। तपस्या क्यों कर रहे हो? जब सब एकत्वभूत है तो क्यों ध्यान करना, क्यों सम्यक् की महिमा गाना, क्यों साधना करना? सब एक–सा ही है न? जब सारे जीवों की परिणति एक–सी है, तो नरकी की परिणति, तिर्यञ्च की परिणति, देव की परिणति, मनुष्य की परिणति एकत्वभूत हो गई, तो आपने चार गतियों में शंका का दोष खड़ा कर दिया। ८४ लाख योनियाँ एकत्वभूत हैं। यदि नहीं हैं, तो आपको स्वीकारना पड़ेगा। पर्याय की प्रत्यासत्ति। पर्याय की प्रत्यासत्ति नहीं समझ में आ रही है तो बंध–मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बनेगी। कुशल कर्म, अकुशल कर्म।

कुशल कर्म यानि पुण्य कर्म, अकुशल कर्म यानि पापकर्म। कुशलकर्म अकुशल कर्म न नित्यवादियों के यहाँ घटित होते हैं, न क्षणिकवादियों के यहाँ घटित होते हैं। नित्यवादी कहेगा कि जो द्रव्य जैसा है वैसा ही रहेगा। कूटस्थ है। तुम्हारी पुण्य–पाप की आवश्यकता नहीं है। क्षणिकवादी कहेगा कि सब नाश हो जाएगा। जब नाश हो जाएगा, द्रव्य बचेगा ही नहीं, तो पुण्य–पाप की व्याख्या करने की क्या आवश्यकता? जीवों पर करुणा करो, दया करो, ये सब बात तुम्हारे यहाँ घटित नहीं होती है। या तो आप स्याद्वादी बन जाइये और स्याद्वादी बन जाते हो तो आपका जड़त्वपना घटित नहीं होता है, शून्यपना घटित नहीं होता है। ज्ञानी! स्याद्वादी बन जाते हो तो

तुम्हारी प्रतिज्ञा की हानि होती है। तुम्हारे दर्शन का अभाव होता है। समयसार जी ग्रंथ को आप समयसार की दृष्टि से समझिए। सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार की व्याख्या को सर्वविशुद्ध ज्ञान से समझो। जहाँ उपादान की प्रधानता से व्याख्या होती है, वहाँ निमित्त को गौण किया जाता है और जहाँ निमित्त की प्रधानता से कथन होता है, वहाँ उपादान को गौण किया जाता है, लेकिन अभाव दोनों का ही नहीं होता है। **'अर्पिताऽनर्पित सिद्धेः।'** एक को प्रधान, एक को गौण। जहाँ अभूतार्थ शब्द का प्रयोग कुन्दकुन्द स्वामी कर रहे हैं, वहाँ अभूतार्थ शब्द का अर्थ असद्पना नहीं है, अवस्तुपना नहीं है, वस्तु में तद् वस्तु का अभाव है।

ये पेंसिल है और ये गोला है, नारियल है। मेरे मित्र! तुझे भूख लगी है तो इस समय भूतार्थ क्या है? गोला, तो पेंसिल अभूतार्थ हो गई और लिखने की आवश्यकता है तो ये पेंसिल भूतार्थ है। हे जीव! जब तू द्रव्यत्व को लक्ष्य बनाएगा तो तुझे व्यवहार अभूतार्थ लगेगा और जब हम पर्याय पर ध्यान देंगे तो व्यवहार भूतार्थ दिखेगा, निश्चय उसके लिए अभूतार्थ होगा। जिसका जो परिणमन है वहाँ उसमें वही भूतार्थ है। जिसका जो प्रयोजन नहीं है, उसमें अभूतार्थ है। अभूतार्थ का अर्थ सामने झूठ है। तो हो ये रहा है कि बच्चे बेचारे समयसारजी को खोलकर बैठ गए। उन जीवों को ये निर्णय करने की सामर्थ्य नहीं है कि इस विषय का अर्थ क्या है और समझाने वाले ने भी आगे–पीछे ग्रंथों को नहीं समझा। मात्र उतना ही ग्रंथ पढ़करके उसको अभी स्वयं ही निर्णय नहीं हुआ। जिसको स्वयं ही निर्णय नहीं हुआ, वह जगत् को क्या निर्णय देगा? ज्ञानी! तत्त्वज्ञान से विहीन निर्ग्रंथपना भी निस्सार है, इसलिए तत्त्व का निर्णय समीचीन होना चाहिए।

यहाँ क्या कह रहे हैं? किञ्चित् भी विवेक ज्ञान और प्रज्ञा होगी तो आपको समझ में आ जाना चाहिए कि मार्गणा स्वरूप मेरा स्वरूप नहीं है। इसका तात्पर्य समझो। मर्गणा तो है, पर मार्गणा इसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। मैं मनुष्य नहीं हूँ। मेरे मित्र! ये मनुष्य मैं हूँ, तो क्या मैं त्रैकालिक मनुष्य हूँ? मैं मनुष्य नहीं, मैं तिर्यञ्च नहीं, मैं देव नहीं, मैं नारकी नहीं, मैं तो मैं ही हूँ। इन पर्यायों में मेरा गमन होता रहता है। मैं तो मैं ही हूँ। ये है शुद्ध द्रव्य धारा। जब द्रव्य धारा को पर्याय में देखोगे तो ये जीव किसी–न–किसी पर्याय में होगा तब जिस पर्याय में होगा उस समय तू वैसा होगा। परिणाम भी वैसे ही होंगे, पुरुषार्थ भी वैसा ही चलेगा और जिसे तू जान रहा है। मैं ये नहीं, ये हूँ। जो हूँ, सो हूँ। उसे प्रकट करना है तो ज्ञानी! मनुष्यपर्याय में पुरुषार्थ करना पड़ेगा। मैं स्निग्ध स्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। ऐसा चिंतन में बैठा योगी स्वभाव को निहारता है। इसका तात्पर्य स्निग्ध है फिर भी स्निग्धपने से रिक्त होकरके अपने आपको देखता है।

पदार्थ के होने पर भोग हो, ये नियत नहीं है। पदार्थ के होने पर भोग प्रवृत्ति से शून्य हो गया, वही तो बंध का अभाव करेगा। मैं तो चेतन आत्मा का चेतन आत्मा से संचेतन करता हूँ। मैं रूक्षस्पर्श नामकर्म के फल को भी नहीं भोगता हूँ। मैं तो चेतन आत्मा के चैतन्य स्वभाव का संचेतक हूँ। न मैं शीतस्पर्श नामकर्म के फल को भोगता हूँ, मैं तो चैतन्य आत्मा का चेतन आत्मा से संचेतन करता हूँ। न मैं ऊष्णस्पर्श नामकर्म के फल को भोगता हूँ, मैं तो चेतन आत्मा का चेतन आत्मा से वेदन करता हूँ। मैं गुरुस्पर्श नामकर्म के फल को भी नहीं भोगता हूँ, मैं तो चैतन्य आत्मा का चैतन्य आत्मा से संचेतन करता हूँ। स्वभाव की लीनता की व्याख्या चल रही है। इसका तात्पर्य ये सबकुछ होता है जब बंध दशा में देखता है। राग अवस्था में देखता है तो ये सब कुछ होता है और स्वरूप में देखता है तो मैं इन सबसे भिन्न हूँ। मैं लघुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। मैं मृदुस्पर्श नामकर्म के फल को भी नहीं भोगता हूँ, मैं तो चैतन्य आत्मा से चैतन्य आत्मा का संचेतन करता हूँ। **'नाहं कर्कश स्पर्श नामकर्म फलं भुञ्जे'** मैं कर्कश स्पर्श नामकर्म के फल को भी नहीं भोगता हूँ। मैं चैतन्य आत्मा से चैतन्य आत्मा को संचेतता हूँ। इन सबमें बुद्धि नहीं लगाऊँगा तो मेरी निज की बुद्धि क्या होगी?

माताओ! क्या यह पर्याय रोने को मिली है? ससुराल में मरे तो रोऊँ, मायके में मरे तो रोऊँ। ये शुद्ध पागलपन है। जानो, देखो, जाने दो। कुछ नहीं। मैं रोने के लिए नहीं उत्पन्न हुई हूँ। परमार्थ को व्यवहार में लगाइये। रोते–रोते असाता का आस्रव होगा, कि नहीं होगा? पुनः संसार में रोने के लिए आए हो। तेरे घर में कुछ अच्छा है तो तू मुस्कराता है। क्या तू हँसने–हँसने के लिए ही आया है? ज्ञानी! **हास्य भी कषाय है, इससे चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव होता है। हँसना मेरा स्वभाव नहीं है, रोना मेरा स्वभाव नहीं है। इन सब कषायों से रहित, मात्र चैतन्य–चैतन्य का अनुभव ही मेरा स्वभाव है।** जिस दिन जीव को निज की स्वतंत्रता का वेदन हो जाएगा, उस दिन निर्बंध होना शुरू हो जाएगा। यथार्थ समझना वस्तुव्यवस्था को। जो जीव विशुद्धसागर से भी राग कर रहा है, महावीर से भी राग कर रहा है, उसको वस्तु–स्वतंत्रता का निर्णय नहीं हुआ है। कहीं–न–कहीं तुम बंधे हुए हो। परिवर्तन तो आपको स्वीकार है, लेकिन छोड़ना स्वीकार नहीं है।

ये श्रीफल कितने रुपए का है? १० रु. का। धन्य हो उसकी निर्लोभ वृत्ति को जिसने इसे चढ़ाया। **देव–शास्त्र–गुरु के चरणों में जो द्रव्य नहीं चढ़ाता, वह घोर पापी होता है।** द्रव्य चढ़ाने से हिंसा होती है, ऐसा पापी लोग बोलते हैं। मित्र! जो द्रव्य नहीं चढ़ाता, वह हिंसक होता

है। अभी आगम को जाना कहाँ है। १० रु. का लोभ त्याग करके आया जीव, तब नारियल चढ़ाया। जो यह कह रहा है कि कुछ नहीं चढ़ाना, वह अज्ञानी लोभी है और लोभ है कषाय। **जो कषायी है, वह अपनी आत्मा से आत्मा की हिंसा कर रहा है। 'अप्पाणं हणदि अप्पेण'। कषायी पुरुष अपनी आत्मा का अपनी आत्मा से घात कर रहा है। वह लोभी न कभी दान दे सकता है न द्रव्य चढ़ा सकता है। जो श्रीजी के चरणों में खाली हाथ आता है, वह हिंसक है।** अब आप मेरे से कहो कि महाराज आप भी तो खाली जाते हो। हे जीव! मैंने लोभ को छोड़ दिया, सो सभी छोड़ दिया। ऐसे आप भी छोड़ दो, फिर खूब खाली हाथ आओ। जब–तक तुमने सब नहीं छोड़ा, तब तक खाली हाथ नहीं आना।मैं भी भगवान् को नमस्कार करता हूँ। ये पिच्छी मेरे पास है। मैं खाली हाथ नमस्कार नहीं करता हूँ, पिच्छी को हाथ में लेकर करता हूँ। भैया! तेरे से कोई १० रु. का नोट माँगे तो दे देगा क्या? नहीं देगा। मना कर रहा है। इसके घर में करोड़ों रुपए रखे होंगे, लेकिन तब भी १० का नोट कोई माँगे तो मना कर रहा है। मेरे मित्र! सुबह से साग लेने जाते हो कि नहीं? सत्य बताना, कितने रुपए का साग लेकर आते हो? १०० रु. की। भैया! इस जीव को १० रु. देने में दु:ख होता है, नहीं दे सकता हूँ, क्योंकि मैंने कमाकर रखा है और सागवाले को १०० रु. देकर आ जाता है। तात्पर्य यह है कि छोड़ना कष्टकारी है, छूटना कष्टकारी है, लेकिन बदलना कष्टकारी नहीं है। तुम बदलने गए थे, देने नहीं गए थे। साग लाए हो और मुस्करा कर देकर आए हो। ऐसे–ही भैया! मिथ्यात्व के मार्ग को तुमने बदल लिया है, छोड़ा नहीं है। जैसे जगत् में सरागी की पूजा होती थी, वैसे–ही पुन: तुम सरागी को पूज रहे हो। तुमने छोड़ा नहीं है, मात्र बदला है। मिथ्यात्व। **जो जीव सग्रंथ व्यक्ति को सद्गुरु मानता है, उस व्यक्ति ने मिथ्यात्व छोड़ा नहीं है, मिथ्यात्व का रूप बदला है।** भैया! इस पर्याय को मिथ्यात्व में नष्ट मत कर देना। किसी प्रभावी पुरुष की बातों में आकर अपने सम्यक् रत्न का नाश मत कर बैठना। कोई आपको विवाह करके लाया है तो बदल कर लाया है। जिस घर में जन्मी थी उस घर में नहीं मर रही हो। धिक्कार हो तुम्हारी परिणति को, जिस घर में जन्मी उस घर की किञ्चित् भी चिंता नहीं आपको। जिस घर में मरण होगा, उस घर की पूरी चिंता है आपको। पर्याय के परिणमन को सबकुछ मान बैठे हो। परिवर्तन हुआ है, लेकिन राग बदला नहीं है। कहाँ भ्रमित हो? बदलना कठिन नहीं है, छोड़ना कठिन है। बदलते तो तुम रोज हो। मिथ्यात्व तुमने बदला है, छोड़ा नहीं है। यदि छोड़ देते तो तुमको वीतरागी अर्हंत देव मात्र दिखते। आप जिसको मान रहे हो, उसमें १८ दोष का अभाव है। क्या जो 'गुरु' का स्वरूप अपने ग्रंथों में लिखा है, वह गुरु में घटित हो रहा है। जब

गुरुत्व नहीं है, देवत्व नहीं है, तो उनके वचनों में जिनवचनपना है क्या? यदि नहीं है, तो आप तीनों के विपरीत हो। इसलिए विपरीत मिथ्यात्व में जी रहे हो। फिर सम्यक् प्रकट कैसे? मात्र अर्हंतदेव को मानिए, निर्ग्रंथ गुरु को मानिए और वीतराग वाणी को मानिए, वही मोक्षमार्ग का सम्यक् दर्शन है। **पर्याय की अंतिम श्वास निकलने के पूर्व तक तत्त्व का सम्यक् निर्णय करके जाना, अन्यथा कुमरण हो जाएगा। यदि तत्त्व का निर्णय करने का क्षयोपशम तुम्हारे पास न हो तो इतनी श्रद्धा रखना कि जो सर्वज्ञ ने कहा है वह सत्य है।** कर्कश स्पर्श मैं नहीं हूँ। मैं उनका भोक्ता हूँ। मैं तो चैतन्य–चैतन्य आत्मा का भोक्ता हूँ।

ज्ञानियो! जगत् का जो भी भ्रमण चल रहा है, वह सभी दुर्गति है। नरक, तिर्यंच रूप दुर्गति, मनुष्य रूप सुगति हमें कितनी ही बार प्राप्त हुई है। विद्वान् बहुत हैं, लेकिन स्वर्ग को भी दुर्गति कहने वाले ज्ञानी अल्प हैं। भगवानात्मा, आत्मतत्त्व को जाननेवाला ध्रुव है। ज्ञानियो! जिससे कर्मबंध का अभाव नहीं है, जिससे भ्रमण का अभाव नहीं है, वह सुगति कैसे? स्वर्ग जाने की इच्छा से जो जीव साधना कर रहा है, क्या वह सुगति की साधना है? ज्ञानी! सुगति साध्य है। जो सुगतिभूत है, वह अगतिभूत है।

हे भव्य! जिस पंचमगति में प्रवेश करने पर पुनः गति न हो, भगवानात्मा परम शुद्ध होकर अगति– भूत हो जाता है, तब उसकी वह गति 'सौभाग्य गति' है। ज्ञानियो! सौभाग्य–गति में प्रवेश तब ही संभव है, जब वर्तमान का ज्ञान पर–ज्ञेयों में गमन करना बंद कर दे। जब–तक निज–ज्ञान पर–ज्ञेयों में गमन कर रहा है, तब–तक पुण्य अर्जन का ही विचार करना। **यदि तेरा ज्ञान अशुभ–ज्ञेयों में गमन करेगा तो संसार में तेरी गति अशुभ होगी, नरक/तिर्यञ्च में गमन होगा। तेरा ज्ञान शुभाशुभ ज्ञेयों में गमन करेगा तो तू मनुष्यगति में चला जाएगा और शुभभूत ज्ञेयों में गमन करेगा तेरा ज्ञान तो तू स्वर्गभूत सुगति को प्राप्त करेगा। जब तेरा ज्ञान निज–ज्ञेय मात्र में गमन करेगा, तब यह जीव भव्यात्मा अशरीर गति सिद्धावस्था को प्राप्त करेगा।** हे मुमुक्षु! यह लक्ष्य आज से ही बनाकर चलना पड़ेगा। कोई यह सोचे कि मैं मुनि बनूँगा, तब में शुभोपयोग में जाऊँगा। कोई यह सोचे कि मैं मुनि बन जाऊँगा, तब ऐसा करूँगा। हे ज्ञानी! तुझे लक्ष्य अभी बनाना होगा।

सम्यग्दृष्टि जीव शुभ भी करता है तो अशुभ से बचने के लिए करता है। अशुभ में निर्बंधन होता ही नहीं और शुभ में निर्बंधन होने के लक्ष्य से भी नहीं करता है, परंतु मुमुक्षु भव्यात्मा शुभाशुभ से रहित होने के लिए प्रतिक्षण पुरुषार्थ करता है।

आचार्यभगवन् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि हे ज्ञानी! विषवृक्ष जब पूर्ण होंगे, वह विशाल ही होंगे। विषवृक्ष के फल होंगे, वह भी विशाल ही होंगे। विषवृक्ष में अमृतफल फलित नहीं होते हैं। ऐसे–ही **ज्ञानियो! कषाय के साथ में मुक्तिफल फलित नहीं होता है। जैसे विषवृक्ष में अमृतफल फलित नहीं होता, ऐसे–ही जिसके उपयोग में अशुभ धारा चल रही है, वहाँ मोक्षरूपी सुगति फलित नहीं होगी।**

ज्ञानियो! सारे ज्ञेयों से भिन्न, लक्ष्यों से भिन्न अपने आपको भिन्न करके निहारो। पर को मत निहारो। धर्म स्वसापेक्ष है, परसापेक्ष नहीं है। धर्म भी किया तो पर को सापेक्ष बनाकर चला। यही सोचता रहा कि मैं इतना अच्छा कर रहा हूँ, दूसरा कुछ कर ही नहीं रहा है। हे मित्र! तुम अच्छा कर रहे हो, तो दूसरों पर दृष्टि क्यों ले जा रहे हो? मैं तो परमार्थ की चर्चा कर लेता हूँ, दूसरा तो परमार्थ की बात ही नहीं करता है। हे ज्ञानी! तुझे अभी मालूम ही नहीं है कि तेरा परमार्थ है कहाँ?

हे मुमुक्षु! जो परम–अर्थ में लीन होता है, परमार्थ में लीन होता है, उसे पर–पदार्थों की चिंता की आवश्यकता क्या है? जहाँ परपदार्थों की चिंता व्याप्त है, वहाँ परमार्थ कहाँ? परमार्थ दृष्टि में पर–पदार्थ दृष्टिगोचर हो ही नहीं सकते हैं। पर–पदार्थ दृष्टिगोचर जिसको हो रहे हैं, उसको परमार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता है।

ज्ञानियो! परम–अर्थ कोई है तो वह मात्र आत्मतत्त्व है, लेकिन आत्मतत्त्व है अवश्य, आत्मतत्त्व ही है, परंतु आत्मतत्त्व भी नहीं है। ज्ञानी! जो आत्मतत्त्व परमार्थभूत है, वह स्वभावभूत स्वात्म तत्त्व है, परंतु आत्मतत्त्व भी मेरा परमार्थ नहीं है।

हे मुमुक्षु! आत्मतत्त्व परमार्थभूत है, परंतु मेरे लिए जो परमार्थभूत आत्मतत्त्व है, वह पर आत्मतत्त्व नहीं है, अपितु निज आत्मतत्त्व ही है। **हे पंचपरमेष्ठी! आप भी मेरे आत्मतत्त्व नहीं हो। जब पंचपरमेष्ठी निज तत्त्व नहीं हैं, तो फिर पाँच पाप में लीन अज्ञानी पुरुष मेरे आत्मतत्त्व कैसे हो सकते हैं? ज्ञानी! जब पंचपरमेष्ठी का संबंध बंध का कारण है, तो पंच–पाप में लिप्त अज्ञानियों का संबंध निर्बंध का कारण कैसा?** यह बंध की सूक्ष्म व्याख्या है, तुम्हारे शुभाशुभ राग की व्याख्या नहीं है। हे ज्ञानी! परमेष्ठी का संबंध भी बंध का कारण है, परमार्थ दृष्टि से। व्यवहार से परमेष्ठी की वंदना/अर्चना शुभबंध का कारण है, अशुभ कर्म की निर्जरा का भी कारण है, लेकिन निश्चय से बंध तो बंध ही है। हे मुमुक्षु! पुण्य भी बंध है।

हे वत्स! तू जनक–जननी की अंगुली पकड़कर चल रहा है, लेकिन बेटे! लक्ष्य में यही

रखना कि माता–पिता की अंगुली भी छोड़ना पड़ेगी, तभी अपने कदमों से चल सकोगे। हे ज्ञानी! जब–तक बेटा चलना नहीं जानता है, तब–तक माता की अंगुली उसके लिए हितकारी है। बेटे! जब–तक तुम अच्छे से चलना नहीं सीखे, तब तक माँ की अंगुली छोड़ नहीं देना।

हे मुमुक्षु! जब–तक परमगति पर तेरा लक्ष्य नहीं है, तब–तक परमात्मा पर लक्ष्य रखना। जब तेरा परम–गति पर लक्ष्य हो जाएगा तो परमात्मा का लक्ष्य स्वयमेव छूट जाएगा। जिसका निज में लक्ष्य है, वही परमगति का अधिकारी है। हे ज्ञानी! परम गति को प्राप्त करना है तो परमात्मा से क्या अनुराग? हे मुमुक्षु! अति भी नहीं करना और इति भी नहीं करना। वह भी परंपरा से मोक्षमार्ग है। लोगों ने परमात्मा के द्वार पर इति करा दी है। हे मित्र! हम परमात्मा के द्वार पर इति नहीं करना चाहते हैं, हम परमात्मा बनकर ही इति करेंगे।

हे ज्ञानी! संसार के विभिन्न दर्शनों में किसी ने गुरु से मिलाया, किसी ने परमात्मा से मिला दिया। हे विद्वानो! इन बेचारे निरीह प्राणियों की आत्मा की वंचना नहीं करना। ये ठगे जा रहे हैं, उपकारी के उपकार में मस्त होकर निज के भगवान् को भूल रहे हैं। कम–से–कम जो निर्ग्रंथ गुरुओं को उपकारी मानकर उनकी भक्ति में लीन हैं, यहाँ तक तो शुभोपयोग की धारा मानता हूँ, परंतु जो परिग्रहधारी को गुरु माने, उनके उपकार में लवलीन हो गया, उसने विपरीत मिथ्यात्व में प्रवेश कर लिया है। जिनशासन में मात्र पंचपरमेष्ठी ही 'गुरु' संज्ञा को प्राप्त हैं। ज्ञानियो! जिनवाणी सुनो, परंतु आत्मा की वंचना नहीं करना।

एक बात स्पष्ट करता हूँ। मेरे दीक्षा गुरु आचार्य श्री विरागसागरजी हैं, परंतु जब मैं बोलता हूँ तो मेरे मस्तिष्क में कुन्दकुन्द स्वामी, समन्तभद्र स्वामी की दृष्टि होती है। आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि 'मुझे सरागियों से द्वेष नहीं है और वीतरागियों से राग भी नहीं है। ज्ञानी! सरागियों से द्वेष करोगे, तो असिद्ध ही तो सिद्ध होते हैं। प्रत्येक भव्य भविष्य का भगवान् है। सरागियों से द्वेष नहीं करना और वीतरागियों से राग भी नहीं करना, क्योंकि वीतरागी भी मेरा निज स्वभाव नहीं है। पर से मेरा कल्याण नहीं है, निज ध्याता से मेरा कल्याण है।

हे मुमुक्षु! निज से कल्याण होगा, तो फिर व्याख्यान क्यों? ध्रुव सत्य है, जब पर अनुकम्पा/दया से परिणाम प्रासुक होते हैं, तभी जीवों के हित का विचार आता है। ज्ञानी! यह भी मुझे ज्ञात है कि मेरे अच्छे विचारों से मुझे शुभास्रव होगा, मैं अशुभ से बचूँगा। लेकिन मेरे शुभ विचार से, मेरे निज स्वभाव से आपका शुभ हो ही जाएगा, यह कोई नियत नहीं है। आँखों से देख–देख कोई जीव चल रहा है और गड्ढे में गिर रहा हो, तो उस पर शुभभाव अवश्य आता है।

जब समयसार जी में पंचपरमेष्ठी को परगत–तत्त्व कहा है, तो फिर सरागी जीवों को स्वगत–तत्त्व कैसे कहा जा सकता है? **ज्ञानियो! भीतर की भूल को भीतर ही सँभलकर समाप्त कर दो।**

हे मुमुक्षुओ! आत्म–तत्त्व प्रिय है अथवा तत्त्व प्रिय है? जिसे तत्त्व प्रिय है, वह शुद्ध–मिथ्यादृष्टि है, क्यों? क्योंकि तत्त्व को कहने वाले जगत् में अनेकानेक दर्शन हुए हैं। सांख्य में पच्चीस तत्त्व कहे हैं। बौद्ध ने अनेक तत्त्वों की व्याख्या की है। वैषेशिक मीमांसक ने अनेक तत्त्वों की व्याख्या की है। तत्त्व को कोई प्रिय कहता है, तो जगत् में जितने विपरीत तत्त्व की व्याख्या है वह सब हमारे लिए विपरीत हो जाएगी और जगत् के सारे तत्त्व विपरीत हो गए तो फिर सम्यक्त्व की व्याख्या क्या होगी? ज्ञानियो! विपरीत को विपरीत ही मानना और समीचीन को सत्यार्थ मानना। ज्ञानियो! सभी ने तीर्थंकरों की वाणी को प्राप्त करके उसमें विपर्यास किया है। तर्क से निर्णय करो।

हे ज्ञानी! सुव्रतसागरजी! सुंदर शब्दावली से कभी प्रभावित नहीं होना, भाव देखना। **'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'** इस सूत्र का अर्थ क्या है? जो प्रयोजनभूत तत्त्व है, उस पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। तत्त्व क्या है? **'तस्य भावस्य तत्त्वं'** जो वस्तु का स्वभाव है, वह तत्त्व है। जिस तत्त्व में किंचित् भी पर संयोग है, वह तत्त्व प्रयोजनभूत नहीं है। इसलिए तत्त्व की अनुभूति, तत्त्व की प्रतीति आत्मकल्याण में सहकारी है। व्यवहार से सातों तत्त्व की प्रतीति, परिणति पर श्रद्धानवत् होना, अनुभव करना मोक्षमार्ग है। परमार्थ दृष्टि से आत्मतत्त्व में मात्र स्वात्म–तत्त्व ही कार्यकारी है।

हे मुमुक्षु! समयसार इतना सरल नहीं है कि तुम इतनी जल्दी समझ जाओ। जबलपुर की बात है, यह ज्ञानी मेरे दर्शन करने नहीं आते थे, न ही प्रवचन सुनते थे। मात्र अपनी दादी माँ को छोड़ने आते थे प्रवचन सुनने के लिये। एक दिन समयसार की व्याख्या सुनने बैठ गए और तत्त्व का निर्णय हो गया, अंतरंग का वैराग्य जाग्रत हो गया और अब निर्ग्रंथ मुनि बनकर बैठे हैं। ज्ञानियो! जिसको समयसार समझ में आ जाता है, वह बदलना प्रारंभ कर देता है। मुमुक्षुओ! आपने अभी तक समयसार सुना है, समझा नहीं है। समझ लेते तो नीचे नहीं बैठे होते, मेरे साथ, मेरे पास बैठते निर्ग्रंथ बनकर।

कोयल की मधुर वाणी को दुनियाँ सुनना पसंद करती है। हे जीव! तू शब्दों के माधुर्य से प्रभावित हो रहा है। समयसार की व्याख्या चल रही है वहाँ कोई पुरुष आवाज कर रहा है, पण्डितजी कहने गए कि मैं समयसार सुन रहा हूँ, आप शांत हो जाओ। हे मुमुक्षु! समयसार कहेगा कि हे अभागे! तू शब्द सुन रहा है। तू समयसार सुन रहा होता तो यह बाहर की आवाज तुझे सुनाई नहीं देती।

हे जननी! तेरे पुत्र का जीवद्रव्य स्वतंत्र है, अहेतुक है, अजन्मा है, उसे तुमने जन्म कब दिया? तुमने मात्र अपनी वासनाओं को जन्म दिया था, इच्छाओं की पूर्ति को जन्म दिया था, तूने अपने राग को जन्म दिया है। बेटे को जन्म दिया क्या? वह कर्म–नोकर्म का मनुष्यायु का बंध करके आया था। इसमें आप निमित्त मात्र बने हो। वह स्वयं उच्चगोत्र का बंध करके आया है, इसलिए उसने जन्म लिया है, परंतु आप कर्तृत्व बुद्धि में आकर कर्त्ता अवश्य बन रहे हो। हे माँ! तेरे बेटे में और पड़ौसी के बेटे में दोनों में तेरा अत्यंताभाव है। माँ! तेरे शरीर में ही तेरा अत्यंताभाव है, तो फिर तेरे बेटे के शरीर में तेरा कर्त्ता–भाव कहाँ से हो गया?

हे ज्ञानी! तेरे कर्म–नोकर्म का संबंध तेरे से अत्यंत भिन्न है। तेरे श्रद्धान में कर्म–नोकर्म तेरे से भावभूत हो गया। जब–तक संतान में आपको अपनत्व है, चेला–चेलियों में जब–तक अपनत्व–भाव है, तब तक कोई 'समयसार' का तत्त्व तेरे पास नहीं है। जब–तक अपनों में अपनत्व–भाव है, तब तक कोई 'समयसार' नहीं है। दिगम्बर भेष में भी यदि अपनत्व–भाव है, तब भी कोई 'समयसार' नहीं है। आचार्य भगवन् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि 'हे जीव! पूर्वकृत कर्मफल को विषफल मान रहा है। जो पूर्वकृत कर्म हैं, यह विषवृक्ष के फल हैं।

हे ज्ञानी! भगवान् का ध्यान अनेक बार किया है। आज मेरी बात मान लेना, आज सामायिक में अपने परिणामों को ज्ञेय बनाकर बैठना। इसका बार–बार प्रयत्न भी कर रहा है, तू अपनी आत्मा का अपने–आप में भोग कर रहा है।

माताओ! तुम छोटे बच्चे को खिलाती हो, अपनी संतान को खिला रही हो। ओहो! माँ! तुम खिला नहीं रही हो, अपितु उसके साथ खेल रही हो। आप आँखों से उसके कोमल शरीर का भोग भोग रही हो। हे मुमुक्षु! यह बंध दशा है या नहीं? है। बंध दशा है। अब सोचना कि आप समयसार में कितना जी पा रहे हो? क्या बंध–दशा स्वयं जीव की है? भावबंध है, वह तेरे भीतर है और जो द्रव्यबंध है, वह तेरी आत्मा के एक–एक प्रदेश पर तादात्मभूत होकर विद्यमान है। तू परमार्थ से उस शुद्ध–सत्ता का ज्ञायक है, उस शुद्ध–सत्ता का वेदक है, परंतु परमार्थ है वह यह नहीं कहता है। वस्तुव्यवस्था भिन्न है।

हे ज्ञानी! यह सब जगत् नयों पर अटक गया है। नय जो है, वह वस्तु नहीं है। वस्तु को कहने की जो शैली है, वह नय है। क्या नय सत्य ही होता है? शब्दों में, अक्षरों में वह शक्ति नहीं है जो मेरे भावों को कह सके। ज्ञानी! नय सत्य ही होता है। जो निश्चय या व्यवहार को लेकर बैठ गए हैं, उन अज्ञानियों से कहना कि अभी तुम्हें वस्तु–व्यवस्था पता ही नहीं है। हे मुमुक्षु! नय

की परिभाषा जो आपने अभी तक की है, वह उतनी ही मात्र नहीं है।

आचार्यभगवन् श्री देवसेन स्वामी ने ग्रंथरत्न 'आलापपद्धति' में कहा है कि **'प्रमाणेन वस्तु संगृहीतार्थैकांशो नयः, श्रुत–विकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः, नाना स्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नयः।'** अर्थात् प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म अर्थात् अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं अथवा जो नाना स्वभावों से हटकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है, वह नय है।

ज्ञानी! नय जो भी कह रहा है, तेरा अभिप्राय है। **ज्ञाता का अभिप्राय नय है।** हे ज्ञाता! तू जैसा–जैसा सोच रहा है, तुझे पदार्थ वैसा–वैसा दिखाई दे रहा है। ये विश्वदृष्टासागरजी आचार्य विरागसागरजी के शिष्य हैं। ये मुनिराज गणाचार्य श्री विरागसागरजी के चेले हैं। मित्र! यह चेतना कौनसी वस्तु है? शिष्य कौनसी वस्तु है? यहाँ संकल्प किया है। गुरु ने आपके सिर पर मंत्रों का संकल्प किया और आपने हाथ जोड़कर उनमें प्रभुपने का संकल्प कर लिया है, लेकिन मेरे मित्र! इस संबंध को लेकर अपने स्वभाव को भूल नहीं जाना।

मेरे मित्र! उन्होंने तुम्हें दीक्षा के संस्कार तो दिए हैं, उन्हें अपना गुरु तो स्वीकारना, उनके शिष्य बने रहना, परंतु यह ध्यान रखना कि यह मात्र कल्पना है, वस्तु नहीं है। ज्ञानियो! यहाँ व्यवहार की आँख से नहीं देखना। यह कल्पना है, वस्तु नहीं है।

हे मुमुक्षु! धर्मों में कल्पना होती है, धर्मों में संकल्प होते हैं, परंतु गुण में कल्पना नहीं होती है। हे श्रमण! आप गणाचार्य श्री विरागसागरजी के शिष्य हो, यह मात्र संकल्प है। यह वस्तु नहीं है। ज्ञानी! यह संकल्प नहीं करोगे तो वस्तुस्वभाव को समझ नहीं पाओगे। संकल्प करना पड़ रहा है, लेकिन संकल्प को वस्तु मानकर नहीं बैठ जाना। गुरु–शिष्य का मात्र श्रद्धा–श्रद्धेय संबंध है। यह वस्तु–व्यवस्था नहीं है, यह पर से संकल्प मात्र है। नय वस्तु के संकल्प को कह रहा है।

ज्ञानी! यह एक लेखनी है। यह मेरा राग कह रहा है। यह लेखनी है, इसे मैं लेखनी स्वीकार रहा हूँ। यह तो पुद्गल द्रव्य है। विश्वदृष्टा और विश्ववीर यह दो युगल मुनिराज हैं। यह आचार्य श्री विरागसागरजी के शिष्य हैं। ये कह रहे हैं कि मेरे गुरु आचार्य विरागसागर हैं। हे श्रमणो! 'व्यवहार से वो ही तुम्हारे गुरु हैं, आप सही कह रहे हो, लेकिन इतना ध्यान रखना कि जो तुम्हारे गुरु हैं, वह संकल्प दिलाने के गुरु हैं, संकल्प–मार्ग के गुरु हैं, तेरे गुरु नहीं हैं। तेरा गुरु तो तेरी निज भगवानात्मा ही है।'

हे ज्ञानी! यदि गुरु का दिया चारित्र नहीं रहा, तो बाहर का गुरु कुछ नहीं कर सकता है। आप अपने अंदर क्या सोच रहे हो, उन्हें क्या मालूम? इसलिए संकल्प का गुरु संकल्प मात्र दिला सकता है। ज्ञानी! मोक्ष जाने वाले गुरु संकल्प का नहीं होगा, वह भाव का ही होगा। मुमुक्षु! भाव का गुरु है, तो जगत् का गुरु कुछ नहीं कर सकता है। संकल्प का जो गुरु है, वह वस्तु है अथवा वस्तुव्यवस्था समझाने की शैली है?

हे मुमुक्षु! नय वस्तु का अंश है अथवा प्रमाण का अंश है? नय वस्तु का अंश नहीं है, नय प्रमाण का अंश है। अष्टसहस्री, अष्टशती पढ़ोगे तब तुमको ज्ञात होगा कि जैन–द्रव्यानुयोग कितना गहरा, गूढ़ है। आपने मात्र इतना सुना है कि पुद्गल और आत्मा। ज्ञानियो! यह द्रव्यानुयोग की शैली नहीं है, यह तो शब्द मात्र है। जितना मस्तिष्क का उपयोग करणानुयोग में, गणित में लगाना पड़ता है, उससे कई गुना अधिक उपयोग स्थिर करना पड़ेगा द्रव्यानुयोग में तब कहीं द्रव्यानुयोग समझ में आएगा।

पिय धम्मो, दृढ़ धम्मो।

हे मुमुक्षु! तत्त्व के व्याख्यान के समय डरना नहीं, जब मिथ्यादृष्टि जीव को मिथ्यात्व की व्याख्या में डर नहीं लगता, तो फिर सम्यग्दृष्टि जीव को तत्त्व की सम्यक् प्ररूपणा में डरने की क्या आवश्यकता है? ज्ञानी! 'जो है, सो है।'

ज्ञानियो! गुरु मेरा नहीं है। गुरु मेरा होता, तो मैं गुरु बना कैसे? गुरु बन गया होता, तो गुरु बनता कैसे? गुरुर को तो निकालना ही पड़ेगा, तभी गुरु बन पाओगे। गुरुर अर्थात् अहंकार। पहले गुरु को निकालना पड़ता है, फिर गुरु मिलता है, तभी पंचपरमेष्ठी गुरु मिलते हैं। ज्ञानियो! उन गुरु को भी निकालना पड़ता है, फिर कहीं निज का गुरु निज में प्रकट होता है।

अहो ज्ञानियो! पानी से पानी निकालना पड़ता है। पहले फावड़े से खोदकर पानी निकलता था और आजकल नलकूप में पानी डालकर पानी निकालते हैं। हे ज्ञानी! गुरु डालकर गुरु निकालो। भ्रमित नहीं होना। आज घर में बैठकर जितने प्रकार के अशुभ–भाव आ रहे हैं मन में, उनको ज्ञेय बनाना और फिर विचार करना कि यह सब क्या है? नय संकल्प को ग्रहण करता है। नय वस्तु नहीं है, वस्तु को समझने–समझाने की शैली है। जो इस शैली को समझ नहीं पा रहे हैं, वे उसे वस्तु मानकर अनेक प्रकार के विकल्प कर रहे हैं। ज्ञानी! विश्वास रखना, तूने संकल्प/संज्ञा को ग्रहण करके अपने जीवन में कष्ट ले लिया है। कोई तेरा नाम लेता है तो तेरी नींद भंग हो जाती है।

भो ज्ञानी! तूने एक शब्द की संज्ञा को अपने में निहित कर लिया, तो तेरी नींद भंग हो गई। वैसे– ही संकल्पों के कारण तुम्हारे मोक्षमार्ग की निद्रा भंग हो रही है।

हे मुमुक्षु! यह पिच्छिका है, इसने अपने–आपको कब कहा कि मैं पिच्छिका हूँ? समझो, मयूर पंख ने कब कहा कि मैं पिच्छिका हूँ? आपने इसे बाँधकर रख लिया और कहते हैं कि पिच्छिका है। यह संज्ञा किसने दी है? यह पिच्छिका है, यह वस्तुभूत है या संकल्पभूत है? संकल्पभूत है। संकल्प वस्तु में होता है, अवस्तु में नहीं होता है। पिच्छिका के नाम पर संयम का उपकरण है, फिर भी परवस्तु है।

ज्ञानियो! जो भी कथन हो रहा है। जो–जो तुम देख रहे हो, सब संकल्प है। अभी तुम किसी भी तीर्थ पर जाओ, वहाँ तुम ध्यान करोगे। वहाँ भगवान् हैं या नहीं? संकल्प है। एक पाषाण का खण्ड है, उसको तुमने मनुष्य का आकार देकर स्थापना–निक्षेप से संकल्प कर लिया है कि यह भगवान् है। अब मैं परमशुद्ध निश्चयनय की ओर जा रहा हूँ। आप सब तीर्थों पर जाना बंद नहीं कर देना। आपकी योग्यता इतनी है कि पूरा समयसार उद्घाटित नहीं हो पा रहा है।

ज्ञानी! किसी भी तीर्थ पर क्या भगवान् हैं? क्या भगवान् नहीं हैं? वहाँ संकल्प है। यह वह है, ऐसा निक्षेप किया जाए, यह संकल्प है। नय है। पदार्थ में भिन्न का आरोपण, संज्ञाओं का रहना, यह सब संकल्प है और संयम का ग्रहण करना, यह महासंकल्प है। मुमुक्षु! संकल्प का प्रभाव देखो, किसी को नाम लेकर आवाज दो तो वह तुरंत ही देखने लगता है, वह उस नाम विशेष से ही पहचाना जाता है, वह है क्या? मात्र संकल्प है। ज्ञानी! जिस दिन तुम नाम छोड़ दोगे, उस दिन तुम भगवान् बन जाओगे। जब–तक तुम नाम की पहचान बनाकर रहोगे, तब–तक भटकते ही रहोगे।

हे मुमुक्षु! जब–तक तुम पहचान बनाए हो, पंथों–संतों–संप्रदायों की, तब–तक तुम पहचान नहीं पाओगे पहचान कराने वाले को। जिस दिन सभी पहचानें समाप्त हो जाएँगी, उस दिन तू पहचान पाएगा पहचानहारे को।

ज्ञानी! पर्वत उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखना सरल है, परंतु खोटे भावों को निज से भिन्न करना कठिन है। परभावों से रिक्त होना असाध्य नहीं है, पुरुषार्थसाध्य है।

प्रमाण ही प्रमाण है अपने आप में। नय, जिसे मैं संकल्प कह रहा हूँ, वह स्वयं में (अपने आप में) प्रमाणभूत संकल्प है। जितने प्रकार के संकल्प हैं, वह सब नय के विषय हैं। जो नय का विषय है, संकल्प का विषय है, जो–जो संज्ञाएँ हैं, वह पुरुष के द्वारा प्रदत्त हैं। पदार्थ अपनी संज्ञा

से शून्य हैं। वो तो जो है, सो है। विश्व की संपूर्ण शंकाओं का समाधान है 'जो है, सो है।' यदि आपको घर के विसंवाद समाप्त करना हो, समाज के विसंवाद समाप्त करना हो, निज के अंदर की ऊहा–पोह को दूर करना हो, तो इतना मात्र सीख लो कि जो है, सो है।

हे योगियो! गुरु ने आपको संकल्प दिया है, लेकिन तेरे गुण में गुरु नहीं हैं, तेरे द्रव्य में तेरे गुरु नहीं हैं, तेरी पर्याय में तेरे गुरु नहीं हैं। तेरा द्रव्य स्वतंत्र है, तेरा गुण स्वतंत्र है, तेरी पर्याय स्वतंत्र है। फिर गुरु के नाम में उलझ करके अपने निज के गुरु को क्यों छोड़ रहे हो? गुरु ने जितना संकल्प दिया है, उनका उपकार है।

ज्ञानी! नय संकल्प है। संकल्प है, वह वस्तु में है, अवस्तु में नहीं है। बिना नय–आगम के आप वस्तुव्यवस्था को समझ नहीं पाओगे। वस्तुव्यवस्था समझे बिना वस्तुस्वभाव को प्राप्त कर नहीं पाओगे। वस्तु जो है, वह नयातीत है, प्रमाणातीत है। **'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं'।** सभी ज्ञान प्रमाण हैं। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्याय, केवल ज्ञान यह पाँच सम्यग्ज्ञान हैं। प्रमाण और नय, यह दोनों ही ज्ञान के विषय हैं। जिन द्रव्यों में ज्ञान नहीं है, वे जड़भूत द्रव्य हैं। वे द्रव्य हैं या नहीं हैं? प्रमाण वस्तु नहीं है, नय वस्तु नहीं है। प्रमाण–नय से पुरुष जानता है कि वह वस्तु है। वस्तु तो वस्तुभूत ही है। जो प्रमाण भूत है, नयभूत है, वह उस पुरुष का क्षयोपशम है, वह अपने क्षयोपशम से देख रहा है, जान रहा है, लेकिन प्रमाण से जानता, देखता है वो होता है, परंतु प्रमाण वस्तु होता नहीं है।

हे जीव! तू निज वस्तु को देखेगा। तू जीव है, ज्ञानात्मक है, दृष्टात्मक है। तू भी निज वस्तु को देखेगा, जानेगा तो आपको अपनी आत्मा को ज्ञान से भिन्न करके देखना होगा। ज्ञान से जीवद्रव्य को जानिये, ज्ञान से जीवद्रव्य को देखिए। उस समय आपका जो प्रमाण–नय ज्ञान है, वह भी स्यात् अपने निज–भाव से भिन्न होकर देख रहा है ज्ञेयदृष्टि से। हे जीव! जब तू अपने आपको ज्ञेय बनाएगा, तब तेरा ज्ञान तुझे देखेगा। वह भी भिन्न होने पर भी अभिन्न है। अभिन्न होने पर भी भिन्न है। ज्ञान से जाना जाता है कि मैं भिन्न हूँ और मेरा ज्ञान मेरे से भिन्न है। संयम की अपेक्षा से, गुण की अपेक्षा से, लक्षण की अपेक्षा से, गुण–गुणी की अपेक्षा से यह भिन्नत्व है, परंतु गुण–गुणी का अधिकरण एक है, इसलिए अभिन्न है।

हे ज्ञानी! ज्ञान कभी अशुभ नहीं होता है। ऋजुता से ज्ञान का आदान–प्रदान करना सीखो। अभव्य जीव का ज्ञान भी उपादेयभूत है। अभव्य जीव का ज्ञान भी मंगलभूत है। अभव्य का ज्ञान पर के लिए तो मंगलभूत है ही, अपितु स्वयं को भी ग्रैवेयक तक ले जाता

है। निज का ज्ञानगुण अपने गुणी को जब देखता है, तो भिन्न होकर देखता है। भिन्न ही होता है। नय/प्रमाण वस्तु नहीं है, वह तो वस्तु को जानने का उपाय है। अज्ञानियों ने नय–प्रमाणों में उलझ करके अपने वस्तुधर्म को खो दिया है, इसलिए–

'य एव मुक्त्वा य पक्षपातं'

इस नय के पक्षपात से मुक्त होकर स्वरूप में गुप्त हो जाओ। स्वरूप को स्वीकार करके स्वरूप में लीन हो जाओ, तब तो सिद्धि संभव है। देह की प्रसिद्धि के राग में आत्मा के समरसीपने को मत खो देना। पुनः–पुनः वस्तुव्यवस्था का विचार करना और वस्तुव्यवस्था पर लक्ष्यपात करना।

ज्ञानी जीव निज–द्रव्य को जानता हुआ, निज द्रव्य को पहिचानता हुआ, निज स्वरूप में अनुभूति लेकर गमन करता है। मेरा चैतन्य–द्रव्य जड़–कर्मों से शून्य है। पर के संकल्प, पर के विकल्प परमार्थ दृष्टि से आत्मद्रव्य नहीं हैं, संकल्प–विकल्प की धारा अहमेदं, ममेदं धारा है। जीव संकल्प कर रहा है, जीव विकल्प कर रहा है, परंतु यह जीव जिसमें संकल्प–विकल्प कर रहा है वह तेरे भाव हैं, परंतु जीव संकल्प–विकल्प कर रहा है वह तेरा निज–भाव नहीं है। जीव संकल्प–विकल्प कर रहा है, वह तेरा भाव ही है– 'अहमेदं संकल्पं, ममेदं विकल्पं'। मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ, यह सब संकल्प है।

ज्ञानी! समयसार की दृष्टि समझना। स्यात्, बुद्धि जीव का भाव है। स्यात्, बुद्धि जीव का त्रैकालिक भाव नहीं है। ज्ञायकभाव जीव का त्रैकालिक भाव है। बुद्धि, विवेक इनका भी विनाश होगा। छद्मस्थ में बुद्धि का विनाश, छद्मस्थ में विवेक का अभाव। जहाँ छद्मस्थपने का अभाव हो जाएगा, वहाँ न बुद्धि, न विवेक। एकमात्र ज्ञायकभाव।

हे मुमुक्षु! 'वो मेरे हैं', यह पर में तेरी दृष्टि है। मैं और अमुक एक है, मेरा शिष्य है– ममेदम्। मुझे गुरु ने दीक्षा दी है, गुरु मेरे हैं, ममेदम्। विकल्प है। आँख खोलकर बुद्धिपूर्वक जो तुम देख और जान रहे हो, इसके अलावा आँख बंद करके, अबुद्धिपूर्वक इसे जानने की आवश्यकता है। **जो अबुद्धिपूर्वक निज के अनन्त धर्म को जानता है, निज के अनन्त धर्म को पहचानता है, निज के अनंत धर्म में लीन होता है, वह परमज्ञाता होता है।**

हे मित्र! मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा होऊँगा, मैं ऐसा था, संकल्प। मेरे ऐसे हैं, मेरे ऐसे हुए, मेरे ऐसे थे, मैं इनका था, यह मेरे थे, मैं इनका हूँ, यह मेरे हैं, मैं इनका होऊँगा, यह मेरे होंगे, विकल्प, त्रैकालिक अशांति। आप जिस शांति की बात कर रहे हो, आपकी शांति अग्नि के अंगारे पर लगी है। जब अग्नि के अंगारे पर व्यक्ति ईंधन रख देता है, तो आग उस समय शांत दिखाई

देती है। अग्नि के अंगारे पर जब कोई पुरुष लकड़ी रखता है, ईंधन रखता है, तब एक समय को लगता है कि अग्नि बुझ गई, लेकिन अंगारे पर ईंधन पर ईंधन रखने पर बुझती नहीं है।

हे ज्ञानियो! आप जिसे शांति कह रहे हो, सांसारिक कार्यों की आकांक्षा पूर्ति को शांति समझ रहे हो, यह शांति नहीं हुई है, यह आपने ईंधन को अग्नि में रखा है। जिसे आप शांति कह रहे हो, यह अग्नि की शांति नहीं है, यह तो अग्नि को ईंधन दिया गया है। ऐसे–ही जगत् में जो–जो जीव अपनी कामनाओं, इच्छाओं की पूर्ति से शांति मान रहे हैं, यह सभी अज्ञानीजीव अग्नि में ईंधन डाल रहे हैं। जो गृहस्थी में रहकर, राग में बंधकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति में शांति स्वीकार कर रहे हैं, ये सभी उन्मत्त जीव हैं। मुझे शांति हो गई, ममेदम् में शांति कैसे?

हे मित्र! जिसे तुम शांति कह रहे हो, वह सब अशांति है। किसी जीव की आकांक्षा है कि मैं शास्त्र वाचन करूँ, मैं लोगों को ज्ञानी बनाऊँ, यही अशांति है। मैं परिवार को सुखी कर दूँ, यह भी अशांति है। हे जीव! अभी तुमने शांति को जाना नहीं है। **जिसमें संसार की वृद्धि है, उसमें शांति कैसे? जिस क्रिया में पाप है, उसमें शांति कैसे? जिस क्रिया में आलम्बन है, उसमें शांति कैसे? जिस क्रिया में परिग्रह है, उसमें शांति कैसे?**

हे ज्ञानी! यदि परिग्रह एकत्रित करने में शांति स्वीकारोगे, तो फिर आकिञ्चन्य धर्म का क्या होगा? शौच धर्म का क्या होगा? आकिंचन धर्म है, वह शांति के लिए है। वही धर्म है। शांति ही धर्म है। प्यासे को पानी मिल गया, वह कहेगा शांति मिल गई। जबकि यह शांति नहीं है, मात्र राग की पूर्ति है। कामीपुरुष को कामिनी मिल गई, यह शांति नहीं है, तेरी विषय कषाय की पूर्ति है। रागी और दरिद्री को धन मिलेगा तो वह कहेगा कि शांति मिल गई। जबकि यह शांति नहीं आई है, यह तो लोभकषाय की पूर्ति है। जो संकल्प–विकल्प है, वह पर–सापेक्ष है।

मनीषियो! जो नय है, वह संकल्प को ग्रहण करता है। स्थूल बुद्धि वाला कहेगा कि यह जीव का भाव है। हे जीव! जीव का भाव अवश्य है, जिस पर तू भाव ले जा रहा है, वह तेरा स्वभाव नहीं है। यह मेरा मित्र है, ऐसा संकल्प कोई नित्य करता है। जीव ने जीव पर संकल्प किया है। जीव ने जीव पर संकल्प अवश्य किया, परंतु हे जीव! तूने जीव में, जीव पर संकल्प नहीं किया है। यह तूने अपने हृदय में जो संकल्प किया है, वह पर की पर्याय में मित्रपने का संकल्प किया है। तेरे भीतर जीवत्व का संकल्प चल रहा है, परंतु हे जीव! तू जीव पर संकल्प कर रहा है, वह तेरा धर्म नहीं है, वह परधर्म है। **तुम परधर्म में आत्मधर्म खोज रहे हो, यह आपकी भूल है।** ऐसा करके तुम अशुभास्रव से बच नहीं पाओगे।

ज्ञानियो! अभी तुम जिसे शुभोपयोग कह रहे हो, वह शुभोपयोग नहीं है। तुम अभी शुभोपयोग से बहुत दूर हो। शुभोपयोग और अशुभोपयोग को समझो। जिन–जिन क्रियाओं में, परद्रव्य में आत्मबुद्धि है, यह तेरी संकल्प–विकल्प दृष्टि है। यह सब अशुभ उपयोग है।

हे मुमुक्षु! शुभ उपयोग के लिए तुझे विषय–कषाय, दुष्ट गोष्ठी, दुष्ट चिंतन, दुष्ट विचार, विपरीत आचरण से निज की रक्षा करना होगी। **प्रशस्त विचार, प्रशस्त आचार, प्रशस्त भाव, निर्मल परिणति जहाँ चल रही है, वह सब शुभोपयोग है। यदि चाक्षुष प्रशस्त क्रिया में अप्रशस्त परिणाम है तो यह अशुभोपयोग ही है।** जिस वेदी पर तुम पूजा करते थे, वहाँ कोई दूसरा पूजा करने खड़ा हो गया, तो भाव बिगड़ने लगा। हे ज्ञानी! तू शुभ करने गया था और अशुभ में लग गया।

हे श्रमण! तुम्हारा मुख्य धर्म ध्यान और अध्ययन है। आप जिनाभिषेक देखने का भी संकल्प–विकल्प नहीं करना, क्योंकि देह देवालय है, इसमें विराजी आत्मा ही आत्मदेव है। तेरा ज्ञान ही नीर है, उस ज्ञान–नीर से अपने चेतन–द्रव्य का अभिषेक करो। संघ में जिनप्रतिमा रखने की परंपरा पुरानी नहीं है, यह तो मध्य की परंपरा है। प्राचीन परंपरा तो यही है कि योगीश्वर जंगल में निवास करते थे, चैत्य में निवास करते थे, निज–भवन में निवास करते थे और निजानंद का आनंद लूटते थे। हे ज्ञानियो! परंपराओं में पड़कर अपनी भगवती आत्मा की वंचना नहीं करना। प्रभुभक्ति करना, परंतु प्रभुभक्ति के लिए संकल्प–विकल्प नहीं करना।

हे ज्ञानी! इस लोक में जिसको जो पसंद था, अनुकूल था, उसने वैसी परंपरा प्रारंभ कर दी; परंतु यथार्थ/सत्य समझने के लिए श्रमणों को मूलाचार, आचारसार, भगवती आराधना को भी निहारना चाहिए। ज्ञानी! किसी की परंपराओं को आगम नहीं कहना। तीर्थंकर भगवंतों ने जो उपदेश दिया है, श्रुत दिया है, वही मात्र आगम है। उसकी पुष्टि करे, वही आगम है।

हे मित्र! तुम पानी पीते हो। खंती का पानी, तालाब का पानी, नदी का पानी, सरोवर का पानी, कुए का पानी, किसका पानी पीते हो? आप जो भी पानी हाथ में लोगे, तो उसमें मलिनता दिखेगी, परंतु आप आँखों से उस मलिनपने को दूर नहीं कर पा रहे हो। मलिनता को मिटाने के लिए क्या करना पड़ेगा? फिटकरी के प्रयोग से पानी की मलिनता को हटा सकते हैं। कोई नदी के अंदर बहते पानी की मलिनता को अलग करना नहीं जानता है, बगैर फिटकरी के। ऐसे ही भेदविज्ञान की फिटकरी के बिना तू अपने भीतर के जो रागादिक भाव के मल हैं, जो सांप्रदायिकता के मल हैं, पंथ भाव के मल हैं, इन सबको अलग नहीं कर पाएगा। विशाल सोच चाहिए, विशाल

चिंतवन चाहिए।

ज्ञानी! भवन की दीवार को देखेगा तो तू आकाश को नहीं जान पाएगा। तू यह सोच कि यह भवन भी आकाश नहीं है, आकाश में भवन खड़ा किया गया है। यदि दीवार को हटा दिया जाए तो जो आकाश पहले था, वह आज भी है। ऐसे–ही, हे मुमुक्षु! यह जितने संत, पंथ, गण, गच्छ, आम्नायें हुए हैं, यह सब दीवारें हैं। इन सबको हटाकर निहारिए, तभी तुमको शुद्ध समयसार का ज्ञान नजर आएगा।

हे ज्ञानी! आप दृष्टांत को दृष्टांत से लो। यह भवन आकाश में है, दीवार ने आकाश को घेर रखा है। उस पर जो आकाश है, इस भवन का आकाश है, वह सब भवनाकाश, घटाकाश, लोकाकाश यह संज्ञाओं को प्राप्त हो चुका है। यह सभी संज्ञाएँ सौपादिक हैं। इन दीवारों को हटाइये, खाली आकाश–आकाश है। हे ज्ञानी! जब–तक कर्म की एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों को यह आत्मा विखण्डित नहीं करेगी, तब–तक निज शुद्ध लोक का अवलोकन नहीं कर सकेगी। मैं ही लोक हूँ। आपने लोक को जाना ही नहीं है अभी तक, आकाश लोक नहीं है। छह द्रव्यों का नाम लोक है। ऐसा लोक जिस आकाश में है, उसका नाम है लोकाकाश। प्रत्येक द्रव्य लोक है– **'लोक्यन्ते दृश्यन्ते सा लोका'।** जिसमें देखे जाते हैं, अवलोकित किए जाते हैं, छह द्रव्य हैं, उसका नाम है लोक। जिस आकाश में छह द्रव्य हैं, उसका नाम है– लोकाकाश। जिसमें छह द्रव्य नहीं हैं, लोक नहीं है, उसका नाम है– अलोकाकाश।

हे मुमुक्षु! व्यवहारनय से मैं कहाँ हूँ? मध्य लोक में, भारत में, एशिया महाद्वीप में, ढाई द्वीप में, भारतवर्ष में, मध्यप्रदेश में, भिंड नगर में, चम्बल संभाग में, चैत्यालय मंदिर में कहाँ? सिंहासन पर, स्व–देह में, निज में। मेरा आधार क्या है? व्यवहारनय से लोकाकाश मेरा आधार है और निश्चय नय से स्वप्रतिष्ठित हूँ निज लोक में। कौन मेरा गुरु? कौन मेरा शिष्य? कौन मेरा पिता? कौन मेरी माँ? यह सब पागलपन है। इसे छोड़ना पड़ेगा। कौन मेरा संप्रदाय? कौनसी मेरी परंपरा? यह सब जब–तक नहीं छोड़ोगे, तब–तक निज लोक का वेदन नहीं होगा।

ज्ञानियो! मैं तो भगवान् से भी मिलना पसंद नहीं करता हूँ। मैं दर्शन करने अवश्य जाता हूँ, परंतु उनसे मिलने नहीं जाता हूँ। उनको देखने नहीं जाता हूँ, उनमें मैं अपने को देखने जाता हूँ। मेरे मित्रो! आप दर्पण को देखने जाते हो, कि दर्पण में देखने जाते हो? दर्पण में अपना चेहरा देखने जाते हो कि मेरा चेहरा कैसा है? ऐसे–ही ज्ञानियो! मैं भगवान् में देखने जाता हूँ कि मेरा भगवान् कैसा है?

माताओ! कहीं–न–कहीं आप मिथ्यात्व पर घूम रही हो। एक को छोड़कर दूसरे को पकड़ रही हो। एक भगवान् से काम नहीं बना, तो दूसरे भगवान् न जाने कहाँ–कहाँ सिर टेकती हो? शुद्ध मिथ्यात्व है। श्रद्धान दृढ़ होना चाहिए। कैसे हैं मेरे वे सर्वज्ञ भगवान्, परम आराध्य देव?

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

(८०/प्रवचनसार)

ज्ञानियो! निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी इन सब एकांत मिथ्यादृष्टियों से दूर रहना। अभी निज को समझने में बहुत समय लगेगा आपको। जहाँ सामान्य लोगों की सोच समाप्त हो जाती है, वहाँ से निर्ग्रंथ योगियों की सोच प्रारंभ होती है। योगियों को समझने में इस लोक को अभी बहुत समय लगेगा। अभी लोगों की सोच/चिंतन बहुत छोटे हैं।

ज्ञानियो! समाधि चाहिए है, तो आज से, अभी से ही समाधि का अभ्यास प्रारंभ कर दो। अज्ञानियों ने मरण को समाधि मान लिया है। कुछ भी कर लो, कुछ भी करके आ जाओ, कपड़े उतार दो, पिच्छिका ले लो, बस, हो गई समाधि। यह शुद्ध पागलपन है। इसका नाम समाधि नहीं है। **मात्र मरण का नाम समाधि नहीं है। जल में डूबकर मर जाना समाधि नहीं है। अग्नि में कूदकर मर जाना समाधि नहीं है। पर्वत से कूदकर मर जाना समाधि नहीं है। हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना भी समाधि नहीं है।**

हे मुमुक्षु! सल्लेखना क्या है? 'समाधि' शांत बुद्धि, शांत परिणाम से **'समता सर्वभूतेषु'** संपूर्ण **प्राणियों पर समता परिणाम का होना, कषाय और काम को कृष करना, सल्लेखना है।** दिगम्बर मुद्रा धारण करके विषय–कषाय, आरंभ–परिग्रह से रहित होकर, संघ–शून्य होकर, ममत्व रहित होकर, स्वरूप में लवलीन होकर जो प्राणों का वियोग हो रहा है, इसका नाम सल्लेखनापूर्वक मरण है।

हे श्रमण! जब–तक यह भाव तेरे अंदर है कि मैं अमुक परंपरा का हूँ, तब–तक तेरी कषाय छूट नहीं रही है। अहो! तीन कम नौ करोड़ मुनियों की वंदना करने वाले श्रमण भी श्रमणों की वंदना नहीं कर पा रहे हैं। ओ हो! धिक्कार उन भावों को जिन भावों में योगी के प्रति श्रद्धा का भाव नहीं है। किसी योगी के प्रति राग, किसी योगी के प्रति द्वेष आ रहा है। ज्ञानी! सल्लेखना करना है तो संघ आदि की व्यवस्थाएँ भी छोड़ देना और आत्मसाधना में लीन हो जाना।

हे मुमुक्षु! धर्म पर सापेक्ष नहीं होता है। समझो स्वरूपदृष्टि को। निज का कल्याण मित्र से

नहीं होगा। कल्याण पर से नहीं होगा। कल्याण कोई दूसरा नहीं करेगा। हे ज्ञानी! धर्म पर सापेक्ष नहीं होता है, धर्म परिपूर्ण पर–निरपेक्ष ही होता है। जो निज गुण होता है, वह पर से निर्गुण होता है। जो निर्गुण होता है, वही द्रव्य का गुण होता है। जो गुण होता है, वह निर्गुण होता है।

हे श्रमण! सराग संयम के लिए गुरु की आवश्यकता है। प्रारंभ में संयम के लिए गुरु की आवश्यकता है, लेकिन हे ज्ञानी! समाधि के लिए न प्रभु की आवश्यकता है, न गुरु की आवश्यकता है। समाधि के लिए तो मात्र समता परिणाम की आवश्यकता है। जिस धर्म की व्याख्या मैं कर रहा हूँ, वह अद्वैत–धर्म की अपेक्षा से ध्यान रखना। ज्ञानी! अद्वैत दृष्टि से निहारो तो मैं जो कह रहा हूँ वह समझ में आ जाएगा।

हे श्रमण! पंचपरमेष्ठी की आराधना भी आराध्य–आराधक भाव है, द्वैत भाव है। निजात्मा का ही आराध्य भाव, आराधक भाव जो चिद्रूप की लीनता है, वीतराग अप्रमत्त–दशा में लवलीन योगी ही अद्वैत में लीन होता है। हे श्रमण! समझो, द्वैत भक्ति से अद्वैत भक्ति की ओर चलो। यदि अभी द्वैतभक्ति में भी प्रवेश नहीं है, तो फिर अद्वैत में तुम क्या जा पाओगे?

हे श्रमण! जब–तक तुम द्वैत–अद्वैत को जानोगे नहीं, समझोगे नहीं, तब–तक अद्वैत में प्रवेश करोगे नहीं। यह कठोर निर्णय करना ही पड़ेगा कि 'मैं परमात्मा से भी अत्यंत भिन्न हूँ।' हे वर्द्धमान! आप स्वतंत्र थे, मैं स्वतंत्र हूँ, फिर मैं आपकी आराधना क्यों करूँ? मैं ही आराध्य हूँ। ज्ञानियो! जब–तक तुमको डर लगता रहेगा, तब–तक बोलना तो दूर है, तुम सोच भी नहीं पाओगे। यह जो व्याख्या है, वह अप्रमत्त योगीश्वर की दशा है।

हे मित्र! दोने को खरीदना पड़ता है, परंतु दोने के लिए दोना नहीं खरीदा जाता है, अपितु चाट खाने के लिए, मिठाई खाने के लिए दोना खरीदना पड़ना है। मित्र! दोने के बिना मिठाई भी नहीं मिलती है, परंतु स्वाद दोने का नहीं आता है, स्वाद तो मिठाई का ही लिया जाता है। **मित्र! तुम दोने को खरीदते हो, दोने के लिए नहीं, उसमें भरी सामग्री के लिए तुम पैसे देते हो। ऐसे–ही भव्यजीव श्रमण जिनदीक्षा को प्राप्त करता है, जिनदीक्षा के लिए नहीं, मात्र आत्मलीनता के लिए।**

हे मित्र! गरीब व्यक्ति भी दोने को फेंक देता है, दोने को खाता नहीं है। हे श्रमणो! आप गरीब नहीं हो। आप निर्ग्रंथ हो, महंत, जिन–गुण–संपत्ति को प्राप्त करने वाले हो। इस माँस, रक्त युक्त शरीर की पर्याय में लिप्त नहीं होना। दोने की सामग्री को फेंक दिया और दोने को खा लिया, उसे अभी यथार्थ बोध नहीं है। ऐसे–ही **जिस जीव ने जिनमुद्रा को प्राप्त करके मात्र**

पिच्छि–कमण्डलु, नग्न–भेष को ही साधु मान लिया है, उसे अभी दिगम्बरत्व का सच्चा बोध नहीं है। जो शांति पर–वस्तु के संग्रह में मान रहा है, उसने अभी शांति को जाना नहीं है। हे श्रमण! श्रमणत्व की साधना तो करना, परंतु प्रपंचों से दूर रहना।

पच्चीस क्रियाओं में सम्यक्त्व की एक क्रिया है। तीर्थंकर अर्हंत के पंचकल्याणक सम्यक्त्व की क्रिया है। आचार्यभगवन् अमृतचंद्र स्वामी ने लिखा है कि **'जो व्यवहार–तीर्थ को नहीं मानता, जो व्यवहारनय को नहीं मानता, वह व्यवहार–तीर्थ का शत्रु है और जो निश्चयनय को नहीं मानता, वह आत्मतीर्थ का शत्रु है। निश्चय तीर्थ स्वात्मा है और व्यवहार तीर्थ पंचपरमेष्ठी की आराधना है।**

हे मुमुक्षु! समाधि में लीन होना है, तो षट्काय के जीवों की हिंसा से विरक्त होकर, संकल्प–विकल्प से मुक्त होना पड़ेगा। आचार्यभगवन् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं–

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।

(६९ कलश)

हे ज्ञानी! यह संकल्प–विकल्प जाल है, इसे जब छोड़ेगा तभी स्वात्मा में स्थित हो पाएगा, तभी तू जिनेंद्र द्वारा कथित सात तत्त्वभूत अमृत का पान कर पाएगा। हे मुमुक्षु! यह समयसार है, सुनते जाओ और स्वयं चिंतन करना कि हम इस मार्ग में कहाँ तक स्थित हैं। यदि आत्मरक्षा करना है, तो किसके साथ बैठना खराब लगता है, किसके साथ बैठने में अच्छा लगता है, यह सब विकल्प छोड़ना पड़ेगा।

हे मुमुक्षु! अशुभ–उपयोग, शुभ–उपयोग इनका कर्त्ता पुद्गल नहीं है। विवक्षा को व्यवस्थित होकर समझना। पुद्गल नहीं है, तेरे निज परिणाम ही हैं। आत्मा के परिणाम ही शुभभूत हैं, आत्मा के परिणाम ही अशुभभूत हैं। आपकी परिणति संकल्प–विकल्पभूत है, अशुभ–उपयोग में जा रही है। आपकी परिणति निजभूत आत्मा है। आप शुभोपयोग में जा रहे हो, कोई दूसरा नहीं ले जा रहा है। हे जीव! मेरी राग की धारा ही ऊपर–नीचे हो रही है। जब शुभ–अशुभ द्रव्यों से मुक्त हो जाएगा, तब चिद्रूप हो जाएगा। कहाँ होगा? अप्रमत्त अवस्था में। बंध–अवस्था का अभाव सप्तम गुणस्थान में होता है, स्यात्। इससे पहले भद्र–मिथ्यादृष्टि जीव भी मोक्षमार्ग के बारे में चिंतन करता है। सम्यग्दृष्टि जीव ही अपने स्वात्म–तत्त्व का निर्णय करेगा और यदि स्वात्म–तत्त्व का निर्णय नहीं कर पा रहा है, तो कोई संकल्प–विकल्प नहीं है। आप यह कहो कि द्रव्यानुयोग के ज्ञान से हो

जाएगा, ज्ञानी! यह मिथ्यावचन छोड़ दो। अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव भी ग्यारह अंग का पाठी (ज्ञाता) हो सकता है। इसलिए ज्ञानियो! अंदर के विषय को समझो।

हे मुमुक्षु! ऐसे अनेक जीव हैं जो धर्म को भोग के निमित्त से करते हैं, कर्मों के क्षय के लिए नहीं करते हैं। प्रतिष्ठा–विधान में आपने संगीतकार को देखा–सुना होगा। वह मधुर–मधुर भजन गाता है, क्या उसके कर्मों की निर्जरा हो रही है? क्या वह मोक्षमार्गी है? हे मुमुक्षु! उसे लय, ताल, लाल दिखाई दे रहे हैं। 'धम्मं भोग निमित्तं'। जितना अच्छा गाएगा, लोग उसे पसंद करेंगे, बुलाएँगे, धन देंगे, तब कहना– 'धम्मं भोग निमित्तं'। लगता अवश्य है कि धर्म है, परंतु 'धम्मं भोग निमित्तं' वह भोग प्राप्त करने के लिए धर्म की क्रिया कर रहा है।

हे मुमुक्षु! 'धम्मं भोग निमित्तं'। इसे भी खोजना पड़ेगा कि धर्म कितना है और दिखावा कितना है? आपने नाम लिखवा दिया कि प्रवचन के पहले मुझे मंगलाचरण करना है, भजन गाना है। मेरे मित्र! यदि भजन गाने की इच्छा हो रही है तो कमरा बंद करके गा लो। आपको भजन गाने की इच्छा हो रही है? आपको भगवान् की भक्ति करने की इच्छा हो रही है अथवा मात्र लोगों को भजन सुनाने की इच्छा हो रही है? हे मित्र! यदि भीड़ न होती, तो आप ही कहते कि दूसरे से करा लो। यदि मात्र दूसरों को सुनाने का, प्रशंसा सुनने का लक्ष्य है तो, हे मित्र! तुम भक्ति नहीं कर रहे हो, मात्र भजन सुना रहे हो। मात्र मेरी नाक बड़ी हो जाए, इतना भाव है, तो मित्र! चिंता नहीं करना, ताली भी बजेगी, घंटी भी बजेगी और नाक भी लंबी मिलेगी, तब गजानन (हाथी) बनकर गलियों में घूमना पड़ेगा।

हे ज्ञानी! शांतचित्त से बैठकर, अन्तस् में निहारना और फिर निर्णय करना कि अभी मेरा वास्तव में धर्म चल रहा कि मात्र दिखावा चल रहा है? निष्पक्ष होकर खोज करने की आवश्यकता है। कभी–कभी साधक साधना की चाह में साधना को खो देता है। धर्म के बारे में सोचना पड़ेगा। भूतार्थ दृष्टि यह है कि शुभ–अशुभ भावों की सत्ता के काल में ही सत्य को जाना जाता है।

जबलपुर में नर्मदातट पर भेड़ाघाट पर एक शांतिनाथ जिनालय है। वहाँ पर गोताखोर युवा खड़े रहते हैं। यात्री नर्मदा में सिक्का डालते हैं, तब गोताखोर पानी में डूबकर उस सिक्के को उठा लाता है। नर्मदा के बहाव में एक सिक्का नदी के तल पर है, फिर भी गोताखोर कूदकर सिक्का उठा लाता है। वह कितना श्रम करता है? अपनी श्वास रोकता है, मस्तक को नीचे करके, अपने हाथों से पानी के प्रवाह को रोककर सिक्के को उठा लाता है। ऐसे–ही शुभ–अशुभ भावों के परिणाम

चल रहे हैं उस काल में निर्ग्रंथ योगी विषय–कषाय से श्वास को रोककर, शुभ–अशुभ की धारा के काल में निज–चैतन्य, ज्ञानघन का सिक्का उठाते हैं और फिर शुद्धोपयोग में लीन हो जाते हैं।

हे ज्ञानी! बाल्टी में पानी भरा है, उसमें आपने मोती डाल दिया और फिर निहारना। क्या हिलते पानी में मोती दिखाई देगा? नहीं। ज्ञानी! पानी को स्थिर हो जाने दो तब तेरा चेहरा भी दिखाई देगा और मोती भी दिख जाएगा। हे ज्ञानियो! यह तो तेरे में ज्ञान का पानी भरा है आत्मा में, उसमें विषय–कषाय हिलोरे ले रहे हैं। जो हिल रहा है, उसे स्थिर कर दो। जब तेरे ज्ञान का नीर स्थिर हो जाएगा, तब तेरा चैतन्य का मोती दिखाई देना प्रारंभ हो जाएगा। इंद्रिय–विषय का व्यापार समाप्त हो जाए, तब जैसे पानी स्थिर होने पर मणि दिखाई देता है, वैसे–ही मन स्थिर होने पर चेतन भगवान्–आत्मा दिखाई देता है। आचार्यभगवन् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं–

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च,
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतनां स्वां,
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु।।

(२३३ कलश)

हे मुमुक्षु! समयसार की दृष्टि में 'ज्ञानी' संज्ञा किसी को है, तो वो सम्यग्दृष्टि, निर्ग्रन्थ योगी, तीन गुप्तियों से गुप्त साधक की है। छहढालाकार कह रहे हैं कि **'ज्ञानी के छिन माहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते'।** अभी छहढाला को भी गुरु से समझना पड़ेगा। त्रय गुप्तियाँ किसके होंगी? भोगी अथवा योगी को? योगी को होंगी। सम्यक्–ज्ञान प्राप्त करो, ज्ञान से कर्म की निर्जरा होती है। वह ज्ञानी है कौन? जिसके कोटि–कोटि भव में किए कर्म क्षण मात्र में क्षय को प्राप्त होते हैं।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण।।

(२३८ प्रवचनसार)

अर्थात् जो कर्म अज्ञानी लक्षकोटि भवों में खपाता है, वह ज्ञानी क्षपकश्रेणी वाला निर्ग्रन्थ योगी मन–वचन–काय त्रयगुप्ति से गुप्त होने से उच्छ्वास मात्र में खपा देता है।

हे मुमुक्षु! जितने कर्मों की क्षपणा अज्ञानी जीव हजार–करोड़ वर्ष में करता है, उतने कर्मों का क्षय तीन गुप्तियों से युक्त होकर, दिगम्बर श्रमणक्षण मात्र में कर लेते हैं। यह

भावलिंगी निर्ग्रंथमुनि के विशुद्धभावों की शक्ति है। मुमुक्षु! लोह–पथ पर चलती–दौड़ती अनेक रेलों में से यदि एकाध पटरी से उतर जाए, तो पटरी को उखाड़ कर नहीं फेंका जाता है, अपितु इंजन को ठीक किया जाता है। ऐसे–ही इस मोक्षमार्ग पर, मोक्षमार्ग की पटरी पर अनेक गाड़ियाँ दौड़ रही हैं, उनमें से एक–दो उतर भी जाएँ पटरी से, तो पटरी नहीं उखाड़ी जाती है, अपितु चारित्रमोह को ठीक किया जाता है; इंजन न सुधरे तो कबाड़े में डाल दिया जाता है। ऐसे–ही मेरे मित्र! यह वीतराग मोक्षमार्ग में रत्नत्रय की गाड़ी दौड़ती है, इसमें से एकाध भ्रष्ट हो जाए तो इसका मतलब यह नहीं है कि पूरा मार्ग ही बदल दिया जाए। हे मुमुक्षु! विश्वास रखना, यह सर्वज्ञदेव ने कहा है कि पंचमकाल के अंत तक इस भारत की भूमि पर वीतरागी, निर्ग्रंथ मुनि होंगे।

ज्ञानीजीव कर्म से, कर्मफल से अत्यंत विरक्त होकर, अविरत भाव से हटकर, विरक्त भाव से अज्ञान चेतना के फल का नाश करके, समस्त अज्ञानचेतना को अच्छी तरह से नाश करता है। एक मात्र शुद्ध ज्ञायक चेतना को अपने निजरस से प्राप्त करके, स्वभाव ज्ञान चेतना का आनंद लूट रहा है जो श्रमण, दिगम्बर मुनि, यह आनंद कहीं–और कहाँ? हे मुमुक्षु! मुनि बनके निज में रहना और जिनगुण सम्पत्ति को प्राप्त करना।

हे मित्र! श्रावक के पास संपत्ति न हो तो उसकी समाज में कीमत नहीं होती है और जिस साधु के पास ज्ञान–दर्शन–चारित्र नहीं है, तो उसकी भी वीतराग मार्ग में कोई कीमत नहीं है। मुमुक्षु! संयम का निर्दोषपना, ज्ञान की निर्मल आराधना, यही है साधु की सम्पत्ति।

जिसे वैराग्य हो, वही दीक्षा का पात्र है। कभी किसी को प्रभावित नहीं करना, यदि प्रभावित हो जाए तो दीक्षा दे देना। किसी को पकड़कर दीक्षा नहीं देना। जो है, सो है। ज्ञानी! किसी को पकड़ना नहीं, मात्र जिनवाणी पिला देना, भवितव्यता अच्छी होगी तो नियम से परिवर्तन करेगा। अपना सिद्धांत क्या है? किसान खेत में पानी डालकर क्या करता है? घर चला जाता है। पानी डालना तुम्हारा कार्य था, पानी सुखाना तुम्हारा कार्य नहीं है, पानी तो स्वयमेव सूख जाएगा। फिर किसान हल से जोतकर भूमि में बीज डाल देगा, फिर पानी डालते जाओ, फिर बीज स्वयमेव अंकुरित हो जाएगा। ऐसे–ही जिनवाणी पिलाते जाओ, वैराग्य अपने आप हो जाएगा। ज्ञानी! समय दे दो। समय देना सीखो।

हे मुमुक्षु! ज्ञानीजीव निज रस–स्वरूप को, निज ज्ञानचेतना को आनंद के साथ प्रशम–रस से अपने स्वभाव का स्वरसपान करता है। आचार्यभगवन् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं–

इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते।।

(२३४ कलश)

इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी जीव, शुद्धात्मा आकुलता रहित, सब वस्तु से भिन्न, अनेक रूप कर्तृत्वभावरूप क्रिया, उसके बिना एक ज्ञानक्रिया मात्र, कर्तृत्व–क्रिया भाव के बिना ज्ञान क्रियावान है वह आत्मा। आत्मब्रह्म को लक्ष्य करके, शब्द–ब्रह्म का निषेध करते हुए, आचार्यभगवन् आगे कहेंगे कि हे मुमुक्षु! शब्दज्ञान भी आत्मा का धर्म नहीं है। शास्त्रज्ञान भी आत्मा का धर्म नहीं है। शास्त्रज्ञान के राग में तुम भगवानात्मा से द्वेष मत करो। किसी को अज्ञानी कहकर कर्म का बंध मत करो, क्योंकि शास्त्रज्ञान भी आत्मा का धर्म नहीं है।

हे मुमुक्षु! परिवर्तन सरल है, परंतु सोचना कठिन है। जैन आम्नाय में भारतवर्ष में ऐसे भी धर्म हैं जो सब विम्बों को छोड़कर मात्र शास्त्रों को पूजने में लग गये। क्या किया? बदला ही तो है। हे जीव! तुम प्रतिमा को जड़ मानते हो, परंतु हमारी जिज्ञासा है कि 'क्या शास्त्र चेतन–भगवानात्मा है? यह भी पौद्गलिक है। शब्द पुद्गल की पर्याय है। **हे मुमुक्षु! शब्द पर्याय में लिप्त होकर तुम निज भगवानात्मा की वंचना मत कर लेना। द्रव्यश्रुत का अध्ययन करो, पारायण करो, लेकिन भावश्रुत की प्राप्ति के लिए, परंतु द्रव्य–श्रुत में लीन होकर अपने भावों को कलुषित मत करो। अपनी दृष्टि को शब्दब्रह्म से हटाकर ब्रह्मधर्म पर ले जाओ।** हे मित्र! यदि जिनप्रतिमा की पूजा द्वैत है, तो शास्त्र की पूजा, गुरु की पूजा भी द्वैत ही है। जहाँ पूज्य–पूजक भाव का भी अभाव है, वही मात्र अद्वैतभाव है। ऐसी स्वरूपलीनता का जो अद्वैतभाव है, वही शुद्धोपयोग की धारा है।

हे मुमुक्षु! टंकोत्कीर्ण परमपरिणामिक–भाव से युक्त आत्मद्रव्य मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृतियों से शून्य है। कर्मप्रकृति के संयोग से रागादिक अश्रद्धानरूप परिणमन चल रहा है, यह सौपादिक दशा है। सौपादिक–दशा को जब–तक स्वभाव में ही स्वीकारता रहेगा, तब–तक जीव मिथ्यात्व के टुकड़े नहीं कर पाएगा। सौपादिक दशा को सौपादिकभूत स्वीकारोगे, तभी निज के पुरुषार्थ से ही मिथ्यात्व के टुकड़े कर सकोगे। ज्ञान की आलौकिक शक्ति है कि वह जीव को सम्यक्त्वभूत और मिथ्यात्वभूत परिणमन करा रहा है। कोई भिन्न/अन्य द्रव्य नहीं है, मात्र ज्ञान ही है।

हे मुमुक्षु! व्रतभूत संकल्प ले रहा है, तो ज्ञान। पर में संकल्प कर रहा है, तो ज्ञान। ज्ञान जिसमें है, वह ज्ञाता है। जो ज्ञाता है, वह आत्मा ही है। संकल्प को ग्रहण कर रहा है, वह भी

आत्मा ही है। पर में संकल्पभूत देख रहा है, वह भी आत्मा ही है। संकल्प तोड़ रहा है, वह भी आत्मा ही है। यहाँ संकल्प तोड़ने से तात्पर्य व्रत तोड़ने से, व्रत भंग करने से लगाना चाहिए। उस संकल्प को तोड़ रहा है, वह भी आत्मा ही है। असंयम का सेवन किया, तो किसने किया? संयम धारण किया, तो किसने किया? यदि आप असंयम का सेवन कर्म में लगाते हो, तो तुम कर्माधीन मिथ्यादृष्टि। असंयम की प्राप्ति कर्म में लगाते हो, तो कर्माधीन मिथ्यादृष्टि। ऐसे–ही ईश्वरकर्त्ता जो भी कुछ करता है वह प्रत्येक विषय ईश्वर पर छोड़ता है, तो वह ईश्वरवादी बहिरात्मा है। ऐसे–ही कर्मवादी बहिरात्मा दोनों मिथ्यादृष्टि। एक और मिथ्यादृष्टि खड़ा है, वह जो कुछ भी करता है, वह कहता है कि यह सब पुद्गल का परिणमन है।

हे मिथ्यादृष्टियो! एक कर्माधीन हो गया, एक ईश्वराधीन हो गया, एक पुद्गल के अधीन हो गया। अभी अपनी स्वतंत्रता का वेदन ही नहीं है। ओहो! क्या कह रहा है कि 'मैं कर्म से प्रेरित होकर कर रहा हूँ। यदि कर्म से प्रेरित होकर कर रहे हो, तो फिर कर्म का फल भी कर्म को ही मिलेगा।

हे मित्र! संसार में सबसे बड़ा दु:ख है, तो मात्र दूसरे की अधीनता स्वीकारना और संसार में सबसे बड़ा सुख है तो स्वाधीनता का होना। परमार्थ में भी जो सुख है, वह स्वाधीनता का ही है। मैं मुनि बना क्यों? स्वाधीन होने के लिए। ज्ञानियो! कर्माधीनता को स्वीकार नहीं करना। मैं कर्माधीन होने के लिए मुनि नहीं बना हूँ, मात्र स्वाधीन होने के लिए ही मुनि बना हूँ। आपने यह स्वीकार लिया कि जो कुछ करेंगे, वह कर्म करेंगे, तो विश्वास रखना, मुक्ति संभव नहीं है।

अनादि सम्बंधे च। (त.सू.)

हे मित्र! कर्म का संबंध आत्मा में अनादि से है। जब अनादि से कर्म है, तो फिर आत्मा कर्म के अधीन हो जाएगी और कर्म के अनुसार ही चलती है तो कर्म तुझे कभी छोड़ेंगे नहीं, फिर तू कभी कर्म से छूटेगा नहीं। हे मुमुक्षु! पुरुषार्थ कर्मों के अनुसार ही होगा, कि कर्म मेरे पुरुषार्थ के अनुसार परिणत होंगे? यहाँ जो कर्मों के अनुसार वृत्ति बना रहा है, वह तो कभी संसारातीत हो नहीं सकता है। उसका कभी भी संयम पल नहीं सकता है। वह कभी भी कोई व्रत ग्रहण कर नहीं सकता है। सम्यग्दर्शन को ग्रहण नहीं कर सकता है, क्यों? क्योंकि तू कर्माधीन है। हेतुओं पर ध्यान दो। जिस दृष्टि से मैं कह रहा हूँ, सहेतुक बात करना।

हे जीव! कर्म के तीव्र विपाक के काल में तेरा पुरुषार्थ नहीं हो पाता है, लेकिन जैसे–ही कर्म का मंद उदय सामने आए, तो अपना प्रबल–पुरुषार्थ करके छलांग मार लेना। कभी भी कर्म

के अधीन होकर नहीं जीना। कर्म का होना, कर्म का सत्ता में रहना, कर्म का उदय में आना, यह कर्म है। कर्म के फल को भोगना, नहीं भोगना, इसमें मैं स्वाधीन हूँ। दरिद्रता ने घर में पैर रख लिया, यह उसका कार्य था; लेकिन उसमें दु:खित होना या नहीं होना, यह दरिद्रता का कार्य नहीं है, इसमें मैं स्वाधीन हूँ। घर में संपत्ति बढ़ गई, यह लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम के अधीन है। इसमें हर्षित होना या नहीं होना, यह स्वाधीन है।

हे ज्ञानी! कितने उपसर्ग आते हैं? कितने संकट आते हैं? यदि इनमें उलझ गए तो हे पार्श्वनाथ स्वामी! आप तो उपसर्ग सहन करते–करते केवली बन गए। उपसर्ग–कर्त्ता परसापेक्ष था, उपसर्गकर्त्ता पराधीन था, परंतु उपसर्ग को स्वीकारना स्वाधीन है। कर्म के फल को विषफल की भांति क्यों नहीं देखते हो? विषफल उत्पन्न हुआ है, पुष्पित हुआ है, फलित हुआ है और फिर वृद्धिमान हुआ है, परंतु जो विषफल को पहचान लेता है, वह उसका सेवन नहीं करता है। वह विषफल निश्चित समय पर पक करके निर्जीर्ण होकर नष्ट होते देखा जाता है। निष्फल। ऐसे–ही तत्त्वज्ञानी जीव भी कर्म के विपाक को विषफल स्वीकार करके उसमें न हर्ष, न विषाद करता, अपितु आओ–जाओ, मैं तो जानने वाला, देखने वाला हूँ। ज्ञायकस्वरूपी।

हे ज्ञानियो! 'देखो, जानो, जाने दो।' मैं तो देखने वाला हूँ, जानने वाला हूँ। जैसे जगत् के लोग मेरी आँखों के सामने आ भी रहे हैं, जा भी रहे हैं, तब भी कुछ नहीं। जो है, सो है। ज्ञानियो! सुख से रहना है तो उपेक्षा करना भी सीखो। हे मुमुक्षु! इस शरीर में कुष्ठ हो गया, इस शरीर में फोड़ा हो गया, रोग हो गया, अब अपनी अध्यात्म–विद्या का प्रयोग करो। अपने आत्म–तत्त्व को निहारो। देह का उत्पाद–व्यय भिन्न है और देही का उत्पाद–व्यय भिन्न है। धन्य हों, जयवंत हों महामुनि सनत कुमार जिन्होंने घोर–रोग परीषह को सहन किया, मात्र तत्त्वदृष्टि के बल पर। हे मुमुक्षु! मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि **'विषयों की शय्या पर सोने वाला समयसार को नहीं समझ सकता है।'**

मुमुक्षु! समयसार इतना सरल नहीं है कि आपका सिर दर्द होता है तो आप रात्रि में भी गोली गटककर, पानी पीकर कहते हो कि आनंद आ गया। हे मुमुक्षु! यहाँ लगाइये तत्त्व को कि कर्म–नोकर्म का परिणमन चल रहा है। ज्ञानी! भावकर्म तेरे हाथ में है, परंतु कर्म तेरे हाथ में नहीं है। नोकर्म तेरे हाथ में नहीं है, उसका परिणमन स्वतंत्र है। भावकर्मों का परिणमन स्वतंत्र मेरे अधीन है।

हे मित्र! मुनिराज को आहार दिया और अन्तराय आ गया। ग्रास हाथ में आना पर–सापेक्ष, अंतराय का आना पर–सापेक्ष, परंतु अंतराय के काल में भी भावों की परिणति स्वसापेक्ष होती है।

अंतराय आ गया, तब भी मुनिराज साम्यपूर्वक वापस आ गए, अब 'जो है, सो है।' यहाँ समझिए तत्त्व की गहराइयों को। हे ज्ञानी! चरणानुयोग भी समयसारभूत है, परंतु लोग समझते ही नहीं हैं। मात्र शब्दों में स्वानुभूति मत लो, अपितु यथार्थता का बोध करो, शब्दों में मत उलझो।

हे मुमुक्षु! द्रव्यानुयोग को समझना है, तत्त्व की गहराई को समझना है तो व्याकरण, न्याय–दर्शन को भी समझना पड़ेगा। जिसको अपने ज्ञान में कर्म–नोकर्म भिन्नभूत दिखाई न देते हों, जो भावकर्म को भी जान नहीं पाता हो, निर्णय नहीं कर पाता हो, वह क्या समझेगा वस्तुव्यवस्था को? हे मुमुक्षु! जो भावकर्म है, वह आत्मा का ही विभाव भाव है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान यह क्या है? अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान, यह आत्मा का भाव है, ज्ञानगुण की पर्याय है।

मित्र! पहले इसे भी स्वीकारिये। प्रत्येक ज्ञान का परिणमन स्वतंत्र है। जो मतिज्ञान का विषय है, वह श्रुतज्ञान से भिन्न है। श्रुतज्ञान का विषय है, वह अवधिज्ञान से भिन्न है। अवधिज्ञान का विषय है, वह मन:पर्याय ज्ञान से भिन्न है और मन:पर्याय ज्ञान का विषय केवलज्ञान से भिन्न है। यदि इनको भिन्न–भिन्न नहीं मानोगे, तो पाँच सम्यग्ज्ञान नहीं कहोगे। तब मात्र एक ही ज्ञान बचेगा। एक ही ज्ञान बचेगा, तो शुद्ध चेतना, अशुद्ध चेतना में भेद क्या होगा? एक ही बचेगा तो संसारी जीवों का छद्मस्थों का और केवलियों का अंतर क्या होगा? इसलिए मात्र ज्ञायक–भाव कहकर सभी ज्ञानों में संकर दोष नहीं कर सकते। तत्त्वदृष्टि से निहारो। ज्ञायकत्व की दृष्टि से ज्ञायकभाव है।

दुग्ध, दही, घृत क्या ये तीनों एक हैं? ये तीनों एकरूप दिखाई नहीं दे रहे हैं। दही का त्यागी दूध ले सकता है, दूध का त्यागी दही ले सकता है, दूध–दही का त्यागी घी ले सकता है। आपने आज दूध का त्याग किया, तो घृत का भी त्याग कहलाएगा क्या? नहीं। छ: रसों में घृत, दही, मट्ठा तो दूध से ही बनते हैं। हे ज्ञानी! दूध पीने से कोई बीमार हो सकता है, तो वह मट्ठा पीने से स्वस्थ भी हो सकता है। घृत सेवन से बीमार हो जाए तो वह दूध पीने से स्वस्थ भी हो सकता है। मुमुक्षु! दही भिन्न है, दुग्ध भिन्न है, छाछ भिन्न, मक्खन भिन्न है, घृत भिन्न है, लेकिन गोरस अभिन्न है।

हे मुमुक्षु! दुग्ध की पर्याय है, गोरस की पर्याय है, ऐसे–ही मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवल ज्ञान यह ज्ञानगुण की पर्यायें हैं। जैसे गोरस की अलग–अलग पर्याय स्याद्भूत है। ऐसे ही ज्ञानगुण की पर्याय भी अलग–अलग हैं। स्याद्भूत– स्वभावभूत। जब घृत बन जाता है, तो न उसमें दही का स्वाद होता है, न मट्ठे का स्वाद होता है, न दूध का स्वाद होता है, न मक्खन

का स्वाद होता है। गोरस की अंतिम दशा/पर्याय जो है, उसका नाम है– शुद्ध घृत।

जीव में जो ज्ञानगुण है, उस ज्ञानगुण की अंतिम शुद्ध पर्याय है– केवलज्ञान। आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी कह रहे हैं कि तत्त्व त्रयात्मक है। उत्पाद–व्यय– ध्रौव्य। **मुमुक्षु! जैसी पर्याय होगी, वैसी अनुभूति होगी।** पहले इसे स्वीकारिये, अन्यथा अशुद्ध ज्ञानचेतना में शुद्ध ज्ञानचेतना का मिश्रण हो जाएगा और शुद्ध ज्ञानचेतना में अशुद्ध ज्ञानचेतना का मिश्रण हो जाएगा। हे मुमुक्षु! ध्यान दो, **संसार अवस्था में शुद्ध ज्ञानचेतना की शक्ति है, शुद्धात्मा शुद्ध ज्ञानचेतनाभूत है।** ज्ञानी! तत्त्व को यथार्थ समझो और स्वीकार करो। जिसे स्वयं तत्त्व का बोध नहीं है उसे गुरु मानकर उसके अनुसार तू तत्त्व का निर्णय नहीं कर बैठना।

हे मित्र! निर्ग्रंथ गुरु के अनुसार तत्त्व का निर्णय करना, जो तत्त्व का निर्णय है, वह परिपूर्ण है। जो है, सो है। भारत की भूमि पर बड़ी–बड़ी पोथियाँ रखी हुई हैं। प्रत्येक दर्शन अपने अनुसार तर्क देता है। जिसने मक्खन खाना प्रारंभ कर दिया है और उसने घी कभी नहीं देखा, तो वह मक्खन की सिद्धि में ही लगा रहेगा, वह घी की बात नहीं कर पाएगा। जिसने घी को देख लिया, समझ लिया, जान लिया, वह निर्भीक होकर कहेगा कि मक्खन गोरस की अंतिम पर्याय नहीं है। मक्खन मलिन है, मक्खन शुद्ध नहीं है। ऐसे–ही अर्हंत अवस्था भी मलिन है, शुद्ध नहीं है। हे मुमुक्षु! जब मैं अर्हंत अवस्था को शुद्ध नहीं मानता हूँ, तेरहवें गुणस्थान को शुद्ध नहीं मानता हूँ, चौदहवें गुणस्थान को शुद्ध नहीं मानता हूँ, तो फिर मैं चौथे गुणस्थान को शुद्ध कैसे मान लूँ? सहेतुक विषय है, आगमिक है, सैद्धांतिक है अध्यात्म के साथ।

हे मुमुक्षु! जब मैं चौदहवें गुणस्थान में शुद्धि नहीं मानता हूँ, तेरहवें गुणस्थान में शुद्धि नहीं मानता हूँ, तो फिर चौथे गुणस्थान में शुद्धि कैसे? जब तक जीव के साथ गुणस्थान संज्ञा है, तब–तक शुद्धता नहीं है। जिस दिन तेरे साथ गुणस्थान संज्ञा समाप्त हो जाएगी, उस दिन तू शुद्ध परमात्मा होगा।

हे मुमुक्षु! यह चिंतवन कौन कर रहा है? यथार्थ में जाओ। मैं प्रमत्त नहीं हूँ, अप्रमत्त नहीं हूँ। मैं क्या हूँ? शुद्ध ज्ञायकस्वभावी हूँ। जो है, सो है। मित्र! चिंतन तो मिथ्यादृष्टि भी कर सकता है। इस गाथा का चिंतन तो मिथ्यादृष्टि भी कर सकता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती यदि इस विषय का चिंतन नहीं करेगा, तो समझो उसका चतुर्थ गुणस्थान भी नहीं है।

हे मित्र! ध्यान प्राप्य का होता है या अप्राप्य का होता है? अनुभूति प्राप्य की होती है या अप्राप्य की? जो मुझे मिली नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए मैं ध्यान करता हूँ और जो मुझे मिल

जाती है, उसकी मैं अनुभूति लेता हूँ। षष्ठम् गुणस्थानवर्ती जीव, पंचम गुणस्थानवर्ती जीव, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव यह चिंतन कर रहा है। ओह! मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? मार्गणा स्थान, गुणस्थान यह मेरा सत्य स्वरूप नहीं है, निश्चय नय से। सत्य है, परंतु सत्य स्वरूप नहीं है। सत्य नहीं है, तो संयम–असंयम का भेद क्या? सत्य नहीं है, तो श्रेणी आरूढ़ आदि क्या? सत्य नहीं है तो सयोग केवली, अयोग केवली में भेद क्या? यह सब सत्य है, सत् है, सत्य है। वस्तुस्वरूप है, अवस्तुभूत नहीं है।

हे ज्ञानी! यह चिंतन तो होना ही चाहिए। मैं तो दिगम्बर मुनि हूँ। आप सुकुल में जन्मे जैन श्रावक हो। हे माँ! एक गोपिका भी द्रव्यदृष्टि को जानती है, उसे आप नहीं जान पाओ तो आपका जैनकुल में जन्म लेना व्यर्थ हो जाएगा। एक गोपिका जानती है, एक कृषक जानता है द्रव्यदृष्टि को। समयसार के ज्ञान के बिना, द्रव्यदृष्टि के बिना कोई सफल वैद्य भी नहीं बन सकता है। आँवला–बहेड़ा–हर्र यह भिन्न–भिन्न हैं, परंतु वैद्य को बोध होता है कि इनमें रासायनिक तत्त्व भरा हुआ है और तीनों का योग कर दो, तो उसकी त्रिफला संज्ञा हो जाती है। इससे ही उदर के रोग दूर होंगे। गोपिका को मालूम है कि तरल दुग्ध में दही का थक्का है। उसे पता है कि बहते दूध में ठोस घृत है। आँखों से देखने पर दूध में घी दिखाई नहीं देता है, परंतु गोपिका किस दृष्टि से जान रही है, भले ही वह व्याख्यान नहीं कर पाती हो वह बात अलग है, परंतु वस्तुव्यवस्था देखो द्रव्यानुयोग से। **हे मित्र! जैसे गोपिका बहते दुग्ध में घृत को निहार लेती है, ऐसे–ही तत्त्वज्ञानी मुमुक्षु जीव भटकती आत्माओं में, संसार अवस्था में ही भगवान् को पहचान लेता है।**

हे जीव! दुग्ध फेंक दोगे, तो घृत कहाँ से लाओगे? मिथ्यादृष्टि संसारी जीवों को दुत्कार दोगे तो भगवान् कौन बनेगा? **ज्ञानी! अघवान् ही कर्मक्षय करके भगवान् बनते हैं। भव्य मिथ्यादृष्टि जीव ही सम्यग्दृष्टि बनता है। जब बीज ही फेंक दोगे, तो वृक्ष कैसे लगेंगे? बीज होगा तो वृक्ष होंगे, फल लगेंगे।** किसी को दुत्कारो मत, गले भी नहीं लगाना, क्योंकि कण–कण स्वतंत्र है।

हे जीव! जब तू सादृश्य अस्तित्व से देखेगा, तो सारे जगत् के प्राणी तुझे समान दिखेंगे। जब दया और करुणा की बात आए तो सादृश्य अस्तित्व से देखना है कि मेरे चेतनत्व में और आपके चेतनत्व में कोई भेद नहीं है। सादृश्य अस्तित्व से निगोदिया से सिद्धों तक मैं एकभूत देखता हूँ। जब पण्डितजी यह कहें कि सब मेरे हैं, तो यह कहना 'हे ज्ञानी अज्ञानी! स्वरूप–अस्तित्व का चिंतन कर। क्यों? सादृश्य अस्तित्व में एकत्व है। स्वरूप–अस्तित्व में प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक

व्यक्ति स्वतंत्र है। अणु–अणु स्वतंत्र है। मैं अपने चतुष्टय से भिन्न होऊँगा नहीं। अपने चतुष्टय से भिन्न हुआ नहीं। अपने चतुष्टय से भिन्न हूँ नहीं। स्वरूप–अस्तित्व से आप चिंतन करो। सामायिक का विषय बनाना चाहिए। जो सामायिक का विषय है, वह ध्यान का विषय है, ज्ञान का विषय है, लेकिन मैं प्रमत्त नहीं हूँ, मैं अप्रमत्त नहीं हूँ। मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ। यह स्वरूप–अस्तित्व का चिंतन कर रहा है।

प्रमत्त अप्रमत्त दशा भी कर्मसापेक्ष होने से स्यात् पर है। राग–द्वेष परिणाम भी कर्मसापेक्ष होने से स्यात् पर है। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना। तो मैं क्या हूँ? जैसे गोपिका आँख बंद करके देखे कि दुग्ध भी पर है, दही भी पर है, मक्खन भी पर है, उसे घृत दिखाई दे रहा है। यह सारी व्यवस्था भिन्न करके देख रहा हूँ। ऐसा चतुर्थ आदि गुणस्थान में बैठा जीव छठवीं गाथा का चिंतन कर रहा है। तो मैं क्या हूँ? जो अखण्ड अवस्था है, वह ज्ञायकभाव है। वह क्या है? शुद्ध दशा है।

यदि छठवीं गाथा का अर्थ यह लगाएँ कि है ही, तो समयसार ग्रंथ है किसके लिए? सिद्धों के लिए समयसार है क्या? असिद्धों के लिए समयसार है। कारण समयसार है, कार्य समयसार नहीं है। जब–तक कुन्दकुन्द के समयसार की गाथा एक से अंतिम गाथा तक का अध्ययन न कर लें, तब–तक समयसार से किसी भी विषय का निर्णय करके किसी को भी मत दे देना। यह पण्डितजी तो समयसार से ही देखेंगे, परंतु जो दस गाथा यहाँ हो रही हैं, वे अष्टसहस्री, परिक्षामुख सूत्र, तर्कशास्त्र पर कसी हुई हैं। शास्त्रज्ञान करो। आपको ऐसा लगता है कि आपसे दूर कर रहे हैं लोग। स्वतंत्र ही नहीं होने दे रहे हैं। स्वयं के ज्ञान के बारे में मिलने ही नहीं दे रहे हैं। तुम तो कागजों को पढ़ते जाओ, अक्षरों को निहारते जाओ। अक्षर देखते–देखते अक्ष पर लक्ष्य ही नहीं है। अक्षरों को देखते जाओ। मथानी को लोटे में घुमाते रहोगे तो मक्खन बाहर निकल जाएगा क्या? विश्वास रखना, डोरी खींचते–खींचते एक समय आपको मथानी को बंद करना पड़ेगा, तब मक्खन निकालोगे। यदि आप मक्खन नहीं निकाल रहे हो, मात्र मथानी चला रहे हो, तो मक्खन तैयार होगा। अधिक मथानी चलाते रहोगे तो वहीं–का–वहीं समाप्त हो जाएगा। ऐसा–ही है।

यह मिक्सी के युग के लोग हैं, सो सब तत्त्वों को मिक्स कर डाला है। शुद्ध मथानी मटकी का मक्खन। और उस मक्खन को निकालते समय तुमको भेदविज्ञान का विवेक होना चाहिए। गर्मी में निकालोगे तो शीतल पानी के छींटे मारने पड़ेंगे। ठंडी में निकालोगे तो गर्म पानी के छींटे मारना पड़ेंगे। त्रिकाल की साधना भिन्न–भिन्न है। एक सज्जन मेरे पास आए ज्येष्ठ माह में। कहने लगे–

महाराज साहब! आप तो मेरे गाँव चलो। आप कल बिहार कर जाना। स्वामी! आप तो आहार करके विहार कर जाना, मैं रोकूँगा नहीं। मैंने कहा, क्यों? मैंने एक महाराज को आहार करके विहार करा दिया था। यह भक्त तो असमाधि ही कराएगा। जब तूने विहार कराया था दोपहर में एक बजे, वह मौसम कौनसा था? वह ठंडी का मौसम था। ज्येष्ठ के महीने में तू महाराज को आहार कराकर एक बजे विहार कराएगा तो रास्ते में ही तू व्यवस्था और कर ले संस्कारों की। विवेक होना चाहिए कि कौनसे काल में कौनसी साधना होती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को निहारने की सामर्थ्य और होना चाहिए। रूढ़िवादी न कल्याण कर पाएगा, न कल्याण कराने का किसी का निमित्त बन पाएगा। विवेकहीन पुरुष।

शास्त्र अध्ययन करो। मैं शास्त्र अध्ययन का विरोधी नहीं हूँ। यदि विरोधी होता तो मैं यहाँ स्वाध्याय क्यों करा रहा होता? लेकिन चौबीस घंटे आप मथानी घुमाते रहोगे और बंद करके नहीं रखोगे तो मक्खन निकालने के लिए समय निकालोगे या नहीं? जैन मुनि की शेष क्रिया एक–एक, दो–दो बार और स्वाध्याय होता है चौबीस घंटे में चार बार। मुनियों का नियम होता है, अट्ठाइस कृतिकर्मों में चार बार का स्वाध्याय नियत होता है। मथो। तीन समय की सामायिक में मक्खन निकालो। इसलिए ध्यान रखिये, **सामायिक के काल में जो स्वाध्याय करता है, वह गुरु की असमाधि कराएगा, अपनी असमाधि कराएगा, संघ में क्लेश कराएगा। यह आगम का वचन है। संधिकालों में जो व्यक्ति स्वाध्याय करते हैं, वह क्लेश, असंयम, गुरु शिष्य का वियोग, कलह यह सब हेतु आगम में लिखे हुए हैं।** किसी भी प्रकार की पुस्तक (ग्रंथ) सामायिक के काल में पढ़ना वर्जित है। पागल हो जाएगा यदि सामायिक के काल में अध्ययन किया। पिच्छिका तक छूट गई लोगों की। आगमवचन अन्यथा नहीं होता। पिच्छिका नहीं बचती है हाथ में।

मुनिराजो! सामायिक में मक्खन निकालो। यह तो हुआ सामायिक। लेकिन अभी घी नहीं बना? घी तब बनेगा जब ध्यान करोगे। मक्खन को भी तपाया जाता है तब घी बनता है। निर्वाण तभी मिलेगा। अंतिम साधना स्वाध्याय नहीं है, अंतिम साधना ध्यान है। एक व्यक्ति सामायिक प्रतिमा व्रत लेकर गया, किसी विद्वान् ने समझा दिया कि यदि तू सामायिक में ही समय निकाल लेगा, तो स्वाध्याय कब करेगा? वह मेरे पास आया, बोला, महाराजजी! आप अपनी एक प्रतिमा वापस ले लो। क्यों? 'महाराजजी! स्वाध्याय के लिए समय ही नहीं मिलता।' फिर मैंने उसे समझाया, 'बैठ! जिसने तुमको समझाया है, वह तुम्हारा शत्रु है।' क्यों महराज। 'आपको पता होना चाहिए कि संयम धारण के लिए श्रुताराधन करो।'

मुमुक्षु! अच्छी तरह याद कर लेना। इसलिए कि आज ऐसा समय चल रहा है, संयम के प्रति लोगों का अश्रद्धान बढ़ रहा है, ज्ञान के प्रति ललक बढ़ रही है। परंतु यह पता नहीं है कि ज्ञान प्राप्त किया क्यों जाता है? संयम के लिए स्वाध्याय करो। जैसे–ही मैंने यह बोला, वह कहता है 'महाराजजी! क्षमा करना। हकीकत बताऊँ, पण्डितजी साहब ने समझाया था कि स्वाध्याय कम हो गया है। इसलिये कि मैं सामायिक में लग गया था। **मित्र! ज्ञान की आराधना ज्ञान के लिए नहीं की जाती है। ज्ञान की आराधना संयम के लिए की जाती है। संयम के लिए श्रुत धारण करना चाहिए। 'संयमाय श्रुतं धत्ते।'**

हे जीव, मनुष्य जीवन का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार सम्यक्त्व है, सम्यक्त्व का सार चारित्र है। चारित्र का सार निर्वाण है। तुम स्वाध्याय करते हो, पर सामायिक के लिए भी समय निकालो। अक्षरों में ही आयु के निषेधों का क्षरण मत कर लो। अक्ष में भी आयुकर्म पर लक्ष्य रखो। अक्ष अर्थात् आत्मा।

आत्मा के लिए भी आप समय निकालो। मालूम चला पूरा जीवन लिखा–पढ़ी में निकल गया, लख पाये ही नहीं? कम–से–कम सामायिक का समय तो लखने में लगाओ। सामायिक अच्छी हो जाए तो ध्यान की ओर चलो।

जिन्होंने कर्मकलङ्क को झुलसा दिया है। किससे? ध्यान की अग्नि से। वे नित्य निरंजन ज्ञानमयी, कौन? वह सिद्ध परमात्मा हैं। अब कुन्दकुन्द स्वामी अपनी भाषा बदल रहे हैं। शास्त्र तो शास्त्र है, शास्त्र 'ज्ञान' नहीं है।

यहाँ कहेंगे कुन्दकुन्द स्वामी, पदार्थ पदार्थ है। प्रकाश तो प्रकाश है। प्रकाश ज्ञान नहीं। पदार्थ ज्ञान नहीं। अब आचार्य भट्ट अकलंक स्वामी, आचार्य माणिक्यनंदि स्वामी कह रहे हैं– अर्थ और आलोक, यह ज्ञान नहीं है। मेरा आपसे प्रश्न है कि इस पेंसिल से तुमने जाना, कि ज्ञान से पेंसिल को जाना? तो समयसार से मैंने समयसार को जाना, समयसार ग्रंथ से मैंने जाना कि अपने ज्ञान से समयसार को जाना? कहाँ तुम लगे थे? पदार्थ में ज्ञान होता है तो सारे जगत् के लोगों को हो जाना चाहिए। प्रकाश से ज्ञान होता है तो सारे लोक को हो जाना चाहिए। पदार्थ ज्ञान नहीं है, प्रकाश ज्ञान नहीं है। ज्ञानी! ज्ञान तो ज्ञान है। पदार्थ जड़वस्तु भी है। जड़ में चैतन्य का धर्म कैसा? इसलिए ग्रंथों से ज्ञान नहीं होता है, ज्ञान से ग्रंथों को जाना जाता है। ग्रंथों से ज्ञान होने लग गया तो देखो यह कितने ग्रंथ रखे हुए हैं ग्रंथालय में। जो पुस्तकें बेचता है, वह ग्रंथों के बीच में चौबीस घंटे रह रहा है। एक ग्रंथालय का कर्मचारी है, ग्रंथों को सँभाल रहा है, वह ग्रंथों के बीच में ही

पूरा जीवन निकाल रहा है। उसे तो महा ज्ञानी हो जाना चाहिए? ग्रंथों में ज्ञान नहीं है। ग्रंथ (द्रव्य–श्रुत) आलम्बनभूत है। इसलिए अविनय नहीं करना, अध्ययन करना। लेकिन ध्यान रखना– शास्त्रपाण्डित्य भिन्न है, वेदपाण्डित्य भिन्न है, आत्मपाण्डित्य भिन्न है। लोग व्यर्थ में क्लेश को कर रहे हैं। मैं समयसार, प्रवचनसार, गोम्मटसार का ज्ञानी बन जाऊँगा, षट्खण्डागम पढ़ूँगा। यह सब समय को शुभोपयोग में लगाने के लिए है, अशुभ से बचने के लिए है, परंतु ज्ञानी ग्रंथों से नहीं बनता। **आत्मज्ञान ज्ञान है, शेष सब अज्ञान है। आत्मज्ञान ही ज्ञान है। आत्मज्ञान से ही निर्वाण मिलेगा।** आप लोगों ने जो आत्मज्ञान शब्दों में, ग्रंथों में और पम्पलैट में समझ लिया है, वह नहीं है। **आत्मज्ञान अंदर की शांति है।** अब कहना कि न प्रमत्त हूँ, न अप्रमत्त हूँ। मैं ज्ञायकस्वभाव में लीन हूँ। ऐसा स्वरूप का चिंतन कर रहा है और स्वरूप में स्थिर हो गया है। ऐसा अभेद रत्नत्रय से मण्डित जीव ही आत्मज्ञानी है। आत्मज्ञान की सिद्धि जो करे, वह पागल आदमी है। सिद्धि वे करते हैं जो सिद्धि को प्राप्त नहीं होते। जो सिद्ध होता है, वह सिद्ध ही होता है, प्रसिद्ध है। सिद्ध प्रसिद्ध है। इसलिए जो **आत्मज्ञान को प्राप्त कर चुका है, वह आत्मज्ञान की सिद्धि करने नहीं आएगा। जो आत्मज्ञान की सिद्धि नहीं कर पाए हैं, वे आत्मज्ञान की सिद्धि के लिए उपाय खोजेंगे। उपाय तो उपाय है। उपाय उपेय नहीं है। अज्ञानी उपाय में ही जीवन पूरा कर चुके, उपेय पर लक्ष्य ही नहीं है।**

इस सूत्र को तुम मानते हो, यह तो निमित्ताधीन है। वह कह रहा है– **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'।** मेरे मित्र! पर तो निमित्ताधीन है। **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** व्यवहार दृष्टि है। एक जीव दूसरे जीव का भी उपकार करता है, यह लोकदृष्टि है। **एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपकार करता है, यही निमित्तदृष्टि है।** खुशी इस बात की है कि कम–से–कम आज तुमने इस बात को स्वीकार तो कर लिया। मैं तो जन्म से हर प्रकार के तत्त्व को स्वीकार करता हूँ। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपकार करता है। उपकार ही करता है, उपकृत नहीं होता है। आपको मालूम होना चाहिए कि जब मैं शुद्ध निश्चयनय की प्रधानता से व्याख्यान कर रहा हूँ तो वहाँ उपकार कहाँ से आ गया? हे जीव! ठीक है, व्यवहार दृष्टि से आज मैं यहाँ बैठा हूँ। एक पण्डितजी थे जो प्रतिदिन कहते थे महाराज श्री! समयसार समझा दो। थोड़ा समय लगने दो, फिर समझाता हूँ। आप ऐसा व्याख्यान करो तो व्यवहार का क्या होगा? व्यवहार को फूल मानिये। बिना फूल के फल नहीं आता। केले को देखो। फूल सड़े बिना फल दिखाई देगा नहीं। फूल जब झरने लगता है, तो फल बनने लगता है। जब शुद्धात्मा की अनुभूति में जीव प्रवेश करने लगता है, तो व्यवहार के फूल

झड़ने लगते हैं। फूल का अभाव नहीं हुआ है। फूल की सत्ता में ही फल लगा हुआ है; लेकिन जब फल दिखेगा तो फूल को समाप्त होना ही पड़ेगा। मैं इनका गुरु हूँ, यह मेरे शिष्य हैं। जब स्वरूप में लीन हो जाऊँगा, तो कहाँ के गुरु, शिष्य?

शिष्यो गुरुर्नापि हीनं न दीनं चिदानंद रूपं नमो वीतरागम्।

यह भी सत्य है। निश्चयनय, व्यवहारनय यह तो शब्द हैं। जिस नय का तू पालन करेगा उस धर्म का नाम व्यवहार धर्म कहलाएगा। अभेद रत्नत्रय में लीन हो जाएगा तो वही तेरा धर्म निश्चय धर्म कहलाएगा। जो धर्म है, वह 'जो है, सो है।' **'वस्तुस्वभावो धम्मो'** जो वस्तु का स्वभाव है, वह धर्म है। इसलिए जो ज्ञान–दर्शन है, वह आत्मा का धर्म है। गुण है, गुण ही आत्मा का धर्म है। द्रव्य निरपेक्ष नहीं होता है, द्रव्य सापेक्ष होता है। द्रव्यनिरपेक्ष न गुण है, न पर्याय है। द्रव्यसापेक्ष गुण भी है, पर्याय भी है। स्वभाव धर्म के साथ–साथ विभाव धर्म पर भी विचार करना पड़ेगा। जो द्रव्य में विभाव धर्म नहीं स्वीकारता, वह स्वभाव धर्म, विभाव धर्म का मिश्रण करके अपनी बुद्धि को कुंठित करता है, बाकी विषय नहीं समझ पाता है। विभाव जो है, वह भी अस्तिभूत है। विभाव जो है, वह नास्तिभूत है। पहले अस्ति स्वीकारिये, फिर नास्ति स्वीकारिये। रागादिक भाव है, वह आत्मा में है। इसलिए अस्तिभूत है। यह त्रैकालिक स्वभाव नहीं है, इसलिए नास्तिभूत है। जो रागादिक भाव है, एक समय की पर्याय जो तुम कह रहे हो, वह सूक्ष्म सूत्रनय है। एक समय की पर्याय को ग्रहण करने वाला कोई है, वह सूक्ष्म सूत्र नय है।

आप कुछ भी बोलो तो मुझे विकल्प नहीं आता, क्योंकि जिस जीव के पास जितना क्षयोपशम होगा, वह अपने क्षयोपशम से बात करेगा। बहुत सारी बातें आपको मेरी समझ में नहीं आती होंगी, तब भी मैं यह नहीं सोचता हूँ कि इनको मेरी बात समझ में आ जाना चाहिए, क्योंकि जिसके घर में पचासों टन धान्य भरा हो और एक ज्ञानी आया छोटी–सी झोली लेकर कि यह मुझे दे दो, तो मैं तेरे बर्तन में इतना ही दे पाऊँगा, जितना उसमें आएगा, भले ही मेरे घर में पचासों टन भरा है। क्या करूँ, इसमें मेरा दोष नहीं है, तेरा पात्र ही इतना है। यह मैं कभी नहीं सोचता हूँ कि सबकुछ सीखकर चले जाएँ लोग। नहीं जा पाएँगे। **जिसकी जितनी योग्यता होगी, उतना ही सीख पाएँगे।** इसलिए समझो!

औदायिक आदि जो परिणाम हैं, असाधारण भाव हैं वह स्व तत्त्व है या पर तत्त्व है। आगम की भाषा में बोलो? पाँच असाधारण भाव हैं, स्व तत्त्व है। नहीं मालूम हो तो सुधार कर लो। जब

हम पढ़ने जाते हैं, तो परीक्षा हॉल में शिक्षक कॉपी लेने से पहले कहता है बेटा! एक बार और देख लो। इसलिए मैं कह रहा हूँ कि एक बार और सोच लें। सिद्धांत की भाषा में जो पाँच भाव हैं, वह जीव के स्व तत्त्व हैं या पर तत्त्व हैं? 'तत्त्वार्थ सूत्र' की भाषा में पाँच असाधारण भाव जो हैं, यह जीव के स्वतत्त्व हैं या पर तत्त्व हैं?

हे जीव! औदयिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायिक, परिणामिक यह पाँच जीव के स्व तत्त्व असाधारण भाव हैं। यह सिद्धांत दृष्टि से है। यदि स्व तत्त्व मान रहा है तो इसका स्वभाव मान रहा है। इतना घुमाकर मुझे इसलिए बोलना पड़ रहा है कि सीधे नहीं समझ पा रहा है तो घुमाकर बोलना पड़ता है। स्वतत्त्व उनको मानते हो तो हे जीव! औपशमिक आदि भाव है, वह कर्मसापेक्ष है, वे मेरे स्वतत्त्व कैसे हो गए?

'तस्यभावस्य तत्त्वं'

मेरा तत्त्व तो ज्ञान–दर्शन मात्र है। विकारी भाव के संयोग से इनमें विभाव होने की परिणति आत्मा में है, इसलिए यह भी स्वतत्त्व है, लेकिन स्वभावदृष्टि से देखेगा तो यह पर तत्त्व ही है। एकमात्र परमपारणामिक भाव ही आत्मा का स्वतत्त्व है। परिणामिक भाव भी आत्मा का पूर्ण स्वतत्त्व नहीं है।

खीचला जानते हो? जो बुंदेलखण्डी होगा वह बता पाएगा। मैं यहाँ से क्षुल्लक बनकर पहली बार बुंदेलखण्ड टीकमगढ़ गया। वहाँ एक माँ बोली, भैया! महाराज को खीच लाओ। मैंने सोचा कि पता नहीं क्या होने वाला है। महाराज को खीच लाओ। खीच लाओ का मतलब? बुंदेलखण्ड में कढ़ी जैसा खीच बनता है, आटे का। उसका नाम है खीचला। उसी को सुखाकर पापड़ बना लेते हो तो खीचला बन गया। मेरे मित्र! भोजन करने बैठो तो थाली का खीचला तो बना लेना, लेकिन तत्त्व को खीचला मत बनाना।

हर तत्त्वज्ञानी को दो शक्तियों का ज्ञान प्रतिक्षण होना चाहिए। स्वाभाविक शक्ति, वैभाविक शक्ति। अभी सिद्धचक्र विधान में एक शब्द आया। कारण का विनाशी ही कार्य होता है। वैभाविक शक्ति, यह भी अंतरंग कारण है। स्वाभाविक शक्ति, यह भी अंतरंग कारण है। द्रव्य में दो शक्तियाँ हैं। एक शुद्ध शक्ति, एक अशुद्धशक्ति। जिसमें अशुद्ध शक्ति त्रैकालिक विराजमान है, उसे कभी शुद्ध शक्ति प्रकट नहीं होगी। जिसके भीतर अशुद्ध शक्ति विराजी है, वह कभी प्रकट नहीं होगी। शुद्ध शक्ति कभी नाश को प्राप्त नहीं होगी। जैसे ठुर्रा मूँग कभी सीजती नहीं है। उसमें पक्व शक्ति नहीं है। सीजने वाली मूँग में पक्वशक्ति है। ऐसा क्यों?

'स्वभावो अतर्कगोचरा'

ऐसा उनका स्वभाव है। इसमें क्यों नहीं चलता है। 'जो है, सो है।'

संसार की पर्याय झलक रही है, वह वैभाविक शक्ति है। इन वैभाविक शक्तियों का व्यय होगा तभी तेरी सिद्ध पर्याय प्रकट होगी और स्वाभाविक शक्ति प्रकट होगी। **जो वैभाविक शक्ति को आत्मा में नहीं मानना चाहता है, द्रव्य में नहीं मानना चाहता है, उस जीव से कहना कि आप पुरुषार्थ किसके लिए कर रहे हो?** बौद्ध बनकर बैठे हो या जैन बनकर बैठे हो? यदि बौद्ध बनकर बैठे हो, तो यह कहेगा कि मैं स्वभावशक्ति के लिए बैठा हूँ। मैं स्वभाव शक्ति को प्रकट करने के लिए आया हूँ। मैं पूछूँगा 'भाई! यह गाय है या बैल?' वह बैल नहीं बोलेगा। अगौ है। गौ नहीं है। कभी–कभी जैनदर्शन के क्रियाकांडों में लिप्त होने पर भी मिथ्यादृष्टि हो सकता है। 'समयसार' जैसे ग्रंथों को पढ़ते हुए भी मिथ्यादृष्टि हो सकता है, क्योंकि तत्त्व का निर्णय व्याख्यात्मक नहीं किया, नियम से मिथ्यात्व की पुष्टि में है। भैया! यह मत कहना कि मैं स्वभाव शक्ति के लिए बैठा हूँ।

ज्ञानी! यह भी कहना कि मैं स्वभाव शक्ति को प्रकट करूँगा विभाव शक्ति का व्यय करके। जिसके समझ में नहीं आ रहा है, तो वह कोई भगवान् का, प्रमाणिक सर्वज्ञता का द्योतक नहीं है कि उसकी बात हाँ हो जाएगी तब ही मेरी बात प्रमाणित हो जाएगी। इस बात का भी ध्यान रखना। दो शक्तियाँ जीव द्रव्य में हैं, दो शक्तियाँ पुद्गल द्रव्य में हैं। चार द्रव्यों में एक ही शक्ति है। जीव और पुद्गल में स्वाभाविक शक्ति, वैभाविक शक्ति दो शक्तियाँ हैं, परंतु धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनमें मात्र स्वभाव शक्ति ही है। जिनमें वैभाविक शक्ति है, उस वैभाविक शक्ति का विनाश ही स्वभाव शक्ति का उत्पाद है। वह कार्य परमाणु है, स्वभावभूत है। पुद्गल द्रव्य की जो स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है वह परमाणु है। वह वर्तमान में विभाव शक्ति से युक्त नहीं है। विभाव रूप नहीं है, लेकिन निमित्त होने पर, निमित्त तद्रूप होने पर वह विभाव को प्राप्त हो जाता है, ऐसा जीव के साथ नहीं होगा?

आप पर्यायभूत विभाव शक्ति, गुणरूप विभाव शक्ति, द्रव्यभूत विभाव शक्ति पूछ रहे हो? द्रव्यभूत जो विभाव शक्ति होगी, वह पर्याय से रहित होगी या पर्याय से सहित होगी? द्रव्य–गुण–पर्याय से सहित विभाव शक्ति होगी। जो परमाणु है, उसके अंदर दो धर्म हैं। परमाणु कार्यपरमाणु भी होता है, परमाणु कारणपरमाणु भी होता है। जब परमाणु स्कंध से परमाणुभूत हो जाता है, तब वह कार्यपरमाणु है। नय लगाइये। तेरे मामा घर में आ गए और पिताजी बैठे

हुए हैं तो एक कहेगा भांजा, एक कहेगा बेटा। पुद्गल में दो शक्तियाँ हैं। शुद्ध होने के बाद अशुद्ध होने की भी सामर्थ्य है और अशुद्ध में शुद्ध होने की सामर्थ्य है। एक परमाणु अपने आप में है, उसमें कोई अशुद्धता नहीं है। आप यदि चारों अनुयोगों को मानते हो तो तुम्हें पता होना चाहिए कि बंध दृष्टि से जीव अशुद्ध है। निर्बंध दृष्टि से जीव एकत्वभूत है। जब कर्म निरपेक्ष होकर हम देखते हैं तो मुझे जीव पूर्ण शुद्ध दिखाई देता है, उसमें कोई विभाव शक्ति नहीं दिखाई देती है और जब आप बंध सहित देखते हो तो गुणस्थान मार्गणा स्थान सब जीव में दिखाई देते हैं। एक जो जीव है वह संसार में है या सिद्ध पर्याय में है? जो सिद्धपर्याय में है, उसके वैभाविक शक्ति का अभाव है, पूर्ण शुद्ध है। **दो द्रव्यों का मिश्रण ही विभाव है। जहाँ दो द्रव्यों की मिस्रधारा विघटित हो चुकी है, अमिस्रधारा ही स्वभाव है।** हे जीव! अशुद्ध जीवद्रव्य में स्वभाव, विभाव दिखता है। शुद्ध जीव है, उसकी विभाव शक्ति का अभाव हो चुका है, मात्र स्वभाव शक्ति है।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति।।७।।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में मिले होने पर भी, एक दूसरे में अण्णोणभूत होने पर भी, अपने–अपने स्वभाव का कभी अभाव नहीं करते हैं। कोई द्रव्य किसी को न शुद्ध करता है, न अशुद्ध करता है। द्रव्य तो अपने स्वभाव में है। 'जो है, सो है।'

यदि तू संसार में है, तो अशुद्ध ही है। अंतर इतना है कि मिश्री को मिला दिया दूध में, तो दूध मीठा है। अब कहना कि दूध मीठा नहीं है, मीठी तो मिश्री ही है। आप जब भी बेटे को दूध परसोगे तो यह नहीं कहोगे कि मिश्री मीठी है। बेटा! दूध मीठा पी लो। यह भी सत्य है या नहीं? लेकिन मिश्री में मीठापन मिश्री का ही धर्म है। दुग्ध का स्वाद मधुर है, वह दुग्ध का ही है। ऐसे–ही **कर्म का धर्म कर्मभूत है, आत्मा का धर्म आत्माभूत है।** इस दृष्टि से दोनों एक दूसरे रूप होते नहीं हैं। जब–तक मिश्रधारा है, तब–तक चौरासी लाख योनियों में भटक रहे हो, आपको वैभाविक शक्ति स्वीकार करना ही पड़ेगी।

यहाँ पर सार इतना समझना कि जीव की वैभाविक शक्ति कर्मसापेक्ष है। पुद्गल की वैभाविक शक्ति कालसापेक्ष है। सत्य यह है कि जीव की वैभाविक शक्ति का कारण कर्म सापेक्षता है। पुद्गल की वैभाविक शक्ति का कारण काल सापेक्षता है। एक कर्म सापेक्ष है, एक काल सापेक्ष है, परंतु दोनों का धर्म धर्म नहीं है। ग्यारह नं. की कारिका 'पंचास्तिकाय' में, वह बड़ा रासायनिक विषय

है, इसको चौबीस घंटे अपने मस्तिष्क में रखना ही चाहिए।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में मिले होने पर भी अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करते हैं। इस दृष्टि से किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में, किसी भी भाव से पुद्गल परमाणु जीवभूत नहीं होंगे और जीव कभी पुद्गलभूत नहीं होगा। इस दृष्टि से आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है।

जो स्याद्वाद नय के विद्वैषी हैं, उनको न निश्चय समझ में आएगा न व्यवहार समझ में आएगा। वह तो उभयाभासी हैं। निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी और उभयाभासी की जो व्याख्या है वह पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में की है। परंतु अंतर क्या है? कोई दूसरे ग्रंथ पढ़ते नहीं हो। यह पण्डित टोडरमलजी ने अपने घर से नहीं की है, यह व्याख्या आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने की है। उस बात को उन्होंने लिख लिया है। इतना ध्यान रखना कि स्वभाव दृष्टि से वस्तु तो वस्तुभूत है, विभावदृष्टि से मिश्र–भूत है। जहाँ स्वतत्त्व कहा है औपशमिक आदि भावों को, वह विभावदृष्टि से स्वतत्त्व है। स्वभावदृष्टि से वे भी स्वतत्त्व नहीं हैं।

जो तुम्हारे संस्कार सम्यक्त्व की ओर बढ़ रहे हैं, चारित्र की ओर बढ़ रहे हैं, उन संस्कारों को सुरक्षित रखो। हे मुनिश्वर! अंतिम श्वास पर जब तुम दुनियाँ को सँभालने की बात करते हो, तुम्हारी उसी क्षण अंतिम श्वास निकल गई तो क्या होगा? गुणस्थान का समय इतना–सा है। छठवें–सातवें का काल अंतर्मुहूर्त है। विकल्प के नियोग से आपने परिणाम खराब किए हैं, यह तो है ही नहीं, लेकिन आपने भाव खराब करके अपने गुणस्थान का घात स्वयं किया है। अंत में यह निर्णय करना ही पड़ेगा कि अणु– अणु स्वतंत्र है, कण–कण स्वतंत्र है। यह लक्ष्य बनाना ही पड़ेगा, अन्यथा समाधि तो निश्चित ही भंग होगी। सामायिक ही संयम है, वह स्वाधीन है। मेरी सामायिक कोई भंग नहीं कर सकता। जब भी कभी सामायिक भंग होगी तो मैं ही करूँगा। किसी का निमित्त भी दृष्टिगोचर होता है, मेरे कल्याण में मेरा निजप्रभु ही मेरा ज्ञेय बनेगा। संबंधों को संबंधों पर छोड़ दीजिए। यह संबंधी मेरे हैं, लक्ष्य स्वभाव की प्राप्ति है, अन्यथा अज्ञान चेतना का विनाश नहीं होगा। आठ प्रकार के कर्म हैं, वे बीज हैं, यह कारण हैं दु:ख के। बीज को अंकुरित करने वाला कोई है, वह अन्य कोई नहीं है, मैं ही हूँ। जड़ संबंधों से मैंने अपने भाव ही खराब किए हैं। हिंसा के नाम पर हिंसा नहीं हो रही, जितनी आपने धर्म के नाम पर हिंसा की है। धर्मात्माओं ने तो धर्म के नाम पर ही हिंसा की है। परंतु वे धर्मात्मा थे नहीं, नाम के धर्मात्मा थे। यदि कोई बैठकर पूजा कर रहा था, आप उस मंदिर में खड़े होकर पूजा करना चाहते हो, तो आप चिल्लाओगे, उसको डाँटोगे और वहीं परिणाम

खराब कर लोगे स्वयं के और दूसरे के। स्व–पर का भक्षक है। यहाँ व्यवस्था की बात नहीं है। व्यवस्था की बात तो मैं करता ही नहीं। जहाँ व्यवस्था की बात होती है, वहाँ–वहाँ कर्म की व्यवस्था नियत है। आचार्यपरमेष्ठी को आचार्यपद छोड़ना ही होगा, क्योंकि जब–तक व्यवस्था में लीन होंगे, तब–तक उनकी भी कर्म की व्यवस्था नियत है। जितना स्थूल लोगों ने धर्म को पढ़ रखा है, वह धर्म होता नहीं है। बहुत सूक्ष्म है।

बात की गहराई में जाइये। जब अपनी समाधि का काल आए, तब कहना हे जीव! कोई प्रतिमा मेरी मत रखना। क्यों? उस प्रतिमा के राग में पता नहीं कितनों की श्रद्धा टूटेगी। **अशरीरी निर्विकार जो आराधना है, वह योगी की अद्वैत धारा है।**

वो तस्वीरें लगी हुई हैं, इन दो को हटा दिया, तीसरी लगा दी, चौथी लगा दी। जिसका तू शिष्य है, उसकी हटा दी और जिसका मैं शिष्य हूँ, उसकी लगा दी, उसमें मैं परिणाम खराब कर लूँगा। जिनका मैं शिष्य हूँ, उनकी नहीं है, यह आप किसकी लगा रहे हो? भाव बिगड़ना प्रारंभ हो गए। तस्वीर ने तकदीर खराब कर दी। यथार्थ मानिये, व्यवहार अपने स्थान पर है, परंतु जिसकी व्याख्या है उस पर ध्यान दो। आपने तस्वीर लगायी तो उनमें एक की नीची रह गई, एक की ऊँची हो गई। विवाद हो गया कि तुमने हमारे गुरु की नीचे लगा दी। धिक्कार हो। काँच की तस्वीर तो ऊँची– नीची हो गई, तुम्हारे गुणस्थान ऊपर नीचे हो गए। यही कारण है कि निजात्मा में लीन होता है, योगी यह सारी व्यवस्थाओं से दूर हो जाता है। अन्यथा किसी की ताकत, किसी का चित्र, मेरा उसमें क्या है? उसे कौन निकाल सकता है, कौन तोड़ सकता है? अन्यथा **'भव बीजं'** दु:ख का बीज कर्म है। कर्म जैसा ईमानदार जगत् में कोई जीव नहीं है। वे जड़ हैं, फिर भी ईमानदार हैं।

बंध अधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा, जहाँ भी धूल हो, व्यायामशाला में यदि शरीर पोंछा हुआ है, उसमें स्निग्धता नहीं है, चिकना नहीं है, पूरे अखाड़े में खेलो, किंचित् भी तुमको धूल नहीं चिपकेगी। यदि स्निग्धता शरीर में है, तो धूल चिपकेगी ही। मेरे मित्र! विश्व में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ पर कर्म का अभाव है। लोक का ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ पर कार्मणवर्गणाएँ ना हों, अज्ञानी कर्म से डरते हैं, ज्ञानी कर्म से नहीं डरते हैं। अशुभ कर्मों से डरो, कर्म से डरने की क्या आवश्यकता है? डरने से कुछ नहीं होगा। वह तो बंधेंगे ही, नियम से बंधेंगे। कर्मबंध से पहले अशुभ कर्म से डरो। जो बंध करके अशुभ करेगा, वह भी उदय में आएँगे।

माँ! एकांत में गर्भाधान हो सकता है, परंतु बेटा घर में खेलेगा, फिर सबको पता चल जाएगा। बिना अब्रह्म के संतान का जन्म होता नहीं। बिना कर्मबंध किए संसार दीर्घ होता ही नहीं। जो– जो घर में दु:खी है, वह सब कर्म कर चुके हैं। यह मत कहना कि सभा के मध्य में रहता हूँ तो मैं धर्मात्मा जीव हूँ, मैंने कुछ नहीं किया। आज नहीं किया, परंतु भूत में तो किया है। इस मुनिमुद्रा के उपवन में यह वीतरागता की संतान वृद्धिमान हो रही है। ऊँचे–नीचे तीखे परिणाम कर लिए, तो तेरी वीतरागता की शुद्धोपयोग की संतान का गर्भपात हो जाएगा। समझ में नहीं आता जीवों को। मैं तुम्हारे काम में आने वाला नहीं हूँ।

मुमुक्षु! विश्वास रखना, मैं तुम्हारे काम में आने वाला नहीं हूँ। सगी माँ भी क्यों ना हो, बेटी के भी गर्भधारण हो और माँ के भी गर्म धारण हो, अनहोनी घटना नहीं है, यह हो सकता है। बेटी और माँ के दोनों के गर्भ पल रहे हैं, लेकिन कौन किसका ध्यान रखेगा? माँ अपने गर्भ को सँभाल कर चलेगी, बेटी अपने गर्भ को सँभालकर चलेगी, क्योंकि हर जीव को अपने गर्भ की रक्षा का भाव है। ऐसे–ही गुरु अपने गर्भ को सँभाले, शिष्य अपने गर्भ को सँभाले कर्म हटाकर। किसी भी गर्भवती माँ के पेट पर धक्का मार दिया तो उदरस्थ शिशु का घात होगा कि नहीं होगा? ऐसे–ही हे मुनिराज! यदि आपने पंचपरमेष्ठी के प्रति कषाय की है, तो यही मानकर चलना कि मैंने कर्म को धक्का मारकर उसका पतन करा दिया।

माँ! ध्यान रखना, गर्भ की रक्षा तो पर की रक्षा है, परिणामों की रक्षा स्वयं की रक्षा है। किसने क्या बोल दिया? आजकल लोगों ने क्या सोचकर रखा है? पाँच इंद्रियों को वश में कर लिया। घ्राण इन्द्रिय के विषयों का त्याग हो गया, कर्णेन्द्रिय वश में हो गई, तो तुमने सुना कैसे? सुन भी लिया तो भाव खराब नहीं हों, तब कर्णेन्द्रिय तुम्हारी वश में है। तुमने सुनकर अपने परिणाम खराब किए हैं तो तुम्हारी कर्णेन्द्रिय वश में नहीं है।

जिस मुनि ने आगम सूत्रों पर संस्कृत टीका लिखी हो, उस मुनि के नाम के आगे स्वामी शब्द लगा देना। **'दु:खस्य मूलं'** दुख का मूल कोई है वह आठ प्रकार का कर्म है, आठ प्रकार के कर्म का मूल है वह भावकर्म है। आँखों से कर्म दिखाई नहीं दे रहे हैं, लेकिन भावों से भावकर्म कुछ झरते हैं या नहीं? जिससे वर्तमान का भाव बिगड़ता है, उससे भविष्य का भव क्या सुधरने की कल्पना कर सकते हो? जिस इंद्रियों से, निमित्त से वर्तमान का भाव बिगड़ रहा है, उस हेतु से क्या भविष्य का भव सुधरेगा? इसलिए **हे जीव! वर्तमान का भाव ही जिसका अशुभ है, उसका भविष्य का भव नियम से अशुभ ही है।** इतना ध्यान रखना, अध्यात्म की शैली मात्र

मत सुनना, अध्यात्म का जीवन जीना। बहुत सारे लोग अध्यात्म को सुनने के राग में जीवन बिगाड़ रहे हैं।

'तत्त्व में विसम्वाद नहीं होता और विसम्वाद में तत्त्व नहीं होता है।'

मुमुक्षु! उतने ही तत्त्व की चर्चा करना जीवन में जिससे तेरा विकल्प न बढ़े, आँखें न लाल हों, भाव न बिगड़ें। तत्त्वचर्चा में भी मेरी आवाज नहीं निकले, मौन। क्यों? ब्रह्मदेव सूरि ने 'वृहद् द्रव्यसंग्रह में लिखा है कि **वही तत्त्वचर्चा 'तत्त्व चर्चा' है जिसमें अविसंवाद है। जिस तत्त्वचर्चा में विसंवाद है वह बंध भाव है। बंध भाव है संसारभाव है।** मैं संसार बढ़ाने नहीं आया हूँ। मैं मोक्षमार्गी हूँ। संसार अल्प करने आया हूँ। कोई विषय को खींचे तो वहीं मौन ले लो, क्योंकि जीव के परिणाम खराब होंगे अथवा निज के परिणाम खराब होंगे उतनी ही तत्त्वचर्चा है जितना शांतस्वभाव में है। गुरु शिष्य के बीच में मात्र वीतराग कथा होती है, शेष कथा नहीं होती है। उतनी तत्त्वचर्चा करना जिससे यह शब्द ना आए कि ऐसा भी है, ऐसा भी होना चाहिए, आप गलत बोल रहे हो। वीतरागी मुनियों के बीच में गतल शब्द नहीं आना चाहिए, यह विषय होना चाहिए मेरी बुद्धि पर। आपने कह दिया कि तुम झूठ बोल रहे हो, आप स्वयं महाव्रती हो, महाव्रतियों के बीच में यह शब्द आ रहा है कि तुम झूठ बोल रहे हो। मैं तटस्थ पुरुष हूँ। मैं तुम दोनों को देख रहा हूँ। अब बताइये तुमको मुनि मानूँ या इनको मुनि मानूँ? आप आपस में झूठ बोल रहे हो। आपका एक–एक महाव्रत समाप्त हो चुका है। किसी भी मुनि, उपाध्याय, आचार्य के मुख से यह शब्द नहीं आना चाहिए कि तुम झूठ बोल रहे हो। आप यह कह सकते हो कि इस विषय में आप अल्पज्ञ हैं। इसमें महाव्रत नहीं है। शायद आपकी धारणा पर चढ़ा न हो, धारणा को निर्मल कीजिए।

ज्ञानी! भावों का संयम भाषा के संयम से समझ में आता है। जिसकी भाषा में धैर्य नहीं है, उसके भावों में कोई संयम नहीं है। अंतरंग संयम भी उसका भाव संयम है। पूछो गुरुदत्त आदि मुनिराजों से, शरीर पर घोर उपसर्ग हो गए, लेकिन मौन ले लिया। आहार पर मौन लेकर क्यों जाते हैं? मौन से आहार लेते हैं। तुम सामान्य मनुष्य हो, कब तुम्हारा राग टपक जाए। यह जो मुद्रा है, वह तुम्हारी नहीं, तीर्थंकर की है। कभी तुम चलते–चलते रास्तों में हो। कैसी व्यवस्था है? जहाँ मैं जा रहा हूँ। चौके में पहुँचकर समझ नहीं आ रहा था, श्रावक को हूँ–हाँ कह रहे थे। पूछ लिया, ऐसा नहीं है। ठंडा पानी, गर्म पानी, मीठा ज्यादा चलता है। यदि बीच में बोल दिया मुख से तो हे जीव! तीनलोक की यह तीर्थंकर की मुद्रा है। इस मुद्रा

के लिए तेरा भव तेरे भाव तू जाने, लेकिन आपको अर्हंत की मुद्रा की तो गरिमा रखना पड़ेगी। इसलिए भावकर्म पर पुरुषार्थ करो तो द्रव्यकर्म अपने आप ठीक हो जाएँगे। जो भाव कर्म है वह अनादि से द्रव्यकर्म का बंध है। द्रव्य कर्म के निमित्त से भावकर्म आए, भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म आए। जो भावकर्म को सर्वथा पौद्गलिक कहते हैं, वे पूर्ण अज्ञानी हैं। भावकर्म पौद्गलिक नहीं है, द्रव्यकर्म पौद्गलिक ही है। भावकर्म को पौद्गलिक इसलिए कहा गया है क्यों वह पौद्गलिक द्रव्यकर्म के निमित्त से हो रहे हैं; इसलिए निमित्त दृष्टि से पौद्गलिक कहा गया है। यदि भावकर्म को पौद्गलिक मानते हो, द्रव्यकर्म को पौद्गलिक मानते हो तो द्रव्यकर्म भावकर्म में अंतर क्या है?

द्रव्यकर्म स्पर्श रस–गंध–वर्णधर्मी है। क्या भावकर्म भी स्पर्श–रस–गंध वर्णधर्मी है? लगता है कि लोगों को अध्यात्म का अजीर्ण हो गया है। अध्यात्म में जाने के लिए मात्र शब्दों के जाल में मत उलझो, गहरे में जाइये।

भावकर्म जो है, इसमें द्रव्यकर्म का स्पर्श ही नहीं है। इस विषय को आपको समझना है। क्यों? सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार पढ़ना चाहिए 'समयसार' जी में प्रारंभ से, आपको समझ में आ जाएगा कि द्रव्य कर्म चैतन्य भाव नहीं है, भावकर्म चैतन्य भाव है। वह द्रव्यकर्म के निमित्त से हो रहा है, वह कैसे? अथवा यह कहो कि वह चैतन्य भाव है तो वह सिद्धों के भी होना चाहिए। आप ऐसा प्रश्न करोगे? यह प्रश्न अज्ञानतामयी है, क्यों? जो सिद्ध भगवान् होंगे, वह त्रिविध कर्म से रहित हैं। वहाँ द्रव्य कर्म, भावकर्म, नोकर्म भी नहीं है। बंधदृष्टि से आत्मा मूर्तिक है, निर्बंध दृष्टि से आत्मा अमूर्त्तिक है। अशुद्ध निश्चयनय से जीव रागादिक भावों का कर्त्ता है। शुद्ध निश्चयनय से जीव शुद्ध भावों का कर्त्ता है। परमशुद्ध निश्चय नय से जीव न कर्ता है न भोक्ता है। जो भाव कर्म है, वह चैतन्य भाव है। जो कर्म का आस्रव–बंध हुआ है, वह द्रव्यकर्म के कारण हो रहा है।

प्रश्न : द्रव्यकर्म तो जड़ हैं, जड़ चैतन्य का कैसे परिवर्तन कर सकते हैं? तो आप उनको क्यों दोष दे रहे हो? यदि भावकर्म न होते, तो जड़कर्म क्यों बंधते? भावकर्म बंधते हैं, यह भावों की दशा किसमें हो रही है? कौन कर रहा है? बार–बार आ रहे हैं, बार–बार जा रहे हैं, यह आपको मालूम होना चाहिए कि संतान तो संतान ही है। एक क्षण के पूर्व बदल रहे हैं, बदल क्यों रहे हैं? 'तत्त्वार्थ सूत्र' का पाठ पढ़ना पड़ेगा। यथार्थ मानिए, अभी आपको लगता है कि मैंने कुछ समझ लिया है, लेकिन अब लगता है कि समझ नहीं पाया। यह पेंसिल है। यह नई थी, पुरानी

हुई है। यह बदली या नहीं? बदल गई क्या? नहीं बदली क्या? तुम्हारा नाम कितने वर्ष पूर्व रखा है? दो साल के थे जो आज हो क्या? नहीं हो क्या? दो वर्ष का तू था और अब दाड़ी–मूँछ आ गई, अब कहाँ से आ गया? यदि तू नहीं है, तो दाड़ी–मूँछ आई किसके है? वस्तु का बोध नहीं है। भावों का उत्पाद–व्यय चल रहा है। जो बदल रहा है, वह भावों की भावपर्याय का परिणमन चल रहा है। लेकिन चल किसका रहा है? हे जीव! तेरे ही भाव में द्रव्यत्वपना चल रहा है। इसलिए जो बदलते दिखाई दे रहे हैं, वह चैतन्य के ही परिणाम हैं। यदि आप चैतन्य के परिणाम नहीं मानते हो तो बहुत अच्छा हो गया, तेरी आत्मा जड़ हो गई? जड़ में परिणमन जड़ का चल रहा है, आत्मा जड़ हो गई तो मस्त होकर पाप करो, जीवन के आनंद लूटो, भाव कर्म तो मेरे में है ही नहीं।

भावकर्म स्यात् चेतन, स्यात् अचेतन। द्रव्य कर्म का निमित्त है, इसलिए अचेतन कहा है। वास्तव में चेतन के ही भाव हैं, वह जड़ के भाव नहीं हैं। भावकर्म का अभाव होगा, तभी जीव सिद्ध भगवान् बन सकेगा। जब–तक भावकर्म का अभाव नहीं हो रहा है, तब–तक अशरीरी सिद्ध बनने वाला नहीं है।

प्रश्न : जीवन में कभी आलू खाए हैं?

जब आलू खाये तब भाव था, अब त्याग कर दिए तब भाव थे क्या? भाव खिला रहे थे। छोड़े जब भाव नहीं थे। असंयम भाव ही संयम को कराते हैं। वस्तु का बदलना ही पर्याय है। जो आलू खाने के परिणाम थे वही आलू नहीं खाने के बदले हैं।

गुरु सान्निध्य में ही स्वाध्याय करना चाहिए। बहुत गंभीर विषय है। पण्डितजी! तुम इन जीवों पर करुणा करो, इनको तत्त्व के प्रति रुचि बढ़ रही है तो तत्त्व पिलाओ। सबको समय देशना दो, पुरुषार्थ देशना दो। जब आगम लिखा जाता है तब पाँच बातों का ध्यान रखा जाता है। शब्दार्थ, मतार्थ, नयार्थ, आगमार्थ, भावार्थ। समयसार जी ग्रंथ में जो मुख्य विषय है, उसमें सांख्य दर्शन का खण्डन है। आप लोग समयसार को समझ नहीं पा रहे हो, सांख्य दर्शन की पुष्टि 'समयसार' पढ़कर कर रहे हो। भाव मिथ्यात्व नहीं छूट रहा। समयसार जी का जो व्याख्येय है, वह आत्मतत्त्व की प्रधानता के साथ विभिन्न–विभिन्न मिथ्यामतों का खण्डन भी है। उसमें ऐसा विषय भी है जो नहीं समझ पाया जीव। जैन मिथ्यादृष्टियों का वर्णन समयसार जी में है। हर काम को मात्र कर्म करता है ऐसा कहने वाला कर्माधीन। मैंने पूछा। भावकर्म करता है, तो नहीं कर्म करता है वह तो पौद्गलिक है? कर्माधीन। तो आत्मा की स्वतंत्रता को खो गए, तेरी सारी क्रियाएँ

कर्माधीन हो गई। कर्माधीन। ईश्वरवादी कहेगा कि पत्ता भी हिलेगा तो ईश्वर की इच्छा से हिलेगा, तो तुम जैनियों के यहाँ पत्ता भी हिलेगा तो कर्म से हिलेगा। कर्माधीन हो गया। दो क्रियावादी देखो? यहाँ की क्रिया यहाँ हो रही है, द्रव्यकर्म की क्रिया भावकर्म में हो गई। दो क्रिया का भाव, मिथ्याभाव।

कभी कड़वा चिरायता पी लेते हो, गोली खा लेते हो, एक बार तुम समयदेशना का स्वाध्याय कर लो। ध्यान रखना, भावकर्म चैतन्य का विभाव भाव है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो अशुद्ध ज्ञान चेतना, शुद्ध ज्ञान चेतना का भेद कैसे करोगे? जो पर्याय है, वह द्रव्य का नाश नहीं है। जब यह मुस्कुराता है तो चेहरा वही होता है, जब वह रोता है तो इसका चेहरा बदल जाता है क्या? नहीं बदला क्या?

ज्ञानी! द्रव्य में जो परिणमन चल रहा है, वही पर्याय है। गुण में जो परिणमन चल रहा है, वही पर्याय है। गुण के विकार का नाम ही तो पर्याय है। द्रव्य के विकार का नाम ही तो पर्याय है। स्यात् द्रव्य ही पर्याय है, पर्याय ही द्रव्य है, वही गुण है। यह कभी नहीं सोचना कि द्रव्य भिन्न है, पर्याय भिन्न है। जिसने यह सोच लिया है, विश्वास रखना, जीवनभर जिनवाणी पढ़ता रहेगा, सच्चे देव–शास्त्र–गुरु की सेवा करता रहेगा, लेकिन प्रथम गुणस्थान में ही है। क्यों? क्योंकि इसके मूल में श्रद्धान विपरीत है। यह द्रव्य को पर्याय से भिन्न मान रहा है, सर्वथा। कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं पंचास्तिकाय ग्रंथ में–

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परू विंति।।१२।।

महाश्रमण भट्टारक महावीर स्वामी ने कहा है। **द्रव्य से रहित पर्याय नहीं है, पर्याय से रहित द्रव्य नहीं है, दोनों अनन्यभूत हैं। जहाँ हमारा द्रव्य शुद्ध होगा, वहाँ नियम से पर्याय शुद्ध होगी और जहाँ पर्याय शुद्ध होगी, वहाँ नियम से द्रव्य शुद्ध होगा।** पर्याय अशुद्ध है, द्रव्य शुद्ध है, यह वीतरागी आचार्यों का कथन नहीं है। यह श्रद्धान तुमने कर लिया कि मैं पर्याय की शुद्धि में लगा हूँ, द्रव्य तो त्रैकालिक शुद्ध है, तो पागलपन है। उस पर्याय को परवस्तु मानते हो तुम तो उसकी शुद्धि क्या करना? कैसे मस्तिष्क को भ्रमित करके रखा हुआ है कि पर्याय मेरी अशुद्ध है, द्रव्य मेरा शुद्ध है। ऐसा कहिये कि द्रव्यदृष्टि से मैं त्रैकालिक शुद्ध हूँ और वर्तमान की विभाव व्यंजन पर्याय की दृष्टि से मैं अशुद्ध हूँ। कथन तो द्रव्य व्यंजन पर्याय की प्रधानता से कर रहे हैं, लेकिन अशुद्ध पर्याय है, द्रव्य शुद्ध नहीं होता। अशुद्ध द्रव्य में शुद्ध पर्याय नहीं

होती है। एक समय में जैसा द्रव्य होगा वैसी पर्याय होगी। जो शुद्ध कहा जाता है, उसकी अपेक्षा आत्मा त्रैकालिक शुद्ध ही है, निगोदिया आत्मा भी त्रैकालिक शुद्ध ही है। दुग्ध में मिश्री घोल दी है तो दुग्ध को मीठा कहना पड़ेगा, लेकिन आप स्वभाव से कथन करेंगे तो मीठा दुग्ध नहीं है, मिश्री है। ऐसे–ही 'अनादि संबंधे च' अनादि से कर्मबंध होने पर भी आत्मा त्रैकालिक कर्मरूप कभी हुई नहीं, होगी नहीं, है नहीं। आत्मा अपने ज्ञान–दर्शन स्वभाव में त्रैकालिक है, इसलिए त्रैकालिक शुद्ध है। बंध की दृष्टि से वर्तमान में अशुभ धारा में विभाव व्यंजन पर्याय में जब–तक है, तब–तक आत्मा अशुद्ध है। जब–तक गुणस्थान संज्ञा लगी रहेगी, तब–तक आत्मा अशुद्ध है। जिस दिन गुणस्थान रहित हो जाएगी, उस दिन आत्मा शुद्ध होगी। दोनों में अंतर समझना। कर्मकलङ्क जब–तक है, तब–तक आत्मा अशुद्ध है। कर्मकलङ्क रहित हो जाएगी, तब आत्मा शुद्ध है। शुद्धात्मा कहाँ होती है? सिद्धालय में। यहाँ तो सिद्धालय नहीं है? आगम को विभिन्न विषयों से समझिए। यह भी ध्यान रखना कि भगवान् की आराधना करते हुए वह सिद्ध नहीं हो सकता। मैं कितना ही चिल्लाऊँ कि परमेष्ठी की जय हो, यह शुद्ध नहीं हो सकती। निज के अशुद्धात्मा का आश्रय लेगी, तब भी शुद्ध नहीं हो सकती। निज की शुद्धात्मा का आश्रय लेकर ही शुद्ध होंगे। अब प्रश्न है कि जब शुद्ध है ही, तो आश्रय किसका? इतना ही ज्ञान हो जाए तो माताओ! अभी तक आर्यिका बन गई होती। पर आर्यिका बनकर भी ज्ञान हो जाए यह नियत नहीं है। मुनि बनकर भी ज्ञान हो जाए, यह नियत नहीं है। अशुद्धात्मा होने पर भी शुद्धात्मा का आश्रय लेती है, कैसे?

जब दुग्ध से घृत बनाते हैं, तो घृत बनाने वाला दूध का आश्रय लेता है या घी का आश्रय लेता है? दूध में करता है क्रिया, दृष्टि में आश्रय घी का, तब बनता है घी। घी का आश्रय नहीं लेगा तो कभी दूध से घी नहीं बना पाएगा। ऐसे–ही अशुद्ध अवस्था में मुमुक्षु योगी शुद्धात्मा का आश्रय लेता है और फिर यह नहीं देखता कि मैं गुणस्थान हूँ, मैं मार्गणास्थान हूँ, मैं जीवस्थान हूँ, पर्याप्ति स्थान हूँ। इन सबसे भिन्न है।

द्रव्यकर्म मल, भावकर्म मल, नोकर्म मल इन तीनों मलों से रहित जैसा अशरीरी सिद्ध परमात्मा सिद्धालय में विराजा हुआ है, ऐसा परमब्रह्म मेरे देह–देवालय में विराजा हुआ है। उस परमब्रह्म का आश्रय लेकर एक सौ अड़तालीस कर्म की कड़ियाँ अपने आप क्षण–क्षण टूटकर बिखर जाती हैं। आत्मा अपने शुद्ध द्रव्य का आश्रय लेकर शुद्ध हो जाता है। आश्रय तो शुद्ध का लेना पड़ेगा, तभी शुद्ध हो पाओगे। अमुक–अमुक सागरों के आश्रय से तुम मोक्ष नहीं जा पाओगे,

इनके आये बिना मोक्ष जा नहीं पाओगे। जब–तक पिच्छिका–कमण्डलु पकड़े हो, तब–तक मोक्ष होने वाला नहीं है। जब–तक पिच्छिका–कमण्डलु नहीं पकड़ोगे, तब–तक मोक्ष होने वाला नहीं है। वास्तविकता यह है कि रोटी ही रोटी बनती है, चूल्हा रोटी नहीं बनता, तवा रोटी नहीं बनता, बिना तवा चूल्हे के रोटी बनती नहीं। संक्षेप में इतना है कि प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य चल रहा है, गुण में उत्पाद–व्यय, ध्रौव्य चल रहा है। वही आत्मा में अनन्त गुण हैं। अनंत गुणों के अनंत उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य चल रहे हैं। एक सौ अड़तालीस कर्म हैं आत्मा में, फिर एक सौ अड़तालीस उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य चल रहे हैं। फिर भी इनसे भिन्न मेरी आत्मा का उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य चल रहा है। यह असमान–जाति पर्याय है और भिन्न मेरा चेतन भगवानात्मा भिन्न है। इसलिए द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित जो चिद्रूप आत्मा है, वही मेरा स्वभाव–भाव है, बाकी सब विभाव–भाव है।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय हो।

उत्थानिका : शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ नहीं जानता, जड़ है।

गाथा :

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति।।३९०।।

संस्कृत छाया :

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना ब्रुवदन्ति।।३९०।।

अन्वयार्थ : (शास्त्रं) शास्त्र **(ज्ञानं न भवति)** ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(शास्त्रं किंचित् न जानाति)** शास्त्र कुछ नहीं जानता, जड़ है **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(शास्त्रं अन्यत्)** शास्त्र अन्य है, ऐसा **(जिनाः ब्रुवन्ति)** जिन भगवान् कहते हैं।

समय देशना

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुवज्ञायकस्वभावी भगवान्–आत्मा के सहजस्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। **अनादि अविद्या के वशीभूत यह जीव शब्द बोध को ज्ञान संज्ञा दे रहा है। पुद्गल के धर्म को आत्मधर्म मान रहा है। उस शब्दज्ञान को आत्मज्ञान जानने की जो मान्यता है, वह तीव्र मद का कारण बन रही है। अपने आप में उसे ही पांडित्य स्वीकार कर लिया है, जबकि एक द्रव्य का धर्म दूसरे द्रव्यभूत नहीं होता है।** जीव का धर्म ज्ञानगुण है, वह ज्ञानगुण पुद्गल का धर्म कैसे? और पुद्गल से ज्ञान की प्राप्ति कैसे? ज्ञान से आप शब्द को जानते हो। ज्ञान से शास्त्र को जानते हो कि शास्त्रों से ज्ञान को प्रकट करते हो?

ज्ञान से ही तो शास्त्रों को जाना। ज्ञान से ही तो शास्त्रों को समझा। ज्ञाता में ज्ञान न होता तो शास्त्रों को जानता कैसे? अज्ञानी जीव उन शास्त्रों को ही ज्ञान मान रहा है। **शास्त्रों के ज्ञान को जानने के मद में तुमने अनेक पंथ बना लिए हैं। 'मैं तो ज्ञान को पूजता हूँ।' ज्ञान को पूजने**

के लिए कोई द्रव्य की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान को पूजने के लिए कोई पंथ बनाने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान से ज्ञान में लवलीन हो जाना, यही ज्ञान की ज्ञान से पूजा है।

आप जो भी ज्ञान को पूजोगे, ज्ञान तो अमूर्तिक है। अमूर्तिक का धर्म है वो भी अमूर्तिक है। आकाश का धर्म अवगाहनत्व है। आकाश अमूर्तिक है, आकाश अरूपी है। आकाश का धर्म अवगाहनत्व भी अरूपी है। कालद्रव्य अमूर्तिक है, अरूपी है, उसका धर्म भी अरूपी है। ऐसे–ही ज्ञान जो है, आत्मा का गुण है। रूपक के रूप में कह सकते हो **'ज्ञान मूर्तिम् नमामि तम्'।** ये रूपक के रूप में मूर्तिक हैं, न कि मूर्तिक रूप रूपी हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसमें पाए जायें, उसका नाम मूर्तिक है और जिसमें न पाये जाएँ, उसका नाम अमूर्तिक है।

ज्ञान गुण में न स्पर्श है, न गंध है, न वर्ण है। ज्ञान में पुद्गल का एक भी गुण नहीं है इसलिए ज्ञान जो है, अमूर्तिक है। मित्र! निज के स्वभाव को प्राप्त करने के लिए ग्रंथों में लिप्त हुए थे। निर्ग्रंथपने की अनुभूति कर लेता तो तुम्हारा स्वरूप ही ग्रंथ होता। **ग्रंथ का राग भी निर्ग्रंथपने से शून्य कर देगा।** ज्ञान का लोभ ज्ञान का अभाव करा रहा है।

पण्डितजी! आपने ५० ग्रंथों का अध्ययन कर लिया। आपका मन कहता है कि अब मैं विद्वान् हूँ। अब मुझे अलग से आसन दिया जाए। अब अलग आसन पर ही अपने आपको सुशोभित मानना चाहते हो। हे जीव! तूने अपने आपको असामान्य कर लिया। सब लोग तुझे अपने–जैसा नहीं मानते, आपको दूर रखना चाहते हैं और आप सबसे दूर रहना चाहते हो। सत्यता यह है कि **आपका मान आपको मानवों के साथ नहीं रहने दे रहा है। आपको जिस ज्ञान से भगवत्ता की सिद्धि होनी चाहिए थी उस ज्ञान ने तुझे मानवता से ही शून्य कर दिया।** ज्ञान से भगवत्ता को सिद्धि होनी चाहिए थी, उस ज्ञान से तू मानवता ही खो बैठा। आपके आसन पर कोई दूसरा बैठ जाए तो कहता है कि आपको मालूम नहीं है, विद्वानों के लिए अलग से स्थान है। हाँ–हाँ, अज्ञानियों के लिए अलग से स्थान है (रखा गया है)। ज्ञानी बनने मत चले जाना। जिन शब्दों के वजन से मेरी आत्मा अहंकार में डूब जाए। एक इंद्रिय, निगोदिया लब्धिअपर्याप्तक जीवों तक में सिद्धत्व को निहारने वाली जो हमारी ज्ञान विवेक धारा थी, उसको भूल करके हम पंचेन्द्रिय मनुष्यों तक में भेद कर रहे हैं कि ये हमारे वंश का नहीं है, ये हमारा नहीं है, ये उनका है। ज्ञानी! भेद करके तूने मानवता के भीतर भी वात्सल्यता का अभाव करा दिया है। तू प्राणिमात्र के प्रति क्या वात्सल्य रखेगा? 'ये ज्ञान नहीं था।'

३९० नं. की गाथा से लेकर आचार्य कुन्दकुन्दजी १५ गाथाओं में ज्ञान की व्याख्या कर रहे

हैं। सिद्धि को प्राप्त हो रहे हैं निर्ग्रंथ तपोधन। वे इसी ज्ञान से सिद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। शब्दज्ञान से सिद्धि को प्राप्त नहीं हो रहे हैं।

भावश्रुत ही श्रुत है। द्रव्यश्रुत परवस्तु है। भावश्रुत ही निज वस्तु है। भावश्रुत ही चैतन्य गुण है, धर्म है। द्रव्यश्रुत परवस्तु है। समझने, समझाने की शैली भी पर ही है। जो मैं कह रहा हूँ, वो भी पर है। जो आप सुन रहे हो, वो भी पर है। जो तेरे भीतर समझ में आ रहा है निज का स्वभाव, वो तेरा निज ज्ञान है।

कितनी बार ग्रंथों के निमित्त से आपने अपने भावों में ग्रंथि खड़ी की। जितनी विपरीत परंपरा खड़ी हुई हैं, वो ग्रंथों में होती हैं। विपरीत अभिप्राय से युक्त जीव इसको लिखकर न जाते तो उनका विपरीत अभिप्राय सदियों तक जीवित न रहता। पाप की पर्याय की सीमा तो अल्प है, पाप का अभिप्राय जो कागजों पर लिख जाता है, उसकी उम्र बहुत लम्बी होती है। इसलिए भइया! यदि विपरीत अभिप्राय में तुम जी रहे हो तो इतनी करुणा करना अनंत जीवों पर कि 'उसे लिखकर मत जाना'। लिखकर तुम चले जाओगे, लखने वाले भी मिल जाएँगे, लेकिन अपनी बुद्धि चलाने वाले लोग कम मिलेंगे। उसको ज्यों–का–त्यों मानने वाले अधिक मिलेंगे।

समझो मैं क्या कह रहा हूँ। स्वाध्याय करने वाले लोगों की संख्या बढ़ रही है, बहुत बढ़ चुकी है। स्वाध्याय करने वालों की संख्या परिपूर्ण नष्ट होती दिखाई दे रही है। समझ में आया क्या? जो लिख–लिख कर लोग रख गए हैं, उस विपरीत अभिप्राय को पढ़नेवालों की संख्या तो बढ़ रही है, पर तत्त्व का निर्णयभूत स्वात्मा का स्वाध्याय करने वालों की संख्या नगण्य होती जा रही है। स्व विवेक से निर्णय करे जीव, आगमदृष्टि से निर्णय करें जीव, तो उसको नीर क्षीर की भाँति सारा तत्त्व समझ में आता है और जिसकी आस्था नहीं है, वो तो अमुक जी ने ऐसा कहा, ऐसा ही करूँगा (मानूँगा)। ज्ञानी ३६३ मिथ्या पंथ हैं, उन सबके भी ग्रंथ हैं।

लोगों को जीभ से निकला वचन तुरंत प्रारंभ हो जाता है। झींगुर भी आवाज निकालेगा, उसके वचन भी शास्त्र हो जाएँगे। जो–जो प्राणी वचन निकालेगा, उसके वचन शास्त्र हो जाएँगे।

इसलिए ध्यान रखो, 'वचन प्रमाणित नहीं हैं'। प्रमाणित कोई है तो उसका नाम प्रवचन है। वचन प्रमाणित नहीं हैं, प्रवचन प्रमाणित हैं। आप भी आपस में बात करते हो, विद्वान् भी आपस में बात करते हैं, तो उन पर आप विशेष ध्यान नहीं देते हैं। जब वे प्रवचन करने बैठते हैं, तब आप जरूर ध्यान से सुनते हो कि प्रवचन में क्या कहा जा रहा है।

प्रवचन जो हैं, वो जिनदेव की साक्षात् वाणी हैं। इसलिए प्रवचनकार जब भी प्रवचन करने

बैठे, अपने आपको ये मान कर बैठे कि मेरा शरीर तो सहकारी है, पर जो कह रहा हूँ, वो साक्षात् अरिहंत की दिव्यध्वनि है, तो दिव्यध्वनिभूत ही व्याख्यान करें। यहाँ– वहाँ के शब्द लाकर के बोलें तो दिव्यध्वनि का विपर्यास हो जाएगा।

आचार्य कुन्दकुन्द जैसे योगियों ने, 'मैं कह रहा हूँ', ऐसा नहीं कहा। केवली एवं श्रुतकेवली भगवान् ने कहा है, वह मैं कह रहा हूँ। हे जीव! राग से बंध होता है, वीतरागता से मोक्ष होता है, ऐसा जिनदेव का उपदेश है, इसलिए तू कर्मों में राग मत कर। बिल्कुल ध्रुव ध्रौव्य अवस्था को ही निहारना होगा।

'समयसार' समझना है तो 'न्याय दीपिका' भी समझना पड़ेगी। 'न्याय दीपिका' समझनी हो तो 'परीक्षामुख' सूत्र भी समझना पड़ेगा। कुन्दकुन्द स्वामी क्या कह रहे हैं? **संसार में सबसे बड़ा कोई बल है, तो प्रज्ञा का बल है, तत्त्वज्ञान का बल है। सारे बल जब क्षीण हो जाएँगे, बाहुबल भी काम में नहीं आता है, ज्ञानबल ही काम में आता है। बाहुबल वाले नियम से पराजित होते हैं, प्रज्ञाबल ही बलवान है।** ध्यान रखना, प्रज्ञाबल के साथ पुण्यबल भी होना चाहिए। आप कौरव–पाण्डवों से पूछ लो।

कौरवों ने बाहुबल तो माँग लिया, पर प्रज्ञाबल नहीं माँगा। कौरवों ने क्या माँगा? बाहुबल माँगा नारायण कृष्ण से, लेकिन उन्होंने कृष्ण और उन जैसे प्रज्ञावंत जीवों को नहीं माँगा। उन्हें तो ये दिख रहा था कि कितनी विशाल सेना है। एक ये क्या कर पाएगा? दुर्योधन! तुझे मालूम नहीं था कि विशाल सेना किस काम की?

मुमुक्षु! एक ट्रक रुई और एक अँगूठी के हीरे का नग। भइया! एक ट्रक भरना हो रुई से, तो कितना पैसा लगेगा? हजारों– लाखों में हो जाएगा कि करोड़ों में? लाखों में भर जाएगा। पर ज्ञानी! एक सौ कैरेट का हीरा, उसके लिए स्थान तो कम चाहिए, पर कीमत कितनी अधिक है?

ऐसे–ही जगत् के ज्ञानी पुरुष भीड़ को नहीं देखते, प्रज्ञा को देखते हैं। प्रज्ञाबल आपको निहारना चाहिए। निर्वाण जो है, बाहुबल से नहीं होता, प्रज्ञाबल से होता है। बाहुबल से मात्र शरीर में दिगम्बरत्व धारण कर लोगे, लेकिन कर्मों की क्षपणा जो करोगे, वो प्रज्ञा के बल से करोगे।

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिनमाहिं, त्रिगुप्तितैं सहन टरैं ते।।

(छहढाला)

जितनी तपस्या अज्ञानीजीव हजारों वर्षों तक करे, उतनी तपस्या से ज्ञानी एक श्वास मात्र

काल में कर्मों की क्षपणा कर लेता है। पर कौनसा ज्ञानी? जो तीन गुप्तियों से गुप्त है, ऐसा आत्मज्ञानी। यहाँ शास्त्रज्ञानी की प्रधानता नहीं है। आत्मज्ञानी। आत्मज्ञानी जीव ही सिद्धि को प्राप्त होता है। आत्म–अज्ञानी जीव कभी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। आत्मज्ञान कैसे प्रकट होगा? शब्दज्ञान के अज्ञान को भूलना पड़ेगा। जो शब्दज्ञान से आपके मस्तिष्क में अज्ञान छा चुका था, कि मैं ज्ञानी हो चुका हूँ, यानी आत्म– अज्ञानी हो चुका है।

द्रव्यश्रुत को प्राप्त करके भावश्रुत की प्राप्ति में लगा दे, उसका नाम है सच्चा शास्त्रज्ञानी। जो द्रव्यश्रुत को प्राप्त करके भावश्रुत से शून्य हो जाए, वह है पक्का अज्ञानी। कषाय मंद होना चाहिए, चेहरे पर भद्रता झलकनी चाहिए।

हे जीव! तेरे चेहरे पर भद्रता टपकनी चाहिए, तेरे चेहरे पर प्रशांत भाव झलकना चाहिए।

जिस घट में भीतर पानी भरा हुआ है, उस घट पर ऊपर आर्द्रता झलकती है। जिस घट से पानी निकल चुका है, उसका रुखापन अलग दूर से दिखाई देता है। जिस जीव के अंदर से प्रशम, संवेग, आस्तिक्य, अनुकम्पा भाव का अभाव हो चुका है, उसका रूखा चेहरा अपने आप झलकता है और जिसके अंदर प्रशम, संवेग, आस्तिक्य, अनुकम्पा भरा हुआ है, उसने चेहरे पर सुख अपने आप टपकता है।

परमागम का कोई सार है तो निज भावश्रुत की अनुभूति है। सबसे पहले आपको आप्त को समझना चाहिए। भइया! अपनी श्रद्धा को यूँ ही उड़ेल कर मत चले जाना। आप्त को समझना और आप्त समझ में आ जाए फिर आगम को समझना और आगम समझ में आ जाए तो आप्त आगम के वचनों को कहने वाले गुरु को समझना। जब तीनों की सत्यता नजर आजाए, समझ में आ जाए, तब वहाँ श्रद्धा को उड़ेल देना और जब तक समझ में न आए तब तक ज्ञानी धन बरसा देना, लेकिन श्रद्धा मत बरसाना। धन परवस्तु है, श्रद्धा निज वस्तु है।

श्रद्धा वहीं डालना जहाँ समीचीनता हो। श्रद्धा को वहीं प्रवेश कराना जहाँ समीचीनता हो। जहाँ समीचीनता नहीं है, वहाँ लोकाचार हो सकता है, लोकव्यवहार हो सकता है, लेकिन श्रद्धा को प्रदान नहीं किया जा सकता। श्रद्धा तो समीचीनता में ही जाएगी।

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे।।

(र.क.श्रा.)

मेरा भाव तो ऐसा है अंदर का, अब देखो पूरा किसी का होता नहीं। तीर्थंकर का नहीं हुआ

तो मेरा क्या होगा? लेकिन जब भी भाव ऐसा है जैसे तीर्थंकरप्रकृति का बंध कर ले। जीव ये सोचता है कि जीव जगत के प्राणिमात्र का कल्याण हो जाए।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या ३९० में कह रहे हैं कि ज्ञान सब वस्तुओं से पृथक् है, भिन्न है। शास्त्रज्ञान ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है। शास्त्र अचेतन द्रव्य है। शास्त्र को ज्ञान से भिन्न कहा गया है। ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है, ऐसा जिनेंद्रदेव के द्वारा कहा गया है। वचनात्मक द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्रुत अचेतन है। ज्ञान और श्रुत में व्यतिरेक है, भिन्नता है। ऐसा जानना चाहिए।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

उत्थानिका : **ज्ञान को सब वस्तुओं से पृथक् दिखलाते हैं।**

सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति।।३९१।।
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति।।३९२।।
वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो य याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति।।३९३।।
गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति।।३९४।।
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा बेंति।।३९५।।
फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति।।३९६।।
कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति।।३९७।।

संस्कृत छाया :

शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना ब्रुवन्ति।।३९१।।
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना ब्रुवन्ति।।३९२।।
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना ब्रुवन्ति।।३९३।।

गन्धो ज्ञानं न भवति यस्माद्गन्धो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गन्धं जिना ब्रुवन्ति।।३९४।।
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना ब्रुवन्ति।।३९५।।
स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना ब्रुवन्ति।।३९६।।
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना ब्रुवन्ति।।३९७।।

अन्वयार्थ : (शब्दः ज्ञानं न भवति) शब्द ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(शब्दः किंचित् न जानाति)** शब्द कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(शब्दं अन्यं)** शब्द अन्य है ऐसा **(जिनाः ब्रुवन्ति)** जिनदेव कहते हैं। **(रूपं ज्ञानं न भवति)** रूप ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(रूपं किंचित् न जानाति)** रूप कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(रूपं अन्यत्)** रूप अन्य हैं ऐसा **(जिनाः ब्रुवन्ति)** जिनदेव कहते हैं। **(वर्ण : ज्ञानं न भवति)** वर्ण ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(वर्णः किंचित् न जानाति)** वर्ण कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(वर्णं अन्यं)** वर्ण अन्य है **(जिनाः ब्रुवन्ति)** ऐसा जिनदेव कहते हैं। **(गंधः ज्ञानं न भवति)** गंध ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(गंधः किंचित् न जानाति)** गंध कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(गंधं अन्यं)** गंध अन्य है **(जिनाः ब्रुवन्ति)** ऐसा जिनदेव कहते हैं। **(रसः तु ज्ञानं न भवति)** और रस ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(रसः किंचित् न जानाति)** रस कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(रसं च अन्यं)** रस अन्य है ऐसा **(जिनाः ब्रुवन्ति)** जिनदेव कहते हैं। **(स्पर्शः ज्ञानं न भवति)** स्पर्श ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(स्पर्शः)** स्पर्श **(किंचित् न जानाति)** कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(स्पर्शं अन्यं)** स्पर्श अन्य है ऐसा **(जिनाः ब्रुवन्ति)** जिनदेव कहते हैं। **(कर्म ज्ञानं न भवति)** कर्म ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(कर्म किंचित् न जानाति)** कर्म कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(कर्मं अन्यत्)** कर्म अन्य है ऐसा **(जिनाः ब्रुवन्ति)** जिनदेव कहते हैं।

समयदेशना

भगवत् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुवज्ञायकस्वभावी आत्मा के सहजस्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। दो दृष्टियाँ अपने सामने हैं। एक व्यवहार दृष्टि, एक परमार्थ दृष्टि। दोनों ही दृष्टियाँ अपने आप में महत्वपूर्ण हैं। द्रव्यश्रुत भावश्रुत का ही सहकारी है। भावश्रुत ही कार्यकारी है। सर्वथा यहाँ यह मत समझ लेना कि द्रव्यश्रुत का यहाँ हेयपना प्रकट किया जा रहा हो। अन्यथा लोग द्रव्य–आगम की व्याख्या करना ही छोड़ देंगे और द्रव्य–आगम को आगम नहीं स्वीकारेंगे। द्रव्यश्रुत है, वह साधनभूत है। साधनभूत तो है, लेकिन ये सत्य है कि द्रव्यश्रुत 'ज्ञान' नहीं है, क्योंकि ज्ञान जो है, वह चेतन का धर्म है, अचेतन का धर्म नहीं है। भगवान् केवली की जो वाणी है, जो कि शब्दरूप में ध्वनित हो रही है, वह भी पौद्गलिक है। जो श्रोताओं के कानों तक जा रही है, वह भी पौद्गलिक है। जहाँ से उद्गम हो रहा है वो चेतन है। जो सुन रहा है, वो चेतन है। शब्द अचेतन है, पर शब्द अचेतन होने पर भी चेतन को प्रभावित करते हैं।

लोक में जो हर्ष–विषाद होते हैं, अप्राप्य होते हैं। शब्द को सुनकर मुस्कराने भी लगते हो, शब्द को सुनकर आप खिन्न भी हो रहे हो, शब्द को सुनकर आप रोष को प्राप्त हो जाते हो।

साहित्य में संचारी भावों की व्याख्या होती है। जिस समय साहित्यकार जिस विषय का आलंबन ले लेता है, उस काल में उस जीव का वैसा प्रभाव होता है। यह शब्द का बाहरी प्रभाव है, इसलिए शब्द को ब्रह्म कहा है, पर शब्द ब्रह्म जो है, आत्मब्रह्म का उद्घाटक है।

शब्द चैतन्य ब्रह्म नहीं है, शब्द अचेतन ब्रह्म है। आचार्य अमृतचंद स्वामी ने शब्द को ब्रह्म कहा है। अन्य दर्शनों में भी शब्द को ब्रह्म भी कहा है। भर्तृहरि ने शब्दस्रोत पर एक सिद्धांत ही खड़ा कर दिया। उन्होंने कहा शब्द अद्वैत जो है, सारा विश्व शब्द पर ही आधारित है। सारा विश्व शब्द का ही परिणमित है। यह भर्तृहरि का सिद्धांत सम्यक् नहीं है।

जीव द्रव्य पौद्गलिक नहीं है, पर शब्द पुद्गल की वर्गणाएँ हैं। शब्द बाधित होता है, शब्द बाधित करता है। जो स्वयं में बाधित हो, पर को बाधित करता हो, वो अमूर्तिक नहीं हो सकता और जो अमूर्तिक नहीं है, वो आकाश का धर्म कैसे हो सकता? आकाश अमूर्तिक है। आप शब्द को आकाश का धर्म मानते हो तो, अमूर्तिक का कार्य मूर्तिक कैसे हो सकता है?

मूर्तिक का कार्य मूर्तिक ही होगा। अमूर्तिक का कार्य अमूर्तिक ही होगा, इसलिए शब्द किसी

भी अपेक्षा से आकाश का धर्म नहीं है। आकाश किसी को बाधित नहीं करता, न बाधित होता, लेकिन शब्द बाधित करता है, होता है। हजारों किलोमीटर से आप मोबाइल फोन पर बातें करते हो और आपके इच्छित शब्द आते हैं तो प्रसन्न होते हो, अनिच्छित शब्द आते हैं तो रुष्ट हो जाते हो।

यहाँ शब्द का निषेध नहीं कर रहे हैं, यहाँ शब्द को ज्ञान का निषेध कर रहे हैं। शब्द ज्ञान नहीं, ज्ञाता नहीं, पर 'शब्द से ज्ञान होता है, स्यात्।'

द्रव्यश्रुत सुनने से हेय–उपादेय का विवेक आग्रत होता है। ध्रुवसत्य है कि हेय–उपादेय आत्मा का ही गुण है। पर शब्द को सुन करके आपकी जो सुप्त अवस्था थी उसमें जाग्रत होता है।

निमित्त वही है, जो नैमित्तिक को प्रभावित करे। जो नैमित्तिक को प्रभावित करने में असमर्थ है, वो निमित्त 'निमित्त' ही नहीं है। जो नैमित्तिक को प्रभावित करे, जिससे नैमित्तिक प्रभावित हो, वह निमित्त 'निमित्त' है। जिससे नैमित्तिक पर कोई प्रभाव न पड़े, वो निमित्ताभास है।

ज्ञानियो, भगवान् तीर्थंकर की दिव्य देशना, द्वादशांग वाणी, शब्द ग्रंथ तत्त्व–उपदेश है। जब–तक तीर्थंकर की देशना नहीं खिरती, तब–तक लोग इतने शीघ्र संयम को धारण नहीं करते और भगवान् की देशना सुनते ही लोगों के अंदर वैराग्य जाग्रत होता है, तब कोई सम्यक् को, कोई संयम को प्राप्त होता है। आपका शब्द जो है स्वात्मोपलब्धि सिद्धि का भी साधन है, परंतु भगवान् जिनेंद्र की देशना को साक्षात् सुननेवाला कभी विपरीतता को प्राप्त नहीं होता।

मारीचि श्रीमंडप भूमि में था क्या? वह यदि यहाँ–वहाँ घूमकरके भी भगवान् की साक्षात् वाणी को सुन लेता तो उसके भाव उस समय विपरीतता में जाते ही नहीं। जो जीव तीव्र मिथ्यात्व से ग्रसित है, जो नाट्यशाला आदि बारह भूमियाँ हैं, बारह सभाओं के अलावा जो स्थान है, उन स्थानों पर तो भ्रमण करेगा, लेकिन श्रीमंडप भूमि जहाँ तीर्थंकर स्वयंभू विराजते हैं वहाँ भव्यजीव का ही प्रवेश होता है। यदि मिथ्यादृष्टि पहुँच भी जाता है, तो सम्यक् को प्राप्त करता है। मानस्तंभ को देखते ही गौतम का मान भंग हो गया, तो गौतम से गौतम स्वामी हो गए।

भगवान् तीर्थंकर की देशना हमारे लिए भावश्रुत में सहकारी है, स्वात्मसिद्धि में सहकारी है, लेकिन कार्यकारी नहीं है। कार्यकारी तभी होगी जब तेरा उपादान सशक्त होगा। ये भगवान् की देशना कार्यकारी होती तो 'सभी जीवों को सिद्धालय में होना चाहिए था।'

प्रश्न : नेमिनाथ भगवान् के समवसरण में कृष्ण वगैरह भी पहुँचे थे।

उत्तर : ज्ञानी! वहाँ जाना भिन्न विषय है, लेकिन श्री मंडप भूमि में नहीं गए। विपर्यास करके निकल जाना भिन्न विषय है।

जिन जीवों की आप बात कर रहे हो, वो कभी वहाँ से उठकरके भागे नहीं थे, अहंकार में डूबे नहीं थे, उन्होंने आस्थापूर्वक श्रवण किया था। प्रश्न नहीं किए थे और यह भी कहा था– 'मैं तो संयम धारण नहीं कर सकता।' **जिस जीव को नरक आयु का बंध हो चुका है, वह देशव्रत भी धारण नहीं कर सकता। जिस जीव को नरक आयु का बंध हो चुका है, वह दिगम्बर मुनि के हाथों पर ग्रास नहीं रख सकता। 'उसके भाव नहीं होंगे।' मनुष्य आयु का बंधक, नरक आयु का बंधक, तिर्यंच आयु का बंधक न अणुव्रत धारण कर सकता है न महाव्रत धारण कर सकता है। किसी भी आयु का बंध न किया हो अथवा देव आयु का बंध किया है, वही जीव अणुव्रत एवं महाव्रत धारण करने के परिणाम बनाता है।**

ये अपनी–अपनी परीक्षा का बहुत बड़ा मार्ग है कि श्रमणदीक्षा तो दूर है, श्रवणों के हाथ पर ग्रास रखने के परिणाम भी नहीं हो पाएँगे, जिसने नरक आयु का बंध कर लिया है। आप बोलो, प्रमाण क्या है? जंगल में तीन लोग थे। दो ने आहार दिए, एक देखता रहा था।

अंतरंग में गद्गद् भाव, 'अहो! मेरा अहोभाग्य है।' अपने घर के द्वार पर चौक पूरकरके पड़गाहन को खड़े हुए हैं, 'पधारो स्वामी।' गद्गद् भाव चल रहे हैं। वे पधारें चाहे न पधारें, लेकिन शुभ कर्मवर्गणाएँ ऐसी आ रही हैं कि तू जिनको निमंत्रण दे रहा है, वे शिवपथ के राही हैं और तेरा मोक्षमार्ग भी यहीं से प्रारंभ हुआ है।

यात्रा पर जाना हो तो कहीं की भी ट्रेन आए, उस समय आपको अनुभूति आती कि नहीं आती? चाहे बस की, ट्रेन की, विमान यात्रा करना चाहो, लगता है कि अब मेरी ट्रेन/बस आई।

ज्ञानी! ऐसे–ही जो श्रावक अपने घर के द्वार पर पडगाहन कर रहा है। कलश लिए और निहार रहा है कि किस ओर से आएँ धरती के देवता, उस समय उसके परिणामों की विशुद्धि है, उस समय वो कर्मों की असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा करा रहा है।

पंचाश्चर्य तपस्या करते समय नहीं होते। पंचाश्चर्य जब भी होते हैं तो आहार दान के समय होते हैं, ऐसा क्यों? **दाता की विशुद्ध परिणति और पात्र की उज्जवल साधना, इन दोनों का जब संग्रह होता है, तो देव भी आकर्षित हो जाते हैं।** तीर्थंकर जिनेश की दिव्यदेशना भव्यों के कल्याण के लिए सहकारी है। अभव्यों के कल्याण में सहकारी नहीं है, क्योंकि अभव्यों का कल्याण होता ही नहीं है। 'अभव्यों के लिए भगवान् की वाणी भी अकिंचित्कर है।'

जैसे कि श्रेष्ठ शक्ति सम्पन्न युवा बाँझ स्त्री के लिए संतान देने के लिए अकिंचित्कर है, इसी प्रकार से भगवान् की देशना भी भव्यों के लिए ही कल्याणकारी है। कभी भी उपदेश देते समय ऐसा भाव मन में मत लाना कि मैं सबका कल्याण कर दूँगा। **यदि कर्त्तादृष्टि से उपदेश करोगे तो निज में खेद को प्राप्त करोगे।** करुणादृष्टि से उपदेश करना कि जीवों का कल्याण हो जाए। उसकी योग्यता होगी तो हो जाएगा और नहीं भी होगा तो तेरे प्रशस्त भावों से तेरा कल्याण तो होगा–ही–होगा।

धर्म–उपदेश में भी खिंचाव नहीं रखना कि नहीं, मैं सबका कल्याण करके रहूँगा। आप क्या सबका कल्याण कर सकोगे? अनंत चौबीसियाँ निकल गईं, तब भी विशुद्धसागर पंचमकाल में घूम रहे हैं, भइया! मैं आपकी बात नहीं कर रहा हूँ। प्रश्न : शास्त्रों में लिखा है कि असंख्यात जीवों में भव्य गिनती के होते हैं? उत्तर : बिल्कुल सही लिखा। हे जीव! हजारों चनों में एक–आध चना ही भाड़ से उचटता है। ऐसे ही कोटि–कोटि जीवों से कोई एक ही जीव भगवत्ता को प्राप्त कर पाता है, परंतु पुरुषार्थ में कमी नहीं छोड़ना चाहिए। ये हीनभावना कभी मत लाना कि मैं भव्य हूँ कि अभव्य हूँ? पर इतना विश्वास रखना, यदि व्यवहार से देव–शास्त्र–गुरु पर आस्था है, तत्त्व पर श्रद्धान है, तो अपने आपको आप क्यों अभव्य घोषित करना चाहते हो?

भगवान् की भक्तिपूर्वक देशना वही सुन सकेगा, जो भावी भगवान् है। भव्यजीव ही भक्ति से जिनवाणी सुनता है। अभव्य जीव भक्तिपूर्वक जिनवाणी नहीं सुन सकेगा। भव्य जीव सुनेगा। ११ अंग का पाठी भी हो सकता है। श्रद्धान करेगा, प्रतीति करेगा, अनुभूति लेगा, धर्म भी करेगा, भोग के निमित्त से। धर्म को कर्मक्षय के निमित्त से नहीं कर पाएगा। सबसे कठिन है, 'मेरे भव का नाश हो', ऐसे भीतर के भावों का उत्पन्न होना। भइया! वर्षों–वर्षों निकल जाते हैं, लेकिन ये भाव नहीं आते कि मैं भी संसार का नाश करूँ। **तत्त्वज्ञानी कष्ट में पड़े जीव को देखकरके कष्ट को महसूस नहीं करता। कष्ट का निवारण करने का पुरुषार्थ करता है। निज को कष्ट में डालकरके पर के कष्ट को दूर करना, ये अरिहंत की देशना नहीं है। स्वयं में संक्लेशता को जन्म देकर दूसरे के दुःख को दूर करना, ये दया कैसी? ये तो हिंसा हो गई। निज के भावों की हिंसा करके दूसरे की पर्याय की रक्षा की तुम बात कर रहे हो, ये तुम्हारी दया नहीं, हिंसा है।**

जहाँ संकल्प–विकल्प है परमार्थ दृष्टि से व्यवहार दया को उन्होंने अदया कह दिया, क्योंकि संकल्प– विकल्प जब–तक रहेंगे, अहमेदं ममेदं भाव रहेंगे, तब–तक कर्मास्रव होगा, संसार की वृद्धि होगी और तेरा निज का निज के द्वारा घात होगा। जो पर पर वार कर रहा है, पर से वार

हो रहा है, वह पर्याय से पर्याय पर लगेगा। आत्मा से आत्मा का घात किसी ने किया है तो वह पर पुरुष ने कभी नहीं किया है। अपने द्वारा ही, आप में ही आपने कषाय को जन्म दिया है। अप्पाणं हणदि अप्पेण। आत्मा के द्वारा आत्मा का घात कर रहा है। परिणामों में जो उद्वेग है, यही हिंसा है।

एक क्षणमात्र भी आपकी अनुकूलता से प्रतिकूल हो जाये, उस समय तुम्हारे चेहरे का भाव अलग दिखता है। जब चेहरा अलग दिखता है तो निज (भीतर) का भाव तेरा कितना वक्र होगा? जब चेहरा वक्र हो रहा है, **भीतर की वक्रता के अभाव में चेहरा वक्र हो नहीं सकता।**

प्रश्न : इसको महाराजश्री! आत्मघात भी कहेंगे? उत्तर : आत्मघात ही है। द्रव्य–आत्मघात के लिए पुलिस खड़ी हो जाएगी, पर भाव–आत्मघात के लिए कर्म–पुलिस खड़ी है तेरे लिए। पर द्रव्य–आत्मघात कर लेगा तो तू नहीं मिलेगा, यहाँ पुलिस को तेरा परिवार मिलेगा; लेकिन भाव–आत्मघात करने वाले के लिए परिवार नहीं, तू ही मिलेगा। द्रव्यहिंसा कर लो, स्वयं की आत्महत्या कर लिए, तू तो गया, लेकिन परिवार के लोग परेशान होंगे, बेचारे ६ महीने तक पूजन–भक्ति से वंचित हो गए। जिस घर में आत्महत्या हो गई, वो परिवार गया छह महीने तक। जिसने भाव–आत्मघात किया है, क्षणमात्र भी किंचित् मात्र भी मेरे भाव भइया के प्रति अशुभ हो गए, तो मेरा भाव–आत्मघात हो चुका है।

अब करो प्रतिक्रमण। एक दिन की दीक्षा से मोक्ष नहीं मिलेगा, दिन में ३–३ बार क्या, कोटि–कोटि बार मुनिदीक्षा लेते हैं महाराज। एक बार नहीं, अनेक बार दीक्षा लेते हैं। अरे! मेरे द्वारा ऐसा क्यों हो गया? मेरे चित्त में ऐसा सोच क्यों आया? मेरे शरीर से ऐसी चेष्टा हो कैसे गई? प्रतिक्षण दीक्षा है।

माँ! बटलोई में खीर बनाते हो आप। फिर खानेवाले तो खाकर चले गए। बेचारे चावल से पूछो, खीर बनी कैसे है? सैकड़ों बार नीचे गया है, ऊपर गया, मध्य में आया है। ऐसा नहीं हुआ क्या? हुआ न? तब कहीं वो खीर बन कर आई। मुमुक्षु! जैसे चावल अनेक बार ऊपर–नीचे पक करके खीर बनता है, ऐसे–ही जीव संयम लेने के बाद भी ध्यान की अग्नि जल रही है, भावों की दशा है, ये गुणस्थान के चावल हैं। 'ऊपर–नीचे'। एक क्षण ऐसा आता है कि चावल 'भात' बन ही जाता है, खीर बन ही जाता है। वो है क्षपक श्रेणी। जो एक बार १२वें गुणस्थान में प्रवेश कर गया, अब तो उसको सिद्ध भगवान् बनना ही है।

व्यवहार का व्याख्यान इसलिए किया कि जिन–आगम तो द्रव्यश्रुत है, कहीं लोग इनको

फेंकना प्रारंभ न कर दें। अब देखिए यहाँ द्रव्यश्रुत की प्रधानता की व्याख्या नहीं चल रही, यहाँ तो भावश्रुत की प्रधानता की व्याख्या चल रही है।

ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है, ऐसा जिनदेव ने कहा है। जिनदेव जानते हैं, जिनदेव ने कहा है। सर्वथा ऐसा मानकर मत बैठ जाना कि सुबह शाम स्वाध्याय, ग्रंथ पढ़कर चला जाता हूँ। इससे मेरा कल्याण हो जाएगा। ये **शब्द गिनने से कल्याण नहीं होगा। शब्दशास्त्र पढ़ते समय तुम्हारे परिणामों में जो विशुद्धि आ रही है, उससे तुम्हारा कल्याण होगा।**

वो विशुद्धि में निमित्त है, इसलिए द्रव्य शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, ठीक है, पर **जो आत्म– ज्ञान में लवलीन हो चुके हैं, उन्हें आँख खोलने का विकल्प भी नहीं होना चाहिए। कागज का पन्ना खोलना उनके लिए बहुत बड़ा अपराध हो जाएगा।** पृष्ठ खोलना भी अपराध हो जाएगा। आपने देखा, पृष्ठ खोलने में हिंसा होती है? जैन मुनि पन्ना खोलते समय पिच्छी से मार्जन करते हैं। क्यों? इनके बीच में भी सूक्ष्म जीव होते हैं। वे कौन जीव हैं? ये वही जीव हैं जो रात–दिन मात्र शब्दों में, कागज में चिपके रहे, लेकिन आत्मविशुद्धि को प्राप्त कर नहीं पाए और बाहरी द्रव्यश्रुत के प्रभाव से पर की आलोचना में लिप्त रहे। जो जीव मति–श्रुत ज्ञान के बल से, स्वछन्द होकर, जिन–आगम की वंचना करता है, उसको आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने मिथ्यादृष्टि कहा है। आपने धर्मज्ञता को भी स्वीकारा सर्वज्ञता की सिद्धि के लिए।

हमारे यहाँ जो साधना–मार्ग है, धर्ममार्ग, वो ज्ञान को उद्घाटित करने के लिए है, आत्मा के क्रमिक विकास के लिए, बहिरात्मा से अंतरात्मा और फिर परमात्मा। आप जो अपना ग्रंथ मान कर चल रहे हो, उसने आगे–पीछे कुछ नहीं, चिंतन दोहराना चाहते हो, वह शास्त्र का प्रेमीजीव है। वो आपके शास्त्रों की रूढ़ि में है। मैं इसलिए कह रहा हूँ, क्योंकि आपका शास्त्र जो है वह सर्वज्ञ की देशना नहीं और आपने सर्वज्ञ को स्वीकारा नहीं है।

आपने सर्वज्ञ को कुछ कहा ही नहीं है। आपने तो मात्र ये कहा है कि जो हमारे ग्रंथों में है, वह अमोघ वचन है। ग्रंथों में जो अमोघ वचन है, वही ज्ञान है। इसके अलावा जो भी ज्ञान होगा, वो सब अज्ञान है। फिर जीवों की रक्षा के बारे में क्या होगा? क्योंकि वो ज्ञान हो जाएगा। तुमने अपने ग्रंथों में जीव के वध को धर्म लिख दिया, तो वही ज्ञान हो जाएगा। इसलिए ग्रंथों में, ज्ञान की जो सिद्धि कराई जा रही थी, कुन्दकुन्द स्वामी ने कह दिया 'नहीं, ग्रंथों में ज्ञान नहीं है।' **आत्मा के विशुद्ध परिणामों से क्षयोपशम की वृद्धि होती है और जैसे–जैसे क्षयोपशम वृद्धिमान होता है वैसे–वैसे स्वच्छता आती है। ऐसी स्वच्छता आने पर सत्यता का बोध होता है। ऐसा सत्य**

जानने वाले कोई हैं, उनका नाम केवली सर्वज्ञ भगवान् है। सर्वज्ञ भगवान् ने जो शास्त्र कहे, वो मुझे स्वीकार है। पहले आत्मविशुद्धि और आत्मविशुद्धि से क्रमिक विकास होता है। तब क्षायिक ज्ञान प्रकट होगा। आत्मविशुद्धि प्रथम गुणस्थान से प्रारंभ होगी। प्रथम गुणस्थान कहो या मिथ्यादृष्टि कहो, ये सब उस जीव के लिए शब्दों का प्रयोग है। किसके लिए? जो जीव मिथ्यात्व अनंतानुबंधी के तीन टुकड़े कर रहा है उसके लिए।

आप सभी से कहना है कि हर ग्रंथ को उठा करके ये मत कहना कि ग्रंथों में लिखा है, इसलिए ज्ञान है। नहीं। 'निर्ग्रंथों ने लिखा है वो ग्रंथ है' कि उन ग्रंथों में लिखा है वो ग्रंथ है? इसलिए पुन: सुनिए। इस कारिका में लिखा है बीजांकुर न्याय। ग्रंथों से निर्ग्रंथ बनते हैं, पर निर्ग्रंथों से ग्रंथ बनते हैं। इसका नाम है बीजांकुर न्याय।

बीज से अंकुर हुआ, न कि अंकुर से बीज हुआ। बीज से अंकुर हुआ न? अंकुर से बीज तो नहीं हुआ न? ज्ञानी! अंकुर नहीं आएगा, तो बीज कहाँ से आएगा? बीज नहीं होगा, तो अंकुर कहाँ से आएगा? ये बीजांकुर न्याय है, इस न्याय का प्रयोग किसने किया? भट्ट आचार्य अकलंक स्वामी, जो निर्ग्रंथ हुए हैं, सर्वज्ञ हुए हैं। उन्होंने जो देशना दी है, उससे ग्रंथ बने हैं। उनकी देशना से जो ग्रंथ बने हुए हैं, उनका स्वाध्याय करके, वैराग्य को प्राप्त करके, निर्ग्रंथ बनता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या ३९१ से ३९७ गाथाओं में ज्ञान और अन्य द्रव्यों की पृथकता को कह रहे हैं। रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप पुद्गल का गुण है। अचेतन है, जड़ है, इसलिए रूप और ज्ञान का भेद है। वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण पुद्गल द्रव्य का गुण है, अचेतन है, इसलिए वर्ण और ज्ञान का भेद है। गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गंध पुद्गल द्रव्य का गुण होने के कारण अचेतन है, इसलिए गंध और ज्ञान का भेद है। रस भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस तो नित्य अचेतन जड़ है, ज्ञान उससे भिन्न वस्तु है, रस भिन्न वस्तु है, ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है। स्पर्श भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श कुछ भी नहीं जानता है, इसलिए ज्ञान भिन्न वस्तु है, स्पर्श उससे भिन्न है। कर्म भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म कुछ भी नहीं जानता, इसलिए ज्ञान भिन्न है, कर्म भिन्न है।

सब परद्रव्यों से अलग और अपनी पर्यायों से अभेदरूप है ज्ञान, ऐसा जानना चाहिए।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।

आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

उत्थानिका : **ज्ञान धर्म, अधर्म, काल, आकाश, अध्यवसान से भिन्न है, ज्ञायक से अभिन्न है।**

गाथा :

धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति।।३९८।।
णाणमधम्मो ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति।।३९९।।
कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति।।४००।।
आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासां अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति।।४०१।।
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।।४०२।।
जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।।४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा।।४०४।।

संस्कृत छाया :

धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना ब्रुवन्ति।।३९८।।
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यंधर्मं जिना ब्रुवन्ति।।३९९।।
कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं कालं जिना ब्रुवन्ति।।४००।।

आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित्।
तस्मादाकाशमन्यमन्यज्ज्ञानं जिना ब्रुवन्ति।।४०१।।
नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत्।।४०२।।
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम्।।४०३।।
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमङ्गपूर्वगतम्।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति बुधाः।।४०४।।

अन्वयार्थ : (धर्मः ज्ञानं न भवति) धर्म ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(धर्मः किंचित् न जानाति)** धर्म कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(धर्मं अन्यं)** धर्म अन्य है ऐसा **(जिनाः ब्रुवन्ति)** जिनदेव कहते हैं।

(अधर्मः ज्ञानं न भवति) अधर्म ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(अधर्मः किंचित् न जानाति)** अधर्म कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(अधर्मं अन्यं)** अधर्म अन्य है ऐसा **(जिनाः ब्रुवन्ति)** जिनदेव कहते हैं।

(कालः ज्ञानं न भवति) काल ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(कालः किंचित् न जानाति)** काल कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(कालं अन्यं)** काल अन्य है ऐसा **(जिनाः ब्रुवन्ति)** जिनदेव कहते हैं।

(आकाशं अपि ज्ञानं न) आकाश भी ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(आकाशं किंचित् न जानाति)** आकाश कुछ नहीं जानता **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(आकाशं अन्यत्)** आकाश अन्य है ऐसा **(जिनाः ब्रुवन्ति)** जिनदेव कहते हैं।

(तथा) उसी प्रकार **(अध्यवसानं ज्ञानं न)** अध्यवसान ज्ञान नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(अध्यवसानं)** अध्यवसान **(अचेतनं)** अचेतन है **(तस्मात्)** इसलिए **(ज्ञानं अन्यत्)** ज्ञान अन्य है **(अध्यवसानं अन्यत्)** अध्यवसान अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं।

(तस्मात् तु) इसलिए **(जीवः)** जीव **(ज्ञायकः ज्ञानी)** ज्ञायक है, वही ज्ञानी है **(यस्मात्)** क्योंकि **(नित्यं जानाति)** निरंतर जानता है **(च)** और **(ज्ञानं)** ज्ञान **(ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं)** ज्ञायक से अभिन्न है ऐसा जानना चाहिए।

(तु) और **(ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं)** ज्ञान को ही सम्यग्दृष्टि **(संयमं)** संयम **(अङ्गपूर्वगतं सूत्रं)** अंगपूर्वगत सूत्र है **(च धर्माधर्म)** और धर्म अधर्म **(तथा)** तथा **(प्रवज्यां)** दीक्षा भी ज्ञान है **(बुधाः अभ्युपयान्ति)** ऐसा ज्ञानीजन अंगीकार करते हैं।

समय देशना

भव्य बंधुओ! आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुवज्ञायकस्वभावी भगवान्– आत्मा के सहजस्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं।

कर्म जड़त्वभूत है। जड़ कर्म में न चैतन्य के लिए ज्ञायकत्व भाव है, न अज्ञायकत्व भाव है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का ज्ञायकत्वपन का हेतु नहीं है। अज्ञायकत्वपन का भी हेतु नहीं है। जानने की सामर्थ्य जीव के भीतर ही है। नहीं जानना चाहता जीव जिस विषय को, वह सामर्थ्य भी जीव के ही अंदर है। पर वस्तु मुझे बलात् जनाती नहीं है और न जानने के लिए मना करती है। मात्र अज्ञान के वश हुआ जीव निमित्तों को दोष देता है।

वही जीव जब शांत चित्त से बैठता है, तब उसे समझ में आने लगता है कि **मेरे क्षयोपशम को बढ़ाने में सहकारी मेरे परिणामों की निर्मलता ही है, मेरे क्षयोपशम को घटाने के हेतु मेरे परिणामों की अशुद्धि ही है।**

जैसे दूर से भी आँच घास की वृद्धि को रोकने में समर्थ है, दूर से भी आँच घास को झुलसा देती है, ऐसे–ही जीव के भीतर जो काषायिक भाव की आँच है, वो उसकी विशुद्धि को झुलसाती है और विशुद्धि के झुलसते ही जीव का बहुशास्त्रज्ञानपन भी विलीन हो जाता है। राग की तीव्रता में, द्वेष की तीव्रता में कभी भी भूतार्थ निर्णय नहीं हो सकता, सम्यक् निर्णय हो नहीं सकता।

जब राग चढ़ा होता है, तब रागी को वही वस्तु आनंदमयी दिखती है जिसके प्रति राग है। फिर वह न स्व कुल की कुलीनता का विवेक रख पाता है, न स्व पद की मर्यादा को ध्यान में रख पाता है, न स्व धर्म पर उसकी दृष्टि पहुँचती है, राग के आवेग में। ये आवेग दीर्घ समय तक नहीं चलता, नई वस्तु के प्रति एक उमंग होती है और उमंग जो है, उसकी आयु लंबी नहीं है। अल्प समय में उमंग की मृत्यु हो जाती है। उस उमंग का नाश होते ही अब अपने हाथ में पश्चात्ताप और लोक कलंक ही रहता है, बाकी कुछ नहीं रहता।

उमंग के विलीन होते ही व्यक्ति के पास पश्चात्ताप, लोक का अवर्णवाद का संताप ही हाथ

में बचता है। शेष उसके पास में कुछ नहीं रहता। राग के कारण कितने जीवों का नाश हो चुका है। स्व रागभूत द्रव्य के नहीं मिलने पर परपुरुष के सिर का भी छेद किया है। इतिहास रखा है, बेटे ने अपने पिता का नाश किया है। माँ ने बेटे का घात करवा दिया, ये भी इतिहास है। इस सपूत के कारण मेरी इच्छा की पूर्ति नहीं हो पाएगी, उसको कंटक स्वीकार करके अपने बेटे का नाश करा दिया। **जितना घातक द्वेष है, उतना ही घातक राग है। दोनों ही के काल में जीव विवेकशून्य हो जाता है।**

जो भी आप सुनने में आनंद लूट रहे हो। ये सब राग–द्वेष की मंदता में सुन रहे हो और यदि किंचित् भी भाव मंदता से तीव्रता में चले गए तो फिर आपको तत्त्व सुनने में भी रुचि नहीं आएगी, परिणाम उद्वेलित हो जाएँगे। कितने सारे ज्ञान के निर्णय को हम अपने वेद के आवेग में समझ नहीं पाए। यथार्थ मानिये, जितना आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने चिंतन किया है, ये सब मंद कषाय में किया है। भद्र परिणामों में भावों की विशुद्धि में हुआ है। ग्रंथकर्ता जब ग्रंथ लिखने बैठता है, उसके सामने पूरा ज्ञेय झलकता है।

ग्रंथकर्ता हाथ में लेखनी लिये है। देह, कागज पर अपना प्रयोग कर रही है। हाथ कागज पर प्रयोग करते दिख रहे हैं, परंतु हाथ का प्रयोग ये ग्रंथ नहीं लिख रहा है, भावों का प्रयोग हाथ से ग्रंथ लिखा रहा है। हाथ करण है, हाथ कर्ता नहीं है। किसी के हाथों से कोई पाप हो जाए तो उसके हाथ काटने की बात मत करना, क्योंकि हाथों का कोई दोष नहीं है। अज्ञानियों ने लोक में ऐसी बातें कर दीं हैं कि जिसने जिस अंग से दोष किया, अपराध किया, उस अंग को नष्ट कर दो। 'अंग नष्ट करने से पाप का प्रक्षालन नहीं होता, ये कोई प्रायश्चित्त नहीं है।'

आपने किसी की आँख को फोड़ दिया, ये कोई प्रायश्चित्त नहीं है, अपितु तुमने उसको प्रायश्चित्त करने में बाधा डाल दी। भ्रमित नहीं होना, विषय को बहुत अच्छे से समझना।

भाई! माना कि आपने अपनी आँख से किसी को खोटी दृष्टि से देख लिया, किसी शासक ने आपको पकड़ लिया और कहता है कि ऐसे अपराधी की आँखें निकाल लो। वह शासक अभी अनभिज्ञ है, तत्त्वज्ञान शून्य है, भावुक है। आपको मात्र देह की पीड़ा देखकरके नरक में भेजने की चेष्टा कर रहा है। यदि सच्चा सम्राट होता तो कभी नहीं कहता कि इसकी आँख निकाल लो। दंड देकर, प्रताड़ित करके आक्रोशित कर देने का नाम प्रायश्चित्त नहीं है। उसको ऐसा समझाना चाहिए था कि आँखें खोलकरके परस्त्री को देखा था, अब आँख खोलकरके निज आत्मरमणी को देखने लग जा। आत्मरमणी को, उन्हीं आँखों से। जिससे परस्त्री पर दृष्टि डाली थी, उन्हीं आँखों से

परमात्मा पर दृष्टि डालने लग जाये, जिनवाणी का स्वाध्याय करने लग जाये, गुप्तियों का पालन करने लग जाये। उन आँखों से, मुनि बन करके, पापों का प्रायश्चित्त कर लिया।

यदि आपने उसके अंग भंग कर दिए, आपने राजदंड घोषित कर दिया। उस जीव को पाप को दूर करने का उपाय जो था, उससे दूर कर दिया। ये एकलव्य से गुरुदक्षिणा वाला मार्ग नहीं है। जैन वक्ता जब भी दृष्टांत दें तो अहिंसक दृष्टांत देना चाहिए। गुरुभक्ति के लिए वही अकेला एकलव्य ही है क्या? चंद्रगुप्त सम्राट नहीं हैं क्या?

भद्रबाहु जैसे गुरु और चंद्रगुप्त जैसा शिष्य, वो दृष्टांत दो। वो दृष्टांत देने की क्या आवश्यकता जिसमें अँगूठे को निकाल लिया गया हो। ये तो मानवता–शून्य दृष्टि है कि एक शिष्य की गरिमा को बनाए रखने के लिए आपने बेचारे भील एकलव्य के अँगूठे को ही निकलवा दिया। दृष्टांत में, उदाहरणों में अहिंसा का समानाधिकरण बैठाना चाहिए। लौकिक दृष्टांतों को देने से पूर्व बहुत समझने की आवश्यकता है।

जब एक जीव के अँगूठे को निकालने की बात चल रही थी, उस समय परिणामों की धारा में क्या–क्या था?' राग था, शायद द्वेष भी था। यदि साम्यभाव होता तो देखते कि जिसको प्रत्यक्ष पढ़ाया है, उससे अधिक भक्ति इसमें दिख रही है, क्योंकि इसने परोक्ष सीखा है। उसकी पीठ ठोकना चाहिए थी कि मेरे द्वारा प्रत्यक्ष में शिक्षा न देने पर भी, तेरी आस्था कितनी पवित्र है कि फिर भी मुझे गुरु स्वीकार रहा है। **श्रद्धा का गुरु जिसके भीतर प्रवेश कर गया, वो एकलव्य जैसा हो जाएगा। जिसकी श्रद्धा का गुरु निकल चुका है, वह कोटि–कोटि पोथियों का पाण्डित्य तो प्राप्त कर सकता है, परंतु गुरुभक्ति के आनंद की अनुभूति को प्राप्त कभी नहीं कर सकता।**

भक्ति भी करो तो आनंदमयी अनुभूति लेकरके करो, तब समझ में आएगा कि हाँ मैं भक्ति कर रहा हूँ। उसकी भी लहर चलना चाहिए। ये तभी संभव है जब संपूर्ण स्वार्थों से परे होकरके होगी। बहुत यथार्थ बात बताऊँ? परमात्मा से, परमेष्ठी से जितना अपरिचित जीवन जीयोगे, उतना आनंद बहुत आएगा। नहीं समझ में आया? जो भी परमेष्ठी हैं इनसे अपरिचित होकर आप भक्ति करोगे तो आप को बहुत आनंद आएगा। उनका परिचय आप तो रखना, परिपूर्ण रूप से, पर उनसे अपना परिचय कराने की चेष्टा मत करना। आप उनसे परिचित होकरके अपने आपको अपरिचित रखोगे तो आपको उनके प्रति विनय भाव रहेगा और आप उनसे परिचित होकर जीवन जीना चाहोगे तो अनेक विकल्प मन में आएँगे।

कई बार जीव को अनुभव में आ जाता है, मैंने ऐसा अशुभ किया सो मुझे ऐसा फल भी दिखाई दे रहा है। कई बार, जीव को समझ में आ जाता है, उसी भव में। **अच्छा करने वाले को अच्छा भी फलित दिखने लगता है और बुरा करने वाले को बुरा भी फलित दिखने लगता है। अशुभ चिंतक का तत्क्षण फल यही तो है कि उसके निज के विशुद्ध परिणामों का अभाव हो रहा है।** वो तो प्रत्यक्ष दिख रहा है। जो भावों की निर्मलता का आनंद था, वो तो उसका विलीन हो चुका है। कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि आप कर्मों को भी दोष देना बंद कर दो। कर्म ज्ञान नहीं है, ज्ञान कर्म नहीं है और कर्म ज्ञानी भी नहीं है। कर्म तुमको ज्ञान देते नहीं हैं। ज्ञान तो ज्ञान ही है, आत्मा का गुण है, ऐसा भगवान जिनदेव ने कहा है।

अपने साथ अशुभ घटित होने पर कई बार ऐसा होता है कि आप अपने संबंधियों को तो अशुभ नहीं बोलते, लेकिन कर्मों को गाली जरूर देने लगते हो। स्पष्ट कह रहा हूँ, कर्मों को गाली देने लगते हो और कर्मों पर इतना आक्रोशित होते हो कि मेरे लिए ही सब कर्म सताने बैठे थे। नहीं, भइया! कर्म– जैसा ईमानदार जगत् में कोई भी नहीं है। बिना भावकर्म के कर्म कभी आते नहीं। कर्म उतना ही फल देते हैं जितना तुम्हारा तीव्र मंद काषायिक भाव होगा। ज्ञात/अज्ञात भाव होगा।

किंचित् भी किसी भी जीव को कर्म अनधिकृत रूप से नहीं सताते। वो ये भी नहीं कहते कि इस जीव को बाँधूँगा। जैसे अखाड़े में धूल है, अब धूल तो धूल है, जड़ है, अचेतन है, उसका धर्म चिपकना है; लेकिन धूल कभी आपको चिपकने नहीं आएगी। धूल जब भी चिपकेगी, आप तेल मालिश करके अखाड़े में कूद जाना, वो चिपकेगी। यदि आपने तौलिया से अच्छे से पोंछ लिया है और किंचित् भी स्निग्धता नहीं रखी शरीर पर, अखाड़े में कूद भी जाओगे, धूल चिपकेगी नहीं, झड़ जाएगी। ऐसे–ही संसार एक विशाल अखाड़ा है, कोई के रहने से कण चिपकते होते तो कोई भगवान् नहीं बन सकता था। क्योंकि जितने मुनि होते हैं अपने बीच के ही होते हैं।

अरिहंत बने हैं तो संसार से ही बने हैं और सिद्ध हुए हैं तो संसार में ही तपस्या करके सिद्ध हुए हैं। इस अखाड़े में धूल/रज तो है, पर चिपकेगी तभी यदि स्निग्धता है। **जिसने वीतराग भाव के तौलिये से अपने राग भाव की स्निग्धता को पोंछ लिया है, उसको कर्मों की धूल कभी चिपकने वाली नहीं है।** धूल को दोष मत देना। कर्मों को दोष मत देना।

जैसे वकील साहब वृद्धता की ओर जा रहे हैं, दौड़ने वाला श्रावक आज छड़ी लिए बैठा है। कभी–कभी यहाँ आने का मन करता है, लेकिन शरीर नहीं चलता, तो मन में ऐसे भाव आ

रहे हैं कि भगवान्! ये वृद्ध दशा क्यों आ गई? नहीं, कभी नहीं सोचना। ये तो अपने को जन्म से पता था कि पुण्य आएगा, फिर वृद्धि को प्राप्त होगा। बड़ा फल होगा, सुंदर दिखेगा। लोग देखकर आकर्षित होंगे। पर ज्ञानी वृक्ष से चुनकर टोकनी में आ जाएगा और लंबे समय तक रखा रहेगा तो फिर वो उसकी पर्याय बदल जाएगी। यही हमारे शरीर के साथ है। **पका हुआ फल नियम से पतित होता है।** ये कुन्दकुन्द स्वामी का वचन है। पका हुआ फल नियम से पतित होता है। इसलिए न जन्म को, न मरण को, न वृद्धत्व को अशुभ कहना। **ज्ञानी! अशुभ कोई वस्तु नहीं होती है। राग–द्वेष ही अशुभ है।** इसलिए कर्मों को कभी अशुभ मत कहना। उसको पुद्गल द्रव्य मानकर देखो। मेरे ही राग–द्वेष ने शुभ–अशुभ बंध कराया है। ये राग–द्वेष की जोड़ी है। ज्ञानी! मथानी में दो रस्सियाँ होती हैं, दाएँ हाथ की रस्सी, बायें हाथ की रस्सी। दोनों डोरियाँ होंगी तभी मथानी चलेगी। ये दोनों की जोड़ी है।

राग–द्वेष द्वयीदीर्घ, नेत्राकर्षण कर्मणा।
अज्ञानात् सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ।।

(इष्टोपदेश)

राग–द्वेष की डोरियों के मध्य में ये मथानी संसार में चक्कर लगा रही है। **जहाँ–जहाँ राग होगा, वहाँ–वहाँ द्वेष भी होगा।** सीमेंट–सीमेंट या बालू–बालू से भवन नहीं बन रहा। बालू और सीमेंट के मिश्रण से आप भवन बना रहे हो। बालू का रूक्ष गुण और सीमेंट का स्निग्ध गुण, इन दोनों के संघात से भवन निर्मित हो रहा है। राग स्निग्ध है, द्वेष रूक्ष है, इन दोनों के निमित्त से कर्मों के लड्डू बन रहे हैं, भवन बन रहे हैं और संसार में भ्रमण चल रहा है। नियमसार और प्रवचनसार में इसका बहुत अच्छे से वर्णन किया है। **अकर्तृत्व स्वरूप में जो लवलीन हो जाएगा, उसके यश को कोई रोकने वाला नहीं है।** सर्वाधिक यशःकीर्ति गुण–कर्म का उदय होता है छटवें गुणस्थान में। तेरहवें में तो होता ही है, लेकिन छटवें गुणस्थान में भी होता है। बताइये, इन मुनियों को कौन जानता था। अपने घर में बैठे होते तो कौन जान रहा था। हाँ, आप ही के यहाँ चातुर्मास हो जाए। बहुत बड़े साधुओं की भीड़ हो, वहाँ कोई विदिशा से पहुँचता है तो सबके तो दर्शन करेगा, पर धीरे–से कहेगा 'हमारे विदिशा वाले महाराज कहाँ हैं?' ये संयम की प्रीति बढ़ जाती है।

कर्म को दोष नहीं देना। कर्म तुम्हारे लिए न ज्ञाता है, न कर्त्ता है, न हर्ता है, न रक्षक है। मेरा ज्ञायकभाव ही मेरा ज्ञाता है। ज्ञानभूत है, वहीं दर्शन, चारित्रभूत है, वही अनंतसुखभूत है।

ये सारी अनुभूतियाँ किसमें हैं? ज्ञान में। परमभावज्ञायक द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से अनेक स्वभावों के मध्य में ज्ञानस्वभाव ही परम स्वभाव है। आगे कह रहे हैं कि धर्म आदि जो द्रव्य हैं, वे भी मेरे ज्ञान– अज्ञान के कारण नहीं हैं और फिर मेरे ज्ञान के कारण तो हैं ही नहीं।

यहाँ पर आचार्यभगवन् कह रहे हैं **'धर्मो ज्ञानं न भवति'** धर्म जो द्रव्य है, वो ज्ञान नहीं है, जड़भूत है, **'यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्'** क्योंकि धर्म किंचित् भी जानता नहीं है। जिसके माध्यम से जीव पुद्गल गमन में सहकारी होता है वह धर्म द्रव्य है। उदासीन निमित्त है। उदासीन निमित्त होने पर भी आपके लिए ज्ञान को उत्पन्न करने वाला नहीं है। न स्वयं ज्ञानी है, न किसी को ज्ञान उत्पन्न कराता है, क्योंकि स्वयं में अज्ञानी है। ऐसा जिनदेव ने कहा है।

जब धर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है, तो अधर्म द्रव्य भी ज्ञान नहीं है। अधर्म द्रव्य भी कुछ भी जानता नहीं है। **'यस्माद्धर्मो न जानाति'** जिससे धर्म नहीं जानता, अधर्म भी नहीं जानता, किंचित् भी। अधर्म द्रव्य अन्य है और ज्ञान अन्य है। ऐसा भगवान् जिनेंद्रदेव ने कहा है। **'कालो ज्ञानं न भवति'** काल भी ज्ञान नहीं होता है। क्यों? **'यस्मात्कालो न जानाति किंचित्'** क्योंकि काल भी किसी को जानता नहीं है। जो कुछ भी नहीं जानता तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं। ज्ञान अन्य है, काल अन्य है, ऐसा भगवान् जिनदेव ने कहा है।

आकाशमपि न ज्ञानं, आकाश भी ज्ञान नहीं है। जो शब्द को आकाश का धर्म मानता है और शब्द से विज्ञान मानता है और विज्ञान से सारे जगत् की अवस्था मानता है, ऐसा दर्शन का जो सिद्धांत है, वह भी विपरीत है।

ज्ञान आत्मा का गुण है, जड़ शब्द का गुण नहीं है। आकाश अमूर्तिक है, वह शब्दभूत नहीं है। शब्द आकाशभूत भी नहीं है। अद्वैत दर्शन भारत में एक नहीं, अनेक हुए हैं। चित्त अद्वैत, शब्द अद्वैत, शून्य अद्वैत, विज्ञान अद्वैत, ब्रह्म अद्वैत, वर्ण अद्वैत यानि ऐसे–ऐसे लोक में चिंतन हुए हैं, जिन्होंने एक विषय को पकड़ा, उसी के चिंतन में लगे रहे और चिंतन में जाते–जाते इतने गहरे उतर गए कि पोथी लिख गए लोग, समझ नहीं पाए। चिंतन में जा रहा था, वस्तु वैसी नहीं थी। जब भी तुम चिंतन में उतरो, तो तुरंत लिखकर मत चले जाना, दोबारा उसे पढ़ने का प्रयास करना। यदि मेरा चिंतन एक विषय पर एकाकी हो गया है, तो मेरे ज्ञान के बाद ये पंथ बन जाएगा। पंथ बन जाएगा तो अनेक प्रकार के जीव इस पंथ के गड्ढे में पड़ करके अपने सत्यार्थ पथ को भूल जाएँगे। बोलना भिन्न विषय है, लिखना भिन्न विषय है।

ज्ञानी! जितने प्रमाणित तुम हो चुके हो, उतना तुम्हारे एक–एक शब्द प्रमाणीयभूत निकलना

चाहिए। एक शब्द भी इधर से उधर हो गया तो अनंतों की आस्थाएँ जो तुम पर टिकी हुई थीं वे आस्थाएँ विपरीत हो गईं तो उनका मोक्षमार्ग विपरीत हो जाएगा। गणधर की गद्दी पर बैठ करके आगम सामने रखकर आगम का ही विस्तार करें, अपने मन की बात उसमें समाविष्ट न करें। ज्ञानियो! **'धम्मो दया विसुद्धो'** जो सूत्र है, उस पर ध्यान रखते हुए सभी कार्य करना चाहिए।

आचार्य भगवन् कह रहे हैं जो काल है, वो ज्ञान नहीं है, उसमें ज्ञान नहीं है, इसलिए काल को दोष मत देना। ज्ञानी! अपने ज्ञान का विपर्यास रोक लो। कौन किसको दोष देता है। **कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित्'** काल कुछ भी नहीं जानता, इसलिए काल अन्य है, ज्ञान अन्य है, ऐसा जिनदेव ने कहा है। आकाश भी कुछ नहीं जानता। आकाश में ज्ञान नहीं है, ज्ञान में आकाश नहीं है। आकाश अज्ञानमयी है। आकाश का ज्ञान से कोई संबंध नहीं है, ऐसा जिनदेव ने कहा है।

अध्यवसाय भी ज्ञान नहीं है। अध्यवसाय अचेतन है, इसलिए अध्यवसाय से ज्ञान अन्य है, अध्यवसाय ज्ञान से अन्य है, ऐसा समझना।

जो जानता है, वो नित्य है, वो कौन है? वो जीव है, वही ज्ञायक है, वही ज्ञानी है। ज्ञान ज्ञायक से अभिन्न है। ज्ञान ज्ञायक से भिन्न नहीं है। ये काल, आकाश आदि जो हैं ये सब ज्ञान से व्यतिरेक हैं। ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि है। समीचीन दृष्टि में ले जाएगा तो ज्ञान ही ले जाएगा और यथार्थ मानना, ज्ञान ही संयम है।

लोग इस गाथा का विपर्यास कैसे कर लेते हैं? आचार्यभगवन् ने कह दिया 'ज्ञान ही संयम है।' जो जितने अविरत सम्यग्दृष्टि असंयम या मिथ्यात्व गुणस्थान में हैं, उन्होंने शास्त्र पढ़ लिए और हमारा भइया तो महाज्ञानी जीव है, वो कहता है महाराज! देखो समयसार जी में लिखा है 'ज्ञान संयम है।' इसलिए हम संयमी हैं। नहीं, भइया! ये व्याख्या नहीं है इसकी। और बताऊँ? ज्ञान ही तो संयम है, इसलिए मेरे अंदर असंयम है, वहाँ पर्याय में असंयम है। मेरे ज्ञान–गुण में तो संयम है। ज्ञानी! ये समयदेशना इसलिए नहीं चल रही कि तुम विपरीत समझ लो। ऐसा अभिप्राय कुन्दकुन्द भगवंत का नहीं है। ज्ञान संयम की समीचीनता तो सुन लो। **जब भी ये जीव व्रतों में प्रवेश करेगा, तो ज्ञान से ही करेगा और अव्रतों में प्रवेश करेगा, तो ज्ञान ही करेगा।** अव्रतों से ज्ञान को रोक लेना, व्रतों को ज्ञान में लगा लेना, यही ज्ञान संयम है।

पाँच इंद्रियों का विषयसेवन करेगा जीव, तो बुद्धिपूर्वक करेगा, ज्ञान को ले जाएगा और उससे विमुख होगा तो किससे होगा? ज्ञान से होगा। ज्ञान जो है, पर्याय में भी संयम को प्रकट

कराएगा, भावों में भी संयम को प्रकट कराएगा। **भावसंयम भी होगा तो ज्ञान की सत्ता में होगा, द्रव्यसंयम भी होगा तो ज्ञान की सत्ता में होगा। ऊपरी–ऊपरी संयम धारण करेगा, द्रव्यसंयम भी धारण करेगा, तब भी ज्ञान की सत्ता में धारण करेगा।** क्यों? ऊपरी संयम द्रव्य मात्र से धारण किया है तो मात्र मायाकषाय ज्ञान के साथ होगी कि नहीं? बिना ज्ञान के कोई कषाय नहीं चलती। पर जो कषाय के साथ ज्ञान होता है, उसको आगम ने मिथ्याज्ञान कहा है।

आपको लगेगा कि महाराजजी ने आज मेरा नाम क्यों नहीं लिया? जो अपरिचित होकर पीछे से सुन रहा था, वह तो प्रवचन में से तत्त्व लेकर गया है और जो परिचित होकर सुन रहा था, वह साथ में हल्का–सा मान भाव भी लेकर आया है कि महाराजजी मेरा नाम जानते हैं। मैं परिचित हूँ, मेरा सम्मान होता है तो वहाँ दूसरे का अपमान हो जाता है। उसमें आता है आनंद। यहाँ बंध भाव पर जीव की कोई दृष्टि नहीं है। निर्जरा भाव पर कोई दृष्टि नहीं है। धर्म की जन्मघूटी में ही बंध, निर्जरा, मोक्ष तत्त्व की व्याख्या भर देना चाहिए। जैसे माँ जन्मघूटी पिलाती है जन्म से, वैसे–ही कोई धर्म में प्रवेश करे तो उसको ये समझाकर रखना कि बेटा! ये मोक्षमार्ग है, ये धर्ममार्ग है, इसमें निर्जरा स्थान भी विशाल है और बंध स्थान भी विशाल है। होलसेल दुकान का काम है। इस क्षेत्र में विशुद्धि आ गई तो कर्मों की विशाल निर्जरा हो जाएगी और किञ्चित् कर्म का बंध अन्य स्थानों पर नहीं हुआ था, वह यहाँ पर करके तू चला जाएगा। एक–एक क्षण नहीं, एक–एक समय सावधानी रखो। क्षायोपशमिक ज्ञान पर अपने आपको पूर्ण ज्ञाता मत स्वीकार लेना। यदि कोई आपको सम्यक् बात बताए तो शांति से सुनने की भी क्षमता रखना। ज्ञानी होने पर भी ये कभी नहीं कहता है कि मैं तो सर्व शास्त्रों को जानता हूँ।

भैया! सम्प्रति जितने भी शास्त्र दिगम्बरों के पास है, वे अंशमात्र हैं। जब ग्रंथकर्त्ता स्वयं कह रहा है कि मैंने अंश मात्र जानकर लिखा है, उन अंश मात्र ग्रंथों को पढ़कर तुम अपने आपको पूर्ण ज्ञाता कैसे कह सकते हो? बड़े–बड़े महान् आचार्य तो ये कह रहे हैं कि मैं तो तनिक से सूत्र का धारण करने वाला हूँ। मैंने जो ग्रंथ लिखा है, इसमें कहीं कोई कमी दिख जाए तो इसको शोधन कर लें। रहस्य है। इसका मतलब ये नहीं कि सभी शोधन करने लग जाएँ। पर वो ही जो पूर्ण ज्ञाता हो और जो ज्ञाता नहीं है, वे तो ज्यों–का–त्यों ही रहने दें। ये कलियुग है, पञ्चमकाल, नहीं–तो एक सज्जन मुझे मिले थे। वे कह रहे थे कि अब तो आगमग्रंथों में शोधन की आवश्यकता है। मैंने कहा मित्र! आपको लिखना हो तो नवीन लिख लेना, परंतु हमारे मूल ग्रंथों में शोधन करने की अनधिकृत चेष्टा मत करना। वे सज्जन आलू खाने का प्रमाण पत्र दे रहे थे। आलू खाना चाहिए

सबको। कोई दोष नहीं है। वीतरागी श्रमणों ने तो ये लिखा है कि–

एक निगोदिया शरीर में इतने जीव हैं, जितने अतीतकाल में सिद्ध हो चुके हैं। एक अंश मात्र में उतने जीव हैं, फिर आप कैसे कह रहे हो कि इनका सेवन कर सकते हैं? इसलिए भैया! मेरे पास जितना आगम सुरक्षित है, मेरा वही सर्वस्व है। अगली चौबीसी जब पुन: आएगी तो पुन: उनकी वाणी खिरेगी तब हम द्वादशांग के दर्शन कर लेंगे, पर जब–तक द्वादशांग का अंश हमारे पास है, उस पर ही श्रद्धा रखना, शेष संकलित द्वादशांगों को प्रमाणभूत स्वीकार नहीं करना। **जिसमें मिश्रण है, उसकी सभा में कभी प्रशंसा भी नहीं करना।** आप तो ज्ञानी हो, समझ सकते हो कि क्या मिश्रण है। पर आपकी प्रशंसा सुनकर दूसरा भी पढ़ने बैठ जाएगा तो वह मिश्रण की भी प्रशंसा करना प्रारंभ कर देगा तो उसके सम्यक् में दोष लगना प्रारंभ हो जाएगा। ५० क्या, ९९ बातें भी सत्य लिखी हों और एक बात असत्य है, तो वे ९९ बातें भी जैसे शुद्ध दुग्ध में जहर की एक कणिका मृत्यु का कारण है, वैसे–ही बहुत–सी सम्यक् बातें एक असम्यक् बात में सम्मिलित हैं तो सम्यक् रूपी प्राण के घात करने में परिपूर्ण सहकारी है। **देह प्राणों का वियोग होने में देर लग सकती है, पर सम्यक् श्रद्धान के प्राणों का वियोग होने में देर नहीं लगती।** एक मुहूर्त में ग्यारहवें गुणस्थान पर चढ़ा जीव प्रथम गुणस्थान पर आ सकता है। आचार्यों ने ग्रंथ में लिख दिया है कि गर्भणी माँ गर्भस्थ शिशु की रक्षा करती है, ऐसे–ही हे साधको! अपने गर्भस्थ परिणामों की रक्षा करो। माँ को कितना विकल्प रहता है कि यदि मेरा गर्भ बिगड़ गया तो मेरा कुल का दीप नहीं जल पाएगा। माँ को गर्भ नहीं दिखता, गर्व दिखता है कि मेरा बेटा होगा, मेरा वंश चलेगा, परंपराएँ चलेंगी। उसको तो एक मुहूर्त की साधना में सिद्धशिला दृष्टिगोचर होती है कि मैं सिद्धशिला का तिलक बनकर बैठूँगा। वहाँ भावों को सँभालने की आवश्यकता है। किंचित् भी विषमता आने पर चेहरे की नसें, रेखाएँ खिंचने लग गईं। ज्ञानी! रेखाओं को खिंचने में विलंब हो सकता है, पर रेखाओं के खिंचने के जो परिणाम थे उनके होते–होते ही वहाँ कर्मों की रेखाएँ खिंच रही हैं।

अपने चर्म के प्रभाव के लिए योगीश्वरों ने कुछ भी नहीं किया। ये ध्रुव सत्य है कि जो धर्म धर्म के लिए करेगा उसका यश फैलेगा ही। तेल को आवश्यकता नहीं, एक बूँद पानी में पड़ेगी तो अपने आप विशाल हो जाएगी। **अपने यश के लिए कुछ भी नहीं करना चाहिए, इतना मात्र करना कि अपयश के लिए कुछ नहीं करना।** 'अकर्तृत्व स्वरूपोऽहम्'। अकर्तृत्व स्वरूप में जो लवलीन हो जाएगा, उसके यश को कोई रोकने वाला नहीं है। सर्वाधिक यश:कीर्ति

कर्म का उदय होता है छटवें गुणस्थान में, तेरहवें में तो होता ही है। बताइये इनको कौन जानता था कि ये अमुक सागर हैं। अपने घर में बैठे होते तो कौन जान रहा था? **दीक्षा लेते ही संयमी की कीर्ति बढ़ जाती है।** कर्म को दोष मत देना, कर्म तुम्हारे लिए न ज्ञाता है, न कर्ता है, न हर्ता है, न रक्षक है। मेरा ज्ञायक भाव ही मेरा ज्ञाता है। वही ज्ञान–दर्शनभूत है, वही चारित्र–भूत और अनंतसुखभूत है। ये सारी अनुभूतियाँ ज्ञान में हैं। परमभाव–ग्राहक–द्रव्यार्थिक दृष्टि से अनेक स्वभावों के मध्य में ज्ञानस्वभाव ही परमस्वभाव है। धर्म–अधर्म आदि भी मेरे ज्ञान नहीं हैं, वे भी मेरे अज्ञान के कारण नहीं हैं और वे मेरे ज्ञान के कारण तो हैं ही नहीं।

यहाँ पर आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि धर्म जो है, वह ज्ञान नहीं है। वह जड़भूत है, क्योंकि धर्म किञ्चित् भी जानता नहीं है। जिसके माध्यम से जीव व पुद्गल गमन में सहकारी होता है, वह धर्मद्रव्य है, उदासीन निमित्त है। उदासीन निमित्त होने पर भी आपके लिए ज्ञान उत्पन्न करनेवाला नहीं है। न स्वयं ज्ञानी है, न किसी को ज्ञान उत्पन्न कराता है, क्योंकि वह स्वयं में अज्ञानी है। ऐसा जिनदेव ने कहा है। जब धर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है, तो अधर्म द्रव्य ज्ञान कैसे हो सकता है? अधर्म द्रव्य कुछ भी जानता नहीं है। जैसे धर्म नहीं जानता, वैसे अधर्म भी नहीं जानता। अधर्म द्रव्य अन्य है और ज्ञान अन्य है। ऐसा जिनदेव ने कहा है– काल भी ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि काल किञ्चित् भी किसी को जानता नहीं है। ज्ञान अन्य है और काल अन्य है, ऐसा जिनदेव ने कहा है। आकाश भी ज्ञान नहीं है।

यह चिद्रूप परमपारिणामिक भाव से युक्त भगवान्–आत्मा निजज्ञायक स्वभावी मात्र है। निज 'ज्ञायकस्वभावी है' इस शब्द से भी काम चल सकता था, फिर 'मात्र' शब्द का प्रयोग क्यों किया? मात्र निज ज्ञायकस्वभावी है, इसमें कुछ रहस्य है। लोक में आत्मा को ज्ञायकस्वभावी कहनेवाले बहुत हैं, पर मात्र निजज्ञायकस्वभावी कहनेवाले बहुत कम हैं। तो क्या आत्मा पर को नहीं जानता? दार्शनिक ग्रंथ में तो स्व–पर प्रकाशी कहा है ज्ञान को, प्रदीपवत् कहा है ज्ञान को, तो आप यहाँ निज ज्ञायकस्वभावी कहकर क्या कहना चाहते हो? जो सिद्धांत की दार्शनिक पक्ष की धारा है उसे ही बोलना चाहिए, आप यहाँ अलग से क्यों कह रहे हो कि स्व–पर प्रकाशी है।

ये सिद्धांत दर्शनपक्ष से पूर्ण सत्य है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी सिद्धांत से हटकर बात नहीं कर रहे। वे जिस दृष्टि से बात कर रहे हैं, उस दृष्टि को समझने के लिए आपको पुरुषार्थ करना चाहिए। कुंभकार भी घट को बनाता है और मिट्टी भी घट को बनाती है। इन दोनों में कौन ऐसा है जो घट को नहीं बनाता? ज्ञानी! मिट्टी घट बनाती है तन्मयीभूत होकर और कुंभकार घट बनाता

है अतन्मयीभूत होकर। कुंभकार घटरूप परिणत होकर नहीं बनाता। यदि घटरूप परिणत होकर बनाएगा तो कुंभकार घट हो जाएगा और वह अचेतन हो जाएगा। मिट्टी तन्मयीभूत होकर घट बना रही है, वह स्वयं घटरूप परिणत होती है। जब हम आत्मा को स्व–पर प्रकाशी ज्ञायक–स्वभावी कहते हैं, तब यहाँ तन्मय अतन्मय के विकल्प को गौण करके एकीभूत कथन कर देते हैं। जैसा मैं अपने आपको जानता हूँ, वैसा मुझे केवली भी नहीं जानते हैं। मैं जीवद्रव्य हूँ, यह सीमंधर स्वामी के कैवल्य में झलक रहा होगा। वाचना चल रही है, ये भी झलक रहा होगा। वाचना का वेदन, ज्ञान जैसा मैं ले रहा हूँ, ऐसा वहाँ केवली भी नहीं जान रहा है। आप कहो कि स्वामी! अनंत गुण पर्यायों से युक्त चराचर के द्रव्य केवली के कैवल्य में युगपत् झलकते हैं, तब भी आप कह रहे हो कि वे मुझे नहीं जानेंगे? तो क्या आप केवली के ज्ञान पर प्रश्नचिह्न खड़ा कर रहे हो? ज्ञानी! यही तो अध्यात्म का आनंद है। नहीं, भैया! केवली के ज्ञान पर कोई प्रश्न नहीं है। **'यः सर्वाणि चराचराणि'** वे तो चराचर द्रव्यों को जानते हैं, देखते हैं, स्यात्।

कुन्दकुन्द के भावों को समझने के लिए बहुत स्थिरता चाहिए और जो नहीं समझ सका, वह विचलित हो गया। केवली मुझे नहीं जान पा रहे हैं। ज्ञायकस्वभावी रूप में तो जान रहे हैं, पर निज ज्ञायकस्वभाव में मुझे नहीं जान पा रहे हैं। जैसे मिट्टी कुंभरूप परिणत होती है, वैसे कुंभकार परिणत नहीं होता। ऐसे–ही जो केवली के ज्ञान में जगत् के ज्ञेय झलक रहे हैं, वे ज्ञान में झलक तो रहे हैं, निज ज्ञान से जान तो रहे हैं, पर जैसे तन्मयीभूत निजज्ञान को निज ज्ञान में जानते हैं, वैसे जगत् के अन्य ज्ञेयों को निज ज्ञान में नहीं जानते हैं। मैं कैसा हूँ, ये उनके ज्ञान में झलक रहा है, लेकिन मेरी अनुभूति मेरे में कैसी हो रही है? तन्मयीभूत। ये मैं ही जानता हूँ, उसे केवली भी नहीं जानते हैं। ये मेरा हाथ है, इसमें कितनी रेखाएँ हैं, ये भी आप देख सकते हो। इसकी आकृति और रंग को भी देख सकते हो। इसका परिपूर्ण व्याख्यान भी कर सकते हो; परंतु इसमें जब सुई चुभोई जाएगी, उसका वेदन कैसा हो रहा है, उस वेदना का व्याख्यान भी कर सकते हो, लेकिन वेदना का अनुभव नहीं कर सकते हो। यदि केवली भगवान् स्वस्वभाव को तन्मयीभूत होकर जानते हैं, ऐसा परद्रव्यों को भी जानने लग गए, तो उनको दु:खी होना पड़ेगा, क्योंकि जगत् के जीव दु:खमय जीवन जी रहे हैं और उनकी वेदना भी उनको प्रारंभ हो जाएगी। ईश्वर को कर्त्ता कहने वाला कहता है कि जगत् का पत्ता–पत्ता ईश्वर की कृपा से हिलता है, ईश्वर का ही अंश है। तब मेरा प्रश्न उनसे है कि यदि ऐसा है, 'खलु ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' अद्वैत धारा में चलता है, तो–फिर एक कषायी भी अंश है कि नहीं? और गाय ईश्वर का अंश है कि नहीं? ये ईश्वर कैसा

है? अपने ही द्वारा अपना घात क्यों कर रहा है? यदि आपका जिनदेव तन्मयीभूत होकर सारे जगत् को जानता है, तो जैसा वेदन मैं करूँगा वैसा वेदन उनको भी प्रारंभ हो जाएगा। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'नियमसार' जी में स्पष्ट लिखा है भगवान् सर्वज्ञ सर्वज्ञ हैं, स्यात्। सर्वज्ञ हैं कि आत्मज्ञ है स्यात्? यदि आप आत्मज्ञ कह रहे हो तो जो मैं कह रहा हूँ वह तो आपने मान ही लिया। जैसा केवली स्वयं को जान रहे हैं। वैसा केवली आपको नहीं जान रहे हैं। स्वयं को स्वानुभूति से अनुभव कर रहे हैं। आप तो उनके ज्ञान की निर्मलता से झलक रहे हो।

जैन विद्या को समझने के लिए तत्त्व का बहुत गहरा निर्णय चाहिए। भैया! मैं कैमरे में आ रहा हूँ कि नहीं? यदि मैं उसमें चला गया, तो या उसको चेतन होना पड़ेगा या फिर मुझे जड़ होना पड़ेगा। अब बताओ मैं उसमें आ रहा हूँ कि नहीं? हे ज्ञानी! मैं उसमें ऐसे–ही आ रहा हूँ जैसे मैं केवली के ज्ञान में आ रहा हूँ। कैमरा तो कैमरा है, मैं तो मैं हूँ। मैंने उसमें प्रवेश किया नहीं, उसने मेरे में प्रवेश किया नहीं। सत्यता ये है कि कैमरे के लेंस के परमाणु ही तद आकार उसमें परिणत हो रहे हैं। मैंने उसमें प्रवेश किञ्चित् भी नहीं किया है। कुन्दकुन्द स्वामी की दृष्टि से अमृतचंद्र स्वामी की दृष्टि में 'मुकुर मयूर वत्' जैसे मयूर दर्पण में झलकता है, लेकिन प्रवेश नहीं करता, ऐसे–ही ज्ञेय ज्ञान में झलकते हैं, प्रवेश नहीं करते हैं। जैसा मैं अपने को वेदन करके जानता हूँ वैसा मेरा वेदन केवली भगवान् में नहीं होता। मेरा वेदन मेरे में ही हो रहा है। इसे वे जानते हैं, लेकिन वेदन की अनुभूति जो है वह उनके अंदर नहीं है। अनुभूति को जानेंगे, पर अनुभूति करेंगे नहीं। केवली भगवान् एक दूसरे के कैवल्य में सब झलक रहा है, लेकिन अनुभूति एक–दूसरे की कोई नहीं ले रहा है।

केवली भगवान् संपूर्ण लोकालोक को जानते हैं, देखते हैं, लेकिन निज आत्मा को ही तन्मयीभूत होकर जानते हैं। जैसे प्रसूति कराने वाली नर्स को अनेक नारियों की प्रसूति कराने का अनुभव होता है, परंतु पीड़ा उसे एक भी प्रसूति की नहीं होती है। ऐसे–ही परज्ञेयों का ज्ञान तो अनेक प्रकार से हो सकता है, पर परज्ञेयों की अनुभूति परभूत नहीं होती है। जो भी परज्ञेय की अनुभूति होगी, वह निज ज्ञान की ही होगी, पर की नहीं होगी। ज्ञानी! जो मैं बोल रहा हूँ, आप सुन रहे हो। जो मैं बोल रहा हूँ वह आपका ज्ञान नहीं बन रहा है। तुम्हारे ज्ञान का परिणमन तुम्हारे भीतर चल रहा है, वह तुमको ज्ञान बन रहा है। भावश्रुत बन रहा है। २००० वर्ष पूर्व हमारे आचार्यों के पास अद्भुत रासायनिक विद्या थी। सूर्य ग्रहण, चंद्रग्रहण के समय अथवा इंद्रधनुष के समय जो प्रकाश की धारा बनती है, उलटा चित्र दिखाई देता है। किरणों का विकरण, पर वास्तव

में वे रंग क्या वहाँ पर हैं? तो क्या है ये? ये किरणों का परार्वतन है। ऐसे ही आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने, आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने यह कह दिया है कि मुकुर तो मुकुर है, मयूर तो मयूर है। अज्ञानी कहता है कि मयूर दर्पण में है। ऐसे–ही परज्ञेय तो परज्ञेय ही हैं। ज्ञाता तो ज्ञाता ही है। निज ज्ञायक भाव जो है, वह तन्मयभूत है, पर सामान्य ज्ञायक भाव तन्मय अतन्मय दोनों को ग्रहण करता है। **'निजानंद रसलीन' ये तन्मयभूत धारा है और 'सकलज्ञेय ज्ञायक' वह अतन्मयभूत धारा है।**

ज्ञानी हमारे कवि कविता भी लिखते थे तो आगम का बहुत ध्यान रखते थे। आज–जैसे थोड़े ही कि चले आना भैया मुझे ऐसी तुम्हारी भक्ति नहीं चाहिए कि बने–बनाए भगवान् को नीचे उतारो। 'छहढाला' की छटवीं ढाल देखो। जब स्वरूप की व्याख्या करते हैं, दौलतरामजी, तो कितने विवेक से लिखा है। जो आगम–अनुसार लेखन होता है, वही जीवंत रहता है। जिसका अध्ययन होगा, वह बचेगा। जिसका अध्ययन ही नहीं होगा, वह प्रकाशित होकर अलमारियों में रखा रहेगा, नष्ट हो जाएगा। इसलिए **वही कहो, वही लिखो, वही बोलो, जो आगम है।** वह गद्दियों पर विराजमान होगा, शेष विराजमान नहीं होगा।

भैया! जो परम पारिणामिक की व्याख्या की है वह तन्मयभूत होकर नहीं की गई है, वह अतन्मयभूत होकर की गई है। शब्द 'ज्ञान' नहीं है। ज्ञान भिन्न है, शब्द भिन्न है। कुन्दकुन्द देव ने कहा है ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ, ऐसा जिनदेव ने कहा है। १५ गाथाओं में एक भी गाथा ऐसी नहीं छोड़ी उन्होंने जिसमें न लिखा हो कि जिनदेव ने कहा। अब क्या कहा है? जो परमपारिणामिक भाव की व्याख्या मैंने की है, वह तो स्वरूप के लक्ष्य को लेकर तुमको समझाने के लिए कही गई है, परंतु ये व्याख्या स्वरूप नहीं है। तुम स्वरूप में लीन हो जाओगे, वही तन्मयीभूत स्वभाव है।

ग्रंथ समयसार 'समयसार' नहीं है, वह तो समयपाहुड है और जिसे नमस्कार किया है, वह ज्ञायकस्वभावी चैतन्य आत्मा ही समयसार है। मंगलाचरण में तो स्पष्ट कर दिया अमृतचंद्र स्वामी ने

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्व भावान्तरच्छिदे।।

कौनसे समयसार को नमस्कार किया? पौद्गलिक अक्षरों को नहीं। जो स्वानुभूति से प्रकाशमान है, जो चैतन्य स्वभाव–भाव है, वह संपूर्ण परभावों से भिन्न है। ऐसे समयसार को मेरा नमस्कार है। न अर्हंतों को, न सिद्धों को, न आचार्य–उपाध्याय–साधुओं को, किसी को नमस्कार नहीं किया

और किसी को छोड़ा भी नहीं है।

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहू पञ्चपरमेष्ठी।
देवहि चिट्ठादि आदा तम्हा आदा मे शरणम्।।

अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये किस में उत्पन्न होते हैं? आत्मा में। इसलिए आत्मा ही मेरा सर्वभूत है। **'णाणं सम्मादिट्ठिं'** ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि है। विषय को समझाने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द देव ने ८४ पाहुड लिखे। अब कोई व्यक्ति एकांत पक्ष लेना चाहे तो वह पञ्चपरमेष्ठी की वंदना करना बंद कर देगा और ये सब आत्मा में हैं, लेकिन वे आत्मा में हैं कैसे? भैया! भूल कहाँ हो रही है? द्रव्य को जाना तो, पर पर्याय को प्रकट करना नहीं जाना। वहाँ तत्त्व की भूल चल रही है, तब आपकी व्याख्या अन्यभूत दिखाई देती है। जब परमेष्ठी आत्मा में है, तो मैं किस अर्हंत के पास जाऊँ, कहाँ सिद्ध को देखूँ? विधि क्या है?

ज्ञानी! जब तक चारों अनुयोगों पर तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं जाएगी, तब तक समयसार जी की प्राप्ति संभव नहीं है। भैया! वेदांत का अध्ययन मैंने किया और वेदांत में इतनी ही बात पकड़ में आयी है कि कहीं नोकर्म पर लक्ष्य नहीं गया, कहीं कर्म पर लक्ष्य नहीं गया। वस्तु की स्वतंत्रता का व्याख्यान करने के बाद भी, परिपूर्ण स्वतंत्रता की व्याख्या के बाद ईश्वर के हाथ में सौंप दिया। अंततोगत्वा जहाँ थे, वहीं भेज दिया। जैनदर्शन जो है, यह बंधन से पकड़ता है और निर्बंध होकर छोड़ देता है। अंत में सिद्ध, बंधन मुक्त सिद्ध।

भैया! ये जो व्याख्या यहाँ हो रही है, वह देश के कॉलेजों में होनी चाहिए यदि वस्तुस्वभाव को समझना है तो। आत्मा का क्रमिक विकास, क्रमिक उत्थान को जगत् में कोई बताने वाला दर्शन नहीं है, एकमात्र जैनदर्शन। यदि आप कहें कि मैं जैन मुनि हूँ, इसलिए ऐसा बोल रहा हूँ, नहीं। परिपूर्ण रूप से समझ में आ गया है कि सत्यता यही है, इसलिए मैं जैन मुनि बना हूँ, क्योंकि यहाँ किसी को सौंपा नहीं गया, पराधीन नहीं किया गया, स्वाधीनता पर आलम्बित है। श्रमण होने के पूर्व जीव भेदविज्ञान को प्राप्त करता है। भेदविज्ञान जो हुआ है, उसके पूर्व जाना किससे? ज्ञान से। किसको जाना? सच्चे देव शास्त्र गुरु को, सात तत्त्व को, नो पदार्थ को, छह द्रव्य को, पञ्चास्तिकाय आदि को जाना। अभी जाना ही है, पहिचाना नहीं है। मतिज्ञान से श्रुतज्ञान से जाना नहीं, ज्ञान से जाना। जानने के बाद पहचाना कि देव शास्त्र गुरु का यही सत्यस्वरूप है।

उपकारी की चर्चा यहाँ नहीं चल रही है। यहाँ परमार्थ की चर्चा चल रही है। भैया! एक कठोर शब्द कह दूँ? आप अन्यथा में मत जाना। आगम का निर्णय करना हो तो सुन लेना। **'श्रद्धा को**

तोड़े बिना सत्य को नहीं समझा जा सकता।' हम लोग बहुत सारी बातों में श्रद्धा के बल पर विपरीत निर्णय किए बैठे होते हैं। आप पहले श्रद्धा को हटा दीजिए, फिर तटस्थ होकर सत्य को खोजिये। गौतम स्वामी से पूछना, ये लोग सत्य क्यों नहीं समझ पा रहे हैं? क्योंकि श्रद्धा नहीं तोड़ पा रहे हैं। क्योंकि जब–जब भगवान् भी तुमको सत्य कहने आएँगे और तुम्हारी श्रद्धा कहीं अन्यत्र जुड़ी हुई है, तो आप भगवान् को पहिले नहीं पूछोगे। आप ये कहोगे कि मैं उनसे पूछकर आता हूँ और जब आप उनसे पूछने पहुँचे तो उन्होंने कह दिया– अरे भाई! कहाँ जाता है? सामने कि देख, कहाँ तू सर्वज्ञ की बात कर रहा है। भारत की भूमि पर ऐसे– ऐसे लोग हुए हैं जिनसे प्रश्न किया– स्वामी! वस्तुस्वरूप कैसा है? कहते हैं कि जानता ही नहीं तो बताऊँ क्या? उसका दर्शन चल गया। संजय विट्ठल का सिद्धांत ये था कि जानता नहीं तो बताऊँ क्या? एक दर्शन ये चला कि बहुत अच्छा, मैं आपके ईश्वर को नहीं मानता। कहता है कि बहुत अच्छा, जब बहुत अच्छा–बहुत अच्छा कहता गया, तो जो तर्कशास्त्री था, वह थक गया। वह कहता है कि भाई! आगे कुछ बोलेंगे भी? मैं ही अकेला बोल रहा हूँ, तुम तो बोले ही नहीं। बोला, बहुत अच्छा। फिर वह धीरे–से कहता है कि हे ईश्वर! बहुत अच्छा हुआ। आपने नास्तिक वादी ऐसा बनाया कि इसको भी आस्तिक होना पड़ जाएगा।

अपनी बात को छिपाने वाले लोक में अनेक लोग हुए हैं। एक नगर की घटना है। एक ने समाचार भेजा मेरे पास– महाराजजी! मैं आपकी अगवानी में नहीं आ पाऊँगा। मैंने कहा कि बहुत अच्छी बात है। अब जो श्रावक आया था, उसने ज्यों–की–त्यों बोल दी। उनने तो कोई हावभाव ही प्रकट नहीं किए। उनके चेहरे पर ऐसा भी नहीं दिख रहा था कि क्यों नहीं आएँगे।

यदि आनंदमय जीवन जीना है तो स्याद्वाद के प्रत्येक सूत्र का अनुभव करना पड़ेगा। आत्मा ही स्वानुभूति है, अवाच्य है, अवक्तव्य है। यदि मैं आपको सम्यक् भी उपदेश देता रहूँगा और यदि आपकी श्रद्धा किसी बब्बा पर लगी है, कोई देव पर लगी है, तो आपके भीतर एक बहुत बड़ी कमजोरी बैठी हुई है। क्या मालूम मैंने इनकी बात को स्वीकार कर लिया और मेरे बब्बा ने मुझे उलटा कर दिया तो क्या होगा? हे ज्ञानी! अब तू सत्य नहीं समझ पाएगा।

एक बार आचार्य महाराज विरागसागरजी क्लास लिए हुए थे और मैं दूर से देखने गया था कि कैसे महाराज हैं। 'छहढाला' पढ़ा रहे थे वे और मैं मंदिर के एक खम्बे से छिपकर उनकी क्लास सुनकर वापस चला गया। सुबलसागरजी महाराज के पिताजी ने देख लिया और धीरे–से बोले 'भैया! बहुत अच्छे महाराज हैं।' मैं तो वहाँ से चला आया और जो वो छहढाला पढ़ा रहे थे मैंने

घर में आकर पहली ढाल कंठस्थ कर ली। आठ दिन बाद फिर गया, तब तक वो बहुत आगे निकल चुके थे। मैं देखता ही रहा, उनसे बात नहीं की। बस, प्रवचन सुनकर अपन वापिस आ जाते। कुछ दिन उन्हीं दादाजी ने मेरा हाथ पकड़कर महाराजजी के पास बिठाल दिया और बोले– महाराजजी! यह लड़का बहुत वैरागी है, आप इसको ले जाओ। मैंने कहा ऐसे जाना पड़ता है। मैंने उनका उपकार माना व्यवहार से, पर मैंने देखा कि ज्ञानी साधु हैं, अच्छी वृत्ति है, अपना निर्वाह हो सकता है। कुछ दिन बाद मैंने उनके संघ में प्रवेश ले लिया। जो सज्जन मुझे आचार्यश्री के पास छोड़ गए थे, वे कुछ दिन बाद फिर आए, बोले, बेटा! तुमने गलत निर्णय कर लिया। ये विमलसागर के शिष्य हैं और बीसपंथी हैं। मैंने कहा– दादाजी! ये दोष मुझे नहीं, आपको है। जब आपको मालूम था तो आप मुझे लेकर गए क्यों? बात ऐसी है कि कुलवंती कन्या यदि है तो जिसके साथ सात फेरे हो गए अब वह चाहे कैसा भी हो, उसको छोड़कर नहीं जाना चाहिए। अब पंथ तुम देखो। मैंने तो गुरु एक बार चुन लिया है। रयणसार जी में लिखा है कि जैसे एक पति को छोड़कर भागने वाली स्त्री को जगत् में कोई ठिकाना नहीं होता, ऐसे–ही गुरु को बदलने वाले को कोई ठिकाना नहीं होता। 'पति भक्त विहीनो' पति की भक्ति से विहीन नारी की कोई दशा नहीं। ज्ञानी! दीक्षा–शिक्षा गुरु एक होता है, लेकिन ३ कम ९ कोटि मेरे गुरु हैं। मुझे क्या मालूम कि पंथ क्या होता है। अब मैं महाराजजी के पास गया– 'महाराज! ऐसी–ऐसी बात है।' मैंने उनसे कुछ नहीं छिपाया। मैंने कहा 'महाराज! हम तो आचार्य सुमितसागरजी महाराज से परिचित हैं।' उन्होंने कहा 'ज्ञानी! जो तू सोच रहा है, वह मेरे साथ भी हो चुका है। मैंने कहा, मतलब? बोले, मैंने आचार्य विमलसागरजी से बोल दिया है कि मैं दीक्षा अवश्य ले रहा हूँ, पर अभिषेक आदि के विषय में उलझूँगा नहीं। खुशी इस बात की है कि मैंने उनसे स्पष्ट बात कर ली। आप मेरे दीक्षा–शिक्षा गुरु हैं, पर मैं आपके पंथ में बंधकर नहीं रहूँगा और यदि बंध कर रहूँगा तो सत्य का निर्णय नहीं कर पाऊँगा, क्योंकि वहाँ वही करना होगा जो आप कहेंगे, लेकिन सत्य जो है वह विराट है, असीम है, परंतु केवली के ज्ञान में सबकुछ है। माना कि आप श्रद्धा से भरे हो और पढ़ने आए समयसार। भैया! मूँगफली बेचने वालों की भाषा सभी देशों में एक–सी मिलेगी। ऐसे–ही ज्ञानी! समयसार को समझने के लिए समयसार की ही भाषा होगी, इसमें मूँगफली बेचने वालों की भाषा नहीं आएगी। सर्राफे की दुकान पर लोग चिल्लाते नहीं मिलेंगे। मौन मिलेंगे। बात भी करेंगे तो थोड़ी–सी। समयसार को कोई भी कहेगा तो उसकी भाषा भेद–दृष्टि, अभेद दृष्टि, परमार्थ दृष्टिभूत ही होगी। अब उस भाषा को सुनकर किसी के मन में आ सकता है कि ये तो निश्चय की भाषा बोल रहे हैं। यदि

समयसार के पढ़ते समय इस ग्रंथ की भाषा का प्रयोग नहीं किया तो समयसार के साथ अन्याय हो जाएगा। बंधनों से आप परिपूर्ण मुक्त हो जाओ। श्रद्धा से तात्पर्य है कि जो विपरीत/मिथ्या श्रद्धा है, पहले उसे तोड़िये। कब? पहले जानो, पहचानो, फिर श्रद्धा को तोड़ो। जान भी लिया, पहचान भी लिया, लेकिन भेदविज्ञान बाद में है। मुमुक्षु जब जानेगा, पहचानेगा और प्रीति उत्पन्न करेगा, उसका नाम सम्यक्त्व होगा। इसलिए सर्वज्ञ बनने के लिए तत्त्वज्ञ होना अनिवार्य है। हम सर्वज्ञ को ही सर्वज्ञ नहीं मानते हैं। हम तत्त्वज्ञ से सर्वज्ञ बनाते हैं। लोगों ने क्या बोलना शुरू कर दिया? पण्डित टोडरमल ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में ऐसा लिखा है। कैसा तत्त्वज्ञान, तत्त्वनिर्णय, तत्त्वरुचि, सम्यक् ज्ञान? ये पण्डितजी साहब के शब्द नहीं हैं, आचार्य कुन्दकुन्द बोल रहे हैं।

ज्ञान तो ज्ञान है। ज्ञान परज्ञेयों में नहीं। श्रुत, जो भावरूप परिणत है, वही चैतन्यभूत है। द्रव्यश्रुत जड़भूत है। जो अचेतन श्रुत है, वह ज्ञानभूत नहीं है। जो चेतन भाव है, वही ज्ञान श्रुत है। इस विषय को आदि करके आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने १५ गाथाओं में वर्णन किया, उसीका विस्तार आचार्य जयसेन स्वामी ने तात्पर्यवृत्ति टीका में किया है। उसका विस्तृत वर्णन आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने आत्मख्याति टीका में किया है। आत्मख्याति टीका में जो विषय है, वह प्रौढ़ है। जब उस विषय पर लोगों को अपनी समझ न्यून दिखती है तब जयसेन स्वामी की टीका का अवलोकन करते हैं। आचार्य जयसेन स्वामी ने प्रत्येक विषय को गुणस्थान शैली से समझाया है। ४०४ नं. की गाथा में संयम आदि का वर्णन है। व्याख्याकारों ने व्यवहार संयम को राग कहकरके असंयम में रख दिया है। यदि असंयम व्यवहार संयम है तो पुनः प्रश्न करो, बिना व्यवहार संयम के क्या समयसार जी का संयम उद्घाटित होगा? जिस संयम की व्याख्या समयसार जी में है, वह संयम 'मूलाचार' के संयम को धारण करने वाले जीव के अंदर ही प्रवेश करेगा और जिसके पास 'मूलाचार' का संयम नहीं है, वह जीव 'समयसार' के संयम में किञ्चित् भी त्रैकालिक समर्थवान नहीं है।

दया करुणा आदि को राग कहकर असंयम में डालना, हिंसा में डालना, ये तो लोकाचार के भी विरुद्ध हो जाएगा। इसलिए व्याख्यान के काल में इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि यदि आप आधार को छोड़कर आधेय की बात करोगे तो किसी की समझ में आने वाली नहीं है। कारण को छोड़कर कार्य की बात करोगे तो कारण कार्य तो नहीं होता है, लेकिन कारण के अभाव में भी कार्य नहीं होता। स्यात् बहिरंग कारण कार्य नहीं होता, पर अंतरंग जो कारण है वही कार्यरूप परिणत होता है। कारण–कार्य व्यवस्था एक में लगाओगे तो कारण ही

कार्यरूप परिणत होगा और कारण–कार्य व्यवस्था भिन्न द्रव्य में लगाओगे तो कारण भिन्न रहेगा और कार्य भिन्न रहेगा। कार्य होने के पूर्व अभिन्न कारण कार्य भी रहता है और भिन्न कारण कार्य भी रहता है। भिन्न कारण कार्य जो होगा, वह द्रव्य क्षेत्र कालादि भाव ये सब भिन्न कारण–कार्यादि व्यवस्था है। इसको 'स्वरूप संबोधन' ग्रंथ में भट्ट अकलंक स्वामी ने बहुत अच्छे से समझाया है।

तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारम्।
यद् बाह्यं देशकालादिः तपश्च बहिरङ्गकम्।।

सर्वथा कोई यह कहने लगे कि आत्मा स्वत: ही मुक्ति को प्राप्त होती है, तो उनके लिए समझाया है अकलंक स्वामी ने कि नहीं, 'तदेतन्मूलहेतो:स्यात्।' इस श्लोक को लिखने के पूर्व वे २ श्लोक और लिख चुके हैं। उन दोनों श्लोकों में उन्होंने उपादान की प्रधानता से कथन किया और उपादान की दृष्टि में कहा और मोक्षमार्ग के कारण–कार्य की व्यवस्था अंतरंग की।

कर्त्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु।

अपन जो आज अमृतचंद्र स्वामी की टीका समझ रहे हैं, उसके पहले इस विषय को जानना बहुत आवश्यक है। यह जीव कर्मों का कर्त्ता और उनके फलों का भोक्ता स्वयं ही है और 'बहिरन्तरूपायाभ्यां' इस शब्द को पकड़ना चाहिए। हो क्या रहा है? समयसारजी की व्याख्या करने वाले अपरवर्ती लोगों ने एक लक्ष्य बनाया और अपनी अव्रत धारा में (असंयम धारा में) सर्वस्य की मान्यता प्रारंभ हो गई, वहाँ द्रव्यसंयम को खो दिया और द्रव्यसंयम के अभाव में किञ्चित् भी भावसंयम प्रकट नहीं होता। यहाँ जो प्रधानता दे रहे हैं, आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी, वे कह रहे हैं कि हे जीव! यह द्रव्य–लिंग तो देहाश्रित है। क्या इस पौद्गलिक द्रव्यसंयम से मोक्ष होगा? बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। ये किनसे कह रहे हैं? जो द्रव्यसंयम को प्राप्त कर चुके हैं। ये तो देहाश्रित धारा है। इससे आप मोक्ष मान रहे हो, ये मोक्ष नहीं दिलायेगा। आप निज के ज्ञान को ज्ञान में संकल्प–विकल्प की धाराओं से शून्य होकर स्थिर करो। यही संयम है। अकलंक स्वामी क्या कह रहे हैं? हे जीव! पहले कर्त्ता–भोक्ता तो समझना पड़ेगा। जब कर्त्ता–भोक्ता के भाव को समझा, तभी तो कर्तृत्व–भोक्तृत्व से भिन्न होने के लिए, संसारातीत होने के लिए संयम धारण कर रहे हैं। ये जीव कर्मों का कर्त्ता और उनके फलों का भोक्ता स्वयं ही है। अंतरंग–बहिरंग उपायों से यदि मुक्त होगा तो स्वयं ही होगा। अंतरंग उपाय निश्चय रत्नत्रय धर्म होगा और बहिरंग उपाय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिक होंगे। क्यों? क्या इस पञ्चम काल का जीव सिद्धालय जा सकता है? नहीं। क्यों? क्या सिद्धत्व शक्ति नहीं है? छटवें–सातवें गुणस्थान से ऊपर जाने की योग्यता क्यों नहीं

है? इस काल में इसका निषेध क्यों कर दिया? क्योंकि जिस काल में वज्रवृषभनाराच संहनन होता है, वह काल पंचम नहीं है और जिस संहनन से उत्तम ध्यान होता है, वह संहनन नहीं है। आप कहो कि विदेह में तो हो रहा है मोक्ष। हाँ, विदेह में हो रहा है मोक्ष। वहाँ सुक्षेत्र चल रहा है, परंतु भरतक्षेत्र अभी सुक्षेत्र भूत नहीं है। पञ्चमकाल में जब चतुर्थ काल आएगा तो मोक्ष जाने के लिए वही भरत क्षेत्र सुक्षेत्र हो जाएगा। तेषां मुक्तत्वमेव हि, उनसे मुक्त भी होगा तो–ही होएगा।

'सद्दृष्टि–ज्ञान–चारित्रमुपायः स्वात्म लब्धये'

स्वात्मोपलब्धि का कोई उपाय है तो सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र है और जहाँ सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र नहीं है, वहाँ स्वात्मोपलब्धि का उपाय ही नहीं है, वहाँ स्वात्मोपलब्धि कैसे? सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र में मोक्षमार्ग का उपाय है। प्रत्येक आचार्यों की कारिका में कुन्दकुन्द की कारिका झलकती है। 'मग्गो मग्ग फलंतिय' मार्ग और मार्ग का फल। रत्नत्रय मार्ग है और मोक्ष उसका फल है। मोक्ष का उपाय रत्नत्रय धर्म है। इसलिए इन सबकी अच्छे से आलोचना करनी चाहिए। आलोचना का तात्पर्य अच्छे से विचार करना चाहिए। यदि आप व्यवहार संयम को दया आदि कहकरके, समिति आदि कहकरके, राग मात्र में डालते हो या राग शब्द मात्र कहकर के इसको आप यदि असंयम भाव स्वीकार करते हो तो आपके पास सम्यक्–दर्शन ही नहीं है। क्यों? क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान युगपत् होते हैं और जिसका ज्ञान ही सम्यक् नहीं दिखाई दे रहा है, उसके सम्यग्दर्शन की पहचान मैं कैसे करूँ? भैया! हम तुम्हारे सम्यक् को तो नहीं समझ पा रहे हैं, पर तुम्हारे ज्ञान को स्थूल द्रव्य आगम से तो जानेंगे। व्यवहार ज्ञान को तो जानेंगे। **जिसका व्यवहार ज्ञान ही विपरीत है, उसके पास न सम्यग्दर्शन है न सम्यग्ज्ञान है, न सम्यक् चारित्र है।** 'यथावद्– वस्तुनिर्णीतिः'। वस्तु जैसी है, उसका वैसा निर्णय करना, 'सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्' वह सम्यग्ज्ञान दीपक के समान है। स्व–परप्रकाशी। जो जिस विद्या का ज्ञाता होगा, उसके अंदर वही झलकता है। स्वयं का प्रकाश कर रहा है, पर का भी प्रकाश करता है। स्व–परग्राही जो है, वह ज्ञान है। 'दर्शन–ज्ञान पर्यायेषूत्तरोत्तर भाविषु।' दर्शन–ज्ञान की पर्यायों को जो उत्तरोत्तर आगे–आगे भावित करते हैं, वह क्या है। चारित्र का विषय पकड़ना। अब आप कह सकते हो कि व्रत समिति गुप्ति की बात ही नहीं कर रहे हैं अकलंक स्वामी। ज्ञानी! जो कह रहे हैं कि दर्शन–ज्ञान की पर्यायों को उत्तरोत्तर भावित करते हुए 'स्थिरमालम्बनं' अब जो स्थिरता का आलम्बन ले रहे हैं, दर्शन–ज्ञान की जो स्थिरता है, वही मध्यस्थ भाव है। व्यवहार सम्यक् भी समझ लेना, निश्चय सम्यक् भी समझ लेना व्यवहारभूत निश्चय श्रुत भी समझ लेना।

कुन्दकुन्द स्वामी जब ये कहें कि ये बाह्य व्रत, बाह्य श्रुत, बाह्य श्रद्धान के विषय आपके भूतार्थ मोक्षमार्ग नहीं हैं, तब हे जीव! आपके हाथ में पिच्छी, कमण्डलु और आपका दिगम्बर भेष और आप जिनवाणी की वंदना कर रहे हो, अर्हंत की वंदना, गुरु की भी वंदना कर रहे हो, ये सबकुछ व्रत समिति गुप्ति व्यवहार से पालन करते हुए दिखाई दे रहे हो, पर अभी व्यवहार से भी आप चारित्रवान हो, ये नियत नहीं है। क्यों?

'माध्यस्थ्यं सुखदुःखयो।' अभी तो व्यवहार संयम की बात सुनिये, फिर निश्चय की करते हैं। इन सबके होने पर भी हे जीव! तेरा यदि सुख–दुःख में हर्ष–विषाद चल रहा है। ये मुझे मानने वाले भक्तगण हैं, ये मुझे नहीं मानते हैं, ये मेरी आम्नाय के लोग हैं, ये नहीं हैं। स्वामी! अभी आपके अंतस्थ में माध्यस्थ भाव ने स्थान नहीं पाया। **मुनिधर्म इतना ढीला नहीं है, जितना आप लोग मान रहे हो। शरीर पर वसूले चल रहे हों, शरीर पर कालिया नाग डाल दिया हो, लोहे के तप्त आभूषण पहिना दिए हों, तब भी दोनों को साम्यभाव से देख रहे हैं। चेलिनी भी नमस्कार कर रही है, श्रेणिक भी खड़ा हुआ है। एक उपसर्गकर्त्ता है, एक उपसर्गहर्त्ता है, लेकिन आशीर्वाद देने वाला दोनों को बराबर दे रहा है।** श्रावक के अंदर भाव आ सकता है कि ये मेरे महाराज हैं, ये उनके महाराज हैं; लेकिन महाराज के मन में नहीं आना चाहिए कि ये मेरा श्रावक है, ये उनका श्रावक है। श्रावक के मन में भाव आ सकता है, क्षयोपशम सम्यक्त्व है, पर आप कहो कि महाराज आपका भी तो क्षयोपशम सम्यक्त्व है? उपशम और क्षयोपशम, दो ही तो होते हैं पञ्चम् काल में, लेकिन अंतर इतना है कि स्वामी! आपके साथ संयम भी है। उसकी क्या महिमा होगी। धन्य हैं वे धरती के देवता, दिगम्बर तपोधन। 'धन्य दशा निर्ग्रंथों की' यहाँ कहना। अब न शीत मौसम पर विकल्प है, न ग्रीष्म मौसम पर विकल्प है, न बारिश में विकल्प है, न धूप में विकल्प है। 'मुनि मन' माध्यस्थ जो है, वह स्वरूपलीनता है, आत्मस्थ है। माध्यस्थ है, लेकिन उस माध्यस्थ के अंदर प्रवेश करने के पूर्व आपको बुद्धिपूर्वक सुख–दुःख में साम्यभाव रखना पड़ेगा, नहीं–तो हमारे इन गुरुभक्तों ने अंधकूप–जैसी व्यवस्था बना ली है, जब–जब तत्त्व की व्याख्या हो तो धीरे–से कह देते हैं कि ये तो शुद्धोपयोग में लीन होंगे, तब की व्यवस्था है। ये आपने बहुत बड़ी भूल पकड़ कर रख ली है। ऐसा कहकर टालते जाओ, कभी शुद्धोपयोग में जाना मत। अपने में ही संतुष्ट होते जाओ। मित्र! शुद्धोपयोग की जो दशा है, उसके अंदर प्रवेश करने के पूर्व तुम्हारा शुभोपयोग कितना गहनतम् प्रशस्त होगा। दुनियाँ के पक्षों से विकल्पों से प्रपंचों से परे होंगे आप, इसलिए योगेंद्रदेव स्वामी ने कहा है–

प्रपञ्च–रहितं शास्त्रं, प्रपञ्च–रहितो गुरुः
प्रपञ्च–रहितो मोक्षो दृश्यते जिनशासने।

जिनशासन में देखा जाता है प्रपञ्च से रहित शास्त्र, प्रपञ्च से रहित गुरु और प्रपञ्च से रहित मोक्ष। जितने साम्प्रदायिक विकल्प खड़े हुए हैं, वे सच्चे भावलिंगियों ने नहीं बनाए। भावलिंगी मुनि को तो मोक्ष में और मोक्षमार्ग में इतनी रुचि होती है कि वे व्यर्थ के प्रपञ्चों में पड़ेंगे क्यों? जो मुनिकुञ्जर होगा, अमृतचंद्र स्वामी की आत्मख्याति टीका से बोल रहा हूँ, जो मुनिकुञ्जर होगा, वह कभी अपने नाम का पंथ/संप्रदाय बनाने की चेष्टा नहीं करेगा, क्योंकि उनकी दृष्टि सबके साथ एकसाथ चल रही है। **जो भेदाभेद रत्नत्रय में लीन हैं, ऐसे मुनिराज को मुनिकुञ्जर कहा है।** जितना सुख–दुःख का वेदन तू अपनेदेह जन्य पर नहीं करता, उतना पर–संबंधियों पर कर बैठता है। जो आपके आत्मीय थे, उनको कष्ट हुआ तो आपके मुँह से अचानक निकल पड़ता है आह! ये क्या हो गया? ज्ञानी! ये तुम्हारी बाह्य दृष्टि। **ज्ञानी! आपके कर्मोदय आप पर चल रहे हैं।** उन पर भी मध्यस्थ हो जाओ। अभ्यास तो आपको चतुर्थ गुणस्थान से करना चाहिए। कर्म–उपाधि कह करके छोड़ देना। सीता कोई छटवें–सातवें गुणस्थान में नहीं थी। नारीपर्याय में तो पञ्चम् से आगे कोई गुणस्थान नहीं बनता दिगम्बराम्नाय में। धन्य हो उस सीता को, जब कृतांतवक्र ने छोड़ा था जंगल में, तब सीता ने ये नहीं कहा था कि देख लूँगी मैं राम को। मेरे साथ अच्छा नहीं किया। जैसे आप कोर्ट आदि में पहुँच जाती हो। कोर्ट तो छोड़ो, पति को छोड़ने की परंपरा शुरू हो चुकी है। अब तो तुरंत दूसरे पति को स्वीकार कर लिया। धिक्कार हो। सीता राजकुमारी थी, कोई सामान्य स्त्री नहीं थी। महान् सती थी। उस जीव ने क्या कहा? सेनापति! इसमें मेरे स्वामी का कोई दोष नहीं। यथार्थ में पञ्चम काल में धैर्य ही सध नहीं रहा। जीव का महाव्रत कैसे सधेगा। **जो धैर्य को अपने साथ रख लेगा, वही महाव्रत को पाल पाएगा।** सेनापति! मेरे स्वामी से कह देना कि आप विकल्प न करें। ये मेरे ही कर्मों का फल है। भवितव्यता की शक्ति अलंघनीय है। ऐसा कहकरके विषय को वहीं छोड़ दिया। पर जैसे स्वामी ने मुझे छोड़ा, वैसे वीतराग धर्म को न छोड़ दे। मेरा नियोग होगा तो पुनः संयोग होगा। धन्य हो उस अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को। निकांछित अंग में ब्रह्मदेवसूरि ने सीता का ही दृष्टांत दिया। वृहद्द्रव्यसंग्रह में। अब सोचिए, जब हमारा एक श्रावक इतना दृढ़धर्मी प्रियधर्मी होता है, तो–फिर श्रमण का क्या कहना। जैसे रसवंती (जलेवी) भरी हो रस से, उसके अङ्ग–अङ्ग से रस झलकता है। ऐसे–ही वीतराग मुद्रा में चेहरे पर जो मासूमियत आपकी ५ वर्ष की उम्र में थी, वैसी–ही मासूमियत श्रमण के चेहरे पर झलकती है। भैया! दिगम्बर

आचार्यों ने ये कहीं लिखा आगम में कि युवावत्? बूढ़ावत् उन्होंने लिखा है। यथाजात स्वरूपोऽहम् ये दिगम्बर योगी यथाजात हैं। जो सरलता थी चेहरे पर, वह सरलता पुनः आ जाती है तो चेहरा भी वैसा ही हो जाता है।

एक बार एक गाँव में विहार करके प्रातः पहुँचे। वहाँ एक पंडितजी बोले, महाराजजी! आप बिहार करके आगे के गाँव चले जायें, यहाँ आहार नहीं हो पायेंगे। मैंने कहा, भैया! आप विकल्प मत करो। छोटे–छोटे साधु हैं। ग्रीष्म का मौसम है। ठीक है, हम लोग मध्याह्न की सामायिक यहीं करेंगे। वह देखकर नमोऽस्तु करके चला गया कि कैसे महाराज हैं? लेकिन सामायिक के बाद दो बजे वही विद्वान् पुनः आया और बोला– महाराजश्री! कमंडल में जल भर गया है।' आप शुद्धि करें। मैंने ये नहीं कहा कि तू तो मना कर रहा था। साधु धर्म ये है। जब कमंडल में पानी भरा हुआ देखा तो शुद्धि की, दिन के दो बजे चर्या हुई। चर्या के बाद सब श्रावक इकट्ठे हो गए। 'महाराजजी! प्रवचन।' प्रवचन भी कर दिए। तब बेचारे हाथ जोड़ते हैं कि महाराज! क्षमा करना। मैं तो ये सोच रहा था कि बहुत सारे आते हैं, चले जाते हैं, पर मैं क्या करूँ महाराज! मुझे तो एक महाराज नियम दिला गए थे कि सभी साधुओं को आहार मत देना। धन्य हो ऐसे महाराज को। हमारे यहाँ तो आगम ये कह रहा है कि भूखा द्वार पर कोई आ जाए तो उसे भोजन करा देना, उसमें पाप नहीं पड़ेगा और आपके महाराज नियम दिला गए कि दूसरे संघ के साधु को आहार मत कराना, दोष लग जाएगा मिथ्यात्व का। तब मैंने उनसे कहा कि भैया! आपने तो अपनी प्रतिज्ञा तोड़ ली। वह बोले– महाराज! अब मैं इस प्रतिज्ञा का पालन करूँगा भी नहीं, क्योंकि इस प्रतिज्ञा में छल ये हो रहा है कि अच्छे सच्चे साधु भी हम लोग छोड़ देते हैं। **हे मुनिराज! प्रवचन हर समय 'मुख' के ही नहीं, 'चर्या' के भी देना चाहिए।**

कर्नाटक में मुनि को निर्वाण दीक्षा कहते हैं। एक बार एक तीर्थ में कुछ लोग चौका लेकर पहुँचे। हम लोग तो दर्शन करके बैठे थे। वे लोग बोले– 'महाराजजी! शुद्धि करो।' हम लोगों ने कहा 'जंगल में शुद्धि?' बोले 'हाँ।' हमने कहा 'आप कैसे भैया?' वह बोले 'हमारे स्वामी चारूकीर्तिजी का समाचार आया था। उसका पालन करना हमारा धर्म है।' भैया! यदि आपकी साधना व्यवस्थित है तो वहाँ के श्रावक भी यहाँ के जैसी चर्या कराते हैं। भैया! अंतिम–अंतिम श्वासों तक धर्म रहेगा। कहाँ? दक्षिण में।

ज्ञातादृष्टाऽहमेकोऽहम् सुखे–दुःखे न चापरः

मैं तो एकमात्र ज्ञाता–दृष्टा हूँ। ये सुख और दुःख तो कर्मजन्य धारा है। अध्यवसाय भाव जो

राग उत्पन्न हो रहा है, वह कर्मसापेक्ष है और कर्म जो है, वह जड़ है। जड़ के नियोग से जो कर्म है, वह भी जड़भूत है। इसलिए आगम में निश्चयनय से राग को भी जड़ कहा है। वह राग जो जड़भूत है, माध्यस्थ, इस भावना को दृढ़ करने के लिए यही परम चारित्र है। ज्ञानी! सब जगह घूमने के बाद आना वहीं है, लेकिन व्यवहार संयम के अभाव में वहाँ पहुँचना चाहो तो आप भावना तो भा सकते हो, पर अनुभूति नहीं ले सकते हो। तदात्मभूत अतदात्मभूत। **हे ज्ञानी! आप वीतरागी निर्ग्रंथ श्रमण के २८ मूलगुणों के पूर्ण ज्ञाता हो, ये आपका आगम द्रव्यश्रुत है और एक योगी उस योग की धारा में लीन है, ये तन्मयीभूत भाव श्रुत है और जो भावश्रुत है, वही भगवत्ता की सिद्धि कराएगा।**

मैं इतना विस्तार इसलिए कर रहा हूँ, क्योंकि सुननेवाले तो खुश होकर चले जाएँगे और सुनानेवाले अपनी मानकषाय की अनुभूति ले लेंगे। भैया! ये मुनिचर्या का आनंद है कि जो आपकी पूजा हो रही है, उस पूजा का आनंद आ रहा है। भैया! उस आनंद में भी चेहरा दमकता है। एक करोड़ का मुनाफा हो जाए। पैसे अभी हाथ में भी नहीं आए, पर चेहरे पर चमक आ जाती है। जब बाहरी द्रव्य की चमक चेहरे पर आ सकती है, तब अंतरंग के मान की पुष्टि से चमक क्यों नहीं आएगी? और ज्ञानी! जब मान की चमक इतनी अच्छी होती है, तो स्वानुभूति की चमक कितनी अच्छी होती होगी। एक शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! तब तो बहुत अच्छा होगा। **'ज्ञाता–दृष्टाऽह स्वरूपोऽहम्'** का चिंतवन करूँगा, मेरा मोक्ष हो जाएगा। गुरु बोले 'वत्स! ऐसा नहीं है। जो हमने अभी कथन किया है, वह तो मूल हेतु है। भैया! **अंटी का दाम और कंठ का ज्ञान,** ये ही काम में आते हैं, और–कोई काम नहीं आता। वह जो हमने पूर्व में कहा है, वह तो मूल हेतु है, लेकिन **'कारणं सहकारकं',** एक कारण और एक सहकारण। ये है आचार्य अकलंक स्वामी का न्याय। इन्होंने क्या बोल दिया? सहचर हेतु, क्रमचर हेतु। भैया! कारण का भी कारण होता है। जो सहचर हेतु है, वह तो कभी भिन्न होता ही नहीं है। सहचर हेतु सहभावी गुण, क्रमचर हेतु क्रमभावी पर्याय। जो सहभावी है, वह अंतरंग हेतु है। कारण के भी सहकारी कारण होते हैं।

आत्मा ही ज्ञान है। अन्य दृष्टि से ज्ञान ही आत्मा है। वही संयम है, वही श्रुत है। **जो संयमभूत परिणाम है, वह ज्ञान की ही दशा है। असंयमभूत परिणाम है, वह भी ज्ञान की ही दशा है। ज्ञान जब परसापेक्षी होता है, तब असंयम आदि में प्रवृत्ति करता है। ज्ञान स्व सापेक्षी होता है, तब वह संयम चारित्र को परिणत होता है। मेरा निज का ज्ञान ही जब पर को जानता है, पर को वेदता है, पर को समझता है, तब वह परभूत ज्ञान है।** 'ज्ञान निज का ही है, परंतु

निज का नहीं है।' जिससे में पर को जान रहा हूँ, वह ज्ञान तो निज का ही है। निज का ज्ञान नहीं है अर्थात् निज का ज्ञान पर को जानने में लगा है, निज को नहीं जान रहा है। इतना सूक्ष्म विषय यहाँ स्थित है कि जीव इसे समझ नहीं पाता है। वह यह मान लेता है कि कोई अन्य है जो अन्य को जान रहा है अथवा यह मान लेता है कि मैं मेरे को जान रहा हूँ, कोई अन्य ज्ञान से जान रहा हूँ। पर को जान रहा हूँ, वह कोई अन्य ज्ञान से जानता हूँ। भाई! ऐसा नहीं है। मेरे निज का ही ज्ञान जब स्वमुखी होता है, तब वह ज्ञान–दर्शनभूत फलित होता है। जब मेरा ज्ञान परमुखी होता है, तब अश्रद्धान, असंयम, अज्ञानभूत फलित होता है। **मैं ही ज्ञाता जब कुतत्त्व में प्रवेश करता हूँ, कुतत्त्व श्रद्धा में जाता हूँ, तब मिथ्यादर्शन होता है। कुतत्त्व में ज्ञान को ले जाता हूँ तब मेरा ज्ञान मिथ्याभूत होता है। कुतत्त्व में प्रवृत्ति करता हूँ, तब मेरा ज्ञान मिथ्याचारित्रभूत होता है।** संज्ञा, लक्षण प्रयोजन की दृष्टि से भेद है। जब हम अभेददृष्टि से देखते हैं तो यह ज्ञान का ही परिणमन चल रहा है।

बहुत–बहुत मेहनत करने की आवश्यकता नहीं है, मात्र ज्ञान को ही सँभालने की आवश्यकता है। सबसे ज्यादा सँभालने की आवश्यकता है तो ज्ञान को सँभालने की आवश्यकता है। ज्ञान सँभल जाए तो यही ज्ञान–सामान्य श्रुतपर्याय का उद्घाटक है। यही ज्ञान–सामान्य मतिपर्याय का उद्घाटक है। यही ज्ञान–सामान्य अवधिज्ञान पर्याय का उद्घाटक है। यही ज्ञान–सामान्य मन:पर्यय पर्याय ज्ञान का उद्घाटक है। यही ज्ञान सामान्य केवल्यज्ञान का उद्घाटक है और यही ज्ञान–सामान्य श्रद्धा गुण की पर्याय को सम्यक् रूप प्रकट कराने में समर्थ है। यही ज्ञान–सामान्य चारित्र गुण की अवस्था को प्रकट कराने में समर्थ है।

यथार्थ में तेरह प्रकार के चारित्र का पालन जो व्यवहार रूप में कर रहा है, उस पालन का भी कराने वाला ज्ञान है और अभेद में लीनता है, वह भी ज्ञान की ही है, इसलिए यहाँ पर ज्ञान को संयम कहा है। इसलिए ज्ञान को चारित्र कहा है समयसारजी में। लेकिन समझने वाले ज्ञानीजीव को भूमिका लगाना चाहिए। यह मत मानकर बैठ जाना कि जो मैं शास्त्र पढ़ रहा हूँ वह चारित्र है। यह मानकर मत बैठ जाना कि जो मैं शास्त्र पढ़ रहा हूँ, वह सम्यग्दर्शन है। यह मत मानकर बैठ जाना कि जो मैं शास्त्र पढ़ रहा हूँ वह ज्ञान है। यह जो–जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र की व्याख्या यहाँ है, जीव की पर्याय की परिणति भी वैसी ही होगी।

एक ही द्रव्य के भीतर अनंत गुण हैं। अनंत गुणों में अनंत शक्तियाँ हैं। उन अनंत गुणों में जीवद्रव्य में ज्ञानगुण परम गुण है। ज्ञान गुण परमस्वभाव है। परम–स्वभाव–द्रव्यार्थिक नय से अनेक

स्वभावों के मध्य में ज्ञानस्वभाव को ही परम स्वभाव कहा है। जो परमस्वभाव ज्ञान है, उसमें इतनी शक्ति है कि वेदक भाव, चेतनत्व भाव इसी के अंदर है, ज्ञान दर्शन में। आत्मा में शेष गुण तो अचेतन हैं। क्षयोपशम जीव का प्रतिबंधक कर्म का आवरण किसका कम हुआ है? ऐसा वह विचार कर पाएगा, वैसा निर्णय कर पाएगा, वैसा ही चारित्र का पालन कर पाएगा, वैसा–ही श्रद्धा को निर्मल कर पाएगा, वैसा ही ज्ञान से ज्ञान को समझ पाएगा। आपको मात्र निर्णय करना है और सबसे उत्कृष्ट निर्णय तुम्हारा एक हो जाना चाहिए, फिर आगे बढ़ना चाहिए। सबसे प्रधान निर्णय होना चाहिए कि मैं जगत् के प्रत्येक द्रव्य से भिन्न हूँ, स्वतंत्र हूँ। पहला निर्णय यह होना चाहिए। शब्दों में नहीं। यह तो कोई भी बोल देगा। यथार्थ में मैं जगत् से भिन्न हूँ, स्वतंत्र हूँ। जड़द्रव्यों से नहीं, मैं अपने निज के चैतन्य से भिन्न, अन्य चैतन्यों से अभिन्न ही हूँ। मैं जग के अन्य चैतन्य द्रव्यों से भी भिन्न ही हूँ, स्वतंत्र ही हूँ। ऐसा निर्णय जब कर बैठेगा, वह जीव जिस आनंद की अनुभूति ले रहा है? उसे आप शब्दों में नहीं कह सकते। वह साधुता में लीन हो चुका है। क्योंकि चारित्र जो है, वह जीव का लक्षण नहीं है। ज्ञान–दर्शन जीव का लक्षण है। चारित्र जो है, वह क्षायिक ज्ञान को प्रकट कराने की विधि है। **आत्मा को परमात्मा बनाने की विधि है, चारित्र।** ज्ञानी! दुग्ध है, घृत है, यह सबकुछ है। उसके बीच की पर्याय भी है, यही मक्खन है, लेकिन इन सबके बीच में जामन की बात नहीं की गई है। गोरस की बात की गई है। गोरस का ही जामन गोरस में डाला जाता है। अलग से कोई द्रव्य नहीं है। घृत पर्याय को प्रकट कराना है तो मट्ठे को ही दूध में छोड़ दिया जाता है। वह जामन लग गया तो दही बन गया।

निर्णय हो जाए कि स्वतंत्र मैं हूँ। मेरा ज्ञान परज्ञानों से स्वतंत्र है। मेरा ज्ञाता परज्ञाताओं से स्वतंत्र है। मेरा निज ज्ञेय ही परज्ञेयों से स्वतंत्र है। मेरी ज्ञप्ति भी परज्ञेयों से स्वतंत्र है और मैं बंध दृष्टि से निहार रहा हूँ। संसार दृष्टि से निहार रहा हूँ। संसार में भी मैं संसारी हूँ, तो मैं अपने में ही अकेला संसारी हूँ। मैं पर के लिए पर का संसारी नहीं हूँ। जो कर्म, नोकर्म, भावकर्म को प्राप्त हुआ है, वह मैं ही हूँ। उसके फल का भोक्ता मैं ही हूँ। उसको नाश करने का कर्ता भी मैं ही हूँ। ऐसा सविकल्प विचार करता हुआ, जीव इतना आनंदित हो रहा है। अहो! धिक्कार हो मुझे अनादि की परिणति से। धिक्कार हो मेरी निज की अनादि की अविद्या से, जो कि मैं पर के सिरदर्द को अपना सिरदर्द मान बैठा। पर की दु:खानुभूति को निज की दु:खानुभूति मान बैठा। पर के सुखों में मैंने सुखानुभूति मानी। पर के दु:खित होने में मैंने पर के दु:खित होने का कर्ता माना। पर के सुख होने में मैंने निज के सुख का पर को कर्ता माना। पर की चिंता में अपने को चिंतित देखा।

जितना चिंता का विषय आपके लिए निज का निज में नहीं है, उतना पर को संतुष्ट करने के लिए आपको चिंता में डूबना पड़ता है, जबकि पर संतुष्ट अपनी ही प्रज्ञा से होंगे, तुम्हारे द्वारा नहीं होंगे। यदि कोई जीव आपको दु:खी देखकर सुख महसूस कर रहा है, वह भी अपने ही विचारों से सुखी है, तुम्हारे दु:ख से सुखी नहीं है। आपको सुखी देखकर कोई अपने आपको सुखी महसूस कर रहा है, वह मात्र अपने विचारों से ही सुखी है, आपके सुख से सुखी नहीं है। क्योंकि अपनी ही ज्ञानपर्याय से दु:खानुभूति ले रहा है, अपनी ही ज्ञानपर्याय से सुखानुभूति ले रहा है; लेकिन अज्ञानी उसको समझ नहीं रहा है।

यथार्थ मानिए जो आपको पूजन–पाठ में लगा रहा है, वह बहुत अच्छा काम कर रहा है। स्वाध्याय मैं लगा रहा है, वह भी थोड़ी–सी कमी छोड़ देता है। आपको सामायिक की प्रेरणा नहीं दे रहा है तो बहुत गलत काम कर रहा है। हर समय सामायिक की प्रेरणा देना चाहिए। जितनी लंबी सामायिक करना सीख लोगे उतनी जल्दी आप सामायिकचारित्र का अभ्यास कर लोगे। सामायिक चारित्र है। सामायिक संयम है, सामायिक आत्मा का स्वभाव है। सामायिक की प्रेरणा देना चाहिए, ध्यान की ओर प्रेरित करना चाहिए। उस सामायिक में करेंगे क्या? कुछ नहीं करना। जिस सामायिक की बात मैं कर रहा हूँ उसमें कुछ नहीं करना आप। न माला फेरना, न भगवान् को गुनगुनाना, न भगवान् को देखना। जब भगवान् को देखने तक को मैं मना कर रहा हूँ, तो अघवानों को देखोगे कैसे? भगवान् को नहीं देखना, अघवानों को देखने का विचार ही नहीं करना। उस सामायिक में करो तो क्या? आत्मा जो दिखाई ही नहीं देता है तो उसे क्या देखोगे? जो दृश्यमान ही नहीं है, उसे क्या देखोगे? यह भूल सुधार लीजिए। क्या सामायिक में आत्मा दिखाई देती है? 'समयसार' को समझने वाले यह कहें कि मुझे आत्मा दिखाई देती है, उससे बड़ा अज्ञानी कौन होगा? जो अरस, अरूप है, अवक्तव्य है, अलिङ्ग है, अवाच्य है, संस्थानशून्य है, उसे तुम देखते कैसे हो? जो जीव यह कहे कि आह! आत्मा दिख गई। कुछ नहीं दिखा है, पागलपन है। यह व्यर्थ के शब्दभ्रम में नहीं पड़ना। दार्शनिक, तात्त्विक, वैज्ञानिक परमभूतार्थ दर्शन में यह मिथ्या परिणतियाँ प्रवेश मत कराइये। आत्मा दिखाई नहीं देती है। सामायिक में आत्मा को मत देखना। सामायिक में आत्मा देखने बैठ जाओगे वो तो दिखेगी नहीं। कहीं आपने आँखें ज्यादा बंद कर लीं, तो लाल–पीला रंग दिखेगा, आप उसे ही आत्मा मान बैठोगे। जैसे कि लोक में ऐसे विचित्र प्रकार के जीव हैं, जो सिद्धालय में बैठे महावीर के प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, जो सिद्धालय में बैठे श्री राम के प्रत्यक्ष दर्शन हैं। हाँ। आप समझो। कहते हैं कि मुझे अमुक नदी के तट पर मिले। अमुक तीर्थ में मिले, अमुक

वृक्ष के नीचे मिले, साक्षात्कार हो गया परमात्मा से। हे ज्ञानी! इसी भ्रम निवारण के लिए तो देशना चल रही है। उसका निवारण होना चाहिए। जो सिद्धशिला पर विराजा है, क्या वह आपसे कहने आएगा कि चलो, भाई! मैं आपको बताने आया हूँ, मैं यहाँ पर अवतरित होने वाला हूँ? आपको बोध होना चाहिए।

कषाय की मंदता में विपरीत श्रद्धान करने वाला जीव भी व्यंतर देव हो सकता है। जो जीव मंद कषाय में अपनी धूनी लगा रहा है, वह मिथ्यादृष्टि जीव व्यंतर हो गया। जब अपने कुअवधि ज्ञान से निहारता है तो उसे वही दिखाई देता है कि इसके प्रभाव से मैं ऐसा बन गया। फिर वह जीव अपनी कुपित क्रिया से लोगों को प्रभावित करता है, मैं अमुक देव हूँ। वह कहीं आपको दिखाई दे गया तो आप कह रहे हो कि वर्द्धमान महावीर स्वामी साक्षात् खड़े हुए हैं। मुझे तो दीक्षा लिए पच्चीस वर्ष हो गए, मुझे तो आज तक महावीर स्वामी का साक्षात्कार नहीं हुआ और मैं करना भी नहीं चाहता हूँ। **मैं परमात्मा से साक्षात्कार करने के लिए नहीं बना हूँ। मैं स्वयं को परमात्मा बनाने के लिए मुनि बना हूँ।** पंचमकाल में मुझे कोई परमात्मा मिल जाता है तो मैं उस परमात्मा से ही कहूँगा कि आपकी इच्छा हो तो आप मुझे नमस्कार कर लीजिए, लेकिन मैं आपको नमस्कार नहीं करूँगा। बिल्कुल सत्य है; क्योंकि पंचमकाल में जो भी परमात्मा होगा, वह परमात्मा नहीं हो सकता है, जो बनकर आएगा वह इंद्रजालीय होगा। जैन शासन में परमात्मा मिलते नहीं हैं, बनते हैं। आप कहो कि मैं परमात्मा से मिलने जा रहा हूँ। भाई! मैं स्थापना निक्षेप के परमात्मा से मिलने तो जाता हूँ, लेकिन पंचमकाल में प्रकट परमात्मा से मिलने नहीं जाता। परमात्मा के दर्शन करने जा रहा हूँ। सीमंधर भगवान् के दर्शन करने विदेहक्षेत्र जा रहा हूँ, ऐसा बोल देता हूँ, यह व्यवहार की भाषा है।

परमात्मा से साक्षात्कार का तात्पर्य लोक में परमात्मा से चर्चा हो रही है, परमात्मा से वार्ता हो रही है। विश्वास रखना, निर्विकल्पध्यान में लवलीन योगी से चर्चा नहीं हो सकती है, तो अशरीरी परमात्मा से चर्चा कैसे हो सकती है? जो निर्विकल्प ध्यान में हैं और आप कहो कि चर्चा हुई है, तो वह निर्विकल्प ध्यान में नहीं होंगे। निर्विकल्प ध्यान में होंगे तो निर्विकल्प ध्यान में लीन योगी से चर्चा करने की आपकी सामर्थ्य नहीं है। योग का फल परमात्मतत्त्व है, उससे तुम कैसे बात कर पाओगे? परमात्मा का साक्षात्कार करना है तो परमात्मा ही बनना होगा। फिर निज के परमात्मा से मिलना। तन्मय, अतन्मय नहीं। लोक में जो देखा जाता है कि परमात्मा से मैंने इनका साक्षात्कार करा दिया। ये सत्यता नहीं है, भाई। मैं भी ध्यान करता हूँ। ध्यान करते–करते सबसे

पहले आपको कालिमा दिखेगी आँखों के सामने, तो समझ लो कि तुम्हारे कलुषित परिणाम हैं। धीरे–धीरे लालिमा आएगी सामने, अभी परिणाम इतने विशुद्ध नहीं हैं। पीलापन आएगा, विशुद्धि बढ़ी है। वह पीलापन तुम्हारे सामने सफेद आभामंडल हो जाएगा तो तुम्हारी विशुद्धि बढ़ी है। जैसे कि सोनागिर के चंद्रप्रभु का ध्यान कर रहे थे, आँख बंद रहेगी। भगवान् चंद्रप्रभु का परिपूर्ण बिम्ब नेत्रों के सामने होगा। यह परमात्मा का साक्षात्कार हो रहा है। लोग भ्रमित कहाँ हैं? अर्हंत का ध्यान करना, निज के स्वभाव को अर्हंतभूत निहारना, यह आपका रूपस्थ ध्यान है। **रूपातीतं निरंजनम्।**

कर्म अंजन से शून्य जो अशरीरी भगवानात्मा है, उसमें लीन हो जाना, यह रूपातीत ध्यान है। ऐसे ध्यान की धाराओं में निमग्न होता हुआ योगी, तब भी आत्मा को देखता नहीं है। ज्ञान से आत्मा को वेदता है, वह वेदन क्या है? **ज्ञान में ज्ञान की अनुभूति आत्मा का वेदन है।** यदि आपने आत्मा को पुरुषाकार रूप में देखना प्रारंभ किया, तब भी तुम पुद्गल का ही ध्यान कर रहे हो। यदि आपने आत्मा को अन्य किसी रूप में देखना प्रारंभ किया, तब भी किसी पुद्गल में ही अपने आपको लवलीन किए हो। मात्र आनंदकन्द, ज्ञानघन, टंकोत्कीर्ण, परम पारिणामिक स्वभावी, भगवानात्मा है। वह भग का ही वेदन करने वाली है। भग शब्द का अर्थ होता है ज्ञान। भग का ही वेदन करती है वह आत्मा है। इसलिए आप जब सामायिक करने बैठो तो ज्ञानी! आप ज्ञेय किसे बनाओगे? मैं स्वतंत्र हूँ, इसका वेदन कीजिए। मैं पर से भिन्न हूँ।

सामायिक व्रत है। श्रावक का शिक्षाव्रत। सामायिक शिक्षाव्रत है और वह श्रावक मुनि बनने के लिए अभ्यास कर रहा है। मुनि बन जाएगा, फिर सामायिक व्रत समाप्त हो जाएगा। तब वह सामायिक चारित्र है। ध्यान आप प्रतिक्षण नहीं करते हो, प्रतिपल नहीं करते हो, जिस ध्यान की यहाँ व्याख्या चल रही है, परंतु सामायिक आपके जीवन का प्रतिपल प्रतिक्षण होगा। दिगम्बर मुनि होकर यदि यह कहे कि मैं सामायिक करने जा रहा हूँ, यह तो व्यवहार शब्द है। वास्तव में दिगम्बर मुनि सामायिक करने कभी नहीं जाता है। दिगम्बर मुनि तीन समय में क्या करता है? वह देववंदना कर रहा है। इनकी तीन समय जो सामायिक है, उसका नाम है देववंदना। वो सामायिक करने क्यों नहीं जाते हैं? स्वामी! तुम्हारा सामायिक चारित्र है। यदि तुम सामायिक करने जाओगे तो क्या कभी सामायिक से रहित भी होते हो? और यदि सामायिक से रहित होते हो, तो मुनिराज कैसे? इसलिए योगियों के सामायिक चारित्र है यह सामायिक चारित्र इनको प्रतिक्षण/प्रतिपल होना चाहिए। उसमें किंचित् भी कमी आती है तो छेदोपस्थापना करते हैं।

समय नहीं है। मैं आपके सुख को सुनने के लिए भी समय नहीं दे पाऊँगा, मैं आपके दुःख

को भी सुनने के लिए समय नहीं दे पाऊँगा। **तुम्हारे सुख को सुनकर सुख में मेरा उल्लास भाव चला गया तो सामायिक भंग हो जाएगी, तुम्हारे दुःख को सुनकर खिन्न भाव आ गया तो भी सामायिक भंग हो जाएगी।** आप नहीं मान रहे हो तो हे जीव! अब आगम की भाषा में समझो। आप ऐसा करने से अपनी इच्छा पूरी नहीं कर पा रहे हो तो आपको श्रमण के विघात का दोष लगेगा। यथार्थ समझो, यदि योगी अपने में रहना पसंद करता है तो उसको कुछ मत सुनाओ। एक विषय, अब सामायिक और ध्यान। **सामायिक की लीनता ही ध्यान है। ज्ञान की एकाग्रता का नाम ध्यान है। चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है।** ध्यान में स्थिरता है। सामायिक में स्यात् विकल्प भी है।

'समता सर्वभूतेषु' संपूर्ण प्राणियों पर जो समता परिणाम जा रहे हैं, यह सामायिक है। व्यवहार। जब परमार्थ सामायिक की बात करेंगे तो वह ध्यान ही है। सम + इक = एक में सम हो जाना। एक में लीन हो जाना, एकमुखी हो जाना, वह सामायिक है, वही 'समयसार' है। वही निर्विकल्प ध्यान की दशा है। साधक के लिए प्रतिक्षण/प्रतिपल 'मैं स्वतंत्र हूँ।' मैं किसी से परतंत्र नहीं हूँ। शब्द में नहीं। अपने में बैठकर इतना समय अपने आपको दे दो अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं छः महीने तक अभ्यास करो। एक समय प्रमाण भी आपको समझ में आ गया कि हाँ, यथार्थ में 'मैं स्वतंत्र हूँ तो कल्याण संभव है।'

जितने विकल्प थे, पर को अपने में जोड़ने के कारण थे। मित्र! वाहनचालक भी दोपहर में वाहन को खड़ा कर लेता है, थोड़ा उसे ठंडा करने के लिए, लेकिन आप अपने मस्तिष्क के बाद बदन को क्यों नहीं ठंडा करना चाहते हो? क्या इस बची पर्याय की अवस्था में (आयु के निषेकों में) आप कभी ऐसा भी कर पाओगे कि मैं परभार से भिन्न हूँ, परिवार से भिन्न होकर नहीं। परिवार से भिन्न होकर जीने वाले तो बहुत सारे हैं। परभार से भिन्न होकर जीने वाले न्यून हैं। माना कि आप परिवार से भिन्न भी हो गए, लेकिन यहाँ आपको समाज की चिंता लग गई, धार्मिक अनुष्ठान, धार्मिक क्षेत्र आदि के विकल्प आ गए तो ज्ञानी! तुम परिवार से भिन्न हुए हो, परंतु परभार से भिन्न नहीं हुए हो। **हे जीव! क्या अपनी पर्याय का कोई ऐसा समय निकालेगा जब तू अपने आपको परभार से भिन्न होकर वेद पाए। जिस जीव ने एक मिनट भी अपने आपको परभार से भिन्न वेद लिया, वह कभी परिवार या परभार में लिप्त होने का भाव नहीं लाएगा।**

स्वजनों से भिन्न होने के लिए ही तो साधु बनना पड़ता है। निमित्तों को पहले हटा लो इतना ज्यादा हटाकर बैठो कि यह व्यक्ति यह ना कह पाए कि मेरे महाराज हैं। कहे तो आप अपने घर

में कहो। इतनी ताकत नहीं होनी चाहिये कि मेरे सामने कह पाए। उसे कहना ही चाहिए घर में। परमेष्ठी तो तुम्हारे होते ही हैं। श्रद्धा–श्रद्धेय संबंध है और–कोई संबंध नहीं है। मेरे सामने कहने की सामर्थ्य ना जुटा पाए कि महाराज मेरे हैं और अपने दु:ख को कहने की सामर्थ्य न जुटा पाए, अपने सुख को कहने की सामर्थ्य न जुटा पाए। न किसी की सुनना, न किसी को सुनाना। कुछ नहीं करना। नहीं सुनना है तो द्वेषभाव भी नहीं लाना। सुनना है तो राग भाव भी नहीं लाना। समझो। नहीं–तो कोई आए कमरे में तो आप कहोगे भागो। जीव को विषय को समझ पाना कठिन होता है। अरे भाई! आप सामायिक में हो तो कौन सुनाने आएगा, कौन सुनने आएगा? न मैं सुना रहा हूँ, ना मैं सुन रहा हूँ। मैं तो परभार से निज को मुक्त हुए का वेदन कर रहा हूँ। परभार से मुक्त हो गया, तो अब है कौन किसके साथ? कैसा, कौन? अब नहीं कहना पड़ेगा अलग से। कुन्दकुन्द स्वामी की गाथा बोलना भी परभाव है। अब वह भी नहीं गूँजना चाहिए। **'अहमेक्को खलु सुद्धो'।** कुछ नहीं, मुझे शब्द करना ही नहीं है। जब तक नहीं है, तब तक कहो। मैं तो हूँ ही। **'शून्य स्वरूपोऽहम्'** इस शब्द को भी नहीं कहना पड़ेगा, क्योंकि वह भी परभाव है। लोग समझ नहीं पाए शून्य स्वरूप को। कोई जड़ शून्य में चला गया, कोई शून्य बिंदु बनाकर ध्यान में बैठ गया। **'परशून्यस्वरूपोऽहम्'** संकल्प–विकल्प से मैं शून्य होकर मैं निज का आनंद ले रहा हूँ। यह शून्यस्वरूप है। अब बताइये इस प्रक्रिया को समय चाहिए या नहीं? और इस प्रक्रिया में लगा हुआ योगी उसका समय ले पाओगे क्या? इस प्रक्रिया में लगा योगी क्या आपको समय दे पाएगा?

माँ! बाजरे की रोटी किससे बनती है? बेलन से। यदि बेलन चलाओगे तो क्या होगा? बहुत सारा विषय तो आपको ज्ञाता दृष्टा भाव से समझ लेना चाहिए। जरूरी नहीं है कि बनाने बैठोगे तभी जानोगे। बाजरे की रोटी पर बेलन चलाओगे तो टूट जाएगी। तो जब बाजरे की लोई तेरे हाथ में होती है, साथ में पानी होता है। जब तक पानी का आश्रय नहीं दिया जा रहा है, तब तक वह हाथ में चलेगी नहीं, टूट जाएगी। बाजरे की रोटी बना रहे हो पानी लगाकर, इस बीच में बेटा मचलकर कहने लग जाए 'माँ! मुझे दूध दे दो।' और दोनों हाथ तेरे बाजरे की रोटी में है। बताओ, किस हाथ से दूध दोगे? रोटी बनती जाए और बेटे को गिलास में भरकर दूध पीने दो? कहती है, बेटे! दोनों हाथों के मध्य में अभी कुछ है। यदि एक भी हाथ हटाती हूँ तो नीचे टपक जाएगा बाजरे का पिंड। अब तभी दे पाऊँगी गिलास का दूध जब यह रोटी बनकर रख जाए।

जैसे बाजरे की रोटी बनाते समय माँ अपने हाथों को सँभालती है, ऐसे–ही मुमुक्षु **योगी जब निज के ज्ञायकभाव को ज्ञायकभाव से निहारता है, तब जगत् में किसी को भी नहीं देखता,**

किसी को नहीं सुनता है, वह अपने मैं ही लीन है। जरा भी इधर–उधर हुआ तो गुणस्थान टपक जाएगा, जीव स्वानुभव से भटक जाएगा।

जो ज्ञानधारा, अध्यात्मधारा है, वह आत्मा को देखने की नहीं है। जो कहा जाता है कि मैं आत्मा को देख रहा हूँ और आत्म–अवलोकन चिद्ज्योतिपिंड चैतन्यस्वरूप है, वह अनुभूति को ही शब्द से बोल रहे हो, लेकिन आँखों का विषय आत्मा नहीं है। यह मत सोचना कि मैं अनुभूति नहीं कर सकता हूँ। मैं हूँ, मैं हूँ, इसे आप वेदन नहीं कर सकते क्या? शुद्धोपयोग की लीनताभूत वेदन नहीं कर सकते हो, लेकिन मैं चेतन द्रव्य हूँ, इसका भी वेदन नहीं कर सकते क्या? नहीं कर सकते तो तुम जीवद्रव्य हो कैसे? महान् अंतर है। **स्वानुभूति एकेन्द्रिय से लेकर सिद्धों तक होती है।** शुद्धोपयोग सप्तम–गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होता है। यह व्यवहार पक्ष, निश्चयपक्ष वाले विद्वान् समझते ही नहीं हैं इस बात को और आपस में झगड़ते रहते हैं। मैं उन्मत्त होकर नहीं बोल रहा हूँ, बिल्कुल स्थिर होकर बोल रहा हूँ। **एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव को भी स्वानुभूति होती है, स्व–संवेदन होता है। जो जीव असंवेदन मानता है, वह जैन नहीं है।** यदि असंवेदन मानते हो जीवद्रव्य को, तो–फिर आपको प्रमेय कमल मार्तंड ग्रंथ का स्वाध्याय करना चाहिए, जहाँ पर अस्वसंवेदन का खण्डन किया गया है। ज्यादा गहरा नहीं पढ़ते बनता तो एक काम कर लो, 'इष्टोपदेश' की इक्कीस नंबर की कारिका का भाष्य पढ़ लो। अब इस पर्याय में जितने निषेक बचे हैं, एक मिनट को आ जाए स्वसंवेदन स्वमात्र का।

स्वसंवेदन सुव्यक्तस् तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंत सौख्यवानात्मा लोकालोक विलोकनः।।२१।।

क्या आप इष्टोपदेश को सामान्य ग्रंथ मानते हो? महान् ग्रंथ है। इस इक्कीसवीं कारिका में सबसे पहला शब्द 'स्वसंवेदन' है, व्याख्या मात्रा इतनी–सी करना है। आप स्वसंवेदन नहीं मानोगे तो योग दर्शन में चले जाओगे। वह जीव को अस्वसंवेदी मानता है। निज का संवेदन नहीं करता, पर का संवेदन कर रहा है। 'प्रदीपवत्' क्यों कहा फिर? दीपक इसलिए आपने प्रकाशित किया कि अंधकार से मैं कलश को उठा लाऊँ, परंतु जब दीपक उठा ले जाओगे तो फिर आपको दूसरा दीपक लेकर जाना पड़ेगा, क्यों? दीपक ने तो पर को प्रकाशित कर दिया है, अब उसको उठाने के लिए दूसरा दीपक लेकर जाना पड़ेगा। हे जीव! जिस दीपक ने पर को प्रकाशित किया है, वह दीप स्वयं को भी प्रकाशित करता है। जो ज्ञान पर को प्रकाशित करता है, पर को जानता है, वह ज्ञान क्या स्वयं को नहीं जानता? जो–जो भी आप जानते हो, जो–जो वेदन करते हो, सब स्वसंवेदन

से करते हो। **'घटमहमात्मना वेद्मि'।**

'परिक्षामुखसूत्र' से बोल रहा हूँ। मैं घट को अपनी आत्मा से वेदता हूँ। मैं घट को अपनी आत्मा से जानता हूँ। दो दिन पहले शीत की लहरें चल रहीं थीं। इसे आप जान रहे थे कि नहीं? किसके माध्यम से, कौन जना रहा था? उसका वेदन कौन कर रहा था? स्वसंवेदन से। मैं स्वयं से ही संवेदन करता हूँ। पर से तो करता ही नहीं हूँ। स्वसंवेदन से करता हूँ। एक स्वसंवेदन जो शब्द है यह जीव के लक्षण, जीव की पहचान, जीव का बोध, जीव का ज्ञान, जीव की प्रतीति, स्वसंवेदन। दूसरा स्वसंवेदन– संवेदन। स्व से स्व का संवेदन। स्व से, स्व में, स्व का ही संवेदन मात्र। **अभेद रत्नत्रय से मंडित शुद्धोपयोग की दशा, वहाँ योगी स्व से, मात्र स्व का संवेदन कर रहा है। निज ज्ञान से, निज ज्ञायक का ही जो वेदन चल रहा है वह शुद्धोपयोग है। यह जो स्व संवेदन है, यह अप्रमत्त दशा सप्तम् गुणस्थान से होगी।** जहाँ पर 'स्वयुतसुद्धौसंयम विगदरागो समणो सुक्खदुक्खो परसुयोत्ति।' यह अवस्था हो चुकी है। सूत्र–पदार्थ को जिन्होंने जान लिया है, जिनका राग व्यतीत हो चुका है, ऐसे श्रमणों के जो उपयोग की धारा है, उसका नाम शुद्धोपयोग है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण चारित्र है, कुन्दकुन्द स्वामी की दृष्टि में यह उपयोग की धारा है, वह शुभोपयोग है। भावनात्मक शुद्धोपयोग है। भावना की दृष्टि से शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोग की भावना भव्यतं।

ब्रह्मदेव सूरि ने वृहद् द्रव्यसंग्रह में एवं परमात्मप्रकाश ग्रंथ में यह लिखा है कि गृहस्थ अवस्था में राम पाण्डव आदि के भी 'मैं शुद्धोपयोग को प्राप्त होऊँ' ऐसी भावना उनकी भी होती है; लेकिन यह भावनात्मक शुद्धोपयोग है, भावभूत शुद्धोपयोग सप्तमगुणस्थान में है। लोग यही समझते हैं कि महाराज जी समयसारजी की वाचना करते हैं तो लगता है चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग लगाते हैं। उन्हें मालूम नहीं है कि वस्तुस्वरूप भिन्न है, व्याख्या तो व्याख्या है। आगम में जैसा लिखा है, वैसी व्याख्या है। चतुर्थ गुणस्थान में जो स्वसंवेदन है, वह जीव–लक्षणात्मक है और तद् गुणस्थान संबंधी स्वसंवेदन है। चतुर्थ गुणस्थान का स्वसंवेदन चतुर्थ गुणस्थान संबंधी ही है। अरे भाई! यदि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव को (स्वसंवेदन) सम्यक्त्व का आनंद नहीं आए, तो चतुर्थ गुणस्थान कैसा? आपको मालूम होना चाहिए, अनादि मिथ्यादृष्टि जब करण–परिणाम करता है तो वहाँ पर भी अपूर्वकरण परिणाम होता है। जैसा परिणाम का आनंद पूर्व में कभी नहीं लिया हो, ऐसा अपूर्व आनंद आए। थूवोनजी में दूर से देखो तो छोटी सी मूर्तियाँ दिखती हैं। भीतर जैसे–ही प्रवेश करो, देखो तो अहंकारियों के अहंकार टपक जाएँ, टोपी वालों की टोपी गिर जाए, विशाल जिनबिम्ब

हैं। जिसने पहली बार थूवोनजी की वंदना की हो, उस जीव से पूछना, कैसा लगा? अपूर्व आनंद आया, जो पूर्व में कभी नहीं आया। दिगम्बर मुनियों के अपूर्व क्षेत्र वंदना नाम की भक्ति होती है। जिस प्रतिमा के दर्शन जीवन में पहली बार किए हों, वहाँ पर भक्ति करना चाहिए। चैत्य भक्ति, सिद्धभक्ति, शांतिभक्ति, समाधि भक्ति करना चाहिये। जब अंचलिका (विज्ञप्ति) बोलोगे तो क्या बोलेंगे। अथ अपूर्व चैत्यवंदनायां क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्म–क्षयार्थं, भावपूजा–वंदना–स्तवसमेतं श्री सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यऽहं।'

यह अपूर्व चैत्यवंदना है। व्यवहार से पूर्व में जिस बिम्ब के दर्शन नहीं किए थे, ऐसे जिनबिम्ब की अपूर्व चैत्य वंदना। अब निश्चय में देह–देवालय में विराजा मेरा चैत्य इसे तूने पूर्व में कभी नहीं देखा था, कभी नहीं जाना था, उसको निहारना, यही तेरी अपूर्व चैत्य वंदना है। करो चैत्य वंदना।

देहं चैत्यालयं प्राहुर्देही चैत्यं तथोच्यते।
तद्भक्तिश्चैत्यभक्तिश्च प्रशस्या भववर्जिता।।

२२/ज्ञानांकुश।।

देह चैत्यालय है, देही में विराजा चैत्य है, उसकी वंदना ही निश्चय से चैत्य वंदना है। यह परमार्थ दृष्टि है। व्यवहार से जिनबिम्ब। वस्तुस्वभाव को नहीं जानने वाले जीवों ने तत्त्व में खिंचाव किया है। इस जिनालय की घड़ी में पौने पाँच बज रहे हैं। इसको कौन नहीं जानता कि इतने बज रहे हैं? मैं नहीं जानता हूँ या आप नहीं जानते हो?

इस ज्ञेय को जैसा मैं जान रहा हूँ, वैसा आप भी जान रहे हो; परंतु ध्यान रखना, मैं मेरेरूप वेदन करके जान रहा हूँ। आप अपनेरूप वेदन करके जान रहे हो। ऐसे–ही चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव शुद्धात्मा को भी जानता है, अशुद्धात्मा को भी जानता है, शुद्धाशुद्ध को भी जानता है। नहीं जानता तो जीवद्रव्य कैसा? चतुर्थ गुणस्थान कैसा? क्या बहिरात्मा के स्वरूप को नहीं जानता? अशुद्धात्मा को नहीं जानता? जानता है, इसलिए क्या वह सिद्धों को नहीं जानता? अपने श्रुतज्ञान से जानता है। क्या अर्हंतों को नहीं जानता? बारहवें गुणस्थान तक अशुद्धजीव, तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में शुद्धाशुद्ध जीव, सिद्ध भगवान् शुद्ध जीव। ऐसा प्रत्येक जीव जानता है। नहीं जानता तो उससे कहना कि किसकी प्राप्ति के लिए तू बहिरात्मपना छोड़ रहा है, किसके लिए तू अंतरात्मा बना है, किस शक्ति के बल पर तू परमात्मा बनेगा? अरे! आप इसकी बात कर रहे हो? एक सुनार–लुहार भी इस बात को जानता है कि लोह धातु से लोहे का आभूषण बनेगा, सोने की धातु से सोने का

आभूषण बनेगा। जब जानता है, तभी अपनी मेहनत करता है, सुनार कभी अंधपाषाण मैं अपनी मेहनत करने नहीं जाएगा। ग्यारह अंग का पाठी प्रथम गुणस्थान में वह शास्त्रज्ञ होने पर भी अज्ञानी। एक चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव अल्पश्रुत का ज्ञाता, वह अज्ञानी शास्त्र की अपेक्षा से ज्ञानी। एक दर्शनमोह से दूषित चित्त है, इसलिए अज्ञानी। एक दर्शनमोह से रहित चित्त है, इसलिए ज्ञानी। परंतु वह जो ग्यारह अंगपूर्व का ज्ञाता रहा है, लिखा है श्रुत में वह जानता है, मान्यता में कुछ भी नहीं है। जैसे कि भव्यसेन नाम के मुनिराज के लिए क्षुल्लकजी ने पानी सुखा दिया, उन्होंने जलाशय का पानी कमंडलु में लिया, फिर क्षुल्लकजी पूछते हैं महाराज! इसमें तो एकेन्द्रिय जीव कहा जाता है? 'हाँ, ग्रंथों में लिखा है, परंतु देखा किसने?' अंकुरण कर दिया, उस पर चल दिए, महाराज! एकेन्द्रिय जीव है। 'हाँ, ऐसा ग्रंथों में लिखा है। कुन्दकुन्द स्वामी ने इसका भी उत्तर दे दिया है।

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।।२७५ स.सा.।।

समयसारजी ग्रंथ जो है, वह चौदह गाथाओं में है। पीठिका की गाथाओं में है, उतना ही समयसार है। शेष जो गाथाएँ हैं, वह कुन्दकुन्द स्वामी ने अपनी ही चौदह गाथाओं पर टीका की है। मात्र पाँच मिनट देना निज के लिए। उस पाँच मिनट के भीतर न परमात्मा आना चाहिए, न पापात्मा आना चाहिए। मात्र आत्मा आना चाहिए। आप महावीर स्वामी को बिठालोगे तो शुद्ध अनुभव में नहीं ला पाओगे, फिर अन्य को तो छोड़िए। मात्र स्वतंत्रता के वेदन के लिए कह रहा हूँ। 'मैं स्वतंत्र हूँ।'

कितने मानसिक तनाव हैं, मानसिक बीमारियाँ हैं। इस विद्या से मानसिक रोगी ठीक हो सकते हैं। **जितने मानसिक रोगी हैं, वे या तो पर के शब्दों को ग्रहण करके बैठ गए हैं या आँखों से पर के वैभव को देखकर या पर की स्त्री को देखकर या पर की सम्पत्ति को देखकर या पर की विपत्ति सुनकर जो अपने में बसा बैठते हैं, वे ही पागल होते हैं।** जो इनको नहीं स्वीकारता है, वह जीवन में कभी पागल नहीं हो सकता, हमेशा मुस्कराएगा ही।

नेत्रों की ज्योति चली जाती है। जिसको तुम देखना चाहते हो वह दिखना बंद हो जाए, तो आँखों की ज्योति भी चली जाती है। क्या काम के उद्वेग में आया व्यक्ति प्राण नहीं छोड़ देता? क्या उसके दाँतों की बत्तीसी नहीं बंध जाती? क्या फैन नहीं निकलता? अज्ञानी हैं जो भूत–प्रेत लगे हैं ऐसा मान बैठते हैं। कोई दवाइयाँ कराने लगते हैं। ऐसा लोक में युवाओं के साथ होता है।

वह रहस्य समझते नहीं हैं। उसी में बीमार होकर पागल होकर ऊपर भी चले जाते हैं। आपको आगम पढ़ना चाहिए। **सांप डसता है तो उसके सात वेग आते हैं, काम डसता है तो दस वेग आते हैं। कालिया साँप डसे तो सातवें वेग में मरेगा। काम डस लेता है तो दसवें वेग में मर जाते हैं।** विद्या है, जिनागम के रहस्य हैं। इन पर शोध होना चाहिए। लोग वेदों में विज्ञान खोज रहे हैं, आप वीतरागविज्ञान में विज्ञान नहीं खोज पा रहे हो।

ज्ञाता ने अज्ञानमयी ज्ञेयों को अनंत बार जाना है, पर ज्ञानमयी निज ज्ञेय को एक बार भी नहीं जाना। एक बार भी जान लिया होता तो इस खोटे दग्ध काल में यहाँ बैठने को नहीं मिलता। पञ्चम काल में आना इस बात की प्रमाणिकता है कि हमने निज ज्ञाता को जाना ही नहीं है। मेरा संपूर्ण लक्ष्य परमात्मा की उपासना पर भी गया तो परमात्मा के परमज्ञायकभाव पर नहीं गया, परमात्मा की परम औदारिक पर्याय पर गया। हमने परमात्मा की परम औदारिक पर्याय का अवलोकन अनंत बार किया, पर एक बार परमात्मा के परमपारिणामिक भाव पर लक्ष्य गया होता तो परमात्मा की भूतार्थ भक्ति हो जाती। गोरे और साँवले को ही हम देखते रहे। छोटे–बड़े बाबा को ही हम निहारते रहे, परंतु अनंत ज्ञाता, अनंत सुख का भोक्ता, अनंत वीर्य से युक्त, अनंत बल से संपन्न, ऐसा जो अर्हद् स्वरूप है, उस पर लक्ष्य नहीं गया।

यहाँ कुन्दकुन्द स्वामी ने जिस ज्ञायकभाव की व्याख्या की है, बहुत गूढ़ है। छोड़ना, ग्रहण करना एक सीमा का विषय है, तत्त्व की प्ररूपणा क्या आप पर की निंदा को समझते हैं। दो गोरे दो साँवले में भगवान् की अवहेलना नहीं कर रहे हैं। ये भगवान् की व्यंजन पर्याय में जो वर्ण है उसका नाम है। दो गोरे, दो साँवले इसमें भगवान् के ज्ञायकस्वभाव का कोई लक्ष्य नहीं है। जैसे नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं हो जाता, ऐसे–ही भगवान् की देह का वर्णन करने से भगवान् का वर्णन नहीं हो जाता। राजा तो राजा ही है। दुर्ग–किला, सेना ये राजा से अत्यंत भिन्न हैं, तब भी ये किसका राज्य है? अमुख सम्राट का। कौन जा रहा है? सम्राट जा रहा है। पर जा रही सेना है। जैसे व्यवहार में सेना को रथ आदि को राजा का जाना कहा जाता है, ऐसे ही तीर्थंकर भगवान् के समवसरण वैभव शरीर आदि के वर्णन को तीर्थंकर का वर्णन कहा जाता है। यह भी व्यवहार से सत्य है, लेकिन परमार्थ से राजा तो राजा ही है। ऐसे–ही जो ज्ञायकभावी भगवान्–आत्मा है, उतना ही भगवान् है। उस भगवत्ता की सिद्धि के लिए निर्ग्रंथ मार्ग है और निर्ग्रंथ मार्ग जो है, एक सीमा तक स्वीकार–ग्रहण योग्य है और त्यागने योग्य है।

जो वीतराग चारित्र रत्नत्रय धर्म है, उस धर्म के लिए निश्चय–व्यवहार से स्वीकार करना

ग्रहण मार्ग है। पाँचों इन्द्रियों के विषय–कषाय को छोड़ना, ये त्याग मार्ग है। इसलिए हेय उपादेय मार्ग उत्कृष्ट मार्ग नहीं है, पर हेय उपादेय मार्ग पर आए बिना उस उत्कृष्ट मार्ग पर पहुँच नहीं सकते। ग्रहण–त्याग का भाव जो है, यह राग भाव है, परसापेक्ष मार्ग है और मोक्षमार्ग जो है वह परनिरपेक्ष है। **'उपेक्षा भावोत्कर्षः'** उत्कर्ष कोई भाव है उसका नाम है उपेक्षा। आनंद तो उपेक्षा में है। जो उपेक्षा के आनंद को नहीं प्राप्त कर पाता, उसकी जगत् में उपेक्षा होती है। जो जीव इंद्रियसुख को नहीं छोड़ पाता, उसको तद्जन्य सुख के जो निमित्त हैं; उनके प्रति कैसे हाथ–पैर जोड़ना पड़ता है? उन भाग्यहीनों से ही पूछा जा सकता है कि कितनी बार कैसा गहनतम अनादर होते दिखाई देता है। बेटे की माँ से भी ये जीव कई बार दुत्कारा जाता है। जब दृष्टि को तिरछा करके देखती है, तब उस समय देखा जाए किसी तटस्थ पुरुष द्वारा ये भावी भगवान् बननेवाला सिद्ध, कभी सिद्धशिला पर विराजेगा, लेकिन आज कैसे नारी की चाकरी कर रहा है। **मेरे मित्र! जब आप दर्पण के सामने माँग निकाल रहे थे, तब एक तटस्थ योगी निहार रहा था कि योगी के भोजन में आ जाए बाल तो अंतराय करा दे। धिक्कार हो। अमल विमल आत्मा को भूलकर अज्ञानी तू मल को सजाने में लगा हुआ है। जैसे माँग को ठीक कर रहा है, वैसे परिणामों को ठीक कर लेता तो माँग को ठीक करने की क्या आवश्यकता? केशलोंच न हो जाते? भैया! माँग वे ही निकालते हैं जिनके परिणाम मलिन होते हैं। क्रीम पावडर वे ही लगाते हैं जिनके चित्त मलिन होते हैं। चित्त मलिन हुए बिना पर्याय को सजाने के परिणाम हो ही नहीं सकते।**

जो इंद्रिय सुख मार्ग है वह पर सापेक्ष है। पर सापेक्ष जो है, वह परिपूर्ण रूप से सम्मानविहीन मार्ग है। किसी की पत्नी भी लड़ती हो तो मेरे पास उपाय है। आप पाँच दिन का अखण्ड मौन ले लेना और अपना कार्य अपने हाथ से करना। उसको कभी डाँटना मत। कुछ बोलना मत। आवश्यकता पड़ जाए तो उसको थाली लगाकर भोजन करा देना। आप विश्वास रखना, वह जीव कहेगा हे स्वामी! क्षमा करो। बोल भाई! सत्य है? यानि बात की गहराई में आइये आप। यदि मेरी बात समझ में नहीं आ रही हो तो अपने बेटे की माँ से भी पूछ लेना। देवी! जब तू प्रथम दिन मेरे घर में आई थी तब तेरा घूंघट पड़ा हुआ था तो पड़ौस की बहनें–माताएँ तेरा चेहरा देखने क्यों आ रहीं थीं? और जिस दिन से उसका घूंघट ऊपर उठ गया, बताओ कितने लोग देखने आए? यानि कि जीव इंद्रियविषयों में जा रहा है, वह पर से उपेक्षित हो जाता है और जो तटस्थ है, जिसको इंद्रियसुख में प्रयोजन नहीं है। जब उपेक्षा संयम में जाता है तो सारा विश्व उनकी अपेक्षा करता

है। हे वर्द्धमान! आपने वैशाली के वैभव की उपेक्षा कर दी तो सारा विश्व आपके प्रति अपेक्षित हो गया।

जिन–जिन को लोक में पूज्य होना है, त्रिलोकपूज्य होना है, तो अपनी पूजा का भाव त्याग करके चले जाना, आप पूज्य हो जाओगे। जब–तक पूजा की भावना आपके अंतर में विराजती है, तब–तक पूजनेवाला तो ठीक है, पूछनेवाला भी नहीं है। ज्ञानी! सम्मान देकरके सम्मान पा लेना, ये सम्मान नहीं है। पर का अपमान करके सम्मानित हो लेना, ये सम्मान नहीं है। न सम्मान देना, न सम्मान लेना। मान–सम्मान से अपनी विदा ले लेता है तो वह जगत् के सम्मान को प्राप्त होता है। यहाँ पर क्या कह रहे हैं अमृतचंद्र स्वामी। जब सब छोड़ दिया, संयम ग्रहण कर लिया, यहाँ तक व्यवहार पक्ष था। विमान की द्रुतगति बहुत ऊपर होती है कि बहुत नीचे होती है? बहुत ऊपर। भैया! उसकी ऊँचाई की भी सीमा है कि नहीं? कभी धारावाहिक चलता है, तो कभी जमीन पर दौड़ते दिखाई देता है, लेकिन स्थिर रूप से जब चलता है तो वह विषय अलग हो गया। ऊपर भी नहीं जा रहा है, नीचे भी नहीं आ रहा है, मध्य में धारा चल रही है। ऐसे–ही जो परिणामों की धारा है वह न कषाय के उद्रेक में है, न शुभ उपयोग के उद्रेक में है। इन दोनों को छोड़करके जो शुद्ध उपयोग की मध्यम धारा है, बह रहा है परिणाम जीव का। वह जो परिणमन है, वही आत्मा का 'हान उपादान' शुद्ध स्वरूप है **'हान उपादान शून्यं'।** अभी तक तो छोड़ रहे थे, समाप्त। मुझे पिच्छी कमण्डल लेना है, समाप्त। ये भी कष्ट है, विकल्प है, दुःख है। मुनि की मुद्रा को आपने जाना है, अभी तक ये मुनि के उपयोग की धारा चल रही है। **लिंग के मुनि आँखों से दिख सकते हैं, पर लिंगी के मुनि चाक्षुष नहीं हैं।** ये लिंग–मुनि की व्याख्या नहीं हो रही है। ये लिंगी–मुनि की व्याख्या हो रही है। 'हान उपादान शून्यो'। मैं किसी का ग्राहक नहीं हूँ, तो किसे ग्रहण करूँ? मेरे में कोई है नहीं, तो मैं किसे छोड़ूँ? मैं किसी को स्वीकारता नहीं हूँ, मैं अग्राहक हूँ, निज ज्ञानस्वरूप मात्र को ही ग्रहण किए हूँ। इसलिए ग्राहक हूँ, पर ग्रह को किञ्चित् मात्र भी मैं स्वीकार नहीं करता हूँ। अग्राही हूँ, पर अब मैंने ग्राही–अग्राही के विकल्प को भी समाप्त कर दिया है, इसलिए मैं शून्यस्वरूप हूँ।

पानी वाष्पित हो जाता है एक निश्चित उष्मा के मिलने पर। वैसे ही एक निश्चित ध्यान की उष्मा के मिलने पर ये कर्म वाष्पित हो जाते हैं। भगवान्–आत्मा ऊर्ध्वगमन कर जाती है। पाषाण से परमात्मा कैसे बनेगी, ये तो आप देख सकते हो। पर चेतन आत्मा परमात्मा कैसे बनता है, ये समयसार से देखो या कुछ वेदन हो जाए या कुछ भी वेदन न हो, ये ही आनंद है।

वेदन को मात्र जानो। ये ही योगी की परम धारा है। वही ग्रहण–त्याग–शून्य शक्ति है। यानि कि मैं किसी भी श्रावक से नहीं कह रहा हूँ कि भाई! आँखें बंद कर लो, श्वासें धीमी कर लो। जब स्वरूप की व्याख्या में लीन होता है तो स्वयमेव ही श्वासें तुम्हारी मंद हो जाती हैं और नेत्र स्वयं बंद हो रहे हैं तब समझ लेना कि कोई ऐसा भी अलौकिक आनंद है जो आँखों से नहीं देखा जाता, कानों से नहीं सुना जाता, रसना से चखा नहीं जाता, स्पर्श से स्पर्शित नहीं किया जाता, फिर भी वह होता है। क्या होता है? वही होता है जो होता है। वही भगवान् आत्मा का आनंद होता है। यही परम अद्वैत है, यही परम ब्रह्म है। ऐसे ब्रह्म में जब लीन होता है श्रमण, तब ज्ञानी **'अर्घावतारन असि–प्रहारन में सदा समता धरन'** फिर कोई विकल्प नहीं। आप गृहस्थ होकरके घंटों तक यहाँ सुनने बैठ सकते हो, तो योगी उसका पूरे जीवनभर आनंद ले सकता है, अनुभूति ले सकता है। उसके आनंद का क्या व्याख्यान होगा? इसलिए पण्डित दौलतरामजी साहब को लिखना ही पड़ गया कि– **'यो चिंत्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यौ, सो इंद्र नाग नरेंद्र वा, अहमिन्द्र कै नाहीं कह्यो।'**

हे श्रावको! इन योगियों को उसी को चखने दो, बाहर के टुकड़ों में, प्रपंचों में मत लगाओ। जब–तक पञ्चम काल की श्वास चल रही है, तभी तक इस भारत की भूमि में उस आनंद को चखने का समय है, अन्यथा इसके बाद इस भारत की भूमि में आनंद चखने का समय विलीन हो जाएगा। जितने प्रज्ञाशील बुद्धिशील लोग हैं, वे इस मान्यता को स्वीकारेंगे। मित्र! इच्छित भूख हो और इच्छित भोजन हो, उस समयकाल में कोई थाली खींच ले जाए, उस समय आपके परिणामों की दशा क्या होगी? जैसे किसी की इच्छित थाली को श्वान खींच ले जाए, ग्रास हाथ का हाथ में रह जाए।

ज्ञानी! हिंसक जानवर जीवन में कभी पालना नहीं। आप चाहो मेरे घर की रक्षा होगी। जिसको घर तुम्हारा चुराना ही है, तुमने बाँधना सीखा वह छोड़ना भी सीखता है। **दूसरे को बाँधकरके घर में रखना, ये दूसरे की स्वाधीनता का हरण है।** आपकी दृष्टि में 'आज मैं छोड़ दूँगा तो कहाँ भटकेगा? इसलिए मैं उसको बाँध के रखे हूँ।' भाई! एक रागी का ऐसा सोच होता है, पर सत्यता ये है कि उसकी स्वाधीनता का हरण किया है आपने। वह जीव भी बंधन में रहना पसंद नहीं करता। जैसे ८ वर्ष का बालक जब तक नहीं हो जाता, कोई भी पाप करता है तो वह माता–पिता को दोष लगता है। ऐसे–ही **जिसके घर में स्वान, बिल्ली आदि पशु पलते हैं, वे किसी भी जीव को पकड़कर लाएँगे, हिंसा करेंगे उसका दोष पालनहार को ही लगता है**

और पूरे घर में अशुद्धि रहती है। दूसरे की थाली को लाने वाला पूरे घर में अशुद्धि फैलाता है। ऐसे–ही एक योगी अशन बनाए, स्वयं ही बनाए, स्वयं ही खाए और ऐसा असन बनाने वाले योगी की थाली को तुम उठा ले गए, यानि स्वरूप प्राप्ति के लक्ष्य में लिप्त योगी को आपने प्रपंच में डाला है, तो हे श्रावको! समझना तुम उसी के समान हो जो तेरी थाली उठा ले गया था। वह तो आपके घर में ही गंदगी फैला रहा था, पर तुमने तो पूरे चारित्र के घर में गंदगी फैला दी। कठोर है भैया! लेकिन जो है, सो है।

'हान–उपादान शून्यं'। ये धारा भीतर की चल रही है। स्थिर धारा है। पुद्गल को सँभालने की विद्या तेरे पास कितनी सारी है, पर पौरुष को सँभालने की विद्या योगी के पास है। भैया! इस पक्ष में कभी नहीं जीना कि मैंने सीमांकन कर लिया है, इसके बाहर नहीं जाना। अब पूरी तेरी आयु हो जाएगी, तू इसके बाहर नहीं जाएगा और सारा विश्व तुझे यहीं दिखता रहेगा, पर तू विश्व के ज्ञान से अनभिज्ञ रहेगा।

यहाँ जिस विषय की व्याख्या चल रही है, वह सीमांकन की व्याख्या नहीं है। लोगों ने क्या किया है? आपको बांध रखा है। बाहर चले जाओगे तो कुछ–और समझ लोगे तो तुम मेरे से दूर चले जाओगे। क्या स्वर्ग ही सर्वस्व है या उसके ऊपर भी कुछ है? हाँ, है।

बच्चे आकरके कहते हैं कि मुझे आशीर्वाद दे दो महाराज। किस बात का? जिससे मैं डॉक्टर, इंजीनियर, वकील आदि बन जाऊँ। वो पागल जो नौकर बनने का आशीर्वाद माँगने आया है, जबकि मैं तुझे भगवान् बनाने की बात कर रहा हूँ। कितनी विशिष्ट तेरी प्रज्ञा है। जिसने तुम्हें पुद्गल के टुकड़े डाले हैं, वह कहता है कि भैया! समय पर आना और तुम कहीं जा नहीं सकते। ये तुम्हारे लिए सीमांकन है। यानि प्रज्ञा आपकी, पर इतना बाँध कर रखा गया कि आप उसके आगे नहीं सोच सकते हो। जैसे आपको बाँध कर रखा है कि आप यहाँ कार्य करो। इसके आगे नहीं सोचना। ऐसे–ही लोगों ने एक निश्चित पुरुष की घोषणा कर दी और उसको सारी सत्ता सौंप दी और सारी सत्ता सौंपने के बाद सारे विश्व को सूचित कर दिया कि सुनो, जो वहाँ सर्वसत्तावान बैठा हुआ है, वह जो कुछ करेगा, वह होगा। आप सब मात्र अंश हो। आप मात्र भक्त बनकर जियो, परमात्मा एक है। जब कुछ तत्त्वज्ञों ने अनुभव किया कि ये पराधीनता में बाँधकर रखा गया है, तब जैन दर्शन कहता है कि नहीं, जो सर्वसत्तावान है, वह हुआ कैसे है? वह विद्या भी तो मेरे पास है। उस विद्या में प्रवेश करके मैं भी सर्वसत्तावान बनने की क्षमता रखता हूँ, इसलिए मैं अनेक ईश्वारवादी हूँ, एक

ईश्वरवादी नहीं हूँ। यदि आपने भी किसी एक को पकड़ लिया और कहा कि जैसा मैं कहूँगा वैसा ही है, तो मैं कहूँगा कि यदि कोई हाथ–पैर पकड़के डाले तो कम–से–कम व्यक्ति छूटने का पुरुषार्थ करता है, पर जो ज्ञान की विपरीतता की हथकड़ियाँ बाँधके डाल दे, वह छूटने का प्रयास भी नहीं करता।

सबसे बड़ा बंधन यदि कोई है तो ज्ञान की बेड़ियों में जकड़ जाना है। इसको खोलने के लिए स्याद्वाद की छैनी लगाना चाहिए। आपको अनेकांत दृष्टि होना चाहिए। अपनी निज सत्ता को समझकर जब जड़ पानी शुद्ध हो सकता है, तो ये चैतन्य भगवान्–आत्मा है भले ही खन्ती में पड़ी हो, इनको मैं वाष्पित करके भगवान् बनाऊँगा। ये है समयसार, पुद्गल को शक्तिमान बनाने की विद्या। सारा विश्व बोल रहा है, लेकिन जिसको शक्तिमान बनने की कला आ रही है, उस चैतन्य भगवान्–आत्मा को शक्तिमान बनने की विद्या क्यों नहीं सारा विश्व बता रहा है? इसलिए भैया! जितना द्रव्य अपने को पुण्य से मिला है, इस सारे द्रव्य का उपयोग ऐसे सम्यक् करो कि जो जिनवाणी के गूढ़ रहस्य हैं, वे विश्व के मस्तिष्क में जाना चाहिए। अभी एक समाचार आया था, न्यूयार्क में एक बालिका अपने पिता से कह रही है कि पिताजी! इन महाराज को अपन यहाँ नहीं बुला सकते हैं। क्या? उसके पिता ने इंटरनेट से कोई तस्वीर निकालकर उसको दे दी और कहा तुम इनको तस्वीर में देख लो। मतलब समझो, वस्तुस्वरूप को समझने की आकांक्षा जन–जन के अंदर है। सत्यता ये है, कि जब **मिश्री खाना चाहता है आदमी, पर नहीं मिलती है तो गुड़ से ही काम चलाता है।**

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुतामादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्त सहजस्फार प्रभाभासुरः शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति।।२३५।।

अन्य अन्य है, अनन्य अनन्य है। आगमग्रंथों को जान लेना भिन्न विषय है। जो आगम को जान रहा है, उस जाननहार को अन्य से भिन्न स्वीकार लेना भिन्न है। योगधारा, उपयोग धारा। **जिसकी उपयोग धारा पवित्र है, उसकी योगधारा नियम से पवित्र होगी।** जिसकी योगधारा पवित्र नहीं है, उसके उपयोग का कोई विशेष नियोग नहीं है,पर जिसकी योगधारा पवित्र है, उसकी उपयोग धारा पवित्र हो, कोई नियम नहीं है। योग तो नट भी सँभाल लेता है। बाँस के ऊपर दौड़ लिया, योग सँभाल लिया, उपयोग कहाँ है? **सफेद पक्षी जलाशय में खड़ा हुआ है वह भी योग सँभाले हुए है। कितना स्थिर होकर खड़ा हुआ है। पर उसका लक्ष्य जल में साधना नहीं है, जल में मछली को पकड़ना है। ऐसे–ही जिस जीव ने काययोग को तो स्थिर कर**

लिया, पर अंतरंग का उपयोग विषय–कषायों में युक्त है, ऐसे जीव की जो धारा है, वह वकवृत्ति है।

आचार्यभगवन् अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं **'अन्येभ्यो व्यतिरिक्तं'।** मैं अन्य से व्यतिरिक्त हूँ। मैं अन्य से अत्यंत भिन्न हूँ। सँभलो, ये शब्द भी तुम्हारे कान तक मात्र पञ्चम काल तक ही हैं, कलिकाल तक ही हैं। छटवें काल में ये शब्द भी सुनने को नहीं मिलेगा। सँभल सको तो सँभल जाओ, अन्यथा नियत है कि जैसी भावाबलि होगी वैसी भावाबलि होगी। परमात्मा तुम्हें सुधारने नहीं आएगा। सुधार आत्मा से ही होगा। जिनकी मानसिकता है कि भगवान् मुझे ठीक कर देगा, वे अपनी अज्ञानता को ठीक कर लें। संसार में कितने रागी–द्वेषी जीव हैं, इन सबकी चिंता में भगवान् बैठ गया तो भगवान् को निज का आनंद लेने का समय नहीं मिलेगा। भाई! तुम परमात्मा को दोष दे रहे हो, यथार्थ बताऊँ, मैं ही आपकी सुनने लग जाऊँ तो मेरी सामायिक ही न हो पाए। मैं इतना बोल दूँ कि आज मैं आपके सारे दुःख दूर कर रहा हूँ। **हे जीव! तुम दूसरे के कष्टों को दूर करने की सांत्वना तो दे सकते हो, पर किसी के कष्ट दूर कर नहीं सकते हो। यदि दुनियाँ के कष्टों को दूर करने की सामर्थ्य किसी में होती तो आज कोई दुःखिया ही नहीं दिखाई देता। जब स्वयं का पुण्योदय सामने आता है तो कष्ट विलीन हो जाता है और जब पापोदय आता है तो पुण्यात्मा के घर में भी कष्ट देखे जाते हैं और पाप क्षीण हो जाता है तो पापी जीव के घर में भी संपत्ति देखी जाती है।** पुण्य–पाप दोनों की धाराओं में अपने को नहीं भूलना चाहिए। विपत्ति–संपत्ति इन दोनों की प्राप्ति में अपने को नहीं भूलना चाहिए। ये ही परीक्षा की घड़ियाँ हैं। मस्तिष्क को संतुलित बनाकर चलना, यही दीर्घ तपस्या है। विपत्ति व संपत्ति दोनों को साम्यदृष्टि से देखना और विपत्ति व संपत्ति के काल में अपने मस्तिष्क को विचलित नहीं करना, यही जीवन की दीर्घ साधना का फल है। ये कब संभव है? जिसने ८ वर्ष की उम्र से तत्त्वनिर्णय कर लिया हो और समझ लिया कि कारोंच कमरे में है, देह में नहीं है। यानि कारोंच देह में है, आत्मा में नहीं है। **'अन्येभ्यो व्यतिरिक्तं'।** ध्यानस्थ श्रमण, ऋषि, मुनि, योगी जब तत्त्व की गहराई में प्रवेश करता है, तो उसके चिंतन की धारा क्या है? शब्द से भी मैं भिन्न हूँ, फिर ये दुनियाँ का वैभव सब दृश्यमान द्रव्य है, संयोगभाव है, पर मेरा निज स्वभाव नहीं है।

ऐसा लगता है जैसे किसी ने आज तक मृत्यु नहीं देखी हो। यदि एक क्षण भी भिन्न पुरुष की मृत्यु का तुमको निर्णय हो जाए, तो इतनी हाय–हाय की आवश्यकता ही नहीं है। जितना द्रव्य

अर्जित कर रहे हो, क्या नियत है कि ये सब आपको भोगने को मिलेगा? मृत्यु के साथ जीव क्या–क्या साथ लेकर गया? उसके जाने के बाद क्या घर में कुछ अभाव आपको दिखा? अंश मात्र भी भवन का प्रदेश जीव के साथ गया क्या? जिन–जिन के प्रति राग था, क्या वे गए हैं? जिनके प्रति द्वेष था क्या वे गये हैं? राग–द्वेष करके जो कर्म बाँधे थे, वे जरूर साथ गए हैं। **भैया! हम परिवार के निमित्त से पाप करके धनसंग्रह तो कर सकते हैं, पर धन को साथ नहीं ले जा सकते।** अधिक संग्रह हो गया और दो बेटे हुए, तो वृद्ध–अवस्था में और–कुछ देखने को तो नहीं मिले, पर उन दोनों के झगड़े देखने अवश्य मिल जाएँगे। मृत्यु के पूर्व, वृद्धावस्था के पूर्व ही समझदार पिता को अपने बेटों को अलग कर देना चाहिए और इस टेंशन से भी मुक्त हो जाना चाहिए कि अंतिम दशा में मेरा ध्यान कौन रखेगा। ज्ञानी! बेटे ध्यान नहीं रखते हैं। ध्यान रखने वाला तेरा भाग्य होता है। पुण्य होता है जिससे वृद्धावस्था में भी ये झगड़ा देखने को नहीं मिलते। स्पष्ट बोलना कि अब मैं आपको आगे कुछ देने वाला नहीं हूँ, हानि–वृद्धि अब तुम्हारे पाप–पुण्य पर होगी। हमारे आगम में कितनी निर्मल व्यवस्था है।

आचार्य परमेष्ठी को अपने जीते–जीते योग्य, अनुभवी शिष्यों को संघ व्यवस्था सौंप देनी चाहिए। धर्म, संघ, समाज का हित भी यदि आचार्य चाहता है तो उसे अपने सान्निध्य में ही पदारोहण करके चला जाना चाहिए। घर छोड़ा, परिवार छोड़ा, पर पद का राग नहीं छोड़ा, सो आपस में विकल्प खड़े हुए हैं। कहाँ गया **'अन्यभ्योदोव्यतिरिक्तमात्मनियतं'** आत्मा अन्य से नित्य ही व्यतिरिक्त है। ध्यान करते–करते कहाँ तक पहुँचेगा जीव? चींटी तुमको काट रही है उस समय कहना **'व्यतिरिक्तं आत्मनियतं अन्येभ्यो'** आत्मा इस देह से व्यतिरिक्त है। **चींटी के डसने पर भी चित्त जिसका नहीं हिल रहा, वह साँप के काटने पर भी स्थिर बैठ सकता है और सिंह के आने पर भी स्थिर हो सकता है। मच्छर के आने पर ही तुमने हाथ पटक दिया, हे हिंसक!** आत्मा भिन्न है, देह भिन्न है, ये शब्द का विषय अभी अनुभूति में नहीं आया। ये कछुआ छाप, ये आलआउट, ये जितने उपकरण हैं, सब हिंसक उपकरण हैं। धर्म अलग विषय है। अपनी देह की रक्षा के निमित्त दूसरों के प्राणों का कोई ध्यान नहीं है। ये आपकी परीक्षा की घड़ी है। जब सर्प ने आपको डस लिया हो और मंत्रवादी कह रहा है कि नाग जहर तो खींच लेगा, पर उसकी मृत्यु हो जाएगी, पर तुम्हारी रक्षा हो जाएगी। बोलो, क्या करने का? तब आप कहोगे कि भैया! जैसे बने मेरी रक्षा कर लो। मेरे तो परिवार है, उसके थोड़े–ही परिवार है। ज्ञानी! धिक्कार हो तुम्हारे राग को। अपनी देह के राग के वश होकर दूसरे की मृत्यु पर तुमको किञ्चित् भी खिन्नत्व भाव नहीं

आ रहा है। तत्त्वज्ञानी योगी कहेगा 'नहीं, इस विनाशीक देह के राग में मैं पञ्चेन्द्रिय जीव की हिंसा नहीं होने दूँगा।' इतना भीतर का निर्णय होने लग जाए तो समझ लेना कि तुम धर्मात्मा हो। ये समयसार बोल रहा है।

जो जीव देह की रक्षा के लिए अनेक देहियों की हत्या कराने की औषधि का सेवन कर रहा है, वह अपने आपको जैन न स्वीकारे, श्रावक तो दूर है। यदि सच्चा जैन कोई है तो वह है श्रमण, जो ब्रह्म में लीन है। वह श्रमण ही ब्राह्मण है। निज स्वभाव की प्राप्ति में लीन है, वह श्रमण ही ब्राह्मण है। निज–जिन स्वभाव की प्राप्ति में तल्लीन हैं, वे ही जैन हैं। खमण, श्रमण, यति, ऋषि, योगी, वातरसायन– ये जैन श्रमणों के नाम हैं। इस **श्रमणपरंपरा में कोई विशेषता है तो मात्र ये है कि देह की रक्षा पर ध्यान न देकर धर्म की रक्षा पर ध्यान देते हैं।** जीवन का फल है रत्नत्रय, रत्नत्रय का फल है समाधि। मैंने समाधि के लिए ही तो रत्नत्रय धर्म स्वीकार किया है। अब तो निर्णय ये है कि जीवन चले तो सहज चले और मरण आ जाए तो सहज आ जाए। उसकी रक्षा के राग में परजीव की हत्या के परिणाम उसके किञ्चित् मात्र भी नहीं होंगे। **'बिभ्रत्पृथग्वस्तुता'** ऐसा विभृत्व भाव का चिंतन कर रहा है। ये जीव क्या है? उस महाश्रमण के भावों की दशा यही है। अनुपम मुनि दशा। स्वभाव से नियम से प्रत्येक द्रव्य पृथक्–पृथक् ही है। मेरे कर्म का वेदन आपके हाथ में नहीं है, आपके कर्म का वेदन मेरे हाथ में नहीं है। आप देखकरके मात्र हर्ष–विषाद ही कर पाओगे, पर मेरी वेदना को बाँटने का तुम्हारे पास कोई सामर्थ्य नहीं है। मात्र आर्त्त–रौद्र ध्यान है।

अंतरंग की तपस्या की व्याख्या चल रही है, ये ध्यान रखना। जो श्रमण हैं, वे जंगलों में बैठे–बैठे कर क्या रहे हैं? संपूर्ण जीवन की साधना का कोई पुरुषार्थ है, वह यह है कि मैं सबसे भिन्न हूँ, और– कोई साधना नहीं है। **कितनों को लेकर आए हो, कितनों को लेकर जाओगे? अपरिचितों के बीच में आए हो, अपरिचित होकर ही जाओगे।** अनादि से परिचय तेरा मेरा नहीं है। अनादि से परिचय राग का है, द्वेष का है। जो परिचय बढ़वा रहा है ये राग इतना शत्रु है हमारा कि तुरंत अपना बना लेता है, दूसरे को, जबकि अपने होते नहीं हैं। जब मैं पर को अपना बना लेता हूँ, तो उससे मित्र को अपना शत्रु मानने लगता हूँ। ये मेरे हैं, ये मेरे नहीं हैं। जैसे वो तेरा तेरे में अत्यंताभाव है, ऐसे ही इसका भी तेरे में अत्यंताभाव है। तुम कहाँ जड़बुद्धि लगाए बैठे हो कि ये मेरा, ये तेरा? ज्ञानी! दोनों ही तुम्हारे नहीं हैं।

लगता है कि २३५ नंबर का कलश देखा नहीं लोगों ने आज तक।

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि, मूढः स्वानि प्रपद्यते।।८।।

(इष्टोपदेश)

धिक्कार हो। शरीर मेरा, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र यहाँ तक कि शत्रु को ये मेरा शत्रु है। महाराज! मैं इससे बात नहीं करूँगा। यानि कि शत्रु में भी 'मेरा', उसमें भी प्रीति है। तुम बात नहीं करते हो क्योंकि ये आपका शत्रु है, तो बात कर ही क्यों रहे हो? मैं इसे अपना नहीं मानता हूँ, तो व्यर्थ में उसके बारे में बात करके कर्म का बंध क्यों कर रहे हो? एक बालक बुंदेलखण्डी भाषा में मेरे से कहता है कि महाराज! ये भैया मेरे से 'सिर्री' बोल रहा है और रोने लगा। मैंने कहा 'बेटा! तू सिर्री तो है ही।' आँसू तो उसके बंद हो गए, पर मेरी तरफ देखता है कि आप भी कह रहे हो। जब तू सिर्री नहीं है और वह तुझे सिर्री बोल रहा है, तो तू परेशान क्यों होता है? सिर्री यानि पागल। कितने ऐसे अज्ञानी जीव हैं जो यह कहते हैं कि मैं उन्हें अपना नहीं मानता हूँ। जब मानते ही नहीं हो, तो टेंशन किस बात का? इसका मतलब है कि मुख से कहते हो कि नहीं मानते, पर मानते हो, इसलिए टेंशन है। ज्ञानी! तू तो ऐसा है कि मेरी माँ बंध्या है। जब तेरी माँ बंध्या है, तो तू कहाँ से आ गया? और पिताजी बालब्रह्मचारी हैं। यहाँ तू वचन बाधित है। मानता तो है, पर ईर्ष्या मनवाने नहीं दे रही है। भैया! कोई कहे कि मैं आपको पिता नहीं मानता, पर इस पर हस्ताक्षर कर दो। किस बात के? जाओ, बेटा! जो पिता हो, उसके हस्ताक्षर करा लाओ। भो ज्ञानियो! तेरी ज्ञानदृष्टि जा कहाँ रही है? क्यों 'देवानाम प्रिया' बन रहे हो? देवीनाम प्रिया, सा देवानाम प्रिया कितना सुंदर शब्द है। पर इसका अर्थ जानते हो क्या? अंग्रेजी के फूल का जो अर्थ होता है, वही इसका अर्थ है–मूर्ख। स्त्री के प्रिय वही होते हैं जो 'देवानाम प्रिया' होते हैं।

आप कमा रहे हो, हाय–हाय कर रहे हो, धन के राग में जीवन का कोई भरोसा नहीं है, लेकिन जाकरके माँ को छोड़ देगा, देवी को पकड़ा देगा, **जिनको अपने मन की शांति भंग करना हो, सो देवीनाम प्रिया हो जाना।** इसको आप विरोध में मत डालो। अमृतचंद्र स्वामी कितने गहरे में बैठकर तत्त्व का निर्णय कर रहे थे।

'मादानोज्झनशून्यं' वस्तुतः मैं सबसे नियत ही भिन्न ही हूँ, तो–फिर मैं किसको ग्रहण करूँ, किसको छोड़ूँ? इसलिए मैं न ग्रहण करने का कर्त्ता हूँ, न छोड़ने का कर्त्ता हूँ। मैं ग्रहण और त्याग से शून्य हूँ। **जो मूढ़ जीव हैं, वे ही पर को स्व कहते हैं। जो प्रज्ञाशील हैं, वे निज के विकृत परिणामों को भी निज स्वभाव नहीं कहते।** एक वे महापुरुष हैं जिनके मुख से प्रवचन निकलते

हैं, एक मैं अज्ञानी जो अपने मुख से गाली निकाल रहा हूँ। धिक्कार हो। एक पानी का लोटा तुम सण्डाशय की ओर ले जा रहे हो, एक पानी का कलश तुम जिनालय की ओर ले जा रहे हो। एक पानी नाली में बह जाएगा मल के साथ। एक श्रीजी के मस्तिष्क से निकल कर गंधोदक बनकर आएगा। **आपका वचन प्राणिमात्र के हृदय में गंधोदक बनके जाए, मल बनकर न जाए।** इतना पुरुषार्थ कर लो। नाली के पानी पर पैर पड़ गया तो स्वच्छ पानी से धो लेते हो, पर वाणी का मल तेरे हृदय में चला गया तो उसके लिए कोई पानी काम में नहीं आता। **ज्ञानी! प्रदर्शन के दर्शन अनंत बार किए, पर सम्यग्दर्शन का दर्शन एक बार हो जाए तो कभी जीवन में प्रदर्शन ही न देखना पड़े।** यहाँ आप प्रदर्शन के दर्शन नहीं कर रहे हो, यहाँ समयसार के दर्शन कर रहे हो, ये ही पञ्चम काल का चमत्कार है। पण्डितजी आप पूजा करा रहे हो, मैं पूज्य बना रहा हूँ। तुम तो पर की पूजा करा रहे हो। ज्ञानी! यदि पूजा करते–करते निज के परिणामों में विशुद्धि बन गई, वही निज का पूज्यपना है।

मैं ग्रहण और त्याग से शून्य हूँ। **'एतदमलं'** मैं अमल हूँ। आत्मा अमर है। मल स्वभावी नहीं है, अमल स्वभावी है। **'ज्ञानं तथावस्थितम्'** ऐसा अमल विमल ज्ञान है उस ज्ञान से मैं अवस्थित हूँ। कैसा है मेरा ज्ञानगुण? **'मध्याद्यन्त–विभाग–मुक्त'।** पण्डितजी साहब! जब भी आप कोई अनुष्ठान करते हो तो आप पीले सरसों का प्रयोग करते हो। ऐसा क्यों? जो पीला सरसों है, इसका नाम है सिद्धार्थ। यह लौकिक द्रव्यमंगल है। जैसे सरसों का दाना गोल है, इसका आदि नहीं है, कहीं इसका मध्य नहीं है, इसका अंत भी नहीं है, ऐसा–ही यह जो मंगलभूत है सिद्धशिला पर बैठा शून्यस्वभावी **'ओंकारं बिंदु संयुक्तं'** जो परमब्रह्म परमेश्वर है, उसका आदि नहीं है, अंत नहीं है, मध्य नहीं है। सिद्धों का प्रतीक ये सिद्धार्थ मंगल है। ऐसा आचार्य जयसेन स्वामी ने 'पंचास्तिकाय' ग्रंथ की टीका में उल्लेख किया है। भरत चक्रवर्ती के यहाँ जितने भवन थे, प्रत्येक के द्वार पर वंदनवार था और उसमें २४–२४ पत्ते लगे हुए थे। प्रत्येक पत्र पर अरिहंत की प्रतिमा अंकित थी। वह जब भी जिस द्वार से अंदर प्रवेश करता था, उसे झुकना पड़ता था। **वंदना हो रही है बार–बार, उसका नाम है वंदनवार।** इसलिए जिनालय में ही नहीं, प्रत्येक घर में वंदनवार होना चाहिए। जैसे आदि, अंत, मध्य से रहित सिद्धार्थ है, ऐसे–ही सिद्धस्वभावी निज ज्ञान जो है, वह आदि अंत मध्य विभाग से मुक्त है।

'सहजस्फारप्रभाभासुरः' और जो सहज सूर्य के समान प्रकाशमान है, **'शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा'** ऐसा मेरा शुद्ध ज्ञानघन जिसकी महिमा **'नित्योदितस्तिष्ठति'** जैसे सूर्य उदित

है। वह तो संध्या बेला में अस्ताचल की ओर चला जाता है, लेकिन मेरा जो ज्ञानघन सूर्य है, वह नित्य उदित ही रहता है। वह कभी अस्ताचल की ओर नहीं जाता है, ऐसा मेरा निज ज्ञानसूर्य है। उसमें ही ठहर जाओ। अब किसी के प्रकाश में मत देखो। **भैया! जिननाथ के चरणों में निजनाथ से मिलने आया करो और ऐसे पूजा करो कि स्वयं पूज्य हो जाओ, जिससे फिर कभी पूजा करना ही न पड़े। ऐसी भक्ति करो जिससे कर्मों की क्षपणा प्रारंभ हो जाए।**

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह।।२३६।।

जिसने संपूर्ण शक्तियों को समेट लिया है। निज की ओर, ऐसे पूर्ण स्वरूप आत्मा में धारण करना और जो छोड़ने योग्य था सो छोड़ दिया और जो ग्रहण करने योग्य था सो ग्रहण कर लिया है। मैं किसे छोड़ूँ, किसे ग्रहण करूँ? **'ग्रहण–त्यागशक्ति शून्योऽहम्।'**

जगत्वंद्य जगत्पूज्य होने के लिए जगत् की पूजा की अनिवार्यता नहीं है। आश्चर्य है जो छोड़ने के बाद मिलता है, वह कुछ अलौकिक होता है और जो आनंद छोड़ने पर आता है वह जगत् में कहीं होता नहीं। जगत्वंद्य जगत्पूज्य जो परमेश्वर हुए हैं, वे पूजा को छोड़ चुके थे। जो–जो पूजा को छोड़ चुका होता है, वह जगत् में पूज्य हो जाता है और जब–तक पूजा के परिणाम हैं, तब–तक ग्रहण–त्याग–शून्य शक्ति पर दृष्टि नहीं है। वह भी एक दृष्टि है, जिसे अमृतचंद्र स्वामी ने प्रदान किया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने आत्मप्रवाद पूर्व से उस परम शक्ति को निकाल करके आज अपने सामने उद्घाटित किया है। जब **सारे लोक की सुखसामग्रियाँ विलीन हो चुकी होती हैं, वहाँ आत्मधर्म का सुख प्रारंभ होता है। जो सारे वैभव को निहारते हुए भी एक क्षण को वे–भव को निहार लेता है, वह समझ चुका होता है कि सुख कुछ–और है, शांति कुछ–और है। लोक की दृष्टि शांति तक तो पहुँची ही नहीं है। ये सुख में ही अटक गई। सुखाभास में शांति का वेदन असंभव है। सुख मुस्कराहट देता है, शांति आनंद देती है।** लोक ने सुख को तो बहुत खोजा है, पर मेरे मित्र! तुम्हारे सुख में शांति कहाँ है? सारा विश्व सुख मात्र की खोज में है, शांति की खोज में नहीं है। शांति की खोज में चला जाएगा तो उसी क्षण तू अपने सुख को सुखाभास कहने लगेगा। सुख नहीं, शांति चाहिए। लोक के द्रव्य लोक के पदार्थ सुख के लिए उपस्थित होते हैं। उनमें आप शांति नहीं खोज सकते। जिसके संतान नहीं है और धन–वैभव है, वह सोचता है कि मैं क्या करूँगा इसका? और संतान है, लेकिन संस्कारवान

नहीं है, तो एक नई अशांति खड़ी हो गई। जिस गली से निकलो, द्वार से निकलो, वहीं शिकायत मिल रही है। उस समय जनक–जननी का चिंतन कहाँ जाता है? न होता तो कितना संतोष करता कि मेरे संतान नहीं हुई। किंतु होने पर क्षण–क्षण में वेदना दे रहा है। सुख छोड़करके जो वेदन होगा, उसका नाम शांति है। मित्र! जिसके पास सुख का कोई साधन नहीं, उसके पास आने की क्यों इच्छा थी आपकी? स्वामी! जब सुख से थक जाता हूँ, तो शांति के लिए आता हूँ। शांति योगियों के पास मिलती है, भोगियों के पास नहीं मिलती। शांति पर–निरपेक्ष है। इंद्रियों का सुख पर–सापेक्ष है। शांति में थकान नहीं आती, सुख में थकान आती है। सुख की सीमा है, शांति असीम है। सुख तभी–तक है जब–तक लोग आपको चाहते हैं। जिस दिन लोगों ने चाहना बंद कर दिया, उस दिन सुख भी जाएगा और शांति भी जाएगी। पूर्व से ही सुख की खोज नहीं करना, शांति की खोज करना। शांति की खोज में जगत् में कहीं निकलना नहीं पड़ेगा, जगत् से निकलना पड़ेगा। वे जीव अज्ञानी हैं जो नदियों में, पर्वतों में, तीर्थों में शांति को खोज रहे हैं। जगत् से निकल आओ, यही शांति की खोज है। भैया! मिला है पुण्य से वैभव, ये तो किसी के भी साथ नहीं गया। चामुण्डराय का नाम आज भी चलता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में दिगम्बरत्व की छाप छोड़ने वाला कोई है तो गोम्मटेश बाहुबली स्वामी हैं। जब–जब आपका मस्तक ऊँचा होता है, वह गोम्मटेश बाहुबली है। वह भी एक मंत्री था, सेनापति था।

भैया! पर्याय के जाने के बाद बेटे किसी का नाम नहीं चला पाएँगे। हर व्यक्ति अपने उत्पन्न का नाम लेता है, स्वयं को उत्पन्न करने वाले का नाम भूल जाता है। जब आप अपने पिता का नाम नहीं ले पा रहे हो, तो तुम्हारा नाम लेने वाले भी नहीं मिलेंगे। नाम ही चाहिए है, तो भगवान् विराजमान करके जाओ, सारा विश्व नाम लेगा। **जिनागम, निर्ग्रंथ गुरु और पुरातत्त्व– ये ही संस्कृति को सुरक्षित रखते हैं।** विश्व में साधुओं की कीमत जो श्रमणों ने रखी है, वह कोई रख नहीं पाया। जो सदाचार सद्–आचरण की ज्योति जल रही है भारत की भूमि पर, वह श्रमणों के द्वारा जल रही है।साधुओं का जो स्वरूप है, वह कार्य है। **'साधु कार्यं तपः श्रुतः'।** साधु का कार्य मात्र इतना ही है या तो तपस्या करो या फिर श्रुत में लीन रहो। तीसरा कोई कार्य नहीं है। क्योंकि सुख तो तुम छोड़ आए हो और शांति के लिए आए हो तो फिर यदि सुख छोड़ने के बाद भी शांति नहीं प्राप्त कर पाए तो किस काम की साधुता? मोक्ष में सुख मिलता है, इसका निर्णय वही कर पाएगा, जो मोक्षमार्ग में शांति का वेदन कर पाएगा। आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द देव ने, अमृतचंद्र स्वामी ने, जो तीर्थंकर महावीर की देशना से प्रकट हुआ आत्मप्रवाद पूर्व है, उसका समयसार में

निबंधन किया है। चाक्षुष सारे विषय समझ में आते हैं, पर चाक्षुष सुख के अलावा भी कोई सुख है वह अतीन्द्रिय सुख है, वह कैसा है?

'उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत्'

भैया सोच बदलने का समय है। जिसने कुन्दकुन्द के समयसार को पढ़कर तत्त्व का निर्णय कर पाया। वह इस पर्याय का आनंद लिए बिना चला गया। नाना सुखों को भोगते हुए यहाँ तक आया हूँ तो अपने मन से कहना कि शांति का वेदन और करके चलूँ, कुन्दकुन्द के तत्त्व को और समझ लूँ, आत्मा के सत्य को समझ लूँ, क्या मालूम फिर यहाँ आने को मिले या न मिले। तात्पर्य यह कि पुन: मनुष्य बनें या न बनें, स्वार्थी बन जाओ। पहले निज का निर्णय करो, फिर दूसरे काम। **भद्र परिणाम, कषाय की मंदता जिसके चेहरे पर टपक रही हो, समझ लेना कि वर्तमान के मनुष्य का सुख तो भोग ही रहा है, भविष्य का देवता बैठा हुआ है। सारी सुख–सामग्री, यश, वैभव मिलने के बाद भी चेहरे पर सौम्य भाव, भद्र परिणाम, नयनों में सरसता, भाल पर जिसके हो, वह वर्तमान का तो मनुष्य है, पर भविष्य का देव है और उसके हाथ में पिच्छी–कमण्डल और झलक जाए, ज्ञानी! वह भविष्य का भगवान् है।** ज्ञानी! जीना सर्वस्य नहीं है। श्रेष्ठ वह है कि लोक की पंक्ति के आगे बैठ पाने की योग्यता पा लेना और लोक की पंक्ति में आगे बैठना भी श्रेष्ठ नहीं है, लोक की प्रशंसा श्रेष्ठ नहीं है, निज की आत्मा बोल दे कि तू श्रेष्ठ है, इससे बड़ा कोई श्रेष्ठता का काम नहीं है। भैया! पर की प्रशंसा कोई प्रशंसनीयपन नहीं है। लोगों की प्रशंसा में कभी मत आना।

भारतीय श्रमणपरंपरा में सर्वश्रेष्ठ स्तुतिकर्त्ता कोई हुए हैं वो आचार्य समंतभद्र हुए हैं, जिन्होंने संपूर्ण तर्कशास्त्र स्तुति–स्तुति में लिख दिए हैं। गुण स्तोक, जिसमें गुण थोड़े हों, उनको बहुत कहना, उसका नाम है स्तुति। लोक की स्तुति तो लोक की स्तुति है, लेकिन जिस समय तुम शांति से स्वयं के कक्ष में जाकर बैठो, उस समय अपने हृदय से पूछना कि लोक ने जो मेरी प्रशंसा की है वह सत्य की है, कि असत्य की है? क्योंकि तद्गुण मेरे में विराजते कि नहीं विराजते हैं? **मित्रो! देह की स्तुति तो अनेक के श्रीमुख से सुन चुके हो। अपनी, निज देही की स्तुति सुनना चाहते हो तो निज को समय दे दो। तो आप कहोगे महाराज! आज तक मैं पर्याय का प्रशंसनीय था, आज से मैं परिणामों का प्रशंसनीय हो रहा हूँ। सारे दुर्गुण उसी क्षण छोड़ देगा। पर के मुख से प्रशंसा मिल जाना यश:कीर्ति नामकर्म का उदय है। पर निज से निज की प्रशंसा कर पाना, ये यश:कीर्ति को बुलाने का कार्य है।** यथार्थ मानना, जो सुन रहे हो, इसमें आनंद

नहीं है। जो सुनने बैठे हो, उसमें आनंद है। ये तुम मेरे शब्दों का आनंद नहीं ले रहे हो। ये सुनने का आनंद ले रहे हो। साता का उदय है तो मक्के के फूले (पापकार्न) भी स्वादिष्ट लगते हैं और साता का उदय नहीं है तो रसगुल्ले भी फीके लगते हैं। आनंद किसमें है? न ग्रहण में आनंद है न छोड़ने में आनंद है। ग्रहण करोगे तब भी हाथ फैलाना पड़ेगा, छोड़ोगे तब भी हाथ फैलाना पड़ेगा। दोनों में योग का परिस्पन्दन है। यथार्थ मानिये, अभी आपको समझ में नहीं आ रहा है, क्योंकि वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम काम कर रहा है। भैया! जिस जीव की अंतिम श्वास निकल रही हो, उस जीव से कहना 'दादा! देख लो, भगवान् हैं। महाराज जी हैं।' आँख खोलने में भी उसको ताकत लगती है, तब पता लगता है कि आँख उठाने में भी शक्ति क्षीण होती है। आँख की पलक उठाने में शक्ति चाहिए। हाथ को हिलाने में भी ताकत चाहिए। उस दिन आप कहोगे कि इन पलकों में इतनी ताकत नहीं बची कि जिनदेव को भी अपलक निहार पाते और वे दिन कहाँ चले गए जब पलक फाड़–फाड़के परनारियों को/परपुरुषों को निहारने में शक्ति नष्ट की थी। **जब–तक बुद्धि चल रही है, प्रज्ञा तुम्हारी पवित्र है, तब–तक तत्त्व का निर्णय कर लो। अंतिम समय में जिन–आगम के गूढ़ तत्त्व तेरे मस्तिष्क में गूँज नहीं पाएँगे, थकान आएगी।**

एक सज्जन ने कहा 'महाराजजी! आप इतनी मेहनत क्यों करते हो दिनभर और क्यों पढ़ते रहते हो?' मैंने कहा 'तुम्हें अभी पता नहीं है। भैया! एक प्रश्न है आपसे मेरा, जितने कपड़े हैं आपके पास, पूरे थोड़े–ही आप पहने हो, कुछ अलमारी में रखे होंगे। भैया! सत्य बताना, आप पहनो या न पहनो, उनकी चमक तो दिखती रहेगी, पर जीर्ण होंगे कि नहीं? एक युवा पुरुष को काँच में पैक कर दो, फिर कुछ नहीं करना। तुम कुछ करो या न करो, पर जब उम्र ८० साल की आएगी, तब तुम बुड्ढे बब्बा होओगे कि नहीं होओगे? ज्ञानी! चाहे तुम मेहनत करो या न करो, पर नियत समय पर जैसे वस्त्र नष्ट हो जाएगा, ऐसे ही देह भी नष्ट हो जाएगी। जब नष्ट होना नियत है ही, तो क्यों न इसको प्राप्त करके जिनवाणी के साथ मेहनत करो? प्रमाद नहीं करना। जब–तक शरीर में ताकत है, तब–तक आप चिंतन कर लो, आँख उठाकर देव–शास्त्र–गुरु को निहार लो, अन्यथा विश्वास रखना, पलक उठाने को भी तुम्हारे पास ताकत नहीं बचेगी। वे बिरले जीव हैं जो भगवान् को देखते–देखते ऊपर चले जाएँ। नहीं जा पाएँगे। कितना ही बुखार आ जाए, कितने ही बीमार पड़ जाओ। अफसोस तब होता है जब व्यक्ति डॉक्टर के यहाँ तो मुंडी हिलाकर पहुँच जाएगा, पर मंदिर की देहरी पर नहीं जाता। क्यों? स्वास्थ्य खराब है। ये जीव की आदत है। जब भी कोई विशेष काम हो, घर से बाहर जाना हो, आपको, सबसे पहले आप २ घंटे पूजा

करते थे। उसमें से समय काटोगे। भैया! पूजा नहीं कर पाएँगे। आप ऐसा करते हैं कि दर्शन करके चले जाते हैं। शौचालय का समय नहीं काटा, भोजनशाला का समय नहीं काटा, दर्पण के सामने पुद्गल को निहारने का समय नहीं काटा, बल्कि आप तो ऐसा कहते कि समय व्यर्थ में न जाने दो, शरीर को नहीं सजाना, आज पूजा करके चला जाऊँगा।

पुण्यफल इच्छन्ति पुण्यं न कुर्वन्ति कदाचनः
पापफलं नैछन्ति पापं कुर्वन्ति नित्यशाः।

व्यक्ति पुण्य के फल को तो चाहता है, पर पुण्य कभी करना नहीं चाहता। पाप के फल को कभी नहीं चाहता है, पर नित्य ही करता पापा है। मित्र! ग्रहण और त्याग, ये भी आत्मा का धर्म नहीं है। जिसमें दूसरों को देखा जाए, दूसरों को ग्रहण किया जाए, दूसरों को छोड़ा जाए, वह धर्म नहीं है। न मैं ग्रहण कर रहा हूँ, न मैं छोड़ रहा हूँ। दोनों से मैं शून्य हूँ। **'आदेयमशेषतस्तत्'** जिसने संपूर्ण शक्तियों को समेट लिया है, अब वह परमात्मा कृतकृत्य हो गया है। जो कुछ करना था, कर चुके। अब करना अवशेष नहीं है। तब परमात्मा का नाम भी कृतकृत्य होता है। एक साधु के दर्शन करने मात्र से श्रावक कहता है कि महाराज! कृतकृत्य हो गया। अब समझो कृतकृत्य शब्द की महिमा क्या है। **'ग्रहण–त्याग–शक्ति शून्योऽहम्।' जहाँ ग्रहण का अभाव हो जाए, त्याग का अभाव हो जाए, उस दशा का नाम है कृतकृत्य दशा। न कर्म–नोकर्म ग्रहण करने का भाव है, न अन्य परवस्तुओं को ग्रहण करने का भाव है। न चलने का भाव है, न बैठने का भाव है। सब सहज हो रहा है। यही है कृतकृत्य अर्हंत परमात्मा की प्रवृत्ति।** जहाँ अचल हो गए हैं, वह कृतकृत्य सिद्ध परमात्मा की दशा है। योग–अवस्था में साधुस्वरूप का वेदन करेगा ध्यान से और श्रावक भावना भाएगा अपने शुभ भावों से। उस जीव ने संपूर्ण शक्तियाँ समेट करके ग्रहण करके पूर्ण स्वरूप आत्मा में ही आत्मा को धारण किया **'यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः'** और वही जो छोड़ने योग्य था सबकुछ छोड़कर **'पूर्णस्य संधारणमात्मनीह'** मात्र आत्मा को ही आत्मा में ग्रहण कर लिया। न मैं ग्राही हूँ न मैं अग्राही हूँ। फिर क्या हूँ?

कम–से–कम इतना सोचना कि जैन सिद्धांत में जिनागम में ऐसी विद्या का भी वर्णन है जिसमें किसी की कथाएँ नहीं, किसी की प्रशंसा या आलोचना नहीं, तब भी व्याख्या हो रही है। ऐसी विद्या है कौनसी? इसी का नाम है 'गूढ़विद्या', 'अध्यात्म' 'रहस्य ज्ञान'। ये रहस्य ज्ञान सभी के गम्य नहीं है। **'योगीगम्यं रहस्य परमात्मानं।'** जो दिखाया जा रहा है, वो भी लाए हैं। जो अदृश्य है, वह रहस्य है। भैया! जो दिख रहा है, वह तू नहीं है और मेरा दिखने वाले व्यक्ति से

कोई प्रयोजन नहीं है। कहीं आप उसे मत भूल जाना जो दिख नहीं रहा है। विश्वास रखना, भैया! दिखनेवालों को तो देखनेवाले जला आएँगे, पर जो है उसे कोई नहीं जला पाएगा। उसे तो तू चाहे तो जला ले और तू चाहे तो चमका ले। लोक में जो परमार्थ की व्याख्या है, वह यह है कि आपने कोई प्याऊ खुलवा दी तो यह कहेगा कि परमार्थ है। व्यवहार से ठीक है। आप परमार्थ शब्द का प्रयोग कर रहे हो। वास्तव में ये व्यवहार है, लोकाचार है, लोकव्यवहार है। कहाँ के शब्द को कहाँ प्रयोग कर दिया आपने। केशलुंचन शब्द का प्रयोग दूसरे के बाल खींचने–उखाड़ने में नहीं होता है, वह तो योगी के केशलुंचन होते हैं। ऐसे–ही परमार्थ जो शब्द है, वह अर्हंत की पूजा में नहीं लगता, साधुओं की सेवा में नहीं लगता। परमार्थ शब्द तो निज स्वरूप में लीन जो निश्चय है, वही परमार्थ है। निश्चयनय की जो व्याख्या है, वही परमार्थ है।

परमार्थ दृष्टि यानि निश्चय दृष्टि, भूतार्थ दृष्टि। जहाँ पर का दिखना बंद हो जाए, निज अर्थ में ही अर्थ का परिणमन चले, उसका नाम है परमार्थ। भैया! जिसे तू विशुद्धसागर देख रहा है, वह सत्य नहीं है और जो सत्य है, उसे तू देख नहीं सकता। जिसे आप सुन रहे हो, वह चेतन नहीं है। ये वह विद्या है, जिसे क्षत्रियों के पास ऋषि लोग सीखने गए थे। **प्राणी रक्षा का भाव रखे, वही तो क्षत्री है। जो सारे लोगों पर छत्र तान कर चले, वही क्षत्री है।** हे क्षत्रियो! हम लोग चरस का पान करते हैं, इंद्रियों को बाँधकर ताला डालकर रखते हैं, तब भी वश में नहीं कर पाते। आप लोग नग्न रहते हो, ये वश में कैसे कर लेते हो? वे क्षत्री कौन थे? तीर्थंकर बालक किसी बनिया के घर में, ब्राह्मण के घर में नहीं जन्मते। तीर्थंकर क्षत्री–पुत्र ही होते हैं नियम से। आपके पास कौन–सी विद्या होती है जिससे आप अपने में रहते हो, पर में कोई ध्यान ही नहीं देते हो? वह रहस्य विद्या है, वह गूढ़ विद्या है।

जो दृष्टा है, वह दृष्टव्य नहीं है। जो दृष्टव्य है, वह दृष्टा नहीं है। जो देखनहार है, जाननहार है, वह किसी को दिखाई नहीं दे रहा है। जो दिखाई दे रहा है, वह देखनेवाला नहीं है, जाननेवाला नहीं है। जो जलने वाला है, उसे तुम नाम से कह रहे हो। जिसका तुम नाम ले रहे हो, वह तुमको दिखाई ही नहीं दे रहा है। भैया! जितने हमारे वृद्ध लोग हो चुके हैं, जगत तो ये कहेगा कि अब इनका सम्मान करदो अन्यता पता नहीं कब चले जाएँ। भारतभूमि में एक सिद्धांत चलता था कि गृहस्थी में उलझा हुआ गृहस्थ अंतिम समय तक संन्यास ले लेता था और कहता था कि चलो अब तो अपन को अपने बारे में सोचना है। जब इन वृद्धों के परिणाम हुए कि मुझे तो अपने को देखना चाहिए, जिस चमड़ी को देखकर मैं मुस्कराता था वह मुझे ही देखने में अच्छी नहीं लगी।

दुनियाँ मुझे क्या अच्छा देखेगी। ऐसा कहकर वह तो देह से विरक्त होने जा रहा था। कुछ मनचले लोग मिल गए। उनने क्या किया? एक अच्छा–सा मोटा–सा अभिनंदन ग्रंथ उनके हाथ में थमा दिया। जो जीव वैराग्य से युक्त होकरके दृष्टा को लखने में लगने वाला था, उसे दृष्टव्य पर लगा दिया और अपने देह के नाम पर अभिनंदनपत्र देकर जिस देह का नष्टीकरण होना था उसे तूने पुनः जाग्रत कर दिया। ये अभिनंदन नहीं है, ये अपमान है, परमार्थ दृष्टि से। माना कि आप सोच रहे थे कि मैं तो वृद्ध हो ही चुका हूँ। महाराजजी को श्रीफल चढ़ाकर क्षुल्लक दीक्षा की प्रार्थना करता हूँ। उनके मन में ऐसे भाव आ रहे थे कि यदि क्षुल्लक नहीं भी बन सका तो आज से अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा। इतने में कुछ मनचले आ गए और कहते हैं कि भैया! आपकी शादी की सालगिरह आ रही है और हम लोग चाहते हैं कि इस वर्ष बहुत धूमधाम से मनाएँ। आपने उसे उस दिन की याद दिला दी जो भोगों का प्रथम क्षण था। उसी क्षण उस जीव का आयु बंध हो गया तो तूने उस जीव के साथ कितनी बढ़ी दुश्मनी बना ली। ये पूर्व भव का कोई दुश्मन मिल गया, जिसने वैरागी को राग में डुबो दिया। मित्रो! जो वृद्धावस्था में जा रहे हैं, उनकी विनय तो रखना, लेकिन उनके मन के काम मत बढ़ा देना। जो जीव निज की ओर जा रहा था, उसे देह की ओर मत लगा देना। ऐसे ही मुनियों की बहुत प्रशंसा मत करना। स्तुति करो सामने, प्रशंसा की जरूरत नहीं है। क्यों? 'महाराज! आप बहुत दुबले हो गए, कमजोर हो गए।' वे तो सोच रहे थे कि मैं उसे देखूँ जो कभी दुबला नहीं होता, पतला नहीं होता, त्रैकालिक स्वस्थ रहता है। वह पुरुष आत्मा है। जिसके सड़ने–गलने, नष्ट होने का नियम नियत है, उस शरीर का नाम लेकर तुमने साधु को पर्याय में रख दिया। हे स्वामी! इस जीव ने आपको देह का स्मरण करा दिया। आप विदेह में जा रहे थे, लेकिन देह में ही लटक गए। जितनी लोक में लोगों की सोचें हैं, वे मेरी दृष्टि में सब उलटी हैं। पर ये भी सत्य है कि मेरी सोच से तुम जी नहीं पाओगे। पर ये ध्रुव सत्य है कि मेरी सोच से तुम ऐसे जीओगे कि जो तुम जीवन में कभी नहीं जीये होगे। तुम्हारी सोच से जो जीयेगा, वह जन्म–मरण करेगा और मेरी सोच से जो जीयेगा, वह जन्म–मरण से रहित हो जाएगा। बताओ, किसका सोच सही है? 'महाराजजी! आपका।' तो मान लो। महाराजजी! पंचों की बात स्वीकार है। पंचों के मुख में परमेश्वर है, पर मेरा खूँटा तो यहीं गड़ेगा। भैया! जिसने आपको कल देखा था, वह आपको आज भूल जाए तो आप समझना कि हम महाराजजी के पास आए थे। जितने लोग यहाँ आए हैं, तुम्हारे घर के लोग भूल जाएँ, तो समझना कि आप यहाँ आए थे। मतबल यह कि कल जब आपकी भोजन की थाली आती थी, आपकी इच्छित वस्तु नहीं दिखती

थी, तो आकाश में घूमती थी। आज नमक मिर्च खटाई न मिले और बुंदेलखण्ड का पापड़ भी न मिले, तब भी मुंडी नीचे करके बेचारा शांति से बैठा भोजन कर रहा हो। पत्नी भी सोचे ये कौनसा आदमी आ गया है? यह वही है कि नहीं है? फिर धीरे–से कहना 'देवी! जो है सो है। वस्तुस्वरूप भी यही है। अब तक अनंत बार खाया, अब शांति से जीने दो, सुख तो छोड़ आया मैं महाराजजी के पास। मित्र! जो ग्रहण करने योग्य था, सो सब ग्रहण कर लिया है और जो छोड़ने योग्य था, सब छोड़ दिया है। अब तो जो है सो है।

'व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम्।' जो परद्रव्य है, वह मेरे से व्यतिरिक्त ही है, भिन्न ही है। एकमात्र ज्ञान **'कथमाहारकं तत्स्याद्येन'** जो ज्ञानमूर्ति नहीं है, तात्पर्य मैं आहारक कैसे? ऐसा योगी निज ज्ञान में निज ज्ञान का अवलोकन कर रहा है और कह रहा है कि जब मैं आहारक ही नहीं हूँ, तो **'देहोऽस्यशङ्क्यते'** देह की शंका क्या करना? वे देह में होते हुए भी विदेह में विराजते हैं। सामान्य रूप से आप वस्त्रों के अंदर अवश्य हो, पर आप वस्त्रों में हो कहाँ? बटन तो बटन में लगा हुआ है, कुर्त्ता कुर्त्ता में है, ऐसे–ही निर्ग्रंथ योगी देह में होकर निहार रहे हैं कि मैं तो मात्र ज्ञानभूत हूँ, आहारक नहीं हूँ, पर द्रव्य से पृथक् हूँ। ऐसा ज्ञान कर्म–नोकर्म आहार करने वाला अनाहारक कैसे हो सकता है? हो ही नहीं सकता। तो कैसा हूँ? मैं आहारक नहीं हूँ। ऐसे देह की शंका नहीं करना। 'अत्ता अत्ता मेव' आत्मा आत्मा मात्र ही है।

भैया! कितनी ही विषमता आ जाए, लेकिन समता नहीं छोड़ना। मुस्कराहट कभी मत छोड़ना और हँसना कभी नहीं जीवन में। ज्ञानी पुरुष मुस्कराते हैं, अज्ञानी हँसते हैं। रावण जैसे संपत्ति विपत्ति न तेरी हुई है, न होगी। वे सब भ्रम हैं! वस्तुस्वभाव तो जो है सो है।

ज्ञान ज्ञाता का धर्म है। ज्ञान ज्ञाता का स्वभाव है। ज्ञान ज्ञाता का स्वरूप है। परज्ञेय निज ज्ञान नहीं है। ज्ञान से ज्ञेयों को जानता है ज्ञाता पर ज्ञेय ज्ञाता को ज्ञान नहीं देते हैं। जब ज्ञेय ज्ञान देने लगेंगे, तो ज्ञाता जड़ से ज्ञानी होना प्रारंभ हो जाएगा।

ध्रुवधाम अखण्ड ज्ञानपिंड टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावी भगवान्–आत्मा स्वयं ही ज्ञाता है। आज तक किसी परद्रव्य ने मुझे ज्ञानी नहीं बनाया। प्रतिबंधक आवरण का जैसे–जैसे अभाव होता जाता है, वैसे– वैसे ज्ञान उद्घाटित होते जाता है। मेघों में सूर्य है, मेघों से सूर्य नहीं है। सूर्य से मेघ नहीं है। बादलों ने सूर्य को आवरित किया है, पर सूर्य का नाश नहीं किया है। ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञानगुण को आवरित किया है, पर कर्म की कोई शक्ति नहीं है कि आत्मा के ज्ञान का नाश कर सके। जैसे– जैसे हवा चलती है, मेघ विघटित होते हैं,

वैसे वैसे सूर्य की रश्मियाँ उदघाटित होती हैं। वैसे ही, जैसे– जैसे इस आत्मा में कषाय की मंदता से निज के पुरुषार्थ से कर्म की परतें विघटित होती हैं, वैसे–वैसे आत्मा का ज्ञानगुण उद्घाटित होता है। एक ऐसा समय भी आता है कि कैवल्य सूर्य भी उद्घाटित हो जाता है। पर ज्ञाता ज्ञानीपने को तभी प्राप्त होता है, जब चित्त विशुद्ध होता है। चित्त जब–तक अशुद्ध है, ज्ञान का आवरण हटेगा नहीं।

'श्रुतं मतिपूर्वं' श्रुतज्ञान जो है, वह मन का विषय है। मन जो है, अनवस्थित है। क्यों? पाँचों इंद्रियाँ अपने–अपने विषय में स्वतंत्र हैं। रसना रस का ही काम करेगी, स्पर्शन स्पर्श ही करेगी, घ्राण गंध को ग्रहण करती है, कर्ण शब्द को ही सुनते हैं, चक्षु वर्ण को ही देखता है। मन जो है, वह इन सब का तो रस लेता ही है, पर जो इंद्रियाँ नहीं काम कर पाती हैं, वह भी काम मन कर लेता है। नेत्रों से तुम जिनालय के दर्शन के भाव बनाओगे तो आँखें खोलना पड़ेंगी और मन सम्मेदशिखर के दर्शन यहीं से करा देगा।

'प्रमेयरत्नमाला' ग्रंथ में लघु अनंतवीर्य आचार्य महाराज लिखते हैं– 'हे ज्ञानी! काली पट्टी नेत्रों पर, काली कोठारी में डाल दिया जाए तुझे, फिर भी अपनी प्रिया की याद ही नहीं आ रही है, अपितु तुझे अपनी प्रिया का मुखमंडल भी दिख रहा है। ओ हो हो! यह कौन देख रहा है? मन देख रहा है।

हे मन! नेत्रों पर काली पट्टी बँधी होने पर भी नारी का चेहरा दिखा देता है। ऐसे–ही वीतरागी का चेहरा दिखा दे तो मेरी आत्मा भगवान्–आत्मा बन जाए। यह है दृष्टि समयसार की।

कुन्दकुन्द स्वामी जब समयसार लिखने बैठे थे, तब दूसरे कुन्दकुन्द थे और जब समयसार लख रहे थे, तब दूसरे कुन्दकुन्द थे। और भी किसी लेखक से पूछ लो। लेखक पहले लखता है, फिर लिखता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा कि मैं स्वानुभव से, आगम से, आचार्यपरंपरा से, अर्हंत की वाणी से लिख रहा हूँ। पर साथ में लिख दिया 'स्वानुभव'। वर्तमान के श्रमणों के लिए यह चिंतन का विषय होना चाहिए। हमारे पूर्व के आचार्यभगवंत इतने विरक्त रहे हैं। महान्–महान् ग्रंथ लिखने के बाद भी इतना लिख गए। ये नहीं लिखा कि मेरे पिता कौन थे, मेरे गुरु कौन थे मैं कहाँ जन्मा था। ये सब फालतू बातें उन्होंने नहीं लिखीं। उन्होंने क्या लिख दिया? वर्णों से शब्द बने हैं, शब्दों से वाक्य, वाक्यों से अध्याय और फिर अध्यायों से ग्रंथ बना है। मैंने कुछ नहीं किया। जब तक पर्याय आपकी चल रही है, श्वासें हैं, जितना इतिहास मिले, ढूँढ कर भगवान

कुन्दकुन्द स्वामी के बारे में जरूर कुछ लिख कर आओ। जिस जीव ने आपको ८४ पाहुड दिए हों, आप उनको शब्दों की सुमनांजली नहीं समर्पित कर पाए तो इतिहास क्या कहेगा? जो आचार्य कुन्दकुन्द ने दिया है, उनके उपकारों को कौन भूल सकेगा? नहीं भुलाया जा सकता है। जयसेन स्वामी ने तो 'पंचास्तिकाय' की टीका में यहाँ तक लिख दिया कि विदेह में जाकर भगवन् सीमंधर स्वामी के पादमूल में बैठकर, उनसे श्रुत लाकर, भरतक्षेत्र में बैठकर, यह कुन्दकुन्द ने ग्रंथ लिखे हैं। विदेह से, साक्षात् तीर्थेश की वाणी सुनकर जो जीव आया हो। यहीं अपन श्रुत को सुनते हैं तो एकदम शांति छा जाती है, तो तीर्थंकर की देशना सुनकर जो जीव आया होगा, इतना गहरा रहस्य तभी उद्घाटित किया जा सकता है। सारे लोक ने तो यही माना कि मैं नारियल से नारियल को जान रहा हूँ।

हे ज्ञानी! श्रीफल रखे हैं, इसलिए तुम इनको जान रहे हो, कि तुममें जानने की शक्ति है इसलिए तुम इनको जान रहे हो? कौन कहता है कि वर्तमान के युवा तत्त्व को नहीं जान रहे हैं? इस बच्चे को किसने समयसार सिखा दिया? यही कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि जड़ में ज्ञान नहीं है। मेरे आत्मा में जानने की योग्यता है। ज्ञान से हम श्रीफल को जान रहे हैं, पर अज्ञानी कहता है कि श्रीफल ने श्रीफल का ज्ञान कराया और ज्ञानी कहता है कि श्रीफल ने श्रीफल का ज्ञान नहीं कराया।

ज्ञेयों में ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो ज्ञाता में है। ध्रुव सत्य समझना, **ज्ञानी बनने के लिए अक्षर गिनने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानी बनने के लिए आँख खोलने की भी आवश्यकता नहीं है। ज्ञानी बनने के लिए भेदविज्ञानी होने की आवश्यकता है। भेदविज्ञानी हो जाएगा तो वीतराग– विज्ञानी केवलज्ञानी तो अपने आप हो जाएगा। जितने हम ग्रंथों का स्वाध्याय करते हैं, द्रव्यश्रुत की आराधना करते हैं, यह आवश्यक है, लेकिन पूर्ण ज्ञानी ग्रंथों को पढ़कर कभी नहीं बना जा सकता। पूर्ण ज्ञानी तो भावों की विशुद्धि से बना जाता है।**

ग्रंथों को पूरा पढ़ने के लिए समय ही कहाँ है कि पूरा पढ़ पाएगा जीव। **द्वादशांग का अध्ययन करके कोई श्रुतकेवली नहीं बनता। चारित्र की विशुद्धि से युक्त होकर ऐसा क्षयोपशम प्रकट होता है कि वो द्वादशांग का ज्ञाता होकर श्रुतकेवली हो जाता है।** एक मुहूर्त में संपूर्ण द्वादशांग का पाठ करने वाला कोई विश्व में है, उसका नाम गणधर परमेष्ठी है। तीर्थंकर भगवान् के पादमूल में गणधर परमेष्ठी एक अंतमुहूर्त में ४८ मिनट के अंदर द्वादशांग का पाठ कर लेते हैं। जैसे आप 'तत्त्वार्थ सूत्र' का पाठ करते हो, उसमें तो फिर भी आपको विलंब होता है। यह

भावों की विशुद्धि है। परिपूर्ण सत्य समझना।

सरलता, सहजता, समता इनको पास में बुला लो तो तुम्हारा ज्ञान स्वयमेव प्रकट हो जाएगा। ज्ञान के लिए संयम चाहिए, संयम के लिए ज्ञान चाहिए। पहले तो इतना ज्ञान करना ही पड़ेगा कि निर्दोष संयम का पालन कैसे हो। तो निर्दोष संयम के पालन के लिए ज्ञान चाहिए। फिर निर्दोष संयम से ज्ञान प्रकट होगा, केवलज्ञान प्रकट होगा। विद्वत्ता के लिए समस्त धारा में एक नियत स्थान तक तो ज्ञान प्राप्त कर सकते हो, लेकिन केवली भगवान् बनने के लिए विद्वत्ता वाला ज्ञान काम में नहीं आएगा। सग्रंथ का ज्ञान काम में नहीं आएगा, निर्ग्रंथ का ज्ञान ही काम में आएगा। चिंतन के समय जो विशुद्धि बन रही है, वह आपके क्षयोपशम को बढ़ाएगी। लेखन का काल और प्रवचन का काल द्वैत्यभूत होता है। एक ही समय जीव आपको दिख रहा है कि लेखक के हाथ में लेखनी है और वर्द्धमान स्वामी के समवसरण का वर्णन लिख रहा था। आपको लेखक वहीं दिख रहा है, पर लेखक तो समवसरण में घूम रहा है।

सरस्वत्याः प्रसादेन, काव्यं कुर्वन्ति मानवाः।

सरस्वती के प्रसाद से काव्य को करते मानव। एक कक्ष में बैठकर। आप तो गाड़ी से कोटि–कोटि जीवों की हिंसा करके, सम्मेदशिखर जा पाओगे, परंतु जिनवाणी का सपूत एक कक्ष में बैठकर तीनलोक की वंदना कर रहा है। तीर्थंकर के समवसरण को जब ज्ञेय बनाता है, तब उसके ज्ञान में समवसरण चल रहा है। जब सुमेरु को ज्ञेय बनाएगा, तो सुमेरु के अकृतिम चैत्यालयों को ज्ञेय बनाकर निहार रहा है और जब नंदीश्वर को ज्ञेय बनाएगा तब वह नंदीश्वर के बिंबों को निहार रहा है। यही कारण है कि **यात्रा करने वाले से ध्यान करने वाले की कर्म निर्जरा अधिक होती है।**

मुमुक्षु! जब भी निर्वाण होगा, पहले विहार बंद करना पड़ेगा। योग का निरोध करना पड़ता है। तीर्थंकर भगवान् को भी देशना, गमन बंद करना पड़ता है। **जब रमण प्रारंभ होता है, तब गमन नहीं होता है। जब गमन होता है, तब रमण नहीं होता है।** जब निर्वाण का काल आता है, जब सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति व्युपरत क्रिया निवर्तीनि शुक्लध्यान में लीन होते हैं, तब निर्वाण होता है। सयोगकेवली गुणस्थान होता है।

मित्र! हाथ में जब भी लेखनी आए, आप पंचपरमेष्ठी को ज्ञेय बनाओगे तो पाप की निर्जरा होगी, कहीं आप किसी की आलोचना का लेखन करने बैठ गए, तो ध्यान रखना, तेरा योग अशुभ, उपयोग अशुभ। क्यों? जैसे समवसरण के बारे में लिखने वाले की अंतरंग में बारह सभाएँ झलकती

हैं, गंधकुटी में तीर्थेश नजर आते हैं और जब आप जिनमें दुर्गुणों की गंध नहीं है ऐसे तीर्थंकर में दुर्गुणों को देखने लग जाओ। मिथ्यादृष्टि सगुण में भी दुर्गुण देख लेता है। परगुण की दृष्टि से परमात्मा निर्गुण हैं, पर स्वगुण की अपेक्षा से परमात्मा निर्गुण नहीं हैं।

स्वचतुष्टय की अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य सत्भूत है। परचतुष्टय की अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य असत्– भूत है। मेरे गुण आपमें नहीं हैं, इसलिए आप मेरे गुण की अपेक्षा से निर्गुणी हो। पर मेरे गुण मेरे में हैं। मैं निर्गुणी नहीं हूँ, मैं सगुणी हूँ। आप कौनसे भगवान् को मानते हो? निर्गुणी को, कि सगुणी हो? सगुण परमात्मा है। परगुण की अपेक्षा से निर्गुण हैं, लेकिन यदि हम निर्गुण कह देंगे और निर्गुण परमात्मा की आराधना करोगे तो मिथ्यात्व में डूब जाओगे। पूजा करते–करते प्रथम गुणस्थान रहेगा। क्यों? गुणों से रहित परमात्मा, गुणों से रहित आत्मा गुण के नाश का होना मोक्ष है, कौन मानता है? भारत की भूमि में षट्दर्शन हुए, ३६३ मत हुए। उनमें वैशेषिक दर्शन हैं। वैशेषिक का जो मोक्ष है, बुद्धि आदि विशेष गुणों का उच्छेद जहाँ हो जाए, उसका नाम मोक्ष है। **'श्रुत ही मंत्र' है। बिना श्रुत के मंत्र होता नहीं। बिना मंत्र के श्रुत भी नहीं होता। जो–जो मंत्र हैं, वे सब श्रुतज्ञान से ही तो लिखे जाते हैं। अ से लेकर ज्ञ तक जो वर्णमाला है, उसी से सबकुछ लिखा जाता है।** नियोग है, प्रज्ञा सखी का प्रयोग कर लो। ६४ वर्ण आपको दे दिए हैं। ३३ व्यंजन हैं। १६ अथवा १४ स्वर हैं। ४ योगवाह हैं। प्लुत हैं। श्रुत हैं। उदात हैं। अनुदात हैं। यह सब ६४ वर्ण आपको दिए हैं।

माताओ! घृत भी दिया, आटा भी दिया। नमक भी दिया अब कैसा स्वादिष्ट भोजन बनाना है, यह तेरी बुद्धि के ऊपर है। ऐसे ही ६४ वर्णों से कोई गाली बना रहा है, कोई ग्रंथ बना रहा है, कोई ६४ वर्णों से पाषाण की प्रतिमा पर अंकन करके अर्हंत बना रहा है। ६४ वर्ण हैं। एक बीजाक्षर बोल रहा है। एक अपने नाम का पटिया लगवाकर पैर रखवा रहा है। जो सीढ़ियों पर अपना नाम लिखवाते हैं, इनको जीवनभर श्रुत की अविनय का पापबंध होगा, ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र आस्रव–बंध होगा। आप सोच रहे हैं कि हम दान देकर आए हैं, पर कर्मसिद्धांत कह रहा है– **'तीव्रमन्दज्ञाताज्ञात–भावाऽधिकरण वीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः'।** भले ही तुम्हें ध्यान नहीं है, पर कर्मसिद्धांत तो कुछ–और ही है। संसार की फाँसी से मत डरना, कर्मों की फाँसी से डरना।

जो तेरे नाम में शब्द का प्रयोग हुआ है वह शब्द से ही हुआ है। ओष्ठ से हुआ है, दंत से हुआ है, तालु से हुआ है, कंठ से हुआ है। यह ध्वनि प्रकट हुई है। यह चेतन है कि अचेतन? यह सब अचेतन है। जो नाम बोला, वह भी अचेतन है। अचेतन से प्रकट हुई ध्वनि अचेतन, उस

अचेतन ध्वनि को सुनकर चेतन हर्षित हुआ या विषाद को प्राप्त हुआ। हे ज्ञानी! तू ऐसा सोच लेता कि यह गद्य पद्य जो शब्द है, यह जड़भूत है, इन जड़ शब्दों में चैतन्य ज्ञान नहीं है। **हे ज्ञाता! इन गद्य पद्य छंद आदि को सुनकर तू हर्ष–विषाद को प्राप्त हो रहा है, यही बंध धारा है। प्रशंसा के शब्द आ गए तो चित्त प्रसन्न हो गया, निंदा के शब्द आ गए तो खिन्न हो गया चित्त। मित्र! प्रशंसा भी निज धर्म नहीं है, निंदा भी निज धर्म नहीं है।**

हे ज्ञानी! पर्वत से पानी गिरता है तो खाई बन जाती है। उस खाई में कोई गिर जाए तो हड्डी– पसली पूरी टूटे पर कुछ तो मिले, लेकिन ख्याति की खाई में गिरा योगी उसके संयम की टूटी हड्डी भी नहीं मिलेगी, क्योंकि हड्डियों में संयम होता नहीं, संयम में हड्डी होती नहीं। हे साधक! 'ख्याति लाभ पूजादि चाह' से की गई साधना नियम से नीचे ही ले जाएगी।

जिसको गद्य–पद्य के शास्त्रों से भी विरक्ति हो चुकी है, यह एक योगी की अंतरंग धारा चल रही है। रागादि विकल्प की उपाधि से रहित, सदानंद स्वरूपोऽहं, सच्चिदानंद स्वरूपोहं। सद्–चित्–आनंद। मेरा निज द्रव्य ही सत् है। वह सत् कैसा है? चिद् है। वह चिद् कैसा है? आनंदभूत है। कितनी बार आप सुन चुके हो– 'सच्चिदानंद स्वरूपोऽहम्' मेरा द्रव्य सत् है, चैतन्यभूत है, आनंद रूप है। ऐसा लक्षण सदा है। एक आनंद लक्षण, परमात्म तत्त्व को प्रकाशित करता है।

जो गद्य–पद्य शास्त्रादि हैं, वे श्रवण इंद्रिय के विषय हैं, यह ज्ञान का विषय नहीं है। जो आप सुन रहे हो, मैं सुना रहा हूँ, शब्द हैं पौद्गलिक, ज्ञान नहीं है। जो आपके कानों तक आ रहा है, वह तो जड़ है। जो मैं मेरे ही भीतर सोच रहा हूँ, वह चैतन्य है और जो तुम सुन रहे हो, वह जड़ है। उसको सुनने के बाद यदि तुम्हारे भीतर निज का भाव चल रहा है, वो चैतन्य है। सर्वज्ञ जान रहे हैं, वह चैतन्य है। जो बोल रहे हैं, वह जड़ है। श्रोता सुन रहे हैं, वह जड़ है। श्रोता सुनकर जो निज में निज का वेदन कर रहे हैं, वह चैतन्य है। जड़ की महिमा देखो कितनी विराट है। यहाँ से कहीं फोन कर दो तो वहाँ जीव रोने लग जाए। यहाँ से फोन कर दो तो हँसने लग जाए। **एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को प्रभावित करता है, परंतु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप होता नहीं है।** प्रभावितकर्त्ता नहीं मानोगे तो सर्वज्ञ की देशना सुनने क्यों जाएगा जीव? क्योंकि उपदेश सुनते ही सम्यक् हो गया।

हे जीव! क्रियावर्ती जो शक्ति है, वह भाववर्ती शक्ति से प्रभावित होती है। भाववर्ती शक्ति जीव में होती है। पुद्गल में क्रियावर्ती शक्ति होती है। यह जीव की भाववर्ती क्रियावर्ती शक्ति है। क्रियावर्ती शक्ति तो नाना जड़द्रव्यों में भी है, लेकिन भाववर्ती शक्ति जो है वह जीवत्व भाव है

और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन नहीं करता, इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को प्रभावित करने में निमित्तभूतपने से युक्त है, क्योंकि उपादान की योग्यता ही परिणमन करती है। पर **निमित्त वही होता है, जो उपादान को प्रभावित करता है। जो उपादान को प्रभावित करने की योग्यता ही नहीं रखता है, वह निमित्त 'निमित्त' नहीं है, वह निमित्ताभास है।**

जो द्रव्यश्रुत है, वह भावश्रुत को उद्घाटित करने में निमित्त है। निमित्तदृष्टि से, परंतु निर्वाण तेरा भावश्रुत से ही होगा, द्रव्यश्रुत से नहीं होगा। द्रव्यश्रुत से यह भी आ सकता है, भावश्रुत निर्मद होने पर ही होगा। भैया! मैं कहूँ मैंने इतने ग्रंथ लिख लिए, मैं इतने अच्छे प्रवचन कर रहा हूँ। महाराज! पर के लिए। संप्रदान शक्ति कहेगी किसके लिए? पर के लिए। स्वामी! जो भावों में विशुद्धि चल रही है, वह मात्र स्वयं के लिए है। **जिस जीव ने पंचमकाल में मनुष्यपर्याय को प्राप्त करके भी समयसार के गूढ़ रहस्य को नहीं सुना, नहीं समझा, उसकी वर्तमान की मनुष्यपर्याय की प्राप्ति लाभकारी नहीं है। बहुत बड़ी विद्या की अनुभूति से तुम शून्य होकर चले गए।**

यह मानकर चलना कि कोई जीव आपके शहर में आया और जिनालय जाकर खडगासन प्रतिमा के दर्शन नहीं किए तो उसका सागर आना किसी काम का नहीं है। किसी ने पूछ लिया कि वहाँ के जिनालय में तो विशाल–विशाल प्रतिमा है, आपने दर्शन किए? बोले, नहीं किए। उसी क्षण से तुम्हें क्या लगेगा कि एक बार फिर जाना चाहिए। ऐसे–ही मुमुक्षुओ! आपनेमनुष्य पर्याय को प्राप्त कर लिया और आत्मप्रवादपूर्व के गूढ़ रहस्यों से भरा यह समयसार का अध्यात्म तत्त्व नहीं समझ पाए और कहीं स्वर्ग भी पहुँच गए, सौधर्म इंद्र ने तुमसे पूछ लिया कि कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार को जानकर आए हो क्या? बोले, नहीं। तो तेरा मन करेगा कि एक बार फिर मनुष्य बनूँ और कुन्दकुन्द देव के समयसार को पढ़कर आऊँ। इसलिये पढ़कर, अनुभव करके जाना चाहिए। मैं तो यही कहूँगा। यहाँ से वहाँ भागने में आनंद नहीं आता जो समयसार में आता है। यह तो प्रशंसकों की प्रशंसा है, निंदकों की निंदा है। एक भी सत्य नहीं है। विश्वास रखना, पर के द्वारा की गई निंदा भी सत्य नहीं होती। क्यों नहीं होती है? की गई प्रशंसा मात्र ऊपर की पर्याय की होती है। परिणामों की करोगे? करो। आप निंदा जो भी करोगे, निंदा ईर्ष्या से भरकर कर पाओगे। उस व्यक्ति में वह दुर्गण ही नहीं है जिसकी तुम निंदा कर रहे हो। नीच गोत्र का आस्रव हो जाएगा स्वयं को। मित्र! पर के द्वारा की गई निंदा को सत्य मत मान लेना और बाँधे गए प्रशंसा

के पुल भी तू पूर्ण सत्य मत मान लेना। पूर्ण सत्य तो यह है कि मेरे अंदर क्या गुण दोष है यह तो हम स्वयं ही जान सकते हैं। मैं ही निंदनीय हूँ, मैं ही प्रशंसनीय हूँ। इसको सच्चा भावलिंगी मुनि प्रतिदिन विचार करता है। अपनी निंदा भी करता है, अपनी प्रशंसा भी करता है। मैं तो निज की बात कर रहा हूँ, पर की नहीं कर रहा हूँ। तुमने आलोचना प्रतिक्रमण कर लिया, यहाँ तक तुमने मेहनत की है। इसके बाद यदि 'मैं विशुद्ध भगवान् आत्मा' हूँ– ऐसी अनुभूति नहीं ले रहा है और निज की प्रशंसा नहीं कर रहा है, तो आत्मा का आनंद कैसा है? प्रतिक्रमण का निषेध नहीं कर रहा हूँ। **तुम मात्र अपनी निंदा में ही लगे रहोगे तो हीनभावना में चले जाओगे।** कभी तो कहो–

मलरहिओ णाणमओ, णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो, परमो बंभो मुणेयव्वो।।२६ त.सा.।।

जैसा मलरहित परमात्मा सिद्धशिला पर विराजता है, वैसा मलरहित चैतन्य भगवान् परमब्रह्म मेरी देह में विराजता है। वह कैसा है?

सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइसमिद्धोहं।
देहपमाणो णिच्चो, असंखदेसो अमुत्तो य।।२८ त.सा.।।

वो सिद्ध है, शुद्ध है, नित्य है, निरंजन है, स्वदेह प्रमाण है। वह कौन है? वह मैं ही मेरा भगवान् है। इन बने भगवान् की वंदना करोगे तो स्वर्ग ही जा पाओगे। जिस भगवान् की मैं बात कर रहा हूँ, उस भगवान् की वंदना करोगे तो सिद्ध ही बनोगे। **जिननाथ की वंदना करते रहो जब–तक निजनाथ न दिखे। जिननाथ को देखने के लिए वंदना नहीं करना। वंदना करना निजनाथ को देखने के लिए।** इसलिए किंचित् भी शंका नहीं करना। भगवान् के तो कल्याण हो गए, पर सत्य है कि निज के कल्याण हो रहे हैं।

हे ज्ञानी! कोटि– कोटि द्रव्यों के व्यय में भी वह आनंद नहीं आता है जो एक क्षण जिनवाणी सुनने के काल में विशुद्धी बनती है उसमें आनंद आता है। विश्व के संपूर्ण तत्त्व ज्ञेय हैं, पर यह ज्ञान नहीं है।

हे मुमुक्षुओ! 'अध्यात्म अमृत कलश' में कहा है कि जब यह आत्मा का चावल पकता है ध्यान की अग्नि पर, तब कहीं परमात्मा प्रकट होता है। निर्णय करके बैठना। भाव हैं कितनी बार ऊपर–नीचे हो जाएँ। द्रव्य–संयम मत छोड़ बैठना। कितने ही नीचे पहुँच जाओ, चावल को पकते देखो। बिल्कुल तली में पहुँच जाता है, फिर ऊपर जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान

में आने के बाद भी पुनः एक बार छलांग लगाएगा तो अरहंत बनता है। परिणामों का उतार–चढ़ाव मत देखो। विकल्प मत करो। जो है, सो है।

ज्ञानियो! जिसने निज की स्वतंत्रता का वेदन किया है, वही भगवत्ता को प्राप्त हुआ है। निज स्वभाव में स्वतंत्र है। ऐसा विश्व में कोई जीव नहीं है, जो निज स्वभाव में स्वतंत्र न हो। निज स्वरूपदृष्टि से कोई जीवद्रव्य परतंत्र नहीं है। कर्म की १४८ प्रकृतियों से बंधन बद्ध होने पर भी वे प्रकृतियाँ निज प्रकृति में ही हैं। वे प्रकृतियाँ आत्मप्रकृतिभूत नहीं हैं। वे प्रकृतियाँ निज प्रकृतिभूत हैं, परप्रकृतिभूत नहीं हैं। मैं भी परप्रकृतिभूत नहीं हूँ। **स्वभाव तो स्वभाव ही है। परद्रव्य के संयोग से विभाव अवश्य है, पर विभाव तो विभाव भाव ही है। विभाव द्रव्य का निज स्वभाव नहीं है।** जो जीव ध्यान करने बैठ रहे हैं उन्हें जब ध्येय का ही बोध नहीं है, तब ध्यान किसका? और ध्येय के बोध के अभाव में अपने समय को परद्रव्य में दे रहा है। कोई वल्ब का ध्यान कर रहा है, कोई हँस रहा है, कोई गा रहा है, कोई नृत्य कर रहा है, कोई हा– हा हू– हू कर रहा है।

ज्ञानी! तुम्हारी यह सारी दशाएँ अज्ञानभूत हैं। परध्येय का आलम्बन लेने के लिए समय ही कहाँ? मैं ध्याता, मैं ध्यान, मैं ही ध्येय, अपनी शक्ति पर में क्यों? इसलिए समयसार जी ग्रंथ कहता है कि हे मुमुक्षु! यदि तुझे परमात्मा बनना है तो पर ध्येय में ध्येय को मत ले जाओ। शुभ–उपयोग– भूत ध्यान करेगा तो पंचपरमेष्ठी का ध्यान है। शुद्ध–उपयोग की ओर जाएगा, तो निज आत्मद्रव्य का ही ध्यान है। वहाँ पंचपरमेष्ठी भी परगत तत्त्व हैं। परमेष्ठी तो परमेष्ठी हैं, परमेष्ठी निज नहीं हैं। पर परमेष्ठी पर में ही परमेष्ठी है। मेरा निज परमेष्ठी मैं ही हूँ, निश्चय से।

ज्ञानियो! जिसे परमात्मा जान रहा है, उसे परमात्मा जान ही रहा है। सर्वज्ञ भगवान् भी मेरी आत्मा के लिए पर हैं। परमात्मा के लिए मैं भी पर ही हूँ। यानि जिनवाणी का वह भाग मत भूल जाइये, जिस भाग में परमात्मा की वास्तविकता का बोध है। वही अध्यात्म विद्या है। जो आप परमात्मा की विधि जान रहे हो, यह परमात्मा की विधि जो है, यह परमात्मा बनने की द्रव्यशैली है। समयसार में जो परमात्मा बनने की विधि है, वह भावशैली है।

बटलोई में खीर बन रही है। नीचे अग्नि है, चूल्हा है। वह दोनों आपको चाहिए पर जो खीर बन रही है, वह चूल्हा नहीं है। जो खीर बन रही है, वह बटलोई नहीं है। वह क्या है? बटलोई के भीतर है। खीर तो दूध चावल की मिश्रधारा है। जो खीर बन रही है, वह पात्र नहीं बन रही है। पात्र में खीर बन रही है। ऐसे–ही ज्ञानियो! जो परमात्मा है, वह देह के भीतर है। देह परमात्मा नहीं

बनती। देह में विराजा भगवान्–आत्मा है, वह परमात्मा बनता है। पात्र को तपाए बिना जैसे खीर नहीं बनती, ऐसे–ही देह को तपाये बिना कोई परमात्मा नहीं बनता। इसलिए बहिरंग तप भी चाहिए। अंतरंग तप की सिद्धि के लिए जो यह सोचता है कि अंतरंग में ही खीर बन जाएगी, हाँ, खीर तो अंतरंग में ही बनेगी, पर बहिरंग अग्नि के सहयोग के बिना खीर पकेगी नहीं। ऐसे–ही परमात्मा तो अंतरंग में ही बनेगा, पर बहिरंग तपस्या किए बिना परमात्मा बनेगा नहीं। यह है निश्चय व्यवहार की युगपद धारा। पात्र का तपना व्यवहार है। भीतर चावल का पकना निश्चय है। दिगम्बर मुद्रा पिच्छी–कमण्डलु यह बहिरंग तप नहीं है।

ज्ञानियो! किसी विद्यालय की गणवेश पहनने मात्र से क्या तेरी पढ़ाई हो जाएगी। उस स्कूल में नाम भी लिखाना पड़ेगा। तब स्कूल की 'छात्र' संज्ञा प्राप्त होगी। लेकिन क्या तू छात्रता को प्राप्त हो गया? क्लास में तो एक दिन नहीं बैठा क्या आपके ड्रेस पहनने मात्र से विद्यार्थीपना आ चुका है? ऐसे–ही, माना कि किसी जीव ने दिगम्बर मुद्रा धार ली, पिच्छी–कमण्डल भी पकड़ लिया और कहता है कि मैं मुनि हूँ। पर विशुद्धसागर उसे मुनि मानने वाले नहीं हैं। जैसे इस जीव ने किसी स्कूल की ड्रेस पहन ली तो ड्रेस पहनने मात्र से छात्र नहीं बन जाता है, ऐसे–ही कपड़े उतारकर पिच्छी–कमण्डल लेने से कोई मुनि नहीं बन जाता है। यह ड्रेस है, यह भेष है। अभी बहिरंग तप भी प्रारंभ नहीं हुआ है। जब तुम अध्यापक के पढ़ाने पर अभ्यास पुस्तक को खोलकर लिखोगे और कुछ पढ़ोगे, तब आप उस विद्यार्थी की तरह द्रव्यश्रुत की आराधना करते मिलोगे। जब कपड़े उतारकर पिच्छी–कमण्डल ले लेगा जीव और व्रत–समिति–गुप्तियों के पालन में लवलीन होगा, तब यह द्रव्य से मुनिचर्या को पालते दिखाई देगा। जब यह छात्र पढ़करके अक्षरों को भूल जाएगा, अक्षर में लीन हो जाएगा। तब यह भावश्रुत में लीन होगा, तब भीतर का छात्र होगा। **क्रियाओं को छोड़ेगा नहीं, क्रियाओं में जाएगा नहीं और क्रियाओं को करते–करते क्रियाशील में लीन हो जाएगा, तब यह 'भावमुनि' होगा।** जब खीर पक चुकी होती है, तब बटलोई को नहीं खाया जाता है, बटलोई से निकालकर खीर खाई जाती है। ऐसे–ही वीतरागी श्रमण भेद रत्नत्रय का पालन करता हुआ अभेद स्वरूप में लीन होता है तो स्वानुभूति की जो खीर भरी हुई है, उसका वेदन करता है। उस समय खीर खाने वाले को पात्र से कोई प्रयोजन नहीं होता है। ऐसे–ही दिगम्बर मुनि को भी दिगंबर दशा से कोई प्रयोजन नहीं होता है। उसका नाम भावलिंगी मुनि है। अहो! दिगंबर दशा से भी जिसका राग नहीं है। ये तो बताओ कि पात्र में परोसी खीर को खाते हो, कि पात्र को देखते हो? चाहे वो पात्र सोने का हो, चाँदी का हो, चाहे मिट्टी का सकोरा हो। यदि

स्वादिष्ट खीर बनी है, तो कोई नहीं कहता कि पात्र कैसा है?

दो गोरे दो साँवले, दो हरियल दो लाल।
सोलह कंचन वर्ण हैं, दीनानाथ कृपाल।

ऐसा कौन बोलेगा? जिसको खीर का स्वाद नहीं आ रहा है। वो परमात्मा के रंगों को देखेगा। जिसने परमात्म स्वभाव को जान लिया है, वह गोरे– काले नहीं देखेगा, वह तो कहेगा 'जो है, सो है।' इसलिए बस ध्येय पर ध्येय जाना चाहिए।

धन्य है योगी की दशा। आँखों के मुनियों को मैंने अनंत बार देखा है। यह आँखों के मुनियों की व्याख्या नहीं चल रही है, यह आत्मा के मुनि की व्याख्या चल रही है। जिसने अक्षर ज्ञान को ज्ञान नहीं समझा, अक्षर को ही ज्ञान कहा है। अक्षर ज्ञान 'ज्ञान' नहीं है। अक्षर ही ज्ञान है। वह तो पौद्गलिक है, लिखा हुआ है। वह मेरा ज्ञान नहीं है, लेकिन त्रैकालिक है। **जिसका क्षय नहीं है, जिसका क्षरण नहीं है, उसका नाम अक्षर है।** किसी के द्वारा प्रकट नहीं कराए गए अक्षर।

'सिद्धो वर्ण समाम्नायः' कातंत्र व्याकरण का सूत्र है। वर्णों की आम्नाय अनादि से सिद्ध है। अक्षर अनादि है। जो अ अक्षर है, वह मेरी आत्मा का ज्ञान नहीं है। अक्षय (क्षरण रहित) जो आत्म द्रव्य है, वही अक्षर है। वही आत्मज्ञान है। जो लिखा अक्षर है, वह मेरी आत्मा का ज्ञान नहीं है। जो लिखे को लख रहा है, वह अक्षर मेरी आत्मा है। जो लिखा है पोथियों में, वह ज्ञान नहीं है। जो लिखा है ग्रंथों में, वह ज्ञान नहीं है। जो लख रहा है ग्रंथ को, वही ज्ञान है।

ज्ञानियो! जंगलों में, पर्वतों की चोटियों पर, उपवनों में, सरिताओं के तट पर यह योगी करते क्या हैं? **करनेवाले कभी तिरनेवाले नहीं हैं। तिरेगा वही, जो करना बंद कर देगा।** करनेवाला तिरने वाला नहीं है। तब ये योगी करते क्या हैं? कुछ नहीं करते हैं, कुछ नहीं सुनते हैं। जो कुछ–नहीं–करने में शक्ति लगती है, वह करने में नहीं लगती है।

किसी के हाथ पीछे बाँध दो, फिर उस पुरुष से कहो दौड़ो। कितनी गति से दौड़ पाएगा? पैर नहीं बाँधे हैं, पर हाथ नहीं हिलेंगे तो दौड़ नहीं पाएगा। **जितना तेज दौड़ता है, उतना तेज हाथ हिलता है। जितनी जीभ हिलेगी, उतना चित्त भागेगा। जीभ बाँध लो तो मन बँध जाएगा। कुछ नहीं करना ही मोक्षमार्ग है। जब–तक करने में दृष्टि है, तब–तक तुम्हारी तिरने की दृष्टि नहीं है। मोक्षमार्ग निर्माण मार्ग नहीं है, निर्वाण का मार्ग है।** रत्नत्रय निर्माण नहीं, निर्वाण मार्ग है। जो क्रियाभूत कार्य करके ध्यान में जा रहा है, वो शुद्ध ढोंग में जा रहा है। **परक्रिया से शून्य, परचर्चा से शून्य, परभावों से शून्य, परज्ञेयों से शून्य, ज्ञाता का निजज्ञान में लीन होना,**

यही परमध्यान है। कुछ मत करो। कुछ नहीं करो, यही करो। आपने अनंत पर्याय कुछ करने की अनुभूति में लगा दी हैं। एक भव ना–करने की अनुभूति को देकर तो देखो। जिस दिन कुछ नहीं करेगा, उसी दिन निर्वाण होगा। जब तक करता रहेगा, तब तक अनंत पर्यायों में निर्माण होता रहेगा। इसलिये कुछ नहीं करो।

ज्ञानी! सोच बंद करो। कुछ भी मत सोचो। एक घंटे में १०० कि.मी. दौड़ कर चले आना उतना कठिन नहीं है, एक मिनिट कुछ नहीं सोचो उतना कठिन है। वक्ताओं की यह बहुत बड़ी भूल है। समाज के साथ छल है। विद्वानों के द्वारा समाज के द्वारा समाज के साथ छल है। किस बात का? जो जैन तत्त्व– विद्या के गूढ़ रहस्य हैं, ताली बजवाने के चक्कर में उस सत्य को क्यों नहीं बता रहे हो? यह कोई नहीं कह सकता कि समझ में नहीं आता। मैं तो जानकर समयसार विस्तारे हूँ। यह आपको बोध होना चाहिए, कि वक्ताओं ने भ्रम पैदा कर दिया गया है कि श्रोताओं को गूढ़ रहस्य समझ में नहीं आता है।

हे श्रावको! यदि विपरीत चिंतन होगा तो तुम उस परमतत्त्वविद्या को न कभी सुन पाओगे, न समझ पाओगे, बल्कि यह कहके जाओगे कि तुम्हारे अंदर शक्ति नहीं है। पाचनशक्ति के प्रयोग बिना तुम पाचनशक्ति से शून्य रहोगे। यहाँ तो बच्चे–बच्चे सुन रहे हैं।

विद्या कठिन नहीं है, रहस्यमयी है। हलचल में ही हलचल मच जाए। इतनी तेज हलचल मचे जैसे कि माँ मक्खन निकालते समय मटकी में हलचल मचाती है। मथानी घूम रही है, आवाज आ रही है, लेकिन भीतर कुछ हो रहा है। जब दही रखा था, तब कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। उसमें पानी के छींटे मारे, मथानी घुमाना शुरू किया। जैसे– जैसे हलचल मच रही थी। घूमते–घूमते पहले थक्का टूटा, फिर थक्का निकला। मुमुक्षुओ! पहले मुख का थक्का तोड़ो। दही के थक्के नहीं टूटेंगे तब–तक मक्खन का गोला नहीं निकलेगा। स्वानुभूति का थक्का तब प्रकट होगा, वह मक्खन होगा। निहारो। आँखों से देख रहे थे, दूध में घी नहीं दिख रहा था। दही में मक्खन भी नहीं दिख रहा था। पर निकला कि नहीं? वह था कहाँ?

मेरे मित्र! पुद्गल में भिन्न पर्याय को तुम जान रहे हो। तो ज्ञानी! इस देह के भीतर भी तो वही बैठा है जिसकी तुम पूजा करते हो। जैसे दही के घड़ों में मक्खन भरा था, वैसे–ही इन अघवान् आत्माओं के भीतर भगवान् भरा हुआ है। पूरा जिनागम रहस्यमयी है, रासायनिक है। मैं तो बहुत बार कह चुका हूँ कि पुण्य का उपयोग करो। जो गहरी जैनतत्त्व की धाराएँ हैं, वे विश्व के कानों तक जाना चाहिए।

जो आनंद योगी लेता है, वह जगत् में किसी के पास नहीं है। वह आनंद तभी आएगा, जब सहज होकर जियोगे। हमारे आगम में कहीं नहीं लिखा कि युवा बनकर जियो या बूढ़े बनरकर जियो।

'यथाजात स्वरूपोऽहं' बालक माँ की गोद में आँचलपान करता है, पर माँ कुछ नहीं सोचती। क्या स्वयं का बेटा परपुरुष नहीं है? है। लेकिन क्या पर–पुरुष है? नहीं है। बेटा है। जैसे नग्न बालक भी माँ की गोद में बैठा होता है, **'यथाजात स्वरूपोऽहं'** वैसे–ही दिगम्बर मुनि गली–गली में यथाजात स्वरूप में घूमते हैं। ऐसा सहज जो विचार है, वही शुद्धात्मा की प्राप्ति कराएगा। यह मस्तिष्क की नसों का तनाव सब असहज है। सहज होना चाहिए। जिस दिन इस विधा को सीख लोगे, गोली खाकर नहीं सोना पड़ेगा। सहज में जीना सीखो। जो है, सो है।

ज्ञानियो! जिसमें मात्र समय की बात है, वह समयसार है। जिसने समय को समय पर जान लिया है, वह समय को प्राप्त हो गया है। समय यानी काल, समय यानी आगम, समय यानी आत्मा। जिसने समय पर आगम को जान लिया है, वह समयसारभूत आत्मद्रव्य को प्राप्त कर लेता है। सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार में भगवत् कुन्दकुन्द स्वामी यहाँ ज्ञान की व्याख्या कर रहे हैं, जो ज्ञान पराश्रित नहीं है, स्वाश्रित है। अज्ञानी जीवों ने परज्ञेयों में ज्ञान की खोज की, परंतु परज्ञेयों में ज्ञान नहीं है। ज्ञाता का धर्म ही ज्ञान है। **जो ज्ञाता को जान लेता है वही सच्चा ज्ञानी है।** परज्ञेयों को जाननेवाले के कभी पंचकल्याणक नहीं मनते। जो पर को जानने से अज्ञानी हो चुके होते हैं, वे ही स्वत: ज्ञाता होते हैं। वही ज्ञानी विश्व का प्रभु बनता है। प्रभुत्व सत्ता को जो प्राप्त होना चाहता है, वह प्रभु नहीं बन सकता है। **जो अहम् की प्रभुत्व सत्ता का विसर्जन कर देता है, वह जगत् का प्रभु बन जाता है।** विभुत्व शक्ति आत्मा की शक्ति है।

कल्याण कैसे होता है? उस विद्या को सुन रहे हो आप। जगत् को जानने के लिए जीवों ने आँखों को खोल–खोल कर जाना है। पर को जानने के लिए आँखें खोलना पड़ेंगी। पर को जानने के लिए कान खोलना पड़ेंगे, परंतु निज को जानने के लिए न आँख खोलना न कान खोलना। इन सबको बंद करना होगा। जितना जगत् का परिचय होगा, उतना निज का अपरिचय होगा।

भैया! लोगों को लगता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, आत्म–आनंद आ रहा है। यह आत्म–आनंद नहीं है, यह तो कषाय–आनंद है। कषाय में यदि आनंद नहीं होता, तो संसार में तुम जी नहीं सकते थे। आनंद का वेदन मैं आपको बताऊँ?

ज्ञानी! यहीं देखो, इस ज्ञानी को आपने माला पहना दी। पहननेवाले को आनंद आया और

पहनाने वालों को उससे भी ज्यादा आनंद आया। दोनों सोच रहे हैं कि विशुद्धि बन रही है। पर मेरे मित्र! यह विशुद्धि नहीं थी। पहनानेवाला देख रहा था कि मुझे कितने लोग देख रहे हैं। बस, वह इसी में आनंदित था कि मुझे इतने लोगों के बीच में मंच पर खड़ा होने को मिला। एक जीव को आनंद इस में आ रहा था कि देखो मेरा पुण्य कि मेरे गले में माला पड़ रही है। यह दोनों ही अवस्थाओं में मानकषाय की अनुभूति चल रही थी। **मानकषाय मंदरूप में भी होती है, तीव्र रूप में होती है, भद्र रूप में भी होती है।** मान की महिमा देखो, शरीर पर वसूले चला दिए फिर भी आवाज नहीं निकली। क्यों? मैं आवाज निकालूँगा तो लोग क्या सोचेंगे? देह छिल गई, तब भी मुख से आवाज नहीं निकली, कितनी पीढ़ा हो रही होगी। यदि मान छोड़ कर, स्वाभिमान छोड़कर, भगवान् को निहारता, तो सम्मान भी हो जाता, पूज्य भी हो जाता, पूजा भी हो जाती। पर पर की पूजा के अभाव का भाव मन में नहीं आता। अर्हंतों का अपमान करके हमने सम्मान प्राप्त किया है। कह रहे थे कि मेरा ज्ञान काम कर रहा है। यह ज्ञान नहीं, अज्ञान काम कर रहा था। जिस दिन आपकी आँख एक इन्द्रिय में भगवान् देखने लग जाएगी, उस दिन समझ लेना मेरा ज्ञान ज्ञायक को निहारने योग्य हो गया है। जब तक आपको स्त्री में भेद दिखता है, नपुंसक में भेद दिखता है, पुरुष में भेद दिखता है, तब-तक तुम्हारी भेददृष्टि है, पर्यायदृष्टि है। जिस दिन तीनों वेदों में तुझे मात्र पुरुष दिखेगा **'अस्ति पुरुष चिदात्मा',** उसका नाम योगी होगा। अभी ब्रह्म में नहीं है। ब्रह्म की मात्र बात कर रहे हो। जब-तक तीनों वेदों में भेद दिख रहा है, तब-तक ब्रह्म भाव शून्य है।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार समयसारजी में चल रहा है। कुछ नहीं करना, मात्र ज्ञान को विशुद्ध करने का भाव है। भगवत्ता कोई दूसरी वस्तु नहीं है, मात्र ज्ञान को विशुद्ध करना है।

ज्ञानियो! खेती में जो पानी है। आपके नगर में जो तालाब है उसमें जो पानी है। उस पानी को तुम किसी फोड़े को धोने में काम लोगे क्या? फोड़े को धोने के लिए पानी का प्रयोग नहीं करते क्या? खेत या तालाब के पानी का प्रयोग यदि घाव में कर लिया तो क्या हो जाएगा? क्यों भाई! पानी तो है, कि नहीं? मेरे मित्र! क्या जो पानी आप घाव धोने के लिए उपयोग करते हैं, खेत या तालाब के पानी को क्या वैसा पानी नहीं बना सकते हो? बना सकते हो।

रहा है क्या? या हाथ में ग्रास की अनुभूति ले रहा है? या सामने बैठी माँ परोस रही उसकी अनुभूति लेता है? कि कंठ में स्वाद रस आ रहा है उसकी अनुभूति लेता है? उस क्षण में तू सारे लोक को भूल जाता है और उसी समयकाल में यदि विकल्प आया है तो कंठ का भोजन तो अंदर उतर जाएगा, लेकिन स्वाद नहीं आएगा। जब कंठ की विषयानुभूति के लिए सब भूल जाता है, तो स्वानुभूति के लिए जगत् को याद कैसे कर सकता है? यहाँ व्यवहार की खोज मत करना, यहाँ द्वैत की खोज मत करना। ४०५, ४०६, ४०७ इन तीनों गाथाओं में जो विषय है, क्या कह रहे हैं? मल मल है, कीचड़ कीचड़ है, सोना सोना है। जो स्वरूप है, उस स्वरूप का जो रूप है, वही स्वरूप है, वही रूप है। उसको अन्य की उपमा कुछ नहीं है।

भइया! आँख खोलना, आँख बंद करना, ये कोई ध्यान नहीं है। ज्ञान को ज्ञान में ज्ञानरूप से जान लो, यही ध्यान है। 'मैं ज्ञाता हूँ' मैं जानने वाला हूँ, मैं जाननहार हूँ। मैं जिससे जान रहा हूँ, वही ज्ञान है। जिसे मैं जान रहा हूँ, वही ज्ञान है। जिसको मैं जान रहा हूँ वही ज्ञान है, जिसके द्वारा जान रहा हूँ वही ज्ञान है। जिसके लिए जान रहा हूँ, वही ज्ञान है। जिससे जान रहा हूँ, वही ज्ञान है। जिसमें जान रहा हूँ, वही ज्ञान है। कैमरे वाला भइया! मेरा चेहरा इसमें आ रहा कि नहीं? भाई! मैं उसमें आ रहा हूँ, अच्छा दिख रहा हूँ, मैं आ गया क्या?

ज्ञानी! मैं उसमें आ गया तो यहाँ कैसे? यदि मैं उस जगह पर चला गया तो मैं यहाँ कैसे? भइया! वैज्ञानिक तत्त्व पकड़िए, आपके लेसों में परिणमन हो रहा है, कि मेरे चेहरे में परिणमन हो रहा है? ये तो आपके लेसों का परिणमन चल रहा है, प्रतिबिम्बित हो रहा है, पर मैं उसमें प्रवेश नहीं कर रहा। ऐसे ही जगत् के द्रव्यों को तुम जान रहे हो, वो प्रतिबिम्बितभूत है, पर वास्तव में ज्ञान को ही जान रहे हो। वास्तव में ज्ञान से ही जान रहे हो। परद्रव्य इच्छा की पूर्ति में निमित्त है, पर इच्छा की पूर्ति तो तेरा राग ही कर रहा है। राग ही करा रहा है। जीव समझ नहीं रहा है।

आप तो श्रद्धा से सुनो। बिना योगी बने इस रहस्य का अनुभव नहीं कर सकते। पर अपने ज्ञान का विषय बना लो। आँखों का मुनि तो मैंने अनंत बार देखा है, आत्मा का मुनि कैसा होता है इसे समझो? जीव तू देह का मुनि, आँखों का मुनि अनंत बार बन चुका है। आत्मा का मुनि बन कर तो देखो। ये दृष्टि नहीं होगी तो फिर कहना पड़ेगा– 'मुनिव्रत धार अनंत बार।' एक बार मुनि बन गया तो फिर मुनि भी नहीं बनना पड़ेगा। अधिक से अधिक ३२ भव के अंदर मोक्ष चला जाएगा। मुनिव्रत अनंत बार धारण कर सकता है, लेकिन अनंत बार मुनि नहीं बन सकता।

जो भावलिंगी है, वो अनंत बार नहीं भटकेगा। जब भावलिंगी मुनि की वंदना करने वाला

भवातीत होने का प्रमाणपत्र ले लेता है, तो भावलिंगी मुनि अनंत भव में कैसे भटकेगा? **जिस जीव ने एक बार वीतरागी निर्ग्रंथ मुनि के हाथ पर ग्रास रख दिया है, वो भव्य जीव अनंत संसार में नहीं भटक सकता और जिस जीव ने नरक आयु का बंध कर लिया है, वो दिगम्बर मुनि के हाथ पर ग्रास नहीं रख पाएगा। उसके भाव ही नहीं होंगे। श्रावक के व्रत नहीं ले सकता, महाव्रती बनना तो बहुत कठिन है।** जिस जीव ने नरक या तिर्यंच आयु का बंध कर लिया, यहाँ तक कि मनुष्य–आयु का भी बंध कर लिया है, वो प्रतिमाधारी नहीं हो सकता, मुनि नहीं बन सकता। जिसने स्वर्ग आयु का बंध किया, वही व्रती बन सकता है अथवा जिसने किसी भी आयु का बंध न किया हो, वह व्रत धारण कर सकता है।

आग को देखो, राग को देखो। भइया! चंदन की लकड़ी में और बबूल की लकड़ी में आग लगी हो तो कौनसी आग में अँगुली डालने पर अँगुली नहीं जलेगी? दोनों में जलेगी। ऐसे–ही मित्र! धर्मतीर्थों का राग चंदन की लकड़ी के समान, सुगंध देते हुए जलाएगा और विषयों का राग यानि बबूल की लड़की की आग के समान है, परंतु झुलसाएँगे दोनों। मोक्ष जाना है तो इसे स्वीकारना ही पड़ेगा। **गृहस्थ वृद्ध होने पर संन्यास लेने जा रहा है, एक संन्यासी वृद्ध होने पर आश्रम बनाने जा रहा है।** आश्चर्य। फिर समंतभद्र स्वामी कहेंगे–

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान, निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।

(३३ र.क.श्रा.)

वो गृहस्थ मोक्षमार्गी है, मुनि की अपेक्षा से, उस अनगार से गृही श्रेष्ठ है, जो मोह से रहित है। मुनि श्रेष्ठ नहीं है जो मोह से युक्त है। मिथ्यात्व के राग से युक्त मुनि भी संसारी है। मिथ्यात्व–शून्य गृहस्थ भी मोक्षमार्गी है। बहुत सारा जीवन तुमने चंदा इकट्ठा कर देने में लगा दिया है, अब निज की अनुभूति पर लक्ष्यपात करो। इसे ही धर्म मानकर मत बैठो। भइया कभी त्यागी व्रती के हाथ में आहार के ग्रास के अलावा कोई दूसरी वस्तु नहीं रखना। जिनवाणी, पिच्छी, कमण्डलु के अलावा कोई भिन्न वस्तु नहीं प्रदान करना। ये निर्ग्रंथ मार्ग है, ये आडम्बर मार्ग नहीं है। जब विहार कराने में आनंद आता है, तो जब विहार करेगा तब कितना आनंद आएगा। घाट–घाट की अनुभूति होगी। तुम्हारे हृदय में शुद्धता है तो सारे नगर के द्वार खुले हैं तुम्हारे लिए। भैया! विहार कराने वाले को व्यवस्था बनानी पड़ती है और करने वाले को व्यवस्थित रहना पड़ता है। सारी कर्तृत्व बुद्धि का अभाव जहाँ हो जाएगा, वहाँ से परमब्रह्म धर्म प्रारंभ होगा। जो आत्मा है, वो तो अमूर्तिक है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित है। आत्मा अरस, अरूपी है, अगंध, अवर्ण है, अलिंगी है, अवक्तव्य है। रटी–रटायी वस्तु पर विश्वास मत कर लेना। जो हमारी तत्त्व–व्याख्या है, वह स्वानुभव, आगम, गुरु–उपदेश ये तीन पर आधारित है।

गरम खीर की बटलोई में चम्मच घूम रही है, फिर भी अभागी चम्मच को खीर का बिल्कुल स्वाद नहीं आ रहा। ऐसे–ही ज्ञानियो! जो जीव विषय–कषाय की भट्टी में झुलस रहे हैं, वे योगियों की खीर स्वरूपी बातें सुनते हुए भी चम्मच के समान घूम रहे हैं, उनको तनिक भी स्वाद नहीं आ रहा।

ये तत्त्वज्ञान हाट–बाजार का व्यापार नहीं है। तत्त्वज्ञानियों की संख्या कम ही होगी। कितने सारे लोग होते हैं। ये अध्यक्ष मंत्री से मिलो। ये सब दरी बिछवा देंगे, व्यवस्था करा देंगे, पर जब महोत्सव हों, व्यवस्थापकों से पूछो कि प्रवचन में क्या सुना और कौनसा कार्यक्रम देखा? रहे चम्मच के चम्मच। ज्ञानी! चम्मच बनकर नहीं घूमना। हमको स्वाद भी चखना है।

मोक्ष का सुख पूछना हो तो बैल से पूछो। हरी घास सामने रखी हुई है। खूँटे रस्सी से बँधा बैल जब भी मौका पाता है खूँटा तोड़ने का प्रयास करता है, वो हरी घास को नहीं देखता। बंधन की हरी घास आनंद नहीं दे रही। खूँटे से हटकर भाग जाए तो खेत की हरी घास में जो आनंद है वो खूँटे पर बँधी घास का आनंद नहीं है। ऐसे–ही देह के आनंद 'आनंद' नहीं हैं। देह के खूँटे से आत्मा विदेही हो जाए, वो आनंद 'आनंद' है, उसी का नाम मोक्ष है।

स्वेच्छा से बैठे हो, आपको अच्छा लग रहा है और मैं कह दूँ भाई! एक घंटा आपको हिलना नहीं है, उसी क्षण दुःख प्रारंभ हो जाएगा। तो आनंद किसमें है? मोक्ष में, स्वतंत्रता में। तो **'अत्ता जस्सामुत्तो'** आत्मा अमूर्तिक है। **'ण हु सो आहारगो हवदि एवं'** वो आहारक नहीं हो सकती है। **'आहारो खलु मुत्तो'** जो आहार है, वो मूर्तिक है। **'जम्हा सो पुग्गलमओ दु'** वह तो पौद्गलिक है। पुद्गलरूप जो पर द्रव्य है, उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता, छोड़ा भी नहीं जा सकता। आत्मा का स्वाभाविक प्रायोगिक गुण ऐसा नहीं है जो परवस्तु को छोड़े और परवस्तु को ग्रहण करे। **'तस्मात् तु यः विशुद्ध चेतयिता'** इसलिए जो विशुद्ध आत्मा है, **'सो णेव गेण्हदे किंचि'** वो किसी को किंचित् भी ग्रहण नहीं करती, **'णेव विमुंचदि किंचिवि'** न छोड़ती है **'जीवाजीवाण दव्वाणं'** जीवद्रव्य हो अथवा अजीव द्रव्य हो। जीव अथवा अजीव परद्रव्यों को आत्मा न किंचित् भी ग्रहण करती है, न किंचित् भी छोड़ती है। वह तो अपने स्वभाव में है।

जैसे सबकुछ दिख रहा है, पर कण–कण स्वतंत्र है। अपने धर्म को कोई भी द्रव्य नहीं

छोड़ता। हल्दी चूने के मिलने से रंग परिवर्तित अवश्य हो गया, लेकिन हल्दी के परमाणु हल्दीभूत हैं, चूने के परमाणु चूनेभूत हैं। ज्ञानियो! मिश्र में जीते–जीते बहुत समय निकल गया। तेरी माँ फीका दूध पिलाती कि मीठा? वो मीठा दूध गाय का होता कि भैंस का? बेटा! ये तो बताओ कौनसे देश की गाय, कौनसे देश की भैंस मीठा दूध देती है? इतनी–सी बात समझ ले। जिसे तेरी माँ पिलाती है, वह दूध तो फीका होता है, जब शक्कर मिल जाती है तब मीठा हो जाता है। माँ दूध में मीठा न मिलाए तो तू फेंक देता है कि मीठा नहीं है, फीका है। बेटा! दूध तो फीका ही होता है। मीठा कहाँ होता है? तूने आज तक क्या कहा? बेटा! तूने दूध का स्वाद चखा क्या? जब तूने दूध का स्वाद नहीं चखा, तो तेरे दादा ने शुद्ध आत्मा का स्वाद कहाँ से चख लिया? दूध का स्वाद नहीं चखा इस जीव ने। हम शक्कर की मिठास को, मिश्री की मिठास को दूध का मिठासपन कहते रहे। ऐसे–ही इंद्रियों के परद्रव्य के विषयों को आत्मा का सुख मानता रहा। शक्कर भिन्न है, दूध भिन्न है। ऐसे–ही इंद्रियों का विषय भिन्न है और आत्मा का आनंद भिन्न है। अब बोल, दूध कैसा था? माँ ने कैसा पिलाया? तो बेटा! तेरी माँ ने शुद्ध दूध पिलाया या अशुद्ध दूध पिलाया? अशुद्ध दूध पिलाया, फिर भी तू मुस्कराया। **यही संसार की लीला है, अशुद्धि के आनंद को ही आनंद मान रहा है।** विशुद्ध आनंद में प्रवेश किया ही नहीं है। मीठा दूध कहते–कहते जीवन निकल गया, पर दूध कभी मीठा हुआ ही नहीं। कम–से–कम अब तो समझ लेना। माँ फीका भी दूध दे, मुस्करा कर पी लेना। सत्य तो यही है, वो तो बनावटीपन है। अब बताओ, तुम कैसे दिख रहे हो? अच्छे कपड़े पहना दिए पिताजी ने, तब तू स्टूडियो जाता है, फोटो खिंचवाने के लिए। अब बता, तू फोटो किसका खिंचवाने गया है? **पर की सुंदरता में निज की सुंदरता मान बैठा है, यही अज्ञान दशा है।**

ज्ञानी! जो तू स्टूडियो गया था, ठीक है, पर तुम दर्पण के सामने किसे देखने गए थे? **जितने बेचारे मर रहे हैं, मरेंगे, मर चुके हैं, वे सब पर की लीनता के लिए ही मरे हैं। निज की लीनता में जो होता है, वो मरता ही नहीं है। वो निर्वाण को प्राप्त होता है।** क्यों मरना है कि जीना है? जीना है। यदि जीना है तो मिश्र का जीना समाप्त करो, अमिश्र जीना प्रारंभ करो, चले जाओ। बेटा जो आनंद लूट रहा है संसार में, वो मिश्र का आनंद है। अमिश्र पर दृष्टि ही नहीं है। जो अमिश्र है, वह तो 'जो है सो है'। अब बताओ, बेटा! दूध का स्वाद कैसा है? फीका। फीका यानि कैसा? मीठा, तो कैसा? फीका है तो कैसा, मीठा है तो कैसा? अंत में, महाराज! जो है सो है।

ऐसे–ही ज्ञानियो! जो भगवान्–आत्मा है, उसका स्वाद कैसा है? जैसा है वैसा है। उसे चखना चाहते हो तो साधु बनकर देखो। 'सच्चा वीतरागी भावलिंगी'।

तमासे से काम नहीं चलेगा। नुमाइश वास्तविक नहीं होती है। जो वास्तविक वस्तु होती है, उसकी नुमाइश नहीं होती है। प्रदर्शनी में किसे दिखाया जाता है? ऐसे–ही यदि गुणस्थान की वृद्धि नहीं हो रही है तो भइया! ये प्रदर्शनी का धर्मात्मा है।

यदि पति गुस्सा भी करे तो शांत रहना और यदि आँख में आँसू आ जाए और बेटा पूछे तो पति की निंदा मत करना। बेटे से कहना कि चेहरा देख ले, जो है सो है। तू अपना काम कर। क्यों? तू मेरे पक्ष में जाएगा तो पिता का विरोधी हो जाएगा और पिता के पक्ष में जाएगा तो माँ का विरोधी हो जाएगा। जबकि तेरे लिए दोनों बराबर हैं। तू अपना काम कर। हम दोनों तो दो दिन बाद ठीक हो जाएँगे। जो है सो है।

बेटा! दोनों के झगड़े में मत पड़ना। सम्मान रखना, अपने स्वभाव का ध्यान रखना। मैं तो किसी के बीच में पड़ता ही नहीं। मुझे मालूम है कि कषाय–काल अंतर्मुहूर्त रहता है। कषाय ढीली हो जाएगी तो वे आपस में ठीक हो जाएँगे। मैं बीच में जाकरके परिणाम क्यों खराब करूँ? मैंने देश के, विश्व के नाटक देखे हैं, लेकिन ज्ञाता–दृष्टा बनकर देखा, परकर्त्ता बनकर नहीं देखा। आनंद कब आता है? जो जादू का खेल दिखाते हैं उससे पूछना कि कितना आनंद आता है, कितना पसीना, कितनी भयंकर मेहनत लगती है। पर देखने जाता है टिकट लगाकर, आनंद वो लूटता है। जो कर्त्ता होता है कार्य का, वो आनंद नहीं लूट पाता। जो ज्ञाता–दृष्टा होता है, वो आनंद लूटता है।

जगत् का स्वभाव ही ऐसा है। **राग की रस्सी होगी तो द्वेष भी होगा। द्वेष होगा तो राग भी होगा।** ये दोनों नहीं होंगे तो संसार चलेगा कैसे? बिना राग–द्वेष के संसार हो सकता है क्या? जिसको भी दीर्घ काल तक संसार में रहना है, वो राग–द्वेष से रहित हो सकता है क्या? आप तो ऐसे रहना घर में जैसे दीवार में कैमरा। कोने–कोने में कैमरे लगे हैं। उसमें हर व्यक्ति झलकता है। आपके घर पर दर्पण लगे हुए हैं। चाहे कोई काला पहुँचे तो झलक रहा है, कोई गोरा पहुँचे सो झलक रहा है, अच्छे–बुरे कपड़े पहने तो झलक रहा है। चेहरा बंदर जैसा या शेर जैसा सब झलक रहा है, लेकिन दर्पण अपने आप में किसी सुंदरता, असुंदरता को प्राप्त नहीं हो रहा है। ऐसे ही घर में राग–द्वेष, लड़ाई–झगड़े दिखें। तो थोड़ा स्थान देखकरके और दूर खड़े होकरके लड़नेवालों के सामने एक कैमरा वाले को बुलाना और कहना 'भइया! फोटो खींच ले सबकी। कल पेपर में

छपवाऊँगा।' सो अपने आप युद्ध समाप्त। या फिर इन दोनों के चेहरे तो देख, भइया! चेहरे कैसे हैं? पर तुम दर्पण के समान रहना। मैं सभी लोगों से कह रहा हूँ। जैसे घर की दीवार पर दर्पण लगा होता है, वो किसी को स्वीकारता नहीं है, सब उसके सामने जाते हैं। जाते हैं कि नहीं? सुबह होते ही भगवान् बाद में देखते हैं, दर्पण पहले देखते हैं लोग। लोग कहते हैं कि समयसार समझ में नहीं आता। सब तो समझ में आ रहा है। कुछ न समझ में आए, यही तो समयसार है। जो है, सो है। आज से जीवन कैसा चलेगा तुम्हारा? घर की दीवार पर जैसे दर्पण टँगा है, वैसा ही चेहरा पहुँचे। दर्पण में झलकता तो सब कोई का चेहरा है, पर स्वीकारता किसी को नहीं है। ऐसे–ही जगत् में जितने रागी–द्वेषी हों, जान तो सबको लेना, पर स्वीकार एक को भी मत करना। भइया! दस दिन का उपवास कर लेना सरल है, पर एक मिनट के लिए भावों को सँभालना कठिन है। भूखे रहने के लिए थोड़े–ही परवस्तु छोड़ी जाती है, पर कषाय को सँभालने के लिए निज को सँभालना पड़ता है।

'गृह्णाति न मुञ्चति' न ग्रहण करता है, न छोड़ता है। **'ज्ञानेन पर द्रव्यस्य गृहीतुं मोक्तुं चाशक्यत्वात्।'** ज्ञान के द्वारा परद्रव्य को छोड़ना, परद्रव्य को पकड़ना असमर्थ है, असत्य है। न पर को छोड़ना न ग्रहण करना। जैसे दर्पण किसी को अपने में प्रवेश कराने में असमर्थ है, छोड़ने में असमर्थ है; मात्र झलकता है। ऐसे–ही ज्ञान जगत् को जानता है, पर किसी को पकड़ता नहीं है, छोड़ता नहीं है। दर्पण के समान ज्ञान की स्वच्छता है। **'परद्रव्यं च न ज्ञानस्या मूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्यत्वादाहारः'** और परद्रव्य है, वह ज्ञान का– अमूर्तिक आत्मद्रव्य का– आहार नहीं है, क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है।

ज्ञान आहारक नहीं है, इसलिए ज्ञान में देह की शंका मत करना। ज्ञान में देह भी नहीं है। ज्ञान स्वयं में अपने आप मूर्तभूत है। हे भगवान्! ऐसे समय का पता न चले, समय का पता चल जाए, यही तो समयसार है। घड़ी के समय का पता नहीं चले, समय यानि आत्मा का पता चल जाए।

आत्मा परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता है। चाहे स्वभावरूप परिणमन करे या विभावरूप परिणमन करे, अपने ही परिणाम का ग्रहण या त्याग है। परद्रव्य का ग्रहण या त्याग कुछ भी नहीं है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कलश में कह रहे हैं कि

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम्।।२३८।।

शुद्ध ज्ञान के देह ही विद्यमान नहीं है, इसलिए ज्ञाता का देहमय चिह्न मोक्ष का कारण नहीं है। अर्थात् देह का भेष मोक्ष का कारण नहीं है।

निश्चयनय से विचार करने पर आत्मा का शरीर से कोई संबंध नहीं है। संसारी आत्मा का शरीर में संयोग संबंध है जो व्यवहारनय का विषय है। आत्मा निश्चयनय की दृष्टि से सदैव शरीर से रहित है। मुनिराज जब व्यवहार दृष्टि में आते हैं तो शरीर को आहार की आवश्यकता होती है। किंचित् कर्माहार की अपेक्षा से देखें तो शुद्धात्मा सिद्ध भगवान् अनाहारक ही हैं। सभी संसारी आत्मा सदा आहारक हैं।

कुछ अज्ञानी जन कहते हैं कि आहार करते हुए भी आत्मा आहार नहीं करती, क्योंकि आत्मा अमूर्तिक है, आहार तो शरीर ग्रहण करता है। ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिए कि निश्चयनय में शरीर वस्तु है क्या जो आहार को ग्रहण करता है? शरीर तो पुद्गल परमाणुओं का पिंड है जो कि संयोगात्मक है, व्यवहारनय का विषय है। अत: निश्चयनय में आहार ग्रहण की बात ही नहीं उठती। जब आत्मा व्यवहारनय पर आता है अर्थात् समाधि से च्युत होने पर तो शरीर के साथ संयोग रहने के कारण शरीर की स्थिति को रखने के लिए समुचित आहार ग्रहण करता है। ऐसा जानना चाहिए।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

उत्थानिका : आत्मा के बाह्यचिह्न (वेष) मोक्ष का कारण नहीं हैं।

गाथा :

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति।।४०८।।
ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाण– चरित्ताणि सेवंति।।४०९।।

संस्कृत छाया :

पाषण्डिलिङ्गानि वा गृहिलिङ्गानि वा बहुप्रकाराणि।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिङ्गमिदं मोक्षमार्ग इति।।४०८।।
न तु भवति मोक्षमार्गो लिङ्गं यद्देहनिर्ममा अर्हन्तः।
लिङ्गं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते।।४०९।।

अन्वयार्थ : (पाषंडि लिङ्गानि) पाखण्डि लिंग **(वा)** अथवा **(गृहिलिङ्गानि)** गृहिलिंग ऐसे **(बहुप्रकाराणि)** बहुत प्रकार के बाह्यलिंग हैं उनको **(गृहीत्वा)** धारण करके **(मूढाः इति वदन्ति)** अज्ञानी जन ऐसा कहते हैं कि **(इदं लिङ्गं)** यह लिंग ही **(मोक्षमार्गः)** मोक्ष का मार्ग है। आचार्य कहते हैं कि **(लिङ्गम् मोक्षमार्गः न तु भवति)** लिंग मोक्ष मार्ग नहीं है **(यत्)** क्योंकि **(अर्हतः)** अर्हंत देव भी **(देह निर्ममाः)** देह से निर्ममत्व होते हुए **(लिङ्गं मुक्त्वा)** लिंग को छोड़कर **(दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि सेवन्ते)** दर्शन–ज्ञान–चारित्र का ही सेवन करते हैं।

समय देशना

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुवज्ञायकस्वभावी भगवान्–आत्मा के सहज स्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। धन्य हैं वे जीव जिन्होंने राग की कालीमा से अपनी आत्मा को सुरक्षित किया है। गृहिलिंग, पाखंडी लिंग ये दोनों लिंग देहाश्रित हैं। देह पौद्गलिक है। इस पौद्गलिक देह से धर्म स्वीकारना, यह अज्ञान दशा है। वीतराग भाव का जागरण, विषयों से अरुचि,

निजानंद के प्रति प्रतीति के भाव जाग्रत होते हैं, तो ये जीव सहज ही लिंग को प्राप्त होता है।

बिना द्रव्यलिंग के, बिना नग्नत्व के कोई लिंग का जन्म होता नहीं। नग्नत्व द्रव्यलिंग है, उसमें भावलिंग उद्घाटित होता है। बिना नग्नत्व के भावलिंग का जन्म नहीं होगा। जो भावलिंग है, वह अभेद रत्नत्रय की धारा है। सम्यग्दर्शन देहाश्रित नहीं है। सम्यक् ज्ञान–चारित्र देहाश्रित नहीं है। जो रत्नत्रय है, वह मोक्षमार्ग है। जो देहाश्रित नहीं है, आत्म–आश्रित है, उसे देह में धर्म स्वीकार लेना, ये अज्ञानदशा है। जब श्रद्धान होगा, अंतरंग में प्रतीति होगी, तो व्यवहार से तत्त्व पर आस्था होगी। देव–शास्त्र–गुरु पर आस्था होगी, वह आस्था भी आत्माश्रित है। तत्त्वों पर आस्था होने पर भी आस्थावान जो है, वो देह नहीं है, देही है। विषयों का सेवन इंद्रियों से अवश्य करते हो, पर विषयों का सेवन इंद्रिय नहीं करतीं। रसास्वाद लेने वाला कोई दूसरा ही है।

इंद्रियों से आप भोग भोग रहे हो, इंद्रियाँ भोगी नहीं हैं। **यदि निज ज्ञान वश में है, मन वश में है, तो तन से कोई पाप हो ही नहीं सकता।** जब पाप तन से नहीं हो सकता, तो पाप करने वाला चैतन्य है, उसकी विभाव दशा है। चैतन्य की विभाव दशा पाप कर रही है। ऐसे–ही पाप का त्याग भी शरीर नहीं कर रहा है, पाप का त्याग भी ज्ञानी आत्मा ही कर रही है। जब पाप का त्याग कर देगा, जहाँ भाव– आश्रित होगा, वहाँ द्रव्य नियम से सहचर होगा। जहाँ भावसंयम होगा, वहाँ द्रव्यसंयम नियम से सहचर होगा।

बटलोई में दूध तपा है, तो नियत मानिये कि बटलोई तपी है। पर बटलोई को तपाने के लिए कोई भी ज्ञानीजीव अग्नि का प्रयोग नहीं करता, अपितु दूध तपाने के लिए अग्नि का प्रयोग करते हैं। पर बटलोई को तपाए बिना दूध तपता नहीं है। पात्र को तपाने का उद्देश्य नहीं है, पात्र तो सहचर तपेगा। ऐसे–ही **बहिरंग चारित्र के अभाव में अंतरंग चारित्र प्रकट नहीं दिखता है, पर बहिरंग चारित्र के लिए बहिरंग चारित्र धारण नहीं किया जाता है। अंतरंग चारित्र की सिद्धि के लिए ही बहिरंग चारित्र धारण किया जाता है। 'बाहर में भेष हो, भीतर में साधुता हो, ये नियम नहीं है।' पर अंतरंग में साधुता होगी तो बहिरंग में भेष नियम से होगा।** समझ रहे हो? दुग्ध तपाने के लिए अग्नि का प्रयोग है, पात्र को तपना ही होगा। नग्न भेष चाहिए–ही–चाहिए, बहिरंग चाहिए–ही–चाहिए।

धन्य है मुनिदशा। जब जीव शीत में सिकुड़ रहे हों, वहीं वे मुनिराज नदी के तट पर ध्यान में लीन हो रहे हैं। जब लोग पंखे कूलर की हवा में निमग्न हो रहे हों, तब वे योगीश्वर ग्रीष्म की तपन में गिरिशिखर पर ध्यानस्थ हैं। जब ये रागीजीव छतों के बीच में मकानों के तल के नीचे में

बैठे हों, पानी की एक–एक बूँद से डरते हों, तब वे श्रमण वर्षा की पीड़ा को तरु तने के नीचे बैठकर सहन करते हों। इतना सबकुछ करने पर ये चल रहा है कि मैं तपस्वी, मैं तपस्वी, मैं चारित्रवान।

जीव का अव्रत की दशा में, असंयम की दशा में, व्रती संयमी बनने का लक्ष्य रखता है। बहिरंग संयम प्राप्त होते ही बहिरंग संयम को भूल जाना। अज्ञानी सत्य को नहीं समझ पाते। वे ये सोचते हैं कि संयम छोड़ बैठें क्या? ये उन्माद है संयम धारण करते ही संयम भूल जाना। मंडप में जाने के लिए मंडप में गए थे, कि वधू को वरने के लिए मंडप में गए थे।

मित्र! द्वार पर पहुँचने पर वधू नहीं दिखी थी, मंडप ही दिखा था, तुमको आनंद आना प्रारंभ हो चुका था कि अब तो मंडप दिखने लगा है। मंडप में जैसे–ही जो कन्या तुम्हारी पत्नी बनने वाली है, वो दृष्टिगोचर हो जाती है तो मंडप के होने पर भी तुझे मंडप का दिखना बंद हो जाता है और वधु दिखना प्रारंभ हो जाता है। ऐसे–ही भोगी पहले योग की मुद्रा को निहारता है और योग की मुद्रा को निहारते–निहारते जब स्वयं योगी की मुद्रा को धारण कर लेता है, मुद्रा को भूल करके भगवान्–आत्मा निज रमणी का अवलोकन करना प्रारंभ कर देता है।

ज्ञानी! इसका तात्पर्य है कि चारित्र का त्याग नहीं करा जाता। द्रव्यलिंग में जो तुम्हारा राग उमड़ा हुआ था, उस द्रव्यलिंग के राग से भी दूर होकरके, जिसके लिए द्रव्यलिंग तुमने धारण किया था उस आत्मदेव को निहारने लग जाओ। कब तक देखता रहूँगा चक्षु को? ये तो मयूर का पंख है, ये तो मेरे से भिन्न है। इसका मेरे आत्मचारित्र से कोई संबंध नहीं है। नहीं–तो तुम्हारे हाथ में पिच्छी लगी, तुमने सिर पर रखा, 'कल्याण हो जाये।' कपड़ा उतर गए, मैं तो मुनि हो गया। कमंडलु हाथ में आ गया, मैं तो मुनि हो गया। नहीं, नहीं,नहीं। ये तो लिंग है, आधार है। आधेय नहीं है, आधार है।

आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है। परमार्थ दृष्टि। श्रद्धान किसमें होगा? आत्मा में, ज्ञान में, किसमें होगा? आत्मा में। मित्र! रमण किसमें होगा? आत्मा में। अभेद रत्नत्रय है, तपेगा कौन? वो तो पुद्गल होगा। मलाई किसमें पड़ेगी? दूध में ही पड़ेगी। घृत किसमें निकलेगा? दूध में ही निकलेगा। अग्नि, चूल्हा, तपाने वाला बहिरंग साधन है, इनका होना तो आवश्यक है, पर इनका होना मक्खन और घृत का होना नहीं है। ऐसे–ही पिच्छी, कमंडलु, दिगम्बर भेष का होना तो आवश्यक है, लेकिन पिच्छी कमंडलु दिगम्बर भेष ये भगवान् नहीं बनायेंगे। ये क्यों कहा जा रहा है? कहीं ये जीव साधु भेष को प्राप्त होते ही यह मानकर न बैठ जाए कि अब

तो मेरा कल्याण हो ही जाएगा।

ये नहीं है कि जीव अंतिम श्वांस भरने लग गया सो उसको पिच्छी–कमण्डल पकड़ा दो। बोले घोषणा कर दो मुनिराज। ये कोई बछिया दान नहीं है। मरने के समय सोने की बछिया दान कर दो तो उसका कल्याण हो जाएगा। ऐसे–ही मयूर के पंखों को पकड़ा दो, तो उसका कल्याण हो जाएगा। करणानुयोग क्या कहेगा? अनन्तानुबंधी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान इन सर्वघाती प्रकृतियों का क्षय, देशघाती प्रकृति संज्वलन कषाय के उदय होने पर, जीव के परिणामों की जो दशा होगी, उसका नाम दिगम्बर मुनि होगा।

हे श्रमण! निर्वस्त्र हो चुके हो, निष्परिग्रही हो चुके हो, जब उपयोग के लिए द्रव्य मिलेगा ही नहीं, तो उपयोग में जाने वाले मन को और रोक लो। तुम ही तो भावी भगवान् हो। असाध्य नहीं है, श्रम साध्य है। असाध्य वो होता है जिसको सिद्ध किया ही नहीं जा सकता। ये श्रमसाध्य है। जिनसे विदा लेकर आता है जीव, एक तो गृह को छोड़ पाना कितना कठिन होता है। आप लोग भी १ घंटा निकाल कर आते हो, कितनी व्यवस्था करके आते हो?

जिसने सबकुछ छोड़ा। सुई से लेकर हाथी तक घर में खड़ा कर लिया था और अब छोड़ कर चल दे, मुमुक्षु! वो क्या धारा है? जब भीतर का ज्ञान जागृत होता है, तब जगत् मायाभूत (रूप) दिखता है। वस्तु वस्तुत्व गुण से युक्त है। न कोई थाली है, न कोई लोटा है। ये आकृति, ये संज्ञा तेरे राग ने दी है। वस्तु को ज्ञेय बनाइये, प्रमेय बनाइये। हे प्रमाता! वस्तु वस्तुत्व गुण से युक्त है। संज्ञा जो तूने दी है, वो आकृति भी तूने दी है। जन्म या तो कन्या लेती है या पुत्र, पुत्री लेता है। बराबर? बेटा, बेटी ये जो संज्ञाएँ आप दे रहे हो, जन्म जीव का हुआ है। जैसे जीव वृद्धिमान हुआ, कोई उसे भांजा–भांजी के, कोई बहन– भाई के रूप में कोई और आगे पति पत्नी के रूप में देखने लगता है।

ज्ञानी! वस्तु वस्तुत्व गुण से युक्त थी, ये संबंध आपने स्थापित किए, राग ने स्थापित किए तो वस्तु वस्तुत्व गुण से युक्त हैं। जो पाँच समिति, पंच महाव्रत, त्रिगुप्ति रूप तेरह प्रकार का चारित्र है, ये अनुष्ठान आपको बाहर में होते दिखता है। बारह प्रकार के तप तप रहे हैं निर्ग्रंथ, ये आपको दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जो आपको दिख रहा है, वो आपको देहाश्रित मुनि की मुद्रा दिख रही है, देहाश्रित मुनि का धर्म दिख रहा है। जो मुनि का अंदर का धर्म है, उसे तो आप देख ही नहीं पा रहे। कैसा? वटवृक्षवत्। वटवृक्ष इतना विशाल है। जो तुमको तना, शाखाएँ, प्रतिशाखाएँ, पत्र आदि दिखाई दे रहे हैं, ये वटवृक्ष के ऊपर की धारा है। यानि जितना विशाल वृक्ष है, उसके

भीतर की जड़ें भी उतनी ही विशाल हैं।

ऐसे–ही जो अभी सुन रहे हो, ये मुनि के ऊपर वटवृक्ष के भाव का वर्णन नहीं चल रहा है। ये वर्णन वटवृक्ष के भीतर के भाव का चल रहा है। ये भीतर का वर्णन योगी का कैसा चलता है, कितना पुरुषार्थ चलता है। **'वाहन के संतुलन को बनाना सरल है, भावों के संतुलन को बनाना बहुत कठिन है।** मुमुक्षु! जगत् को तुम अपने जैसा देखना चाहते हो। मित्र! अपने परिणामों से पूछ लो, सुबह से शाम तक एक–से थे क्या? सारे विश्व को आप अपनी ओर झुकाना चाहते हो, जबकि आप अपने आपको एकरूप नहीं देख पा रहे हो, तो दुनियाँ को एकरूप देखने की क्या सामर्थ्य रख पाओगे? जो विश्व में, घर–घर में विसंवाद है, त्यागियों के बीच में विकल्प हो जाए, उसका उद्देश्य इतना रहता है कि वो सब अपने जैसा देखना चाहते हैं। उसको देखना बंद करके, अपने प्रात: के परिणामों को निहार करके, मध्याह्न व शाम के परिणामों को एकत्वभूत में बनाकर निहारो, ज्ञानी! इससे कल्याण होगा। अपन सोचते जरूर हैं कि इसने ऐसा कर दिया, पर वास्तव में मेरा ही सोच है। कभी–कभी तो जीव को अपनी कषाय ही पकड़ने में नहीं आती। बहाना हम दूसरे के लेते हैं, जबकि भाव स्वयं के होते हैं। समय दे दो पकड़ने के लिए।

अपनी तैयारी में रहकर चलना २४ घंटे। सबके बीच में रहना, पर भीतर की तैयारी निज में रखना कि मुझे जीवन में क्या करना है। ये प्रवचन भी एक सीमा तक करूँगा, फिर मैं छोड़ दूँगा। प्रवचन नहीं, प्रवचन से तो तीर्थंकरप्रकृति का बँध होता है। फिर प्रवचन करूँगा स्वयं के लिए।

श्रवण के लिए कथन चल रहा है, लिंगधारी को ही समझा रहे हैं। कहीं आप धोके में तो नहीं हो? दुकान तो है भइया! पर माल है नहीं। तो बिक्री काहे की होगी? मित्र! लिंग तो है, भाव का भान नहीं है, तो मिलेगा क्या? प्रात: से शाम तक ये पेपर, ये कागज, ये भीड़, ये बिटिया–बेटा दुनियाँ के। पूरा दिन निकाल दिया। ज्ञानी! तुम्हारी दुकान तो है, माल सच्चा है नहीं, होगा क्या? सुन रहे हो? **साधक का जीवन जीना हो तो अपरिचित होना प्रारंभ करो, परिचय दूर करो। जितना परिचय बढ़ेगा, संपर्क बढ़ेगा, उतनी ही साधना घटेगी। साधना घटाना हो तो भक्त बढ़ा लो, परिचय बढ़ा लो।** ५० भक्त एकसाथ आ गए। एक–एक मिनट भी दोगे तो ५० मिनट गए। क्या गद्गद् चेहरा दिखता है। आह! क्या साधना टपक रही है चेहरे पर। मुमुक्षु! साधना का आनंद है कि मान–सम्मान का आनंद है? खोज करो। ये अन्वेषण पराश्रित नहीं, ये स्वआश्रित है।

बहुत अच्छा करके गए कुन्दकुन्द स्वामी, ऐसे महान् ग्रंथ का सृजन किया। कलिकाल में इतना तो समझ में आ रहा है कि हम कहाँ हैं? देह को मोटा–पतला बनाने के लिए अनेक मशीन बना ली हैं, पर परिणामों को मोटा–पतला करने के लिए कोई मशीन नहीं है। सारे विश्व में सर्वाधिक दृष्टि देहाश्रित है, देह के लिए है। सुबह से शाम तक सारे प्रयास देह के लिए हैं। **जिसके राग में हो, उसे तो राख ही होना है।**

भइया! कभी श्मशान घाट भी गए हो क्या? क्या देखकर आए हो? जिसमें राग करते थे, उसमें राख का ढेर देखकर आए हो। मेरे मित्र! कुछ दिन बाद तेरी भी राख कोई देखने जाएगा। जिसमें मैं राग कर रहा हूँ, उसकी भी राख होगी, ये नियत है। तो उस राख के पिंड में क्या राग करने का? जिसकी राख नहीं होगी, उसमें लिप्त हो जाओ। वो भगवान् होता है। छोड़ो सब। अंतों, पंथों के राग से दूर हो जाओ।

ज्ञानी! जैसे चरस, गाँजा, अफीम पान करने वाले का विवेक उन्मत हो जाता है, पागल हो जाता है, ऐसे–ही धर्म का, पंथ–सम्प्रदाय का, धर्मगुरु का उन्माद होता है। उस उन्माद में व्यक्ति को धुन चढ़ जाती है, धर्म का पता ही नहीं रहता है।

मैं, मेरा। न तू तेरा है, न वो तेरा है। जो है, सो है। उन्मत्त जीवन जीने वालों की संख्या सर्वाधिक है। उन्माद करके देख लिया तब समझ में आया धर्म कितना–सा है। आज यही नियम है, भले ही नींद न ले पाओ रात में, पलंग पर पड़े–पड़े सोच लेना, नींद आए तो सो जाना, जब खुले नींद फिर सोचना, कि ठंडा कैसे होऊँ? जितनी गर्मी चढ़ी है। **अनंत प्रकार की गर्मियाँ हैं। किसी को ज्ञानी बनने की गर्मी है, किसी को श्रेष्ठ/ज्येष्ठ बनने की गर्मी है, किसी को पूरे विश्व में ख्याति प्राप्त करने की गर्मी है।** अनंत प्रकार की गर्मियाँ हैं लोक में। इन सब गर्मियों से जब रहित हो जाएगा, तब धर्म समझ में आएगा।

अभी तो एक ही गर्मी है, महाराज! सुबह से दूध लाओ, पानी लाओ, पड़गाहन करना, महाराज! ये भी गर्मी है। ज्ञानी! लेकिन शेष गर्मियों से अच्छी है, फिर भी है तो गर्मी। गर्मी सर्दी दोनों से, बाहर के सारे मौसमों से भिन्न होकरके ज्ञायकभाव के मौसम में लीन होना ही धर्म है।

सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र इनकी एकता मोक्षमार्ग है, न कि देहमार्ग मोक्षमार्ग है। किनको समझा रहे हैं? कहीं कोई जीव घर–बार छोड़कर निर्वस्त्र होकर बैठ भी गया और पुनः धंधों में लीन हो गया, उसको समझा रहे हैं, मेरे मित्र! हे जीव! तू हंस–आत्मा को देख परमहंस तत्त्व को प्राप्त हो। तेरे अंदर महानता है। महाव्रतों को तो महापुरुष धारण करते हैं और वे ही महापुरुष होते

हैं जो महाव्रत धारण करते हैं। इसलिए आप सबसे दूर हो जाओ।

आपको कभी दया नहीं आती? सही बताऊँ, बहुत दया आती है। कब कोई जीव वीतरागी श्रमण बन जाए, फिर यहाँ आ कर प्रपंच में लगा दिखाई दे, उस पर दया आती है कि बेचारा क्या–क्या कर रहा है। घर के सुख बुद्धिपूर्वक छोड़ दिए बेचारे ने और साधना वैसी कर नहीं रहा, परलोक इसके हाथ में है नहीं, बेचारा दोनों तरफ से गया। और इतना उन्माद चढ़ा पंथ–संप्रदाय का बेचारे को कि साधु को साधु नहीं स्वीकारता, जीव को जीव नहीं स्वीकारता। तब लगने लगता है कि इस बेचारे का होगा क्या? कम–से–कम आप एक दूसरे से मिल भी लेते हो, वे तो एक दूसरे से मिलना भी पसंद नहीं करते, इधर तुम एक इंद्रिय दो इंद्रिय जीव की बात करते हो। ये अम्मा साड़ी के पल्ले से झाड़कर, भगवान् की ओर देखकरके मुस्करा रही है। इनका ढोंग देखकर मुझे हँसी आती है। साड़ी के पल्ले से ये जीवों को हटा रही है कि कहीं हिंसा न हो जाए। भगवान् को अर्घ्य चढ़ा रही मुस्करा कर और घर में पंचेन्द्रिय बहू को पिटवा कर आई है। ओ हो! तुम साड़ी के पल्ले से झाड़कर जो जीव तुम्हें दिख नहीं रहे हैं उन पर दया दिखा रही हो और इतनी बड़ी बहू खड़ी है उस पर दया नहीं आ रही। धिक्कार हो ऐसे पापी को।

पिच्छी से मार्जन कर रहे हैं कि धूप–छाँव के जीव न मर जाएँ। बिल्कुल हटा–हटाकर जीव देख–देख कर चल रहे हैं। भइया! सब पर करुणा करना और पंचेन्द्रिय मुनिमुद्रा में कोई जीव दिख जाए, सामने न आओ, भाग जाओ, तब तुम्हारा धर्म समझ में आता है कि तुम कितने धर्मात्मा हो। सीखना पड़ेगा धर्म अभी। इसलिए उन जीवों की भी रक्षा करना पड़ेगा। पल्ले से हटाना बंद नहीं करना, हटाना, लेकिन घर के जीवों पर भी करुणा सीख लेना। ठीक है? भइया मैं इसलिए कह देता हूँ कि कल को कोई ये न कह दे कि कोई बताने वाला नहीं मिला। यथार्थ बताऊँ, मैं दुनियाँ को देखकरके शांत होकर वेदन करता हूँ, कि हो क्या रहा है। पिच्छी कमण्डल ले लिए और सीट पर बैठकर मार्जन कर रहे हैं। प्रतिक्रमण कर रहे हैं गाडियों में बैठकरके और जीवों को गाड़ी के टायर के नीचे दबा रहे हैं। प्रतिक्रमण किस बात का? पैदल चलो, गाड़ी में बैठने की क्या जरूरत है? ऐलक क्षुल्लक बनकर घूम रहे हो। ऐसा करना हो तो त्यागियों की सेवा करना, गाड़ियों में घूमने के लिए त्यागी मत बनना।

आप लोग ध्यान दो, भले ही ब्रह्मचारी हो, उसे भी कुछ नहीं करना। क्या घूमने के लिए घर छोड़ा है? घर में नहीं घूम पाए सहजता में, तो भेष बदलकर यात्रा–पर–यात्रा कर रहा है।

लेकिन ध्यान दो 'प्रिय धम्मो, दृढ़ धम्मो' इतना दृढ़ता से तुम चलोगे, तभी तुम संघ सँभाल पाओगे, नहीं–तो लोग वैसे ही चला देंगे। पंचम काल है और महान् जीव आने वाले हैं। मेरे मित्र! सुनो, आप वास्तव में सीधे–साधे लोग मिले, मैं आप लोगों की प्रशंसा करता रहता हूँ। भइया! मेरा संघ बहुत अच्छा है। मेरे–जैसा आदमी कैसे सँभाल पाता। लेकिन इतना ध्यान रखना, बड़े धुरंधर–धुरंधर जीव पंचमकाल में आएँगे। उन्हें वैराग्य भी होगा, साधु भी बनेंगे। तुम्हें चुन भी लेंगे, फिर तुम्हें देख लेंगे। त्यागियों को बनाना तो, लेकिन उनसे भी दूर रहना। **शिष्य बनाना, शत्रु मत बनाना।** व्यवहार का व्याख्यान बहुत जटिल/कड़ा है। व्यवहार इतना जटिल है तो परमार्थ कितना जटिल होगा?

भइया! जितने में ये ज्ञानी आपसे यहाँ–वहाँ की बातें बतिया रहे थे, उतने में जिनवाणी का स्वाध्याय कर लेते तो कर्मों की निर्जरा होती कि नहीं होती? वहाँ ऐसा, वहाँ वैसा। क्या हुआ? महाराज तुम तो जा देखो तुम्हारो का होनो है। जिसका जैसा होना है, वैसा ही कर रहा है वह; लेकिन आप अपने ज्ञान में भिन्न ज्ञेय को लेकर अपने ज्ञान को दूषित क्यों कर रहे हो? **'पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि'** तब यहाँ लिखा है बहुत प्रकार से धारण करने और फिर मानकर बैठ गया है। अरे बड़ी विचित्र धारणा थी। मैं उत्तरवर्त्ती आचार्यों के शिष्यों को नहीं मानता, मैं दक्षिणवालों को नहीं मानता, मैं उत्तरवालों को नहीं मानता।

अरे भाई! ये उत्तर दक्षिण मत देखो। आप रत्नत्रय धर्म देखो। भूख मिटानी होती है आपको, फिर नहीं देखते ये चावल पंजाब वाला है या छत्तीसगढ़ वाला है या बुंदेलखण्ड वाला है। हाँ, फिर जल्दी–जल्दी खा लेते हो। मालवा, पंजाब या बुंदेलखण्ड का गेहूँ आए, भोजन के लिए सब तैयार हो जाते हैं। फिर नहीं देखते कौन से प्रांत का गेहूँ है। ऐसे–ही भोजन के लिए धान में तुम अभेदवृत्ति कर देते हो, ऐसे–ही धर्म के लिए धर्मात्मा में अभेदवृत्ति देखो। कठिन है? बिल्कुल सरल है। परदेह मात्र के बनके भगवान् बनने की चेष्टा मत करो।

लिंग मात्र मोक्षमार्ग नहीं है। भइया! आप लोग भ्रम में मत पड़ जाना। ये किसी मुनि की निंदा नहीं चल रही है। नहीं तो आप कहो कि महाराजजी मुनि की निंदा कर रहे हैं। ये मुनि के भूतार्थ स्वरूप की व्याख्या चल रही है।

मुमुक्षु! जो है, सो है। चाहे मुस्कराओ, चाहे रोओ, पर व्यवस्था तो ऐसी ही है। मैं देह के ममत्व को छोड़ता हूँ। जब देह के ममत्व को छोड़ता हूँ, तो लिंग किसमें है? देह में। तो मैं लिंग के ममत्व को भी छोड़ता हूँ।

भइया! कभी मुनि बनें तो ये गाड़ी–घोड़ा लेकर नहीं चलना। कहीं सोले शुद्धि के चक्कर में तू परिग्रह लेकर न बैठ जाए। आडम्बर रहित जीवन जीना है। यदि यहीं आनंद नहीं आया, तो कहाँ आनंद आएगा? 'भगवती आराधना' में क्या लिखा है? 'पहाड़ छाती पर रख करके।' जैसा लिखा है, वैसा बोल रहा हूँ। ये जो परिग्रह है ये तो ऐसा वजनदार है किसी ने हिमालय पर्वत को ही पूरा छाती पर बाँध कर चल दिया हो। इसमें जितना कष्ट होता है, उतना ज्ञानी योगी को परवस्तु को ग्रहण करने में कष्ट होता है। कुछ लोग बेचारे सोच भी रहे हैं कि मुनि नहीं बनेंगे। बोले, इतना कठिन है? इतना कठिन नहीं, बहुत सरल है। तुम करके तो देखो, बनकर देखो, तो आनंद आएगा।

इसलिए निश्चय से रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

उत्थानिका : दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्षमार्ग है।

गाथा :

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बेंति।।४१०।।

संस्कृत छाया :

नाप्येष मोक्षमार्गः पाषण्डिगृहिमयानि लिङ्गानि।
दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना ब्रुवन्ति।।४१०।।

अन्वयार्थ : (पाषंडिगृहिमयानि लिङ्गानि) मुनियों और गृहस्थलिंग **(एषः)** यह **(मोक्षमार्गः)** मोक्षमार्ग **(नापि)** नहीं है **(दर्शनज्ञानचारित्राणि)** दर्शन, ज्ञान और चारित्र **(मोक्षमार्गं)** मोक्षमार्ग है **(जिनाः ब्रुवन्ति)** ऐसा जिनदेव कहते हैं।

समय देशना

भव्य बंधुओ! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुवज्ञायकस्वभावी आत्मा के सहज स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र इनकी एकता ही मोक्षमार्ग है। व्यवहार क्रिया की निश्चय में परिणिति होनी चाहिए। जहाँ मात्र क्रिया–ही–क्रिया में धर्म मानने की मान्यता स्थापित कर चुका है जीव, वह अज्ञानी इस बात को भूल चुका है।

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

वह क्रिया प्रतिफलित नहीं होती है, फलवान नहीं होती है, जिस क्रिया में भाव का अभाव है। भावपूर्वक की गई क्रिया ही फलीभूत होती है। इस बात को आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी परिपूर्ण रूप से समझा रहे हैं कि हे श्रमण! इतना तूने श्रम किया कि वर्तमान के सुखों को बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया, तन की साधना परिपूर्ण कर रहा है, मन को और सँभाल ले तो

तेरा कल्याण का निर्वाण द्वार खुल जाए, अन्यथा निर्माण–ही–निर्माण है।

जो रत्नत्रय धर्म है, उसमें पहला रत्न है सम्यक्त्व। यहाँ मोक्ष मार्ग की व्याख्या कर रहे हैं। लिंग का निषेध कर रहे हैं। लिंग के निषेध का तात्पर्य लिंग के ममत्व का त्याग। (लिंग का अभाव नहीं)। लिंग में आत्मबुद्धि का त्याग कि मैंने भेष (लिंग) स्वीकार किया है। बर्तन वस्तु नहीं है, बर्तन में वस्तु है। लिंग तो लिंग है। लिंग धर्म नहीं है, लिंग में धर्म है। बिना लिंग के धर्म हो नहीं सकता, पर लिंग–मात्र धर्म नहीं है।

मुमुक्षु! वसन उतारना सरल है, वासना से दूर होगा आसान है, पर पंथ के राग को उतार पाना बहुत कठिन है। देश का राग, प्रदेश का राग, नगर का राग। ये रति भाव हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद। ये सब परिग्रह हैं। अंतरंग चार कषायों के भेद करिये तो १६ कषाय, नौ कषाय, ये सब परिग्रह हैं। आप कहो कि गुणस्थान क्रम से समाप्त होगी। हाँ, गुणस्थान क्रम से समाप्त होंगी, लेकिन इसका ध्यान रखना कि सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबंधी कषायजन्य कषाय नहीं होती। ज्ञानी! क्या अनन्तानुबंधी कषाय में रति भाव नहीं होता? अनन्तानुबंधी कषायजन्य रति भाव नहीं होगा। अरति भाव नहीं होगा।

इन कषायों पर आप वेदन करो। कैसे? जैसे भइया एक लीटर दुग्ध में अन्वेषक अन्वेषण कर रहा है। कितना मक्खन है, कितना घृत है, कितना पानी है, कितनी शक्कर है? ये सारे तत्त्व उसमें देख रहा कि नहीं देख रहा है? परिग्रह में परवस्तु के गुणों को तुम देख रहे हो। निज वस्तु में निज की परिणति के परिणमन कितने–कितने जले, उसे कौन निहारे? जिस बर्तन में दुग्ध रखा है, उस बर्तन का दुग्ध के गुणों से कोई प्रयोजन नहीं है। जिस भी बर्तन में दुग्ध है, चाहे स्वर्ण कलश में दुग्ध हो, चाहे मिट्टी के घट में दुग्ध हो, क्या मिट्टी के परमाणु दुग्धरूप हो रहे हैं? स्वर्णकलश के परमाणु दुग्धरूप हो रहे हैं? दुग्ध के परमाणु स्वर्णकलश रूप हो रहे हैं क्या? बस, ऐसे–ही ये देहलिंग है, ये कलश है। जैसे कलश का परिणमन स्वतंत्र है और दुग्ध का परिणमन स्वतंत्र है, इसी प्रकार से इस देह के लिंग से आत्मा की परिणति में कोई परिणमन नहीं है। अत्यंत भिन्न है।

धर्म की खोज जो है, आप देह में मत कीजिए। देह में जिस धर्म की खोज होगी, वह स्पर्श गंध रस वर्ण है। इस देह में, इस लिंग में जो भी धर्म खोजोगे, वह पौद्गलिक धर्म है। शरीर में जो भी धर्म है, वह जड़भूत है। असद्भूतनय से देह को आत्मा नाम से कहा जाता है। इस लिंग को मुनि कहा जाता है, पर ये लिंग मुनि नहीं है, रत्नत्रय धर्म मुनि है। ज्ञानी! कब तक इसको

पूजता रहेगा? अंतरंग प्रवृत्ति, बहिरंग प्रवृत्ति आगम के प्रतिकूल चल रही है, तब भी तू मुनि मानकर सिर टेक रहा है। अंतरंग व बहिरंग प्रवृत्ति परिपूर्ण प्रतिकूल चल रही है और तब भी तुम कह रहे हो लिंग पूजता हूँ। कुन्दकुन्द कह रहे हैं, मैं लिंग नहीं पूज रहा हूँ। मैं निर्ग्रंथ को पूज रहा हूँ। **बहिरंग लिंग देवत्व दिला सकता है, परंतु अंतरंग लिंग वाला ही मोक्ष जाएगा।**

बहिरंग लिंग से तात्पर्य कपड़े उतारके पिच्छी– कमण्डलु लेना, इसका मतलब बहिरंग लिंग नहीं है। कपड़े उतार कर, पिच्छी कमण्डलु लेकर आपने मोक्ष की यात्रा को स्वीकार कर लिया, तो आप–जैसा अज्ञानी नहीं होगा। **बहिरंग लिंग से तात्पर्य जिसने अपने २८ मूलगुणों में स्वप्न में भी दोष नहीं लगाया है, पर सम्यग्दर्शन शून्य है। वह बहिरंग लिंग है और जिसके २८ मूलगुणों का पालन ही नहीं हो रहा है, मात्र कपड़े उतारे हुए हैं, वो बहिरंग लिंग भी नहीं है, वो बहिर्भेष है।**

एक मुनि की तस्वीर/फोटो है, वह द्रव्यलिंग है, कि भावलिंग है, कि चित्र है? द्रव्य मुनि, भाव मुनि, चित्र मुनि। ज्ञानी! जो सम्यग्दर्शन सहित द्रव्यलिंग से युक्त अभेद रत्नत्रय से मंडित, ऐसा भावलिंगी, द्रव्य सहित श्रमण होता है। **जिसके सम्यक्त्व का अभाव है, परंतु बहिरंग चारित्र में किंचित् भी दोष नहीं लगाता, २८ मूलगुणों का परिपूर्ण पालन कर रहा है, लेकिन भाव शून्य है, वह द्रव्यलिंगी मुनि है।** नाटक का पात्र मुनि बनकर खड़ा हुआ है। वो द्रव्य व भाव लिंग नहीं है, वो तो भेष मात्र है, चित्र है। ऐसे–ही जो मुनि मुद्रा को प्राप्त है, पिच्छी–कमण्डल लिए हुए है, जिसके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह किसी महाव्रत का पालन नहीं है, वह चित्रमुनि है, भेष का मुनि है। वो द्रव्यलिंग भी नहीं है, क्योंकि द्रव्यलिंग जो माना जाएगा वो शुक्ल लेश्या से रहित होगा और कषाय की मंदता होगी। कषाय की मंदता होने पर भी अश्रद्धा नहीं जा रही है। भइया! बहुत बड़ी तपस्या है, सबकुछ छोड़ने के बाद भी अश्रद्धा नहीं छोड़ पा रहा है। श्रद्धा स्थापित नहीं कर सका, आगम सत्य है क्या? निर्ग्रंथपना सत्य है क्या? अरिहंत की वाणी सत्य है क्या? संशय, विपरीत, विनय, अज्ञान मिथ्यात्व में वृद्धि लगी हुई है। बहिरंग मिथ्या, द्रव्य मिथ्यात्व को छोड़ना बहुत सरल है, लेकिन भाव मिथ्यात्व? जो मेरा सोच है, वही सोच सर्वस्व है– ऐसी मान्यता जिसके बैठी हो वह निर्दोष चर्या का पालन क्यों न कर रहा हो, पर अपनी सोच के अलावा दूसरे को स्वीकारना ही नहीं चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है। एकमात्र मैं ही साधु हूँ और देश में जितने श्रमण हैं, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसी मानसिकता जिसकी है, वो पहला मिथ्यादृष्टि है। क्यों? क्योंकि ये निर्णय आपने किस ज्ञान से लिया है? तुम केवली, मन:पर्यय

ज्ञानी हो नहीं। ये दो ही ज्ञान पर की मनोदशा जानने की सामर्थ्य रखते हैं। श्रुतज्ञानी में वो जानने की सामर्थ्य नहीं है। अवधिज्ञानी में भी मनोदशा जानने की सामर्थ्य नहीं है। बहिरंग वृत्ति को देखकर हम चरणानुयोग से समझ सकते हैं कि साक्षात् जो कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र को जो पूज रहा है, वो मिथ्यादृष्टि ही है। जो कुछ भी नहीं कर रहा है, उसे भी तुम मिथ्यादृष्टि घोषित करोगे, ये तुम्हारे ज्ञान का विषय नहीं है। ये तुम्हारी अनर्गल चेष्टा है।

जब–तक परिणामों में, 'मैं सबसे उत्कृष्ट हूँ।' ये शब्द गूजेंगे, तब–तक तुम सबसे हीन ही हो। उत्कृष्टता की अनुभूति में लीन हो जाएगा, वो पर को देखने नहीं जा पाएगा। ये समयसार है। द्रव्यलिंग जो है, वो भावलिंग का साधन है, साध्य नहीं है। भावलिंग जो है, वह भी साध्य नहीं है। भावलिंग भी साधकतम् करण है। भावलिंगी जीव ही निर्वाण को प्राप्त करेगा। द्रव्यलिंगी तो संसार के पंच कारणों में ही घूमेगा। क्यों? वो द्रव्यलिंग मात्र में अपने आपको संतुष्ट मान बैठा है। जब आपका व्यापार अच्छा चलता है, दुकान में ग्राहकों की भीड़ होती है, उस काल में तू पड़ोसी की दुकान में कितने ग्राहक हैं, ये देखने नहीं जाता। ये बातें तो उसके सिर में गूँजती हैं, जिसकी दुकान खाली है। **कौन मुनि है, कौन नहीं है, ये उसी के सिर में बातें गूँजती हैं जिसके पास गुणत्व नाम की कोई चीज नहीं है।**

जो अपने सहज स्वरूप में लीन होगा, वो तो उस दुकानदार की भाँति व्यापार में लगा होगा, मुझे अपने पैसे से मतलब है। ऐसे–ही सच्चा भावलिंगी मुनि जो होगा, वो किसी मुनि के बारे में नहीं सोचेगा। न श्रावक के बारे में सोचेगा। वो तो मात्र अपने स्वरूप के व्यापार में लवलीन होगा।मुझे क्या प्रयोजन कौन से सागर क्या कर रहे हैं? अपने निज के भीतर के सागर को सँभाल नहीं पा रहा, इसमें तरंगें उठ रही हैं। जिसमें नाना प्रकार की तरंगें उठ रही हैं, उसको सँभालने के लिए तुम जिन मुनि बने हो, न कि जगत् के संघों को निहारने के लिए तुम मुनि बने हो। अभी तुम्हारी मिथ्या धारणा है, अभी धर्म के पास नहीं पहुँचे हो, धर्म के भेष में आजीविका कर रहे हो। वो जीव धर्म के भेष में मात्र आजीविका कर रहा है यदि भावों की शुद्धि नहीं है तो।

जिसके भीतर से मिथ्यात्व निकल चुका है, शंकिता के कीड़े जिसमें नहीं बिलबिला रहे, आकांक्षा की दुर्गंध जिसमें नहीं दिख रही है, कांक्षा की बदबू जिसमें नहीं आ रही है, मूढ़ता से जो कोसों–कोसों दूर दिखाई दे रहा है, पर की निंदा के लिए उसके पास समय ही नहीं है, अपनी प्रशंसा को उसके पास ध्यान ही नहीं है, निज के चारित्र में स्थित लवलीन है, निज के चित को चलायमान करने के लिए जिसके पास कोई समय ही नहीं है, आत्मगुणों

से प्रीति है, रत्नत्रय धर्म से प्रभावित है, ऐसा अभेद आठ अंगों में लवलीन वीतरागी श्रमण है।

'नहीं है उनको समय पर–समय के लिए। वे ही हैं निश्चय दर्शनाचार, जिसकी यहाँ व्याख्या कर रहे हैं और वो श्रद्धा है, वह शरीर में होगी कि भावों में? वो श्रद्धा लिंग में है कि लिंगी में? श्रद्धा लिंग में नहीं, श्रद्धा लिंगी में है। लिंगी ही है वो आत्मा है।

ज्ञानाचार में लवलीन अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान। जहाँ ग्रंथों के शब्द से भी निर्ग्रंथ हो चुके हैं। तो फिर स्वाध्याय किसका करेंगे? जो स्वाध्याय कर रहा है, उसी का स्वाध्याय कर रहे हैं, ये ही सच्चे ज्ञानी हैं। प्रभु! कैसी आपकी परिणति है कि आपने तो शब्द को ही परिग्रह कह दिया है। पौद्गलिक कह करके द्रव्यश्रुत से भी अपने आपको दूर कर लिया है। ऐसे भावश्रुत में लीन योगी की परम निशंक दशा है। जो निशंकित है, वही निशंकिता में जा पाएगा। अपरिग्रही जीव निशंकित रहता ही है। निशंक हुए बिना निशंकित होना असंभव है।

आप कभी मुनिराज बनें, मेरे मित्र! पहले दुनियाँ की पीठों से, समाज से मुनि बन जाना, अपने मित्रों से मुनि बन जाना, जाति–पाति से मुनि बन जाना तब कपड़े उतारने का विचार करना। **नगर का राग रहा तो नंगे घूमते रहोगे लेकिन मुनि नहीं बन पाओगे।** यदि अपने नगर का राग रहा, तीर्थ में भी जाओगे, तब भी आप नंगे बनकर घूमते रहोगे। क्यों? जिस संस्था के तुम आशीर्वाद दाता थे, उससे ममत्व रहेगा, फिर ममत्व क्या कराएगा? तुम एक को अध्यक्ष बनाना। कुछ दिन बाद उस पर तुम्हारा अविश्वास होगा, फिर तुम दूसरे को लाओगे। उसको तुमने शत्रु बना लिया। अब देखना। ये क्या करेगा? हे जीव! तुम निशंकित जीवन जीने वाले थे, जिसे तुमने अध्यक्ष बनवाया था, उस पर तुम्हारा भाव गलत हो रहा है, तुम्हारा निशंकितपना जा रहा है। जीवन में मुनि बन कर रहना है तो कभी किसी तीर्थ या संस्था में जीवन को बर्बाद मत करना, बाह्य प्रपंच के राग में जिनमुद्रा को तुच्छ मत करा देना।

प्रश्न : महाराज! सारे विकल्प छूट सकते हैं, पर यश:कीर्ति? भैया! जिसको भीतर का सच्चा बोध हो गया होगा तो वह समझता है कि यश:कीर्ति चाहने से होती नहीं है। यश:कीर्ति कर्म की प्रकृति है। उसका उदय होगा तो कोई रोक नहीं सकता है, उदय नहीं है तो कोई ला नहीं सकता। अब जीव के साथ क्लेश क्या है? क्यों ऐसा कुछ कर रहा है? सब छोड़ने पर क्यों जनता का पैसा खर्च करवा रहा है? ज्ञानी! ख्याति, लाभ, पूजा– ये निर्ग्रंथपने के लिए जहर है। जैसे आपने सुना होगा कि हरे– भरे वृक्ष के मूल में एक जरा–सी हींग रख दो तो वह पूरे वृक्ष को सुखा

देती है। ऐसे–ही इस कान में यश:कीर्ति के शब्द सुनने की जो हींग है वो मुनि के चारित्र के वृक्ष को सुखा देती है।

आचार्य को महावृक्ष कहा है, जिसमें चारित्र की शाखाएँ हैं, ये मुनिगण हैं। चाहने से यश प्राप्त होता है, कि पुण्य से प्राप्त होता है? पुण्य नहीं है तो चाह क्या दिला पाएगी? इसलिए चाह नहीं बढ़ाना चाहिए, पुण्य बढ़ाना चाहिए। सुखी होना है तो एक काम करना। ज्ञानी! ये बताओ कि ठंडी का मौसम है, बहुत मच्छर हैं, चादरा छोटा है, सुख से नींद लेना चाहते हो तो क्या करना? लेटना है, बैठना नहीं है। सिकुड़ाओगे किसको? चादर तो छोटा है ही, उसको क्या सिकुड़ाओगे? पैर सुकड़ाओगे। इन मुमुक्षुओं से कह दो, चादरा छोटा है, मच्छर भिनभिना रहे हैं चारों ओर, शीत की पीड़ा सता रही है। **इच्छाओं की शीत सता रही है, ईर्ष्याओं के मच्छर काट रहे हैं और ज्ञानी सुख से सोना चाहता है तो क्या करना चाहिए? इच्छाओं को संकुचित कर लो तो अपने आप सुख की नींद सो जाओगे। छोटी चादर में सुख से सोया जा सकता है, यदि शरीर को संकुचित कर लिया है।**

अल्प पुण्य में भी आनंद से जिया जा सकता है यदि इच्छाओं को सीमित कर लो तो। पैर लंबा कर सोएगा तो ठंडी लगती है और मच्छरों को काटना ही है। इसलिए जितना पुण्य स्वयं का है, उसे निहारना चाहिए। मेरा चादरा कितना बड़ा है? ये मत देखो किसका कितना बड़ा है। निशंकित जीवन जीना है तो निशंकितपना लाना ही पड़ेगा। ये है योगी का दर्शनाचार। निज के ज्ञान को निज में लीन करना, यही है योगी का ज्ञानाचार। ज्ञान का उपयोग पर ज्ञेयों के स्थान पर निज को ही ज्ञेय बना रहा है। निज प्रमाता को ही प्रमेय में जान रहा है। यही जीव का निज का ज्ञानाचार है।

चारित्र में जो पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप परिणमन चल रहा है व्यवहार से वह लिंग–आश्रित है। **निश्चय से निज में निज को समाए रहना ही समिति है। निज में निज को गुप्त किए, छिपाए हुए है, यही गुप्ति है और निज में निज के भावों का घात नहीं होने दे रहा है, ये अहिंसा महाव्रत है। निज में निज के भावों को शब्दरूप में पर के लिए परिणमन नहीं होने दे रहा है, यही सत्य महाव्रत है और निज वीर्य को नहीं छिपा रहा है, यही अचौर्य महाव्रत है। परद्रव्यों से ममत्व छोड़ करके आत्म–द्रव्य में लीन है, यही अपरिग्रह महाव्रत है।** ऐसे अभेद पंचाचार, अभेद रत्नत्रय, महाव्रतों से मंडित, धरती के देवताओं को नमस्कार।

आप कह सकते हैं कि महाराज! आप द्रव्यलिंगी की तो बात ही नहीं करते, मात्र भावलिंगी

की बात करते हो। आपके पास किंचित् भी विवेक नाम की वस्तु नहीं, तो मालूम होना चाहिए कि बिना द्रव्यलिंग के भावलिंग होता है क्या? जब मैं आपको १०० का नोट दे रहा हूँ, आप कह रहे हो कि पच्चीस रुपए चाहिए मेरे को, तो पच्चीस तो हैं, उसमें चार पच्चीस हैं। उसमें चार २५ हैं कि नहीं? तो जब मैं कहूँ कि मैं भावलिंगी को नमस्कार करता हूँ, वहाँ द्रव्यलिंग नियम से होगा। पर जहाँ द्रव्यलिंग मात्र है, वहाँ भावलिंग हो, ये नियत नहीं है। निर्ग्रंथों को ये व्याख्या समझ लेनी चाहिए, नहीं–तो श्रमणाभास।

'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्!' जो सम्यग्ज्ञान है, वो प्रमाण है। वो सम्यग्ज्ञान क्या है?

जो न्यूनता रहित है, अधिकता रहित है। वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा ही है। उसका नाम सम्यक् ज्ञान है। एक बात अवश्य याद रखना, पंचमकाल में कोई भी मुनि शुद्ध डली का सोना नहीं है, पर सोना है। विशुद्धसागर नहीं बोल रहे। ज्ञानी शुद्ध सोने के आभूषण बनते नहीं हैं, आभूषण में तो टाँका लगता है। जो कुंडल तुम सोने का बनवाने जाते हो, वो सोने का नहीं है क्या? है तो सोने का, लेकिन शुद्ध सोने का आभूषण नहीं बनता। ऐसे–ही पंचमकाल में जो श्रमण हैं, वे हैं तो श्रमण ही, लेकिन शुद्ध डली वाले सोने के समान नहीं हैं। जो जिनकल्पी मुनि होते हैं, वो शुद्ध डली के मुनि होते हैं। पंचमकाल में जिनकल्पी मुनि नहीं हैं। **जिनकल्पी मुनि का तात्पर्य होता है यदि उनकी आँख में कंकड़ चला जाए कभी निकालेंगे नहीं। काँटा भी चुभ जाए, निकालेंगे नहीं। मार्ग में जीव जा रहे हैं, जब–तक वे जीव स्वतः ही नहीं चले जायेंगे, एक दिन बीत जाए चाहे पचास दिन बीत जाएँ, वो मुनिराज वहीं खड़े रहेंगे।** चेलनी, श्रेणिक की बात पता नहीं क्या? यशोधर महाराज ३ दिन तक खड़े रहे, गले में साँप पड़ा था कि नहीं? निकाल करके फेंक करके चले जाते? जिनकल्पी मुनि से तात्पर्य जिनेंद्रदेव की जैसी चर्या होती है वैसी चर्या का पालन करने वाला होता है। उसका नाम हे जिनकल्पी।

ज्ञानी! छींक में, खाँसने में, जम्हाई में जीवों की हिंसा होती है, निर्ग्रंथ उसका भी प्रतिक्रमण कर प्रायश्चित्त लेते हैं। द्रव्यचर्या की बात कर रहा हूँ। भावचर्या कितनी गहरी होनी चाहिए और जिनकी ये ही दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, २४ घंटे पर के निंदा पुराण चलते हों, वहाँ काय का संयम है?

मेरे मित्र! आपको बोध होना चाहिए कि सच्चा वीतरागी चर्या करने वाला वीतरागी श्रमण वनस्पति से दूर चलता है, स्पर्श भी नहीं करता। क्यों? मेरे शरीर में वाष्प है। बगल में किसी के बैठकर देखो, गर्मी महसूस होती है। उस शरीर की गर्मी से उन जीवों को पीड़ा पहुँचेगी। धन्य हो

योगियों की अहिंसा। मेरे मुख से जो वाष्प निकली फूँकने पर, आप जो चौके में शुद्धि बोलते खड़े होकरके, लगता है कि भीतर का आहार बाहर न निकल पड़े, हाथ में ग्रास लिया, हे स्वामी! मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि। थूक उचटा दिया। अब काये की शुद्धि बची?

आलौकिक है श्रमणों की अहिंसा वृत्ति, जब देह से जीवों की इतनी रक्षा कर रहे हों, तो भावों से कितनी रक्षा होनी चाहिए? धन्य है योगी, जिनको वायुकायिक जीवों की हिंसा पर दया आ रही है और मेरे मित्र! इतने बड़े–बड़े मुनिराज दिखायी दे रहे हैं और पंचेन्द्रिय जीवों के प्रति वात्सल्य भाव नहीं रख पाए, तो तुम्हारी पूरी 'अहिंसा' श्रमणाभास मात्र है। शरीर पर कोई आक्रमण कर जाए, शत्रु ने धनुष बाण छोड़ दिया, पत्थर बरसा दिए, तब भी शांत बैठे हैं। कोई पहुँच गया 'हे स्वामी! आदेश करो कि ये उपसर्ग किसने किया आपके ऊपर। उसको देखता हूँ।' आँख उठाकर भी नहीं देखा, मौन ही रखा है। यदि आपने बोला कि अमुक व्यक्ति आया था, मेरे पर पत्थर फेंक गया है। आवेश में आप चले गए और जाकर के पीट दिया, हिंसा हो गई। महाराज! अहिंसा व्रत आपका भी गया। स्वयं के प्राण चले जाएँ, उसे स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन शब्दों में भी किसी की हिंसा नहीं करते हैं। उपसर्ग कर्ता के प्रति भी ऐसा नहीं बोलेंगे कि तुम कुछ भी नहीं बोले। तुम मुनि नहीं हो। जो बोल रहा है, वह अपने कुभावों से बोल रहा है, अपने वचनयोग से बोल रहा है, लेकिन आपने क्या किया? आप क्या बोल रहे? बंध उसके बोलने से नहीं होगा, बंध स्वयं के भावों से होगा। स्वयं के लिए इतनी सामर्थ्य पास कर ले तू, तब तू पिच्छी रखने के परिणाम करना और ऐसी संगति में बैठना जहाँ मात्र श्रमणत्व की बात हो, अन्यथा मेरे मित्र! पश्चात्ताप के रूप में आ गया कि मैं कहाँ उलझ गया। यहाँ तो तत्त्व का २४ घंटे में कोई शब्द सुनाई नहीं देता। उस आचार्य ने उस मुनि को गड्ढे में फेंक दिया। इन श्रमणों को, आचार्य वाणी देकर भेजना। इनको प्रचारक बनाकर देश में मत भेजना, बेटा! तुम जाओ, मात्र मेरा प्रचार करते रहना। **प्रचारक संस्कृति नहीं है, ये आचार संस्कृति है।** यदि प्रचारक संस्कृति होती तो बौद्ध नाना देशों में चले गए, महावीर क्यों नहीं गए? वे प्रचार करने की इच्छा रखते होते तो नाना देशों में महावीर दिखाई देते। **आचारशून्य प्रचार किसका?**

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं गाथा संख्या ४१० में कि पाखण्डी अर्थात् मुनिलिंग और गृहस्थ लिंग, यह मोक्षमार्ग नहीं है। **दर्शन–ज्ञान–चारित्र ही मोक्षमार्ग है।** ऐसा जिनेंद्रदेव के द्वारा कहा गया है। निश्चय से द्रव्यलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है। शरीर के आश्रित होने से यहाँ परद्रव्य है। दर्शन–ज्ञान– चारित्र आत्म–आश्रित है। निज आत्मद्रव्यपना है, इसलिए मोक्षमार्ग है।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र, यह स्वद्रव्यभूत है, परद्रव्यभूत नहीं है।

मित्र! मोक्ष सब कर्मों के अभावरूप आत्मा का परिणाम है, इसलिए इसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिए। दर्शन–ज्ञान–चारित्र आत्मा के ही परिणाम हैं, इसलिए वे ही मोक्षमार्ग हैं। आचार्य उमास्वामी महाराज 'तत्त्वार्थसूत्र' में कहते हैं–

सम्यग्–दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः।

भेष अर्थात् लिंग देहमय है, देह पर आधारित है और देह पुद्गलमय है अर्थात् पुद्गल द्रव्यों से निर्मित है, इसलिए देह मोक्षमार्ग नहीं है।

आचार्य जयसेन स्वामी इसी को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, तो आत्मा को दर्शन–ज्ञान–चारित्र में लगाना चाहिए। भावलिंग से सर्वथा रहित जो पाखण्डी गृहस्थों के द्वारा नाना भेष धारण किए जाते हैं, लोटाधारी, सोटाधारी, चिमटाधारी, कौपीनधारी आदि भेष मोक्षमार्ग नहीं है। **अंतरंग शुद्धि के बिना सर्वथा नग्न रहना, निर्ग्रंथ भेष धारण करना, ये सब मोक्षमार्ग नहीं है।** तो मोक्षमार्ग क्या है? इसका उत्तर देते हुए आचार्यमहाराज कहते हैं **'दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बेंति।'** शुद्ध–बुद्धरूप, एकत्व स्वभाव वाला जो परमात्म तत्त्व है, उसका श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र ही मोक्षमार्ग है, ऐसा जानना चाहिए।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

उत्थानिका : द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है तो आत्मा को दर्शन ज्ञान और चारित्र में लगाना चाहिए

गाथा :

तम्हा जहित्तु लिङ्गे सागारणगारएहिं वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे।।४११।।

संस्कृत छाया :

तस्मात् जहित्वा लिङ्गानि सागारैरनगारकैर्वा गृहीतानि।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपक्षे।।४११।।

अन्वयार्थ : (तस्मात्) इस कारण **(सागारैः)** गृहस्थों के **(वा)** अथवा **(अनगारकैः)** मुनियों के **(गृहीतानि लिङ्गानि)** ग्रहण किए गए लिंगों को **(जहित्वा)** छोड़कर **(आत्मानं)** अपने आत्मा को **(दर्शनज्ञानचारित्रे)** दर्शन–ज्ञान–चारित्र स्वरूप **(मोक्षपथे)** मोक्षमार्ग में **(युंक्ष्व)** युक्त करो।

समय देशना

आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुवज्ञायक स्वभावी भगवान्– आत्मा के सहजस्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। रत्नत्रय धर्म की अखण्डता की प्ररूपणा करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी यहाँ समझा रहे हैं कि लिंग मोक्षमार्ग नहीं है। इसका तात्पर्य श्रावक और श्रमण इन दोनों के व्रतों का अभाव नहीं करा रहे हैं। **जब भी मोक्ष होगा, नग्न दिगम्बर मुद्रा से ही होगा।** यहाँ किसी जीव के व्रतपने का अभाव नहीं करा रहे हैं, लेकिन समस्त भेष बाह्य मार्ग हैं, उन्मार्ग हैं। जो उन्मार्ग है, वो सन्मार्ग कैसे हो सकता है?

न कोई स्त्रीलिंग में मोक्ष जा सकता है, न कोई नपुंसकलिंग में मोक्ष जा सकता है। लिंग तो निर्ग्रंथ पुरुषलिंग ही चाहिए। न कोई झाड़ू लगाते– लगाते, न कोई हाथी के ऊपर बैठे–बैठे मोक्ष जाता है। ये जो संपूर्ण व्याख्या है, ये कल्पित है और जो कल्पित व्याख्या है, वो सब विभाव भाव है। **जहाँ परीषह सहन करने की सामर्थ्य ही नहीं है, जहाँ परीषह सहन करने के लिए यति मुद्रा ही नहीं है, वहाँ मोक्षमार्ग कैसा?**

विपरीत मार्ग को प्राप्त करने का उद्देश्य नहीं चल रहा है। यह तो वीतराग मुद्रा को प्राप्त करने के उपरांत कहीं श्रमण माया छोड़कर काया में तो नहीं लग रहा है? मैं योगी बनने जा रहा हूँ, ऐसा सोचकर राज्य पद छोड़ दिया, वैभव छोड़ दिया, सारी माया छोड़कर आ गया और माया छोड़ने के उपरांत 'मैं मुनि हूँ, मैं मोक्षमार्गी हूँ।' मात्र शरीर के लिंग में ही आश्रित हो रहा है, तो यहाँ कह रहे हैं कि माया छोड़करके काया में स्थिर हो गया। जिसकी ऐसी अवधारणा हो चुकी है कि बस, मेरा मोक्ष हो जाएगा। रत्नत्रय धर्म पर लक्ष्य ही नहीं है, उनको यह समझा रहे हैं।

'तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे' (गाथा)

हे मित्र! इसलिए तुम लिंग को छोड़ दो। लिंग को छोड़ने के स्थान पर क्या मुनि वस्त्र धारण कर लें? नहीं। लिंग को छोड़ दो, ये मुद्रा छोड़ने के लिए नहीं कह रहे हैं। लिंग को छोड़ने के स्थान पर देह लिंग से मोक्ष मिलता है, इस मान्यता को छोड़ो। भेष मात्र तुमने साधु का बना लिया है। भेष मात्र बनाने से तुम ये मान रहे हो कि मोक्ष हो जाएगा, निर्वाण मुझे मिल जाएगा। इस मान्यता को छोड़ दो।

ज्ञानी! भेष का राग तो छोड़ना अनिवार्य है ही, शुभभाव भी मोक्ष के कारण नहीं हैं। लिंग भेष का तो राग छोड़ना ही पड़ेगा। इतना ही नहीं, शुभभाव का भी राग छोड़ना पड़ेगा। हे जीव! शुभाशुभ भावों का अभाव करेगा, तब ही देह का नाश कर सकेगा और जब तक शुभाशुभ भाव रखेगा, तब–तक शुभाशुभ देह मिलेगी। अशुभ भाव करेगा तो नरक/तिर्यंच की देह मिलेगी, शुभ भाव करेगा तो देवों की देह मिलेगी। शुभ–अशुभ (मिश्र) भाव करेगा तो मनुष्य की देह मिलेगी।

यदि देहातीत होना चाहता है तो **'भावेशुभाशुभे नष्टे देहो नश्यति देहिनाम्'** जब शुभाशुभ दोनों भावों का अभाव कर लेगा तो हे देही! तेरी देह का नाश हो जाएगा। जब देह का नाश हुआ, 'सर्वथा– सर्वदा' आत्मा देह से शून्य हो जाएगा। यही मोक्ष है। ज्ञानी! **'भावक्षये समुत्पन्ने कर्म नश्यति निश्चायत्।'** लेकिन **'शुभाशुभात्मकं कर्म देहिनां भवधारिणाम्'** शुभ–अशुभ भाव करोगे तो कर्म प्राप्त करेगा जीव।

कर्म प्राप्त करेगा जीव, शुभ–अशुभ कर्म ही प्राप्त करेगा। स्थूल मिथ्यात्व को छोड़ने की बात तो दुनियाँ कर रही है, पर सूक्ष्म परसमय छोड़ने की बात हम नहीं कर पा रहे हैं। स्थूल परसमय को छोड़ दिया, पर सूक्ष्म परसमय को नहीं छोड़ पा रहा है। जो कुतत्त्व की प्ररूपणा कर रहे हैं, वे स्थूल परसमय है। देह में राग जा रहा है, स्थूल परसमय है। परिवार में राग जा रहा है, स्थूल परसमय है। स्थूल परसमय है। हे मुनीश्वर! आपने स्थूल परसमय को छोड़ने का विचार किया है

और सूक्ष्म परसमय में लीन हो रहे हो, तो आपका निश्चय मोक्षमार्ग कैसा? सूक्ष्म परसमय में लीन हो रहे हो, उसके उपाय खोज रहे हो, उपेय को भूल रहे हो। सूक्ष्म परसमय में इतना आसक्त हो गया जीव कि सूक्ष्म पर समय को जीव परसमय ही नहीं समझ रहा।

मंत्रीजी, भाई! आप मंत्री कहाँ से हो? अध्यक्षजी! आप अध्यक्ष कहाँ से हो? कुछ भी तो मुझे दिखाई दे नहीं रहा। आपका अध्यक्षपना, अध्यक्ष/मंत्री कहाँ से हो? समाज बैठी थी, लोग इकट्ठे हुए, उन सबने इतना बोल दिया था कि आज से आप मंत्री हो, आप अध्यक्ष हो। इतना शब्द सुनते ही आपके अंदर लहर दौड़ गई। हाँ, अध्यक्ष/मंत्री मैं हूँ। मेरे मित्र! हाथ में दिखाइये कहाँ है वो वस्तु? मान लो है, तब आप कहोगे कि मैं नहीं हूँ। इतना मुख से बोलकर आज से मैं त्याग करता हूँ। तो किस वस्तु का त्याग किया? मान्यता का ही तो त्याग किया है। यहाँ मुनिराज को कपड़े नहीं पहनाए जा रहे हैं, यहाँ जो कथन चल रहा है, वह जिस मुनि की मान्यता में आ गया है कि मैंने द्रव्यलिंग को प्राप्त कर लिया है तो अब मेरा मोक्ष हो जाएगा। जो मात्र पिच्छी–कमण्डलु, दिगम्बर मुद्रा को मोक्ष मान रहे हैं, उस मान्यता के लिए कहते हैं कि मान्यता को छोड़िए। बहुत सारे छोड़े ही नहीं जाते। मात्र मान्यता छोड़ी जाती है।

मुमुक्षु प्रशम सागरजी! आप क्या–क्या छोड़कर आए हो? जो इंदौर था, वो ज्यों–का–त्यों है। जिसने तुझे जन्म दिया था निमित्तभूत, वो भी ज्यों–का–त्यों है। जिसने तुझे खिलाया था, वो भी जीवित है। जिसके साथ तुम रहते थे वो भी विद्यमान है। आपने किसको छोड़ा है? आपने तो कुछ भी नहीं छोड़ा है। मात्र मान्यता छोड़ी है, तो मुनि हो, अन्यथा जो है सो है।

सबकुछ छोड़ने के बाद भी जब–तक मान्यता नहीं छूटेगी, तब–तक तुम मान्य नहीं हो सकते। मोक्षमार्ग में मान्य होना है तो आपको मान्यता छोड़नी पड़ेगी। जगत् में जितने युद्ध हो रहे हैं धर्म के नाम पर, ये सब मान्यताओं के कारण हो रहे हैं। 'मान और मान्यता', समझ में आ रहा है? जो मान्यता है, उससे मान्यपना नहीं आ रहा है। मान के राग में मान्यता नहीं छोड़ रहा है। भूतार्थ को ज्ञान में ज्ञेय बनाते हुए भी मान्यता के कारण और मान के कारण उसे विसर्जित नहीं कर पा रहा है। भूतार्थ को स्वीकार कर नहीं पा रहा है, अभूतार्थ को छोड़ नहीं पा रहा है। सत्यार्थ को स्वीकार नहीं कर पा रहा है, असत्यार्थ को छोड़ नहीं पा रहा है कि मेरी मान्यता ऐसी है।

मिथ्यात्व क्या है? विपरीत मान्यता ही तो है। जब–तक विपरीत मान्यता नहीं हटेगी, तब–तक सम्यक्त्व मान्यता स्थापित नहीं होगी। तब–तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा। 'कोई पाप नाम की वस्तु नहीं है।' देखो, ये लेखनी है। आप इसमें मान्यता स्थापित कर दो कि जो इसको अष्टद्रव्य से

पूजेगा, वही ज्ञानी बन पाएगा। ये नया मिथ्यात्व खड़ा हो गया। कलम, लेखनी की पूजा प्रारंभ हो गई। लेखनी मिथ्यात्व नहीं है, मान्यता मिथ्यात्व है। ये पाषाणखण्ड, जिसको छैनी– हथौड़े से संस्कार करके शिल्पकार ने अद्वितीय प्रतिमा का रूप दे दिया। पत्थर छोड़े ही हैं, अरिहंत बन गया। आपने स्थापना निक्षेप से मान्यता स्थापित कर दी है कि ये तीर्थंकर अरिहंत हैं।

सम्यग्दर्शन क्या है? पाषाण की मूर्ति? **सम्यक् लिंग पर, सम्यक् गुणों पर, सम्यक् भावों पर, सम्यक् द्रव्य पर, सम्यक् पर्याय पर जो विश्वास है, उसका नाम सम्यक्त्व है।** इसलिए यदि वस्तु से हटकर आ गए हो और मान्यता से हटकर नहीं आ पाए हो, तो निश्चित तुम बहिरात्मा ही हो। जगत् के कितने लोग वस्तुओं के अभाव में जी रहे हैं, लेकिन मान्यताओं के अभाव में नहीं जी पा रहे हैं, इसलिए पापबंध को प्राप्त हो रहे हैं।

गरीबों के पास महल नहीं है। ऐसे भी लोग तुम्हारे बीच में हैं जिनकी माँ 'बेटा' नहीं कहना चाह रही है। पिता 'पुत्र' नहीं कहना चाह रहा है, लेकिन वो भी बेटे को आस्रव बराबर माता–पिता का लगेगा क्यों? उसकी मान्यता में पिता, पिता बैठा हुआ है। माँ माँ बैठी हुई है। भेष बदलना कठिन नहीं है, कठिन है मान्यता को बदलना छः द्रव्य से लोक कभी शून्य नहीं हो सकता और छः द्रव्य लोक में व्याप्त हैं। छः द्रव्य ही लोक है। इन द्रव्यों का अभाव नहीं किया जाता है। द्रव्यों का अभाव करके कोई सम्यग्दृष्टि नहीं होता है। इन द्रव्यों में आत्म मान्यता का अभाव करके ही सम्यग्दृष्टि होता है। जो जीव द्रव्यों में लिप्त है, संग्रह से युक्त है और फिर भी कहता है कि मान्यता नहीं है मेरी, मैं रखे हूँ, वो शुद्ध घोर मिथ्यादृष्टि है।

जो 'मूर्छा परिग्रह' सूत्र का दुरुपयोग कर रहा है। ये मुमुक्षु कहता है महाराजजी! वस्त्र–वस्त्र में है, मैं मैं में हूँ। मेरे वस्त्र नहीं हैं, ऐसी मेरी मान्यता है इसलिए मैं वस्त्र के भीतर भी मुनि हूँ। मेरे मित्र! यदि तेरी मान्यता में वस्त्र तेरे वस्त्र नहीं हैं, तो रखने की आवश्यकता भी क्या है? कहीं–न–कहीं राग है। जहाँ राग है, वहाँ बंध है। मैं समझ रहा हूँ कि आप क्या कहलवाना चाह रहे हो। इसलिए 'विपरीत अभिप्राय का विसर्जन जब–तक नहीं होगा', तब–तक देह के त्याग करने मात्र से कल्याण नहीं होगा। कठिन क्या है? विपरीत अभिप्राय बदलना। सर्वाधिक पुरुषार्थ विपरीत अभिप्राय को बदलने में लगाना चाहिए। वस्तु तो कभी किसी की है ही नहीं, अभिप्राय ही तो बदलना है, वस्तु कहाँ बदलना है।

घर में पत्नी के रहते ब्रह्मचारी नहीं हो सकता क्या? घर में बेटे की माँ के रहते ब्रह्मचारी नहीं हो सकता क्या? क्या उस पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा करके तू ब्रह्मचर्य लेगा? हे पापी! ऐसा

विचार कर तो रहा है। तू ब्रह्मचर्य न लेता तो श्रेष्ठ था। उस जीव का घात करने की भावना मत कीजिए, उसकी अपेक्षा मत कीजिए। उस जीव को घर से भगाने की अपेक्षा मत कीजिए। उस जीव के घर में रहते हुए अभिप्राय को बदल दीजिए। जिसे तू पत्नी कहता था, उसे बहन कहना प्रारंभ कर दे। क्या संभव नहीं है? संभव है।

वस्तु किंचित् भी नहीं बदली है। यहाँ पर भी आए हो। मुनि भी बन गए हो, तो सर्वत्र छः द्रव्य हैं। लोक के जितने भी संबंध होते हैं, वे सब यहाँ विद्यमान हैं, लेकिन आप संबंधों में नहीं हो, इसलिए तुम मोक्षमार्गी हो। समझ में आ रहा है? इसलिए गृहनगर, गृहपति, इन संबंधों से दूर हो। माँ! खाने की सामग्री का त्याग करने वालों को त्यागी आपने मान लिया है। पहनना और खाना। भइया! लोक के साधुओं की परिभाषा सुनिये। जिनका खाना बदल गया और पहनना बदल गया, उनको आपने 'साधु' संज्ञा दे दी है।

कुछ लोग रंग बदल कर, सफेद पहनने लग गए, कुछ भगवा पहनने लग गए, कुछ पीत पहनने लग गए, कुछ ने सभी उतार कर फेंक दिए। कुछ थाली में खाते थे, वे कटोरे में खाने लग गये। जो कटोरे में खाते थे, वे हाथों से खाने लग गए। कुछ लोग पत्तल में खा रहे हैं। ये सब खाने की शैलियाँ बदली हैं। भेष की शैली बदली है। ये मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो तभी बनेगा जब अभिप्राय बदलेगा। इसे भी समझना पड़ेगा। **जब–तक रिश्ता मस्तिष्क में है, तब–तक अब्रह्म भाव है। जब–तक संबंध/रिश्ते हैं, तब–तक अब्रह्म भाव हैं।** अब गहरे में जाइये। पत्नी को पत्नी नहीं कह रहा। पत्नी को बहिन भी कह रहा है, तब भी अब्रह्म भाव है।

पत्नी को माँ भी कह रहे हो, अब्रह्म भाव है। द्वैत में जा रहे हो, अब्रह्म भाव है। माँ तभी शब्द आया है, जब कहीं पत्नी का भी भाव छिपा है। बहिन शब्द तभी आया है जब कहीं पत्नी का भाव छिपा है। पुरुष तभी कह रहा है, जब स्त्री छिपी हुई है। नपुंसक तभी कह रहा है, जब स्त्री छिपी हुई है, कहीं पुरुष छिपा है। जहाँ संज्ञाएँ चल रही हैं, वहाँ संज्ञाएँ दिख रही है। जहाँ कामना चल रही है, वहाँ वासना निहित है। जहाँ कामना, वासना का अभाव है, 'अस्ति पुरुष चिदात्मा' वहाँ न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। मात्र ध्रुव आत्मा।

वेदों की मान्यता जिसके निकल जाएगी, संबंध की मान्यता जहाँ निकल जाएगी, वहाँ आत्मद्रव्य मात्र दिखेगा, यही परमतत्त्व है। जब परमतत्त्व में प्रवेश करता है योगी, वहाँ न मैं मुनि, न मैं अमुनि, न मैं साधु, न मैं असाधु। जब साधु तक का विकल्प साधना से शून्य कर रहा है तो असाधु का विकल्प साधना कैसे कराएगा? 'स्थूल पर समय' 'सूक्ष्म पर समय' ४११ नंबर

की गाथा में कह रहे हैं कि हे श्रमण! देह का भेष बनाने का श्रम तू कर चुका है, अब देह का भेष बनाने का श्रम नहीं है, अब वीतरागता की अनुभूति का श्रम कीजिए। 'क्या आटे से आटा बनाओगे कि आटे से आगे की प्रक्रिया करोगे?' क्या आटे से आटा बनाओगे, कि आटे से रोटी बनाओगे?

हे योगीश्वरो! अब योगी से योगी बनाने के लिए क्यों बैठे हो? गृहस्थों को योगी बनना चाहिए। गृहस्थों को साधु बनना चाहिए। आपका साधु बनने का समय नहीं चल रहा है। आपका भगवान् बनने का समय चल रहा है। ये विचार गृहस्थों का होना चाहिए। आपके मस्तिष्क में तो वीतरागी बनने का भाव होना चाहिए और यदि जिनबिम्ब को प्राप्त करके भी वीतरागी बनने के परिणाम नहीं कर पा रहा है तो यह जीव का विपर्यास है।

स्थूल परसमय समझ में आ गया। आइये सूक्ष्म परसमय की ओर। 'हे गुरुदेव! आपकी जय हो, आपकी कृपा से मेरा सब काम हो रहा है। कल्याण हो जाएगा।' हे जीव! उपकार का भाव शुभोपयोग में आएगा, फिर भी लक्ष्य में यही होगा कि कण–कण स्वतंत्र है। गुरु मोक्ष नहीं देने जाएँगे। प्रभु मोक्ष नहीं देंगे। गुरु/प्रभु को भी अपने मोक्ष का कर्त्ता मान रहा है, सूक्ष्म परसमय है। पंचपरमेष्ठी की आराधना/ भक्ति सूक्ष्म परसमय है।

ज्ञानी! नौका के बिना नदी पार हो सकती है क्या? तो गुरु के बिना मोक्ष (कल्याण) हो सकता है क्या? नौका में बैठे–बैठे नदी पार हो सकती है क्या? उस नौका से उतरना पड़ेगा कि नहीं? एक पार से दूसरे पार जाना चाहता है तब–तक नौका का आलम्बन, जब पार कर जाएगा तो नौका में ही बैठा रहेगा क्या? जैसे नौका में बैठे बिना पार नहीं हो सकता, ऐसे–ही नौका को छोड़े बिना भी पार नहीं हो सकता। देव–शास्त्र–गुरु को पाए बिना (आश्रय लिए बिना) मोक्ष नहीं मिलेगा, पर देव–शास्त्र–गुरु को छोड़े बिना भी मोक्ष नहीं मिलेगा। एक तरफ का ज्ञान करके बैठ गए ये सब अज्ञानी लोग। नौका में बैठना पड़ता है, बराबर है, पर नौका को छोड़ना भी तो पड़ता है।

ऐसे–ही, लक्ष्य बीच में नहीं बनाना पड़ता, जब से बैठना है, उसी दिन (क्षण) से लक्ष्य बनाना पड़ता है। 'पैर रख रहा हूँ इसमें, इसलिए पैर हटाऊँगा नहीं।' यदि नहीं हटा पा रहा है और उसे मोक्षमार्ग मान कर बैठ गया, तब तू स्थूल परसमय में चला जाएगा और आलंबन लेकर चल रहा है, ये सूक्ष्म परसमय है। मित्र! इन बेचारों से कपड़े मात्र नहीं उतरवाना चाहिए, जीव को सत्य का बोध भी देना चाहिए। नहीं–तो बेचारे चर्म की प्रभावना में जीवन बर्बाद कर देंगे। कितनी

करुणादृष्टि आती है। कभी–कभी पूरा समय इसी में निकाल दिया।

आदिनाथ के शिष्यों को चाहे दोष लगे चाहे न लगे, तब भी पूरा प्रतिक्रमण करना ही पड़ेगा। तीनों समय का। इसलिए क्योंकि वर्तमान के शिष्य वक्रपरिणामी हैं और आदिनाथ के बहुत सरल परिणामी थे। २२ तीर्थंकर के काल में मात्र उतना प्रतिक्रमण होता था, जितना दोष होता था। अजितनाथ से लेकर पारसनाथ के शासनकाल में शिष्यों को उतना ही प्रतिक्रमण करना पड़ता था जितना दोष लगता था। अब यहाँ तो देख ही रहे हैं कि कितनी वक्रता चल रही है? कितने ही सरल समझाओ, तब भी कहीं–न–कहीं वक्रता आ ही जाती है। जैसे पानी को कितना ही बाँधो, लेकिन थोड़ा तो निकल ही जाएगा। ऐसे ही पंचमकाल में कितना ही कर लो, कछु न कछु रिस ही रहा है।

ज्ञानियो! वर्तमान में कितनी–सी तपस्या है। जितनी भी है, उसे सँभाल कर रखना चाहते हो तो इस बात को ध्यान में रखना। पेपरों में, चैनल में कुछ नहीं रखा है। तुमको देखना हो तो निज की शुद्धोपयोग की दशा को सुधारो। पेपर पढ़ना है तो जिनवाणी को निहारो। ज्ञानी! समय अल्प है, श्रुत के उपदेशों का अभ्यास करो, जो पढ़ोगे वही तो निकलेगा। बाहर के प्रवचन करोगे तो बाहर ही रह जाओगे। जिनवाणी पढ़ोगे तो जिनवाणी निकलेगी। इसलिए जितना समय है, स्वाध्याय में लगाओ। **'साधु–कार्यं तपः श्रुतः'** श्रमणपरंपरा में साधु के दो ही कार्य हैं, तप और श्रुत।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि द्रव्यलिंग को छोड़कर दर्शन, ज्ञान और चारित्र में लगो। यहाँ पर मुनि और श्रावक के व्रत छुड़ाने का उपदेश नहीं है। जो यह मानते हैं कि द्रव्यलिंग मात्र से मोक्ष हो जाएगा और ऐसा मानकर मुनि भेष धारण करते हैं, उनसे कह रहे हैं कि द्रव्यलिंग का पक्ष छोड़ो, क्योंकि भेष मात्र से मोक्ष मिलनेवाला नहीं है। आत्मा का दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप परिणमन ही मोक्षमार्ग है। व्यवहार से मुनि/श्रावक के जो बाह्य व्रत हैं, वे व्यवहार से निश्चय मोक्षमार्ग में साधक हैं। बाह्य व्रतों को नहीं छुड़ाते हुए कहते हैं कि उसका ममत्व छोड़ो और परमार्थ में लगो।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी इसी को कलश में कह रहे हैं–

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा।।२३९।।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप दर्शन–ज्ञान–चारित्र मय त्रयस्वरूप है। इस कारण से जो मुमुक्षु मोक्षमार्ग के इच्छुक हैं, उन्हें इनका सदा सेवन करना चाहिए।

इसी प्रकरण में आचार्य जयसेन स्वामी टीका में कह रहे हैं **'तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारिएहिं वा गहिदे'** सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है, ऐसा जिनेंद्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। जो निर्विकार, स्ववेदनज्ञानरूप भावलिंग है, उससे रहित सागार (गृहस्थ) और अनगार (मुनि) द्वारा मात्र बाह्य रूप से धारण किया गया द्रव्यलिंग उपयोगी नहीं है। अत: मात्र बाह्य रूप से धारण किए गए द्रव्यलिंग को छोड़कर अनंतचतुष्ट्य स्वरूप जो शुद्धात्मा है, उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र रूप पालन करो। यहाँ सागार (गृहस्थ) से तात्पर्य ऐलक एवं क्षुल्लक से है, क्योंकि वो श्रावक की श्रेणी में आते हैं। ऐसा जानना चाहिए।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

उत्थानिका : रत्नत्रय मोक्षमार्ग है, अतः आत्मा को उसमें स्थापित कर।

गाथा :

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु।।४१२।।

संस्कृत छाया :

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु।।४१२।।

अन्वयार्थ : हे भव्य तू **(मोक्षपथे)** मोक्षमार्ग में **(आत्मानं)** अपने आत्मा का **(स्थापय)** स्थापन कर **(च तं एव)** उसी का **(ध्यायस्व)** ध्यान कर **(तं चेतयस्व)** उसी को अनुभवगोचर कर **(तत्रैव नित्यं विहर)** और उसी आत्मा में ही निरंतर विहार कर **(अन्यद्रव्येषु मा विहार्षीः)** अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

समय देशना

भव्य बंधुओ! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुवज्ञायकस्वभावी आत्मा के सहजस्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं।

परम एकत्वविभक्त दृष्टि से तेरी वास्तविक दृष्टि है। जो भी बंध है, वह वस्तु से बंध नहीं है, दृष्टि से बंध है। जो भाव है, स्निग्ध–रूक्ष परिणाम है। राग परिणाम स्निग्ध है, द्वेष परिणाम रूक्ष है। इन दोनों के नियोग से ये जीव बंध को प्राप्त हो रहा है। उस स्निग्ध–रूक्ष परिणतियों को कोई भिन्न पुरुष के द्वारा पृथक् नहीं किया जाता। स्वयं ही भाव बनाए गए हैं, स्वयं ही भाव बना रहा है, स्वयं ही भाव बनाओगे। ये त्रैकालिक धारा स्वयं की है। इसलिए आचार्यभगवान् कह रहे

हैं कि इनको छोड़कर हे जीव! मोक्षपथ में आत्मा को स्थापित कर दे। रत्नत्रय को ही तू ध्यान का विषय बना। यहाँ संपूर्ण पर ज्ञेयों से दृष्टि को भिन्न करके योगी से कहा जा रहा है। हे श्रमण! तू जिसमें श्रम कर रहा है, देहाश्रित लिंग में श्रम करने की आवश्यकता नहीं है। जो पुरुषार्थ तुम्हारा है, वह आत्मा में श्रम करने के लिए लगाओ। **कठिन देह का संयम नहीं है, कठिन देही का संयम है।** शरीर को जैसा ढालना चाहो वैसा ढलने के लिए तैयार है। आपको लगता है कि बहुत कठिन है। शीत, ऊष्ण, दंश आदि स्थिति को जीव पराधीन होकर भी स्वीकार कर लेता है, पशु भी सहन करना जानते हैं।

एक तिर्यंच दलदली भूमि पर खड़ा हुआ है। मच्छर भी उसको काट रहा है, मक्खियाँ भी काट रही हैं, तब भी खड़ा सहन कर रहा है। परंतु एक क्षण को विकार आ जाए तो उसे तिर्यंच सहन नहीं कर पा रहा है। एक क्षण को उसके भावों में चार संज्ञा में से कोई संज्ञा जाग्रत हो जाए। उसकी चारों संज्ञाएँ प्रत्यक्ष दिख रही हैं। **शरीर को सँभाल लेना बहुत कठिन नहीं है। काययोग को सँभाल लेना बहुत कठिन नहीं है। एक नट भी काययोग को सँभाल लेता है। पर मुनिरूप सँभालना कठिन है, मन योग सँभालना कठिन है और जिसने मनयोग को सँभाल लिया, उसका काययोग सँभल जाएगा और जिसका मन नहीं सँभल रहा है, उसका काय सँभलने पर भी सँभला नहीं है। जितने दोष जीव ने शरीर से, वचन से नहीं किए, उतने दोष जीव ने अपने मन से किये हैं।**

एक छोटे–से बच्चे को आप खिलाना चाह रहे हो, उस बालक से आपका मोह है। बच्चा अच्छा लगता है। बार–बार निहार रहे हो, आपको वह अच्छा लगता है। जिसमें आपकी संतुष्टि है, वही तो मोह है। व्यवहार कह रहा है कि दादा बच्चे को खिला रहे हैं, पर सत्य ये है कि दादा बच्चे के साथ खेल रहे हैं। जगत् का कोई भी द्रव्य आपको नहीं कहेगा कि आप मुझे स्वीकारो, लेकिन आपने स्वीकारा है। यहाँ जो विषय चल रहा है, अमृतचंद स्वामी स्पष्ट कह रहे हैं कि ये दोष परद्रव्य का नहीं है, ये जीव की निज प्रज्ञा की ही भूल है। जीव की प्रज्ञा का ही दोष है। मिश्रित को कब तक दोष देते रहोगे? **निमित्त तभी तो निमित्त बनेगा जब नैमित्तिक प्रभावित होगा। उसी के लिए निमित्त है, जिसका नैमित्तिक प्रभावित हो रहा है।**

पण्डितजी! आपके बेटे की माँ, वह स्त्री आपकी शादी के बाद हुई है कि जन्म से थी? स्त्री वो जन्म से थी, कि आपसे शादी होने के बाद स्त्री बनी है? जन्म से स्त्री नहीं थी। यह जो जीव जन्मा है, कन्या है, उसका स्त्री देह है कि नहीं है? हे जीव! युवावस्था आने पर वही कन्या आपको

विकारभूत हो रही है। उसका पिता भी तो वहाँ है, उसका भाई भी तो वहाँ है, उसके विकार क्यों नहीं? साधुपुरुष भी वहाँ से निकल रहे हैं, उसके लिए विकार क्यों नहीं? इसलिए वस्तु में विकार नहीं है। वो कन्या अब्रह्म का ही कारण होती तो सारे जगत् के लोगों को उसे देखकरके अब्रह्म परिणाम आना चाहिए? इसलिए जिस जीव के काम, क्रोध के परिणाम उत्पन्न रहे हैं, वो पराश्रित है कि स्व–आश्रित हैं?

जो विकार (अब्रह्म भाव) आ रहा है, वह तेरे भीतर आ रहा है कि कन्या के भीतर आ रहा है? स्वयं के अंदर आ रहा है। आप लोग स्वयं कामी हो रहे हो, तो कन्या को दोष क्यों दे रहे हो? क्या आप ब्रह्मचारी बनना चाहते हो उस कन्या का नाश करके? क्या आप ब्रह्मचारी बनना चाहते हो अपनी पत्नी का घात करके?

हे जीव! तेरे ब्रह्मचर्य से अब्रह्म श्रेष्ठ था, कम–से–कम हिंसा तो नहीं करता। लेकिन न अब्रह्म श्रेष्ठ, न हिंसा श्रेष्ठ है। यदि भाव सुधारे होते, उपादान पवित्र होता, तो वह कन्या विकार का कारण नहीं है। आखिर में सँभालेंगे किसको? बाहरी निमित्तों को, कि अपनी अंतरंग दृष्टि को? बाहरी निमित्तों को सँभालने की दृष्टि जिसमें विद्यमान है, ऐसा जीव चाहे साधु बनने आए तब भी उससे कहना 'भाई! गृहस्थ बनकर रहना श्रेष्ठ है, तू साधु बन नहीं पाएगा। कपड़े उतार सकता है, भेष बना सकता है, लेकिन भाव नहीं बना पाएगा। कभी भी प्रभावित करके न दीक्षा देना चाहिए, न दीक्षा लेना चाहिए। कोई भी संयम धारण करना है, किसी से प्रभावित होकर लेना मत। जो प्रभावित करे, उसे संयम देना मत।

हाँ, देखो मैं यही कह रहा हूँ। आपने किसी को प्रभावित किया है, वह अपने को नहीं समझ पाया है, तुम्हारे प्रभाव को समझा है। जब प्रभाव का नशा उतर जाएगा तो उसको सोचना पड़ेगा कि क्यों आया हूँ यहाँ? पर प्रभाव से प्रभावित हुआ है। जो प्रभाव से प्रभावित हुए बिना कषाओं को क्षीण करने आया है, वह ज्ञानी हर विषमता में संयम का पालन करेगा।

वैराग्य/विरक्ति होना चाहिए, क्या कारण है कि व्यक्ति घर छोड़ने के बाद मठों में लीन हो जाता है? गृह छोड़ा है, परिग्रह संज्ञा नहीं छोड़ी है और जब–तक परिग्रह संज्ञा नहीं छूटेगी, तब–तक निवास– स्थान तो छोड़कर आ सकते हो, पर निवासस्थान से छूटकर नहीं आ सकते हो। किसे छोड़ा? इसलिए जितने बाह्यद्रव्य हैं, वे आपको प्रभावित नहीं कर रहे हैं, आप उनसे प्रभावित हो रहे हैं। इस विषय को जब–तक नहीं समझोगे, तब–तक कुछ भी मन का करते रहोगे, दोष निमित्तों को ही देते रहोगे।

मुमुक्षु! अंतरंग दृष्टि क्या बोलेगी? क्या निमित्तों का नाश करके आप मुनिराज बनके रहोगे? कमजोरी तो अपनी ही रहती है, निमित्तों का तो बहाना बनाया जाता है। निमित्त का यह प्रभाव वहीं पड़ रहा है जहाँ उपादान में तद्गुण अनुकूल योग्यता है। वो पुरुषार्थ जो है निमित्त सापेक्षता नहीं कर सकेगा, वो पुरुषार्थ उसका उपादान सापेक्ष ही चलेगा। निमित्त से बचना चाहता है तो। पहले आप निमित्तों से दूर हो जाओ, फिर निमित्त से दूर हो जाओ। दो शब्द बोले, पहले आप निमित्त से दूर हो जाओ, फिर निमित्त से दूर हो जाओ। भइया! घर से आए हो तभी तो यहाँ आए हो। घर से आए, घर छोड़कर आए। अब आपसे कहे, जब घर छोड़कर आ ही रहे हो तो अब घर क्यों नहीं छोड़ देते? अब तुम घर छोड़कर आ भी गए हो, फिर भी घर नहीं छोड़ पा रहे हो। भइया! आना, नहीं आना समान हो गया। ये विषय तो बहुत दिनों से मालूम है कि निमित्त से प्रभावित हो रहा हूँ। लेकिन निमित्त से प्रभावित हो कौन रहा है? जो निमित्त से प्रभावित होना चाह रहा है, यथार्थ में वही प्रभावित होगा। यदि निमित्त प्रभावित कर ही देंगे तो वीतरागता को प्राप्त हो ही नहीं सकते।

ईश्वराधीन, कर्माधीन की जो दशा है, वही निमित्ताधीन की दशा है। हे जीव! आपसे कहा कि आपने अशुभ परिणति क्यों की? 'महाराज! मेरा क्या दोष है? ये कर्म का उदय ऐसा आ गया सो मेरे से ऐसा पाप हो गया।' कर्म का उदय आया, इसलिए तुझसे पाप हो गया, तो कर्म का उदय तो आएगा–ही–आएगा, तो पाप करना भी नियत ही है? यदि पाप करना नियत है, तो तेरा निज का पुरुषार्थ कुछ नहीं करता है, कर्माधीन हो गया। फिर जैसा कर्म का उदय आएगा, वैसा ही काम तुझे करना होगा, तो कभी संयम की वस्तु होगी ही नहीं आपके लिए। कर्म के उदय ने आपको अब्रह्म भाव का उदय करा दिया और आपने अब्रह्म का सेवन कर लिया और धीरे–से मुस्करा कर कह रहा है 'महाराज! मेरा कोई दोष नहीं है। कर्म से कर्म के विपाक ने कर्म का फल भोगा है। मैं तो बिल्कुल कुछ कर ही नहीं सकता।' एक ईश्वरवादी कहता है ये पत्ता हिलता है तो ईश्वर की इच्छा से हिलता है। मैं कुछ भी नहीं करता, सब ईश्वर की कृपा है। कर्मवादी कह रहा है कि मैंने जो भी कुछ किया है, कर्म का उदय है, मेरा कोई दोष नहीं है। निमित्तवादी कहेगा मेरा कोई दोष नहीं है। ऐसा निमित्त सामने था, सो ऐसा हो गया है। यदि ऐसा ही आप मानते हो, तो आपका निज का पुरुषार्थ क्या होगा? निमित्त निमित्तरूप कर्ता अवश्य होता है, पर उपादान सशक्त है तो निमित्त को टालकरके उपादान पर ही कार्य होगा।

ज्ञानी! ये समयसार है। जो नैमित्तिक भाव है, उस नैमित्तिक भाव पर ही तुम्हें पुरुषार्थ करना

है। पुरुषार्थ भी यही करना है। निमित्त के होने पर भी नैमित्तिक न बदले, वह उसके लिए निमित्त नहीं बनेगा। जम्बू स्वामी के सामने ४ कन्याएँ थीं, ४ वधू। कन्या क्या, स्वयं की पत्नियाँ थीं। लेकिन जिसका उपादान सशक्त/प्रबल था तो उसका वे चार कन्याएँ क्या कर सकेंगी, पूरी रात्रि निकल गई। जम्बू स्वामी कह रहे हैं, देवियो! अब समय हो चुका है मेरी दीक्षा का। माँ निहारती रही कि नारी को देखकर के कौन नहीं बदलता है? अब तो बेटे को राग आएगा–ही–आएगा। लेकिन जिसको स्वआत्मा की सन्मति का जागरण हो चुका है, उसे कौन भ्रमित कर सकता है।

जैसे–जैसे स्वआत्म सत्ता का जागरण होता है। वैसे–वैसे सुलभ से सुलभ द्रव्य भी अरुचिकर लगते हैं। जैसे–जैसे विषयों से अरुचि हो रही है, वैसे–वैसे स्वात्म सत्ता का जागरण होता है। यहाँ योगियों को संकेत कर रहे हैं कि हे श्रमण! आप इस विषय को गौण कर दो कि निमित्त मुझे प्रभावित कर रहा है। यहाँ उपादान की दृष्टि पर कथन चल रहा है। हे श्रमण! दोष निमित्त का नहीं है, दोष तेरी प्रज्ञा का है, स्व की प्रज्ञा का है। जहाँ–जहाँ तुम जा रहे हो, अनिच्छापूर्वक नहीं जा रहे हो, इच्छापूर्वक जा रहे हो।

जो आपकी प्रज्ञा है, बुद्धि है, इसका ही तो दोष है जो उल्टी दिशा में जा रहा है। प्रज्ञा पवित्र है तो बुद्धि उल्टी दिशा में जा नहीं सकती है। मानसिकता है, तो ही काम होगा और मानसिकता नहीं है, तो विकार के साधन होने पर भी विकार नहीं हो सकता आपसे।

भइया! परिस्थितियाँ जीव को बदलती हैं, कि मनस्थितियाँ? **ज्ञानी! मनस्थितियाँ पवित्र हैं, तो परिस्थितियाँ कुछ नहीं कर सकती। जिसकी मनस्थितियाँ गड़बड़ होने लगी हैं, तो परिस्थितियों का बहाना मिलता ही है। परिस्थितियाँ प्रभावी होने पर भी जिसकी संकल्पशक्ति दृढ़ है, उसका परिस्थितियाँ कुछ नहीं कर सकती हैं। जिसकी संकल्पशक्ति हीन है, उसको परिस्थितियाँ विकृत कर देती** हैं।

नोकर्म प्रभावी अवश्य है। जिसको हम नोकर्म कहते हैं, वैराग्य उसे दूसरे शब्द में प्रयोग कर लेता है। जिसे हम नोकर्म कह रहे हैं। बिल्कुल सत्य है, नोकर्म से बचना चाहिए। नोकर्म से साधक को दूर होना चाहिए प्रारंभ में, लेकिन जब स्वयं में लीन हो जाएगा, फिर उसके नोकर्म 'नोकर्म' ही नहीं रहेंगे। आप नोकर्म से दूर रहो, निमित्तों से दूर रहो आप। परिस्थिति आपको गड़बड़ कर रही है कि मन:स्थिति? हाँ, परिस्थितियाँ गड़बड़ होंगी तो मन:स्थितियाँ बिगड़ेगी, पर ऐसा नियम नहीं है।

आप अध्यवसाय भाव के कारण के कार्य से दूर रहिए। प्रारंभ अवस्था में कारण के कार्य से

दूर रहिए, लेकिन पुन: आपसे कहेंगे। एक घर में शोक अवस्था आयी है, कुछ लोग रुदन कर रहे हैं। उसी परिवार के सदस्य उनको समझा रहे हैं। परिस्थितियाँ समान होने पर भी मन:स्थितियाँ समान नहीं हैं। हम एकांत से कह देते हैं कि परिस्थितियों के अनुसार मन:स्थिति होगी–ही–होगी, तो फिर सभी की मन:स्थितियाँ परिस्थितियों से बदलेंगी। फिर कभी मन:स्थिति पवित्र हो ही नहीं सकती।

मुनि बनते समय भी परिस्थितियाँ ही विद्यमान थीं। घर छोड़कर आप निकले हो तो मन:स्थिति बना कर निकले हो, कि परिस्थितियों को देखकर आप निकले हो? यदि मन:स्थिति परिवर्तित की है, तो विषम परिस्थिति भी आपका कुछ नहीं कर सकती और मन:स्थिति आपने परिवर्तित नहीं की, तो परिस्थितियाँ आपको प्रभावित करेंगी–ही–करेंगी। परिस्थितियाँ दो प्रकार की हैं। कुछ परिस्थितियाँ जीव स्वयं आमंत्रित कर लेता है और कुछ परिस्थितियाँ इसको ऊपर से मिल जाती हैं। यदि वास्तव में उसने पहले से निर्णय ही कर लिया है कि जगत् में कोई भी परिस्थिति होगी मैं अपनी मन:स्थिति को खोटा करूँगा ही नहीं, तो परिस्थितियाँ हाथ जोड़ लेंगी, पलायन कर जायेंगी। जो जीव परिस्थिति/विषमताओं/ आपत्ति के काल में भी अपने आपको संकटभूत नहीं समझता, उस व्यक्ति के लिए परिस्थितियाँ भी आपत्ति में पड़ते देखी गई हैं। भाई! कभी–कभी आपके साथ कैसी परिस्थिति आती है? लोग चाहते हैं कि आज मैं इसे रुला कर रहूँगा। पर उसने निर्णय किया है कि वह रोयेगा नहीं। ज्ञानी! तुम शोक के काम कर सकते हो, लेकिन शोक के साधन मेरे से भिन्न हैं। शोकाकुल होना या न होना, ये मुझ पर निर्भर है।

यहाँ कह रहे हैं कि उभय दृष्टि को समझते हुए, निमित्त– नैमित्तिक संबंधों को समझते हुए, आपको निमित्त में नहीं जाना है, सँभालना आपको उपादान ही है। मन:स्थिति और जब भी सँभलेगी मन:स्थिति ही सँभलेगी, परिस्थितियाँ सँभालते–सँभालते कभी–कभी पूरा जीवन ही निकल जाता है। जिस व्यक्ति का अशुभ कर्म का उदय है, दरिद्रता छा गई है, उसकी दरिद्रता निकल ही नहीं रही है, अंत में वह मन:स्थिति को ही ठीक करता है, परिस्थिति उसके हाथ में होती ही नहीं है। परिस्थिति का तो विसर्जन करना पड़ेगा, मन:स्थिति को ऊपर उठाना पड़ेगा। वो मन:स्थिति उठती चली जाएगी तो परिस्थितियाँ पीछे होती चली जाएँगी। ऐसा कहना चाहिए, अशुभ परिणति या परिस्थिति से अपनी रक्षा करते हुए शुभ परिणति की ओर चले जाओ। जब शुभ परिणति की ओर चले जाओगे तो आपकी मन:स्थिति भी ठीक होती चली जाएगी स्यात्। आवश्यक नहीं है कि परिस्थिति अच्छी मिल रही है और उसकी मन:स्थिति अच्छी होती चली जाए।

अब माना कि किसी जीव को तीव्र मोह सता रहा है और तीव्र मोही पुरुष को देव–शास्त्र–गुरु और विद्वान् समझा रहे हैं कि बेटा! तू ये क्या कर रहा है? ये कन्या तेरे कुल की नहीं है और तू शादी करना चाह रहा है। अरे बेटा! कुल में कलंक लग जाएगा। मान ले बात को। तुम्हारी सब बातें सुनेगा। लेकिन भइया सब सुनने के बाद भी वो व्यक्ति उस हठ को छोड़ नहीं पा रहा है। कितने सारे ऐसे लोग पंचमकाल में यहाँ बैठे हुए हैं कि श्रेष्ठ परिस्थिति होने पर भी मन:स्थिति श्रेष्ठ नहीं कर सके, इसलिए परिस्थिति उसकी निमित्त नहीं बन सकी। जिसकी मन:स्थिति हो चुकी है उसके लिए अल्प सुंदर परिस्थिति भी कार्यकारी हो जाएगी। इसलिए स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव ये सब आपको स्वीकारना ही पड़ेगा। इसके उपरांत, इन सबको देखने के बाद, जब तुम भोग की धारा में प्रभावित मान लोगे, फिर आपको मन:स्थिति की परिस्थिति तो दूर है, निज के परिणाम भी पर दिखेंगे, तब तुम्हारी स्थिति परमात्मा की बनेगी।

बाह्य परिस्थिति जो चाक्षुस है, उनको तो छोड़िये। जो तुम्हारा अंतरंग मन है, जो विषयों में दौड़ रहा है, उसे भी पर स्वीकारिए और उसे पर स्वीकारके निज में अत्यंताभाव स्वीकारिए, तभी आप शुद्धात्म दशा में प्रवेश कर सकेंगे। जब–तक मन के रागादि भावों को आप अभिन्न ही मानोगे, इससे मैं प्रभावित हूँ–ही–हूँ ऐसी धारणा जब–तक रहेगी, तब तक अद्वैत धारा में प्रवेश संभव नहीं है। जो विषय सुख है, कथन से भिन्न–भिन्न हो सकता है। जो निज सुख में लीन हो चुका है, उसको भिन्न वस्तु दिखेगी नहीं। अथवा जिसने भिन्न वस्तु को देखना बंद कर दिया है, उसको निज सुख आना प्रारंभ हो जाएगा। जब–तक भिन्न को देखता रहेगा, तब–तक विकल्प रहेगा। द्वैतधारा, संकल्प–विकल्प और **जहाँ संकल्प–विकल्प की धारा है, वहाँ आनंद की धारा है ही नहीं। निर्णय एक करना पड़ेगा। अनिर्णीत दशा ही कष्ट है। जब तक निर्णय नहीं है, तब तक कष्ट–ही–कष्ट है। जितने दु:ख हैं, निर्णय के अभाव में हैं। जिसने निर्णय कर लिया है, उसके बहुत सारे दु:ख समाप्त हो चुके हैं।**

संकल्प–विकल्प का नाश कैसे हो? अध्यवसाय भाव संकल्प विकल्प है। कुन्दकुन्द स्वामी, अमृतचंद स्वामी समयसार जी में कह रहे हैं। ये पेन है, ये पाँच पापों में से कौनसा पाप है? पाँच पापों में से ये कोई–सा पाप नहीं है। न हिंसा है, न झूठ, न चोरी, न कुशील न परिग्रह। ये परिग्रह भी नहीं है, ये पुद्गल जरूर है। ये पुद्गल–अस्तिकाय है, ये अजीव तत्त्व है, इसके श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। ये कोई पाप नहीं है। वस्तु परिग्रह होती है कि मूर्च्छा परिग्रह होती है? ज्ञानी! ये पेन है, कोई पाप नहीं है। यदि ये पाप हो गया, तो जगत् में कोई पाप से रहित ही नहीं होगा।

ये तो वस्तु है, वस्तु कोई पाप नहीं होती है, ये कोई पाप नहीं है। यदि आपकी इसमें ममत्व दृष्टि है, तो आपके लिए परिग्रह पाप हो जाएगा। पर वास्तव में ये पाप तब भी नहीं है। पाप तो तुम्हारी इच्छा ही है, पाप तो मूर्च्छा ही है, लेकिन ये मूर्च्छा का कारण बन रहा है। ये इच्छा का कारण बन रहा है, इसलिए कारण का कार्य होने के कारण इसे परिग्रह कह दिया जाता है। आपका ममत्व बढ़ रहा है, इसलिए आपको यह भी छोड़ना चाहिए, ये आदेश है। आप जिन द्रव्यों के पास रह रहे हैं, उन द्रव्यों में ममत्व बढ़ रहा है। उन द्रव्यों को छोड़िये। यथार्थ में छोड़ने के बाद भी यदि आप नहीं छोड़ पाए तो पाप का बंध तो जैसे पहले हो रहा था, वैसा आज भी होगा।

वस्तु की सत्ता में तो पापबंध होगा ही, परंतु वस्तु तुम्हारे पास नहीं है, तब भी वस्तु की भावना है, तो भावना मात्र से भी बंध होगा। यदि ऐसा कहें आप सर्वथा कि वस्तु के अभाव में पापबंध नहीं होगा। विश्व में जितने भिखारी घूम रहे हैं, बेचारों के पास कोई भवन नहीं, दुकान नहीं। भइया! उनको तो पाप लगता ही नहीं होगा?

हे जीव! जिसके पास एक भवन है, वह एक भवन में संतुष्ट हो रहा है। उसको एक भवन का पाप लग रहा है और भिखारी जिस भवन के सामने से निकलता है, हर भवन देखने के बाद उसे यही लगता है कि ऐसा मेरा भवन भी होता। तो ज्ञानी! जगत् में जितने भवन हैं, उन सारे भवनों का दोष उसे लग रहा है। आप इस बात को भूल जाएँ कि जगत् के परद्रव्य मेरे लिए पाप हैं। परद्रव्य में पाप नहीं है, तेरी परिस्थिति पाप है। तो परद्रव्य से क्यों दूर होना चाहिए? परद्रव्य तेरी परिणिति को विकृत करने में निमित्त है, इसलिए दूर रहना चाहिए। और धर्म क्या है? ये मेरा पिच्छी, कमण्डलु, नग्न भेष क्या धर्म है। ये मुद्रा मात्र है। धर्म तो तेरे परिणामों की, दर्शन–ज्ञान–चारित्र की परिणति है। वह धर्म है, निश्चय से, अभेद दृष्टि। अभेद उपचार, अभेद वृत्ति। दोष वस्तु में नहीं, दोष दृष्टि में ही है। मन:स्थिति को सँभाल लीजिए, तो कल्याण हो जायेगा।

ज्ञानी! ध्रुव सत्य है कि परिस्थितियों को सँभालिए, पर सँभलना तो मन:स्थिति को ही पड़ेगा। इसलिए कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं, **'मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि'** मोक्ष पथ में आत्मा को स्थापित कर दो। अब आप इसमें अपने गृहस्थ जीवन को छोड़कर बात करो। अपने आपको गृहस्थ न स्वीकार के वहाँ प्रवेश करो, योगीधारा में। यहाँ योगी से तात्पर्य कोई भेष नहीं, लिंग नहीं, मात्र स्वात्मानुभूति में जा रहे हैं। जाति, लिंग के विकल्प से शून्य जो धारा होगी, वह तपोधन की धारा है, पर बहिर्लिंग दिगम्बर ही होगा।

नग्नता ही मोक्षमार्ग है, शेष उन्मार्ग हैं। तीर्थंकर भी क्यों न हों, उनको भी नग्नत्व

स्वीकारना पड़ेगा। नंगा नहीं, नग्नत्व स्वीकारना पड़ेगा। नंगे तो जगत् में बहुत सारे हैं। सर्वाधिक संख्या कपड़ेवालों की नहीं, नंगों की है। कपड़ेवाले कितने से? मात्र पुरुष। वो भी पूरे नहीं। मोक्षमार्ग नंगों का मार्ग नहीं है, मोक्षमार्ग नग्नत्व का मार्ग है। जो विषय–कषाय से वसन उतारने के साथ वासना को, कामना को उतार चुके हैं, वे ही मोक्षमार्गी निर्ग्रंथ हैं।

मेरे मित्र! कैंचुली के उतारने से कालिया निर्विष नहीं हो जाता। ऐसे ही कपड़े उतार देने मात्र से कोई दिगम्बर मुनि नहीं हो जाता, क्योंकि नंगों की संख्या तो बहुत है। जैसे कालिया नाग की विष की थैली निकल जाए, तभी निर्विष होता है। ऐसे–ही वस्त्रों को उतारने के साथ–साथ जिसके अंतरंग की कषायें, वासनाएँ निकल चुकी हैं, निकल रही हैं, स्याद् ठीक है। इसलिए क्रमशः कुछ निकल चुकी हैं, कुछ निकाल रहे हैं, ऐसा कहो। सयोपशम दशा में मिश्रधारा है।

नींबू की बूँद गिरने पर दूध के फटने में विलम्ब हो सकता है, मधुर में अम्ल जाने पर उसमें विकार आने में विलंब हो सकता है, लेकिन कषाय आते ही संयम का दुग्ध छार–छार हो जाता है, परम सत्य है। अपन टाल नहीं सकते। इसलिए श्रमणों को प्रतिक्षण गुणस्थान की धारा का वेदन करते हुए अपने आपको खींचते रहना चाहिए कि ये दोष अब मैं पुनः नहीं करूँगा।

११वें गुणस्थान में पहुँचा जीव, अंतर्मुहूर्त में भावों का धक्का मार दिया तो प्रथम गुणस्थान में बैठा है। यहाँ तक उतर सकता है। ये भावों की दशा है। पुरुषार्थ करते–करते चतुर्थ गुणस्थान के परिणाम बनाना कितना दुर्लभ है, फिर जिस जीव ने ११वें स्थान को प्राप्त कर लिया हो। ऐसा होता है। कभी–कभी शुभ निमित्त भी तुम्हारे अशुभ के कारण बन जाते हैं। मित्र! शुभ निमित्त भी अशुभ हो सकते हैं। शुभ निमित्त अशुभ नहीं, पर तुम्हारे लिए अशुभ हैं।

शुद्ध नय से देखो, एवं भूतनय से देखो। भले ही आप कहो कि नहीं डाँटेंगे तो कैसे बन सकता था। कषायभाव से पूछो, वो ये नहीं पूछ रही है कि मंदिर में क्या कर रहे हो। अंतरंग में उद्वेग के बिना तुम्हारे मुख से आवाज तेज आई कैसे?

आचार्य परमेष्ठी को शिष्यों को समझाते हुए जो भाव आता है, उसका भी उनको प्रायश्चित्त लेना होता है, ऐसा आगम का कथन है।

यदि प्रतिमाधारी जीव प्रतिमा के प्रतिकूल चलता है तो ये जीव क्या बोलेगा? तुमको ऐसा नहीं करना चाहिए, पाप पड़ेगा। इस जीव ने कोई प्रतिमा धारण नहीं की है, तो क्या पाप के बंध, आस्रव का अभाव हो गया?

हे अव्रतियो! इस विषय में संतुष्ट नहीं हो जाना कि मैंने प्रतिज्ञा नहीं ली, कुछ भी कर लो,

उसका पाप नहीं लगेगा। उसको तीव्र पाप लगेगा। ऐसे–ही जिस गुणस्थान की जो व्यवस्था है, उस गुणस्थान की व्यवस्था होने से आस्रव की व्यवस्था बंद नहीं हो जाएगी। तज्जन्य आस्रव तो होगा। इसलिए पुरुषार्थ हमारा यही होना चाहिए। भले ही हम इस गुणस्थान में गुस्सा कर सकते हैं, तब भी गुस्सा करना ही नहीं चाहिए। आत्महित के लिए पूछ रहा हूँ। भइया! आत्महित के लिए क्या दृष्टि रहेगी? आत्महित के लिए क्या करना चाहिए? क्षणमात्र का क्लेश बंध का कारण है कि नहीं? मैं तो यह कह रहा हूँ, संक्लेश परिणाम बंध का ही कारण है, नियम है। क्लेश नहीं, संक्लेश। हे मुनिराज! आशीर्वाद को हाथ भी उठाएगा तो आशीर्वाद तुम्हारे बंध का कारण है। है, कि नहीं है? भइया आपने नमोस्तु किया। मुनिराज ने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। इसमें बंध होगा कि नहीं?

समयसार जी की भाषा में बोलो। मित्र! आपके स्वीकार करने को नहीं बोल रहा हूँ। आप स्वीकार करो या न करो, लेकिन आगम स्वीकार करेगा कि नहीं? आपने मुझे नमस्कार किया और मैंने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया है, मुझे बंध होगा कि नहीं?

अरे ज्ञानी! ध्यान की अवस्था में नहीं, बिल्कुल निर्विकल्प में हूँ। आपने नमोस्तु किया, मैंने आशीर्वाद दिया, तो मुझे बंध होगा कि नहीं? शुभ, अशुभ कोई तो होगा? यदि पवित्र अभिप्राय यह है कि जीव का कल्याण हो, धर्ममार्ग पर लगे, तो मुझे बंध होगा कि नहीं? वो व्यवस्था, जीवन की व्यवस्था है तो जीवन की व्यवस्था में बंध होगा कि नहीं? तो ज्ञानी! अबंधन तो १४वें गुणस्थान में होगा, १३वें में भी नहीं होता है।

आप कह पाओ या न कह पाओ, आप तो ये बोलो कि हाथ उठाया है, काय का परिस्पंदन हुआ है, धर्मानुराग हुआ है, तो राग से बँध होगा कि नहीं? भाई! ये बताओ, उस समय आशीर्वाद दे रहे थे, तो बंध की धारा रुक जाएगी क्या? तब भी चलेगी। आशीर्वाद देने के परिणाम से हाथ उठाया है, तो तद्जन्य आस्रव–बंध होगा कि नहीं? आप स्वीकार मत कीजिए, लेकिन आगम क्या स्वीकारेगा, इतनी बात बताओ। **समिति पूर्वक वृत्ति चल रही है, वहाँ जीव मर भी जाय, बंध नहीं है और जहाँ प्रमाद सहित वृत्ति चल रही है, वहाँ चाहे जीव मरे या न मरे, तब भी हिंसा का दोष उसको लगना ही है।** लेकिन यहाँ बुद्धिपूर्वक, प्रीतिपूर्वक आशीर्वाद दे रहा हूँ, वहाँ बँध होगा कि नहीं? ये प्रमाद से रहित है, कैसे मान लिया आपने? प्रमाद रहित अवस्था तो सप्तम गुणस्थान में है। मैं शुद्धोपयोग की बात करा रहा हूँ। आप ये बताओ, शुभोपयोग में आशीर्वाद में बंध होगा कि नहीं? आप स्वीकार मत करो, लेकिन आपने जो शास्त्र पढ़े हैं, उन शास्त्र में क्या

व्यवस्था है?

भइया! मन से, वचन से, काय से बंध होता है कि नहीं? हाँ। इसे आप मानते हो। मैं प्रवचन कर रहा हूँ, इस समय मैं बंध कर रहा कि नहीं कर रहा हूँ? मेरी आत्मा में कर्म आ रहे हैं कि नहीं आ रहे इस समय? हाँ आ रहे हैं। मैंने आपको आशीर्वाद दिया तब आए थे कि नहीं? तब भी आए। जब आशीर्वाद देने के परिणाम मेरे मन में आए, तद्जन्य आस्रव हुआ कि नहीं? हाँ। जो व्यवस्था है, उस व्यवस्था में आस्रव हुआ कि नहीं? भइया! यदि आपने ऐसा कहना प्रारंभ कर दिया, तो जितने जीव बैठे हुए हैं, वह अभी कहने वाले हैं कि महाराजजी! जब आपके आशीर्वाद देने की व्यवस्था से बंध नहीं हो सकता है, तो मेरे भी घर की व्यवस्था है, मेरे भी परिवार की व्यवस्था है, तो मुझे भी बंध नहीं होना चाहिए। ये कषाय है, मुझे क्यों परेशान कर रहे हो, मेरी व्यवस्था है। मैं जीव का बध कर रहा हूँ, मुझे बंध नहीं होना चाहिए। आपका पाप परिणाम नहीं है, पुण्य परिणाम है। अरे भाई! माना कि मैं तो मन में सोच ही रहा हूँ, धर्मात्मा जीव है, इसे आशीर्वाद दे दूँ।

बहुत सारे विषयों पर जैसे पण्डितजी साहब, प्रोफेसर साहब ने कहा कि ये परिग्रह पाप है। इसमें आप उनकी गलती नहीं मानोगे क्यों? वे अभी कारण को ही कार्य रूप में मानते रहे। जब समझ में आया, जैसे जल ही जीवन है, अन्न ही प्राण है। जल जीवन नहीं होता, अन्न प्राण नहीं होते। प्राण को धारण करने में समर्थ हैं, इसलिए जल को ही जीवन कह दिया जाता है, अन्न प्राण कह दिया जाता है। ऐसे–ही, ये पेन है, ये राग का कारण होने के कारण इसको परिग्रह कह दिया जाता है, पर वास्तव में वस्तु परिग्रह नहीं है, वस्तु पाप नहीं है। आप जड़ नहीं, चेतन हो, इसलिए आप ज्ञानी ही हो।

यदि शंका का समाधान जीव को करना है और उसको स्वीकारना है तो उसको कोई विकल्प नहीं और यदि नहीं स्वीकारना है तो उसको तीर्थंकर भी समझाने आ जाएँ तो भी नहीं समझा पाएँगे। जिसको समझना है, उसको ज्ञानी और भव्य कहने में कोई विकल्प नहीं आता है। वो संबोधन है। जीव उपयोगमयी है, उपयोग चेतना है, चेतना ज्ञान–दर्शन उपयोगमयी है। जिसे हम ज्ञानी कह रहे हैं, ज्ञेय है। आपसे कह रहे हैं शास्त्र का ज्ञानी और सप्तम गुणस्थान में ज्ञानी और तीर्थंकर केवली ज्ञानी! अपेक्षा कृत। ठीक है? अपनी शैली है।

कुन्दकुन्द स्वामी गाथा ४१२ में कह रहे हैं कि **'मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।'** हे जीव! उसी का ध्यान करो। किसका? आत्मा का। सब विकल्प से दूर **'तत्थेव विहर',**

वहीं विहार करो। कहाँ? **'मा विहरसु अण्णदव्वेसु'** अन्य द्रव्यों में विचरण मत करो। जब–जब अन्य द्रव्यों में विचरण करोगे, तब–तब संक्लेशता आएगी, तब–तब क्लेश होगा।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी टीका में कह रहे हैं **'आ संसारात्परद्रव्ये...'** हे जीव! अनादिकाल से संसार में परद्रव्य में राग–द्वेष बुद्धि है, उसमें तिष्ठता हुआ प्रवर्त रहा है, यह तेरी स्वप्रज्ञा का ही दोष है। दूसरे ने आपको कभी नहीं रुलाया। ये निमित्ताधीन व्याख्या नहीं है, ये उपादानाधीन व्याख्या है। जो ज्ञान की परिणति है, वही प्रज्ञा है।

मित्र! प्रारंभिक अवस्था में भी विकारों के लिए निमित्त की आवश्यकता नहीं है, एक बालक ने जन्म लिया, परंतु जन्म से उसे जगत् के कोई द्रव्य दिखाए नहीं गए। फिर भी अपनी अवस्था के कारण उसमें तद्जन्य धर्म आ ही जाते हैं। वे धर्म पुरुष में पुरुषजन्य, स्त्री में स्त्रीजन्य होंगे। विकारों की कोई शिक्षा नहीं दी जाती, तब भी तद्जन्य कषाय करता है। इसलिए जो दोष है, ये पूर्वभव का जो संस्कार है, वो स्वप्रज्ञा में ही है। गाय का बछड़ा जन्म लेते ही खड़ा होता है और माँ के आँचल को ढूँढ़ता है। इसको किसने सिखाया? खाने के उसके अनादिकाल से पूर्व के संस्कार पड़े हुए थे। वो संस्कार भी परकृत नहीं हैं, स्वकृत ही हैं, संज्ञाकृत ही हैं।

जो अनादिकाल से संसार में राग–द्वेष है, अपनी प्रज्ञा से ही है। **हे जीव! जिस प्रज्ञा से तुमने दोष किए हैं, उसी प्रज्ञा से उन्हें छोड़ो।** यहाँ नहीं कह रहे हैं कि गुरु को बुलाओ, प्रभु को बुलाओ। ये उपादान दृष्टि है, ध्रुव सत्य है।

जिस प्रज्ञा से तूने पापबंध किया है, जिस प्रज्ञा से अशुभ परिणाम किए हैं, उसी प्रज्ञा से तू जान पाएगा। तुझे सँभालने में बहिरंग सहकारी हो सकते हैं, पर अंतरंग सहकारी कोई नहीं हो सकता। दर्शन– ज्ञान–चारित्र में अपने आपको नित्य ही व्यवस्थापित करो। समस्त अन्य चिंताओं का निरोध करके अत्यंत एकाग्रचित्त होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र का ध्यान करो। समस्त कर्म और कर्मफल रूप चेतना का त्याग करके शुद्ध ज्ञानचेतनामय होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र का प्रयोग करो। द्रव्य के स्वभाव के कारण प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, इन परिणामों में तन्मय होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र में ही विहार करो। सब ओर फैले हुए परद्रव्यों में विहार मत करो।

चिद्पिंड, चैतन्य, ज्ञानमयी यह ध्रुव–आत्मद्रव्य निज में परिणमनशील है। अनादिकाल से संसार में जो भी भ्रमण हुआ है, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव रूप पंच परावर्तन किया है इस जीव ने, यह परकृत कोई भी दोष नहीं है।

आचार्यभगवन् अमृतचंद्र स्वामी गाथा ४१२वीं की टीका में कह रहे हैं कि हे भव्य! आत्मा

अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के दोष से परद्रव्य में राग–द्वेषादि में निरंतर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही उसमें से पीछे हटकर उसे अति निश्चलतापूर्वक दर्शन–ज्ञान–चारित्र में निरंतर स्थापित कर तथा समस्त अन्य चिंता के निरोध द्वारा अत्यंत एकाग्र होकर, दर्शन–ज्ञान–चारित्र का ही ध्यान कर तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा, शुद्धज्ञानचेतनामय होकर, दर्शन– ज्ञान– चारित्र को ही चेत/ अनुभव कर तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से अपने को प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनके द्वारा यानी परिणामीपने के द्वारा तन्मय परिणाम वाला, रत्नत्रय परिणाम वाला होकर, रत्नत्रय में ही विहार कर तथा ज्ञानरूप अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप है, ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए समस्त परद्रव्यों में किंचित् मात्र भी विहार मत करो।

हे मुमुक्षु! जीव जो राग–द्वेष नित्य ही करता है, उस राग–द्वेष में परद्रव्य का दोष नहीं है। द्वैतभूत जीव की भूल चल रही है। एक दृष्टि में स्वयं ही राग–द्वेष किया और दूसरी दृष्टि में उस राग–द्वेष का दोष पर को दिया।

हे मुमुक्षु! क्या पर का अभाव करके आप निर्ग्रंथ तपोधन बनोगे? छः द्रव्यों का अभाव करके तुम मुनि हो नहीं सकते हो, क्योंकि छः द्रव्यों की सत्ता तो रहेगी। जो अभाव है, वह सद्भाव का परिचायक है और जो सद्भाव है, वो अभाव का परिचायक है।

आप में देव पर्याय का अभाव है, इसका तात्पर्य है कि कोई भिन्न पर्याय का सद्भाव है, मनुष्य पर्याय का सद्भाव है। **आप अभाव को नहीं स्वीकारोगे, तो सद्भाव घटित नहीं होगा और सद्भाव को नहीं स्वीकारोगे तो अभाव भी घटित नहीं होगा।** वस्तु एक ही समय में सद्भाव– अभावभूत है। मैं स्वचतुष्टय में सद्भूत हूँ, मैं पर–चतुष्टय से असद्भूत हूँ।

सांख्य 'माया' शब्द का प्रयोग कर रहा है कि जगत् मायामय है, ये जगत् माया है। यहाँ जगत् माया से तात्पर्य जगत् मिथ्या है। जगत् मिथ्या से तात्पर्य अभावभूत ग्रहण नहीं करना।

जैनदर्शन इसी बात को माया और मिथ्या कहता है, यानी निज–स्वरूप नहीं है, इसलिए माया एवं मिथ्या है। यहाँ वस्तु का अभावरूप माया नहीं मानना। न ही अभावभूत माया है।

हे मुमुक्षु! समझो। आप मित्र से कहते हो कि अब तो तू चला जाएगा। मुझे कैसे मिलेगा? अब तू कभी नहीं मिल पाएगा। ये ज्ञान नहीं बोल रहा है, ये अविद्या बोल रही है। ज्ञानी! तीनलोक के बाहर कोई द्रव्य जाता ही नहीं है। मित्र इस अवस्था में, इस देह में नहीं मिलेगा, तो क्या कभी नहीं मिलेगा? अब आप मुझे कभी नहीं मिलोगे, अब पता नहीं तुम्हारा तो नाश हो रहा है, तुम्हारी

मृत्यु हो रही है। ऐसा सुनकर मित्र कहता है कि मृत्यु हो रही है, मैं पर्यायान्तर, देशांतर हो रहा हूँ, परंतु मैं अभाव को प्राप्त नहीं हो रहा हूँ।

मेरा अभाव ही मेरे सद्भाव का उत्पादक है। सम्प्रति, इस पर्याय में मेरा अभाव हो रहा है, तो दूसरी पर्याय में अवस्था का प्रादुर्भाव होगा। यदि अभाव का अभाव कर दोगे, तो सद्भाव का अभाव हो जाएगा। अभाव का अभाव नहीं है, अभाव का सद्भाव है। यह दार्शनिक पक्ष है। मैं अपनी वर्तमान की मनुष्यपर्याय का अभाव का सद्भाव नहीं बनूँगा। यदि मैं अपनी वर्तमान की मनुष्यपर्याय का अभाव का अभाव मानता हूँ, तो भविष्य की पर्याय के सद्भाव का अभाव हो जाएगा।

भो ज्ञानियो! सरलतापूर्वक समझो। मिट्टी में घट है कि नहीं? मिट्टी घट है क्या? मिट्टी में घट विद्यमान है कि अविद्यमान है?

हे मुमुक्षु! यदि ये समझ में आ गया, तो अन्य और विषय भी समझ में आ जाएँगे। सत्कार्यवाद बहुत बड़ा मिथ्यात्व है। सांख्यों का यह मूल सिद्धांत हैं– सत्कार्यवाद। जो कुछ इस जगत् में है, वह सदा है, नित्य है। उसका कभी नाश नहीं होता। अनित्य कुछ नहीं है। यही सत्कार्यवाद का सिद्धांत है।

'प्रमेयकमलमार्तंड' ग्रंथ में 'सत्कार्यवाद' का खण्डन किया है। 'सत्य–शासन परीक्षा' ग्रंथ में आचार्य विद्यानंद महोदय जब व्याख्या करते हैं, तो पहले पूर्वपक्ष को ज्यों–का–त्यों रखते हैं। यदि पूर्वपक्ष ही आपने सही समझ लिया तो उत्तर पक्ष से पीड़ित हो जाएगा। इसलिए पूर्व पक्ष को बहुत गहरे से समझने की आवश्यकता है। पूर्वपक्ष से ये है कि मिट्टी में घट किसी ने निर्मित नहीं किया, मिट्टी में घट पूर्व से था, वह तो आपने निकाल लिया है, आविर्भूत हुआ है। ये इस समय कौन बोल रहा है? इस समय मैं सांख्य बनकर बोल रहा हूँ।

मिट्टी में घट विद्यमान है। मिट्टी में घट किसी ने निर्मित किया नहीं है। मिट्टी में घट अभी प्रकट हुआ है, आविर्भूत है। आविर्भाव यानि पूर्व से कार्य सत्ता में था। अब मैं जैन पक्ष से बोलता हूँ। यदि पूर्व से घट था, जो प्राग्भाव का अभाव होगा और प्राग्भाव का अभाव होता है, तो कार्य अनादि, स्यात्।

कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां ब्रजेत्।।१०।।

(आ.मी.)

हे मुमुक्षु! प्राग्भाव के लोप करने पर कार्यरूपद्रव्य अनादि हो जाएगा और प्रध्वंस धर्म के अभाव मानने पर अनन्तपने को प्राप्त होगा।

हे ज्ञानी! कार्य अनादि स्यात् और कार्य अनादि स्यात्, तो कारण का अभाव है, कारण का अभाव है तो कार्य–कारण व्यवस्था का अभाव है। फिर कहेंगे कि हे सांख्य! मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि पुण्य करने की आवश्यकता क्या है? क्योंकि इस आत्मा में तो नरक जाने की सत्कार्य पहले से विद्यमान है। जिस जीव को नरक जाना है, तो उसकी पर्याय तो पहले से ही निश्चित है। यदि पूर्व से ही निश्चित है, तो हमारे जैन मिथ्यादृष्टियों से पूछना कि– जो 'क्रमबद्ध पर्याय' को मान रहे हैं वे 'सत्कार्य' मार्ग में जा रहे हैं क्या? हे मुमुक्षु! जब पूर्व से ही निश्चित है, तो आपको पुण्य–पाप रूप पुरुषार्थ–कार्य करने की आवश्यकता क्या है?

मुमुक्षु! ये दर्शनशास्त्र का गूढ़ रहस्य है। यहाँ की शब्दावली प्रौढ़ रहती है। दर्शनशास्त्र की शब्दावली सामान्य नहीं रहती है। आपने तो अभी कहा है कि मिट्टी में घट है। हे ज्ञानी! मिट्टी में घट शक्तिभूत है, सत्ताभूत नहीं है। मैं अभी जैन बनकर बोल रहा हूँ। इस समय मिट्टी में घट है, परंतु शक्तिभूत है, सत्ताभूत नहीं है। **सत्ता और शक्ति में अंतर है।** शक्ति ऐसे है कि घट भी बन सकता है, खिलौना भी बन सकता है। प्रयोक्ता जैसा प्रयोग करना चाहे वह आकार दे सकता है।

भाई! ईंट में पुलिया है, मंदिर है, कि भवन है, मंदिर का शिखर है, कि आपका घर है? उत्तर दो। **एक ईंट आपके सामने रखी है, ये क्या है? हे मुमुक्षु! यदि आप इसमें मकान, शिखर, पुलिया सबको विद्यमान मानते हो, तो आज से क्रमबद्ध शब्द को उठाकर अलग रख देना, क्योंकि दिगम्बर जैन आचार्यों ने अपने मूलग्रंथों में कहीं भी क्रमबद्ध शब्द का प्रयोग नहीं किया है।**

ईंट शक्तिभूत है, सत्ताभूत नहीं है। ईंट में न पुलिया, न मंदिर, न शिखर, न मकान। प्रयोक्ता जैसा प्रयोग करेगा, मंदिर में प्रयोग करेगा तो मंदिर बनेगा, मकान में प्रयोग करेगा तो मकान बनेगा और पुलिया बनाना चाहेगा तो पुलिया बन जाएगी। वैसे–ही **हे मुमुक्षु! ये आत्मा जो है, ये आत्मा नियत नहीं है। कर्त्ता जैसा कषाय भाव करेगा, वैसा बंध करेगा। तीव्र कषाय करेगा, तो नरक की ओर जाएगा, अधोगमन करेगा। मंद कषाय करेगा, तो मनुष्य बन जाएगा और भी मंद कषाय करेगा, तो स्वर्ग का देव बन जाएगा और यदि कषाय रहित हो जाएगा तो परमात्मा बन जाएगा।** आपकी आत्मा त्रैकालिक परमात्मा है, शक्ति रूप, परंतु पुरुषार्थ करना

पड़ेगा।

ज्ञानी! आप साधना करके कर्म का आवरण हटा रहे हो, ये सत्कार्यवाद में नहीं जाएगा। सत्कार्यवाद मानने वाला तो पहले से ही परमात्मा बना बैठा है। यहाँ तुम शक्ति को उद्घाटित कर रहे हो। मुमुक्षु! आपकी आत्मा नरक भी जा सकती है और आपकी आत्मा स्वर्ग भी जा सकती है। पुरुषार्थसाध्य है।

कुम्भकार मिट्टी के लौंदे का जैसा प्रयोग करेगा, वैसा घट का आकार प्रकट करेगा। प्रकट होगा नहीं, प्रकट करेगा। आप कर्त्तापन किस पर थोप रहे हो? मैं यह कह रहा हूँ कि प्रकट करेगा, होगा नहीं। मैं किसी परमात्मा के हाथ में अपनी सत्ता नहीं सौंप रहा हूँ। मैं अपनी सत्ता स्वयं के हाथ में लिए हूँ। जिसको वकील बनना है, वह वकालत की पढ़ाई करेगा। जिसको इंजीनियर बनने की इच्छा है, उसने इंजीनियर की पढ़ाई की है। जिसको अध्यापक बनना था, उसने अध्यापक की पढ़ाई की। जिसको व्यवसाय करना था, उसने व्यवसाय की पढ़ाई की है। हे ज्ञानी! ये पुरुषार्थ आपका जो दिखाई दे रहा था वह आपने किया कि किसी ने आपसे करवाया था?

एक समय के लिए भक्ति की भाषा को एक पोटली में बाँधकर किनारे रख दो। भैया! कभी–कभी भक्ति में इतना तीव्र अतिरेक होता है कि आप सत्य के पास पहुँच ही नहीं पाते हो। जो भक्ति के अतिरेक में सत्य के पास पहुँच नहीं पाता है वो कहता है कि जो कुछ है वो यही है। उसके आगे वह सोचना ही नहीं चाहता, पहुँचना ही नहीं चाहता है। जो दार्शनिक पक्ष है, वह भक्ति को गौण करता है और तर्क को प्रधान करता है। तर्क से जब निर्णय कर लेगा, सिद्ध कर लेगा, फिर भक्ति को बुलाएगा।

'युक्त्यनुशासन' आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित न्याय विद्या का अलौकिक ग्रंथ है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तीर्थंकर महावीर स्वामी को नमस्कार नहीं किया, तो वर्द्धमान स्वामी प्रश्न करते हैं कि हे समन्तभद्र! सारा लोक मुझे नमस्कार करता है, फिर आप मेरी वंदना क्यों नहीं करते हो? 'लोक–जैसा में नहीं हूँ।' **परीक्षा का अभाव करके श्रद्धा को प्रकट करोगे तो परीक्षा होने पर श्रद्धा तुम्हारी हट जाएगी और परीक्षा करके श्रद्धान करोगे, तो फिर श्रद्धा हटने वाली नहीं है।**

देवागमनभोयानचामरादि – विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान।।आ.मी.।।

हे वर्द्धमान! आप कहो कि आपके पास स्वर्ग के देव आते हैं, चंवर ढुराए जाते हैं, समवसरण आदि वैभव हैं, तब भी मैं आपके इस वैभव को नमस्कार नहीं करता हूँ। क्यों नहीं करते हो नमस्कार? क्योंकि ये तो इंद्रजालिया, मायावादी, मंत्रवादी भी दिखा सकता है। जादूगर भी अपने जादू से लड्डू–पेड़े बना लेता है, धन बरसा देता है। वह रुपया दिखा तो सकता है, पर वह दे नहीं सकता, नहीं तो वह क्यों कटोरा लेकर माँगता है।

जगत् में कितने सारे भूत–पलीत वाले कहते हैं कि ये श्रीफल ले जाओ, दुकान में रख लेना, धन वृद्धि होगी, सभी काम बन जाएँगे; परंतु इससे पहले आपको सवा लाख दक्षिणा में देना होगा। भोला जीव होगा, तो सवा लाख देकर आ जाएगा और कोई वकील होगा तो कहेगा कि भैया! जब आप में इतनी सामर्थ्य है, तो मुझसे क्यों माँग रहे हो? आप मुझसे सवा लाख की माँग क्यों कर रहे हो? आप कलश रखवा कर करोड़पति बनाने की सामर्थ्य रखते हो, यदि आपको मंदिर बनवाना है, धार्मिक कार्य करवाना है, तो आप ही अपने भवन में कलश रख लो, तो फिर आपको किसी से माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

कैसे–कैसे अज्ञानी जीव हैं कि स्वयं शासन से माँग कर रहे हैं कि मुझे मेरी रक्षा के लिए अंगरक्षक चाहिए, सैनिक चाहिए और जगत् के लोगों को रक्षासूत्र बाँध रहा है। कह रहा है कि मैं आपको रक्षासूत्र बाँधे देता हूँ, तुमको कोई कष्ट होगा नहीं। जब तू जगत् की रक्षा की सामर्थ्य रखता है, तो तुझे अंगरक्षकों की क्या आवश्यकता है? जब आपको अंगरक्षक की आवश्यकता दिखाई देती है, तो हे स्वामी! आपका रक्षासूत्र मेरे लिए क्या करेगा?

विहार करते समय मैंने देखा कि एक स्थान पर भीड़ खड़ी थी। मैंने पूछा कि यहाँ भीड़ क्यों है? बोले, यहाँ मंदिर में एक व्यक्ति रहता है, जो लोगों के दु:ख–दर्द को दूर करता है। उसको कोई देवी सिद्ध है। मैंने पूछा कि जो भक्त है, वो वृद्ध है कि युवा है? बोले, 'न वृद्ध है न युवा। अपितु प्रौढ़ है। परंतु उसको आँखों से दिखता नहीं है।' ओहो! जगत् में क्या पागलपन छाया है? सबके कष्ट दूर कर रहा है और स्वयं अपना कष्ट दूर नहीं कर पा रहा है। बेचारा जन्म से अंधा बनकर बैठा है। स्वयं की आँखें खोल नहीं पा रहा है और फिर तेरी किस बात की सिद्धि, किस बात की देवी? तेरे परमात्मा जगत् के दु:ख दूर करें और स्वयं–स्वयं का दु:ख दूर न कर पाएँ, तो वह परमात्मा कैसा?

यही कारण है कि समंतभद्र स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार नहीं किया। महावीर स्वामी कहते हैं, 'मैं दोषों से रहित हूँ, अठारह दोष मुझमें नहीं हैं, अब तो नमस्कार कर लो।'

बोले, ये क्या है? पसीना आदि नहीं आता, ये तो विक्रिया शरीर वाले देवों को भी नहीं आता है। नेत्रों की टिमकार तो देव में भी नहीं होती है। कवलाहार तो देव भी नहीं करते हैं, इसलिए भी आप महान् नहीं हो।

बचपन में भी जब कोई नाटक करता था, तो मैं सबसे आगे होकर देखता था। जादूगर माया जालिया जब नोट बनाता था, श्रीफल– मिठाई दिखाता था, तो मैं घुसकर देखता था। लोग कहते थे बेटा कुछ हो जाएगा। होगा क्या? चिंता नहीं, मुझे देखना है। जगत् में जितने देव हैं, मुझे किसी से डर नहीं लगता है, क्योंकि जिसने निर्णय कर लिया है कि मृत्यु से अधिक कुछ होता नहीं है, वह तो नियत है।

जादूगर के चारों ओर लोग भीड़ लगाए हुए थे, तालियाँ बजा रहे थे। चमत्कार दिखाने के बाद अंत में वो ही कटोरा लेकर माँगता है कि इसमें कुछ डाल दो। जब वह माँग रहा था, तो मैंने एक बुजुर्ग से पूछा कि अभी यह नोटों को दिखा रहा था और अब माँग रहा है? बुजुर्ग बोले कि बेटा जो यह दिखा रहा था वह किसी के काम में नहीं आएँगे, परंतु जो इसके कटोरे में सिक्के हैं, वह काम में आएँगे। बेटा! यह तो जादूगर का खेल है। मैं समझ गया कि सारा जगत् ही जादूगर का खेल है। तुम किस भ्रम में जी रहे हो।

महावीर स्वामी पुन: कहते हैं कि मैं तीर्थंकर हूँ, अब तो नमस्कार कर लो। आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्त मीमांसा' ग्रंथ में विश्व के सम्पूर्ण दर्शनों की मीमांसा की है। आप तीर्थकृत कहते हो अपने आपको, तब भी मैं आपको नमस्कार नहीं करूँगा, क्योंकि प्रत्येक युग में, गली–मोहल्ले में व्यक्ति अपने आपको देवकृत, तीर्थकृत घोषित करता है। जगत् में अनेक लोग स्वयं को ही भगवान् घोषित करते हैं। अपने को महान् कहता है। कहता है कि मैं देवकृत हूँ, मेरा शासन है। हर जगह शासन चलता है, सरकार चलती है, तो फिर मैं कैसे मानूँ कि आप ही सही भगवान् हो? मैं किस–किस को नमस्कार करूँगा?

जगत् में जिसको हजार–पाँच सौ भक्त मिल गए, वही अपने को भगवान् सिद्ध करने में लगा है। आप जैनियों से ही मैं पूछ लेता हूँ कि आप लोगों के यहाँ कितने पंथ–आम्नाय, खण्ड हो गए हैं, जो अपने आपको सत्य घोषित करते हैं। सत्य तो एक ही हो सकता है। आप लोगों के यहाँ कोई कहता है कि कपड़े उतारने से मोक्ष होता है, श्वेताम्बर कहते हैं कि कपड़े पहने–पहने ही मोक्ष होता है। अब बताओ मैं किसकी बात मानूँ? मैं तो तटस्थ होकर बोल रहा हूँ। मैं अंधविश्वास करने वाला नहीं हूँ।

तीर्थकृत्समयानां च परस्पर– विरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः।।३।।

(आ.मी.)

हे ज्ञानी! सभी के अंदर आप्तपना नहीं है। सभी सच्चे परमात्मा नहीं हैं। यह मैं अवश्य मानता हूँ कि कोई–न–कोई एक गुरु अवश्य है। जो मैं निर्णय करूँगा, परीक्षा करके। फिर स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि–

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते।।६।।

(आ.मी.)

हे भगवन्! युक्ति और शास्त्र से आपके वचन विरोध रहित हैं, अतः आप ही वीतराग सर्वज्ञ हो। आपके इष्ट तत्त्व मोक्षादि में किसी प्रमाण से बाधा नहीं आने के कारण यह निश्चित है कि आपके वचन युक्ति और आगम से अविरोधी हैं।

जो वकालत है, वह व्यक्ति कैसे सीखता है? वकील वकालत की पुस्तकें पढ़कर प्रकरण का निर्णय करता है, कि अपनी प्रज्ञा से निर्णय करता है? यदि मात्र वकालत की पुस्तकों से कोई बड़ा वकील बनता होता, तो जितने वकील हैं सभी बड़े होते। तर्कशक्ति कैसे लगाना चाहिए? इसके लिए ग्रंथ हैं। परंतु तर्कणाशक्ति स्वयं के अंदर होगी, तभी ग्रंथ काम में आएगा। यदि तर्कणाशक्ति स्वयं में नहीं है, तो पोथियों से काम नहीं बनता। अपनी निजी तर्कणा–शक्ति होना चाहिए, ग्रंथ आलम्बन मात्र है। ग्रंथों में तो सिद्धांत लिखे हैं, पर तात्कालिकता क्या है? इसका निर्णय ग्रंथ देंगे, कि अपनी बुद्धि देगी? ग्रंथों से आपको बोध होता है, पर तात्कालिक स्थिति (वर्तमान की स्थिति) स्वप्रज्ञा से चलेगी।

ऐसे–ही आपको मैंने युक्ति से, आगम से और अनुभव करके देख लिया है, तो मैंने पाया कि– आप निर्दोष हो, इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ। समन्तभद्र स्वामी ने वर्द्धमान स्वामी को कब नमस्कार किया? जब पहले परीक्षा कर ली।

हे मुमुक्षु! जो 'सत्कार्यवाद' को श्रद्धा से मानता है, तो वह पुरुषार्थ का अभाव कर रहा है। जो अभाव का अभाव कर रहा है, वो सद्भाव का भी अभाव कर देगा। जैसे मिट्टी के पिंड में शक्तिरूप में घट है, परंतु वर्तमान में मिट्टी में घट का अभाव है। इस अभाव का अभाव कर दोगे, तो घट का सद्भाव कभी नहीं होगा। वर्तमान में अभाव है, भविष्य में प्रादुर्भाव है। पहले आप

प्रादुर्भाव का अभाव कीजिए, पहले ही प्रादुर्भाव का अभाव है, फिर भविष्य में प्रादुर्भाव प्रकट हम करेंगे। हमारा प्रादुर्भाव से तात्पर्य है कि उत्पन्न करेंगे, प्रकट करेंगे। कुम्भकार उत्पन्न करेगा घट को। जैसे कुम्भकार अपने पुरुषार्थ से, मिट्टी के द्वारा जो मिट्टी में, वर्तमान में, असत् पर्याय है जो अभावभूत है, उसको सद्भाव रूप में प्रकट कराता है। ऐसे–ही जीव अपने पुरुषार्थ से वर्तमान में जो देवादि पर्याय का अभाव है उसको प्रकट कराता है। वैसे–ही कुम्भकार चक्का, हस्तादि के आलंबन से बुद्धि के प्रयोग से कलश, घटादि बना लेता है। ऐसे–ही ज्ञानीजीव अपने पुरुषार्थ, प्रज्ञा–तपस्या से देवपर्याय को प्रकट कर लेता है। वह भी अपने निज पुरुषार्थ से, यहाँ कोई दूसरा प्रकट करने नहीं आता है। जो पाषाण है, उसमें आप निहारिये आँखों से, कोई परमात्मा की मूर्ति विराजमान नहीं है, परंतु शक्तिरूप में परमात्मा की मूर्ति विराजमान है। जब शिल्पकार अपनी छैनी–हथौड़ी, प्रज्ञा का प्रयोग करता है, तो मूर्ति को निकाल लेता है।

मित्र! ये पत्थर में मूर्ति प्रकट हुई है, निकाली गई है। ये शिल्पकार की प्रज्ञा का प्रयोग है, कि पत्थर स्वयं मूर्ति बन गया है? पत्थर मूर्ति बन गया, कि पत्थर से मूर्ति बनाई गई है? जहाँ आप सोच रहे हो, वहाँ मैं बहुत दिन पहले सोच चुका हूँ। पत्थर मूर्ति बन गया क्या? नहीं। पत्थर से मूर्ति बनाई गई है। यदि पत्थर से मूर्ति नहीं बनाई गई होती, तो शिल्पकार का पुरुषार्थ क्या होता? यहाँ हम उपादान दृष्टि से कथन करेंगे। हमारे यहाँ मूर्ति बनाई नहीं जाती, मूर्ति निकाली जाती है।

ज्ञानी! बनी हुई मूर्ति पूजना नहीं, निकाली गई मूर्ति को पूजना। मिट्टी से थोपी प्रतिमा, बालू, सीमेंट से निर्मित, प्लास्टिक, काँच से बनी प्रतिमा/मूर्ति हम पूजते नहीं हैं। शिल्पकार ने अपनी प्रज्ञा से, छैनी–हथौड़ी से व्यर्थ के पाषाणखण्ड को अलग कर लिया है, तो पाषाण में प्रतिमा का आकार प्रकट हो गया।

ज्ञानियो! जैसे पत्थर से व्यर्थ का पाषाण निकाल देने पर प्रतिमा प्रकट हो सकती है, ऐसे–ही तेरी आत्मा में जो व्यर्थ के कर्मपिंड लगे हुए हैं, इनको भेदविज्ञान की छैनी से हम पृथक् कर लेते हैं तो हम अपने भगवान् को प्रकट कर लेते हैं।

काँच–प्लास्टिकादि से जो प्रतिमा ढाली गई है, ऐसी थोपी हुई प्रतिमा पूज्य नहीं है। जब भी कोई अतिशय प्रकट होगा, तो मात्र पाषाण प्रतिमा में ही होगा, क्योंकि धातु की प्रतिमा अचेतन हो चुकी है और पाषाण की प्रतिमा अभी भी चेतन हो सकती है। विश्व में जब भी कोई प्रतिमा में चमत्कार होगा, वह पाषाण प्रतिमा में ही होगा। उसमें जो जीव विराजता है, अभी उसका

यश:कीर्ति नामकर्म का उदय चल रहा है। बीजाक्षरों, मंत्रों की शक्ति पाषाण में है। उससे विशिष्ट ऊर्जा निकलती है।

जिनप्रतिमा के सिर पर आप जल की धारा छोड़ते हो, मंत्रोच्चारण के साथ, तो वही गंधोदक बन जाता है। उसे आप श्रद्धा से मस्तक पर लगाते हो। आपकी आस्था बदल चुकी है। पानी अभिमंत्रित होकरके गंधोदक बना है। ज्ञानी! पुद्गल भी पुद्गल को प्रभावित करता है।

जो विद्युत है, वो पौद्गलिक है। वायर (तार) धातुमय है, वह भी पौद्गलिक है, जड़ है। हजारों किलोमीटर दूर भी विद्युत को वायर के माध्यम से भेज दिया जाता है, परंतु यदि आप आँखों से देखोगे तो दिखाई नहीं देगा।हाथ लगाओगे तो अनुभूत होगा, परंतु आप उसे बता नहीं पाओगे, पर फिर भी है। जैसे वायर के माध्यम से आप इतनी शक्ति (करंट) को स्थानांतरित कर रहे हो। कैमरा, मोबाइल क्या है? चेतन है कि जड़ है? जड़ है। जो कुछ मैं बोल रहा हूँ, आप लोग तो भूल जाओगे, परंतु जड़ की शक्ति को देखो, वह ज्यों–का–त्यों, हजार वर्ष के बाद भी, शब्दों को सुरक्षित रखेगा, आप सुन सकते हो।

हे मुमुक्षु! जिस व्यक्ति को मंत्रशक्ति, जिनप्रतिमा पर विश्वास नहीं है, मैं उनसे कह रहा हूँ। जब ये सीडी, मोबाइल शब्दों को ग्रहण कर रहे हैं, ऐसे–ही जब प्रतिमा (पाषाण) में आचार्य/मुनि सूरिमंत्र का प्रयोग करते हैं, तो वह मंत्र उस पाषाणखण्ड में संग्रहित हो जाते हैं। उस मंत्रित प्रतिमा का ही जल से अभिषेक होता है। बारिस में करंट के संयोग से भूमि में भी करंट आने लगता है। जब विद्युत ने प्रवाह किया, तो पानी गिरने पर करंट लगता है। ऐसे–ही जो प्रतिमा में मंत्र दिए गए हैं, उस पर पानी पड़ते ही उसकी तरंगें उस पानी में समाविष्ट हो गई हैं, इसलिए गंधोदक का प्रयोग श्रद्धा से किया जाता है। मंत्रित प्रतिमा का गंधोदक शरीर को भी प्रभावित करता है।

भैया! रोगों को ठीक करने में विद्युत उपचार भी होता है। हल्का करंट देकर भी रोगी को स्वस्थ किया जा सकता है। ऐसे–ही किसी का सिर दर्द कर रहा हो, तो गंधोदक लगा दो, पर श्रद्धापूर्वक, तो तुरंत आराम मिलता है, वह जल भी करंट का कार्य कर रहा है, पर होना चाहिए सुचालक, आस्था।

सर्वाधिक शक्तिमान कोई धातु है, तो ताम्र धातु है। जितने बिजली के विशेष कार्य होते हैं, वे ताँबा पर होते हैं। ताम्रमय, पीतलमय यह सुचालक हैं। इसलिए धातु में भी मंत्रों का प्रभाव पड़ता है, परंतु जीवित जो भी प्रतिभा होगी, वह पाषाण की ही हो सकती है। मंत्रशास्त्रों का भी ज्ञान होना चाहिए। आप इस रसायन शक्ति को वैज्ञानिक से भी पूछ सकते हो। यहाँ यह राग भी

छोड़ देना कि यह जैन तत्त्व है, अपितु ऐसा कहो कि वस्तुस्वभाव ऐसा है। बहुत सारी बातें, तत्त्व–व्याख्यायें सम्प्रदायों में सिमट गई हैं, इसलिए एक–दूसरे का लाभ नहीं ले पा रहे हैं। जो सत्य है, वह संप्रदायों में सिमट गया है। संप्रदायों में बँटने से सभी एक दूसरे को शत्रु के रूप में देखने लग गए और हम सत्य को भूल गए।

भैया! घर में विवाद भी हो जाए, तो परस्पर में बोलना नहीं छोड़ना। यदि बोलते रहोगे, तो सुलह होने की संभावना है और यदि बोलना ही छोड़ दिया तो दूरियाँ बढ़ती ही जाएँगी।

हे मुमुक्षु! अभाव का अभाव कर दोगे, तो सद्भाव का भी अभाव हो जाएगा। ये गूढ़–विद्या के साथ विषय की प्ररूपणा है, लेकिन गूढ़–विद्या को समझने के लिए चिंतन करना पड़ेगा। आप ग्रंथ को न्यायशास्त्र की प्रधानता से पढ़ोगे तो भिन्न अनुभूति होगी और धर्मग्रंथ मानकर पढ़ोगे तो भिन्न अनुभूति होगी।

ज्ञानी सुव्रतसागर! अभाव का अभाव कर दोगे तो सद्भाव का अभाव हो जाएगा। वर्तमान में आपकी मनुष्यपर्याय है, इसमें देवपर्याय का अभाव है। इस देवपर्याय का अभाव का अभाव कर दोगे, तो भविष्य की देवपर्याय के सद्भाव का अभाव हो जाएगा। बेटा! अपनी प्रज्ञा को प्रशस्त करना हो तो अकलंक स्वामी, समंतभद्र स्वामी, कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए।

हे जीव! स्थापित करना है स्वयं को, तो निजात्मा को ही रत्नत्रय में स्थापित करो। वो रत्नत्रय धर्म कहीं तीर्थों में भ्रमण करके मत खोजो। **निज के भीतर ही जो तत्त्व के प्रति प्रतीति है, वही सम्यग्दर्शन है। निज ज्ञायकभाव का जो बोध है, वही सम्यक् ज्ञान है और निज में निज का रमण है, वही सम्यक् चारित्र है।** ऐसा परमब्रह्म आत्मस्थ है, परद्रव्यों में नहीं है। उसी में विहार करो। जब योगी उसमें विहार करते हैं, तो जगत् के सम्पूर्ण विकल्प वहाँ विराम ले लेते हैं।

उपवन, वन, नदि के तट, पर्वतों की चोटियाँ, ये सारे प्रदेशों की अवस्थाएँ उनके आत्मप्रदेश को विचलित नहीं होने देती हैं। योगी को बियाबान जंगल भी सुंदर महल लगता है। **जहाँ भय के मद का विनाश हो चुका है, जहाँ द्वेष का विनाश हो चुका है, वहाँ जगत् का कोई भी पर निमित्त नैमित्तिक को प्रभावित करने में समर्थ नहीं होता है।** जहाँ मद, द्वेष, राग का अभाव है, वहाँ वही निमित्त उस आत्मा को किंचित् भी प्रभावित करने में समर्थ नहीं हैं। सभी निमित्त उस आत्मा के लिए अशुभ में ले जाने के लिए अकिंचित्कर हैं।

बाँझ स्त्री के लिए कितने भी पुरुष पौरुषवान क्यों न हो, परंतु संतान–उत्पत्ति के लिए

अकिंचित्कर हैं। बंध्या स्त्री के लिए कितना भी वीर्यवान् पुरुष हो, शक्तिवान् पुरुष हो और वह उसके माध्यम से संतान उत्पत्ति कराना चाहता है, तो उस पुरुष का उस बाँझ स्त्री के लिए संतान–उत्पत्ति में अकिंचित्करपना है। इसी प्रकार से, जिसने मोह को जीत लिया है, उसके लिए जगत् के सारे उपसर्ग/कष्ट अकिंचित्कर हैं।

ज्ञानियो! एक दिन ऐसा जीवन जीकर तो देखो। सारे लोक से अत्यंत भिन्न। कोई आपको गाली भी दे दे, तब भी शांत। किसी ने प्रशंसा कर दी, तब भी शांत। किसी ने भोजन करा दिया, तब भी शांत। किसी ने कुछ भी नहीं पूछा, तब भी शांत। इष्ट का वियोग या अनिष्ट का संयोग हो गया, तब भी शांत। क्या ये संभव है? हाँ, हो सकता है, परंतु जब तुम यह निर्णय कर लोगे कि मैं किसी में हूँ नहीं, मेरे मैं कोई है नहीं। जब मेरे में कोई नहीं है, मैं किसी में नहीं हूँ और मैं किसी का हूँ नहीं, कोई मेरा है नहीं, ऐसा ध्रुव निर्णय जिसका हो चुका है, उसका मान–अपमान कहीं होता नहीं है।

हे जीव! तूने कितनों में व्यर्थ के संबंध स्थापित किए हैं। यात्रा करते समय वाहन में बैठे–बैठे ही कोई अपरिचित व्यक्ति मिल गया तो उसी से मित्रता कर ली। अब आपने उसे अपना अनुकूल शत्रु बना लिया है। पत्राचार प्रारंभ हो गया, तो एक पत्र का खर्च बढ़ गया, पत्र लिखने का समय नष्ट होने लगा और प्रीति इतनी बढ़ गई कि अब आमंत्रण–निमंत्रण भी प्रारंभ हो गया। ओ हो! ये अनुकूल शत्रुता प्रारंभ हो चुकी थी। राग वृद्धिमान हो गया, बंध स्थान और बना लिया। हे जीव! कहीं किसी बात को लेकर विसंवाद छिड़ गया, तो तुमने प्रतिकूल शत्रु बना लिया। अब आपको डर/भय सताना प्रारंभ हो चुका है, जबकि पहले डर/भय नाम की वस्तु तुम्हारे पास थी नहीं इसलिए भगवती जिनवाणी कह रही है कि मेरे लाल! मेरे मित्र! **मेरे वत्स! पर से परिचय मत बढ़ाओ, नहीं तो परिचय बढ़ाने से आनंद भंग हो जाएगा।** जो अंतरंग का आनंद था, उसका अंत हो जाएगा।

वचन जैसे–ही प्रारंभ होता है, तो चित्त भ्रमित हो जाता है। अधिक बोलोगे तो झूठ का आश्रय लेना पड़ेगा। या तो स्व की अथवा पर की प्रशंसा करोगे। स्व–पर की प्रशंसा में समय व्यतीत करना असत्य का जीवन है। **प्रशंसा में जीवन व्यतीत नहीं करना चाहिए, प्रशंसनीय होने का जीवन व्यतीत करना चाहिए। प्रशंसा में जाओगे तो कुछ नहीं प्राप्त कर पाओगे। पर तेरी प्रशंसा कर सके, ऐसे तुम प्रशंसनीय हो जाओगे, तो तुमको प्रशंसा सुनने का भाव ही नहीं आएगा।**

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो, मनसश्चित्त–विभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं, जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।।७२।।

(स.तं.)

लोगों के संसर्ग से वचन की प्रवृत्ति होती है, इसलिए चित्त चलायमान होता है। चित्त की चंचलता से चित्त में नाना प्रकार के विकल्प उठने लगते हैं, मन क्षुभित हो जाता है, इसलिए योग में संलग्न होने वाले अंतरात्मा साधु को चाहिए है कि वह लौकिकजनों के संसर्ग का परित्याग करें।

हे मुमुक्षु! न मैंने आपको कष्ट दिया, न आपने मुझे कष्ट दिया है, फिर भी एक दूसरे के कारण क्लेश को प्राप्त हो रहा है। पर के मुख से प्रशंसा सुनने के परिणाम चल रहे हैं। व्यक्ति पर से प्रशंसा सुनने के लोभ में तनाव से ग्रसित हो जाता है और कभी–कभी पर की प्रशंसा नहीं कर सके तब भी तनाव से ग्रसित हो जाता है। ये संभव है क्या? ये कैसे संभव है कि पर की प्रशंसा न कर सकें तो तनाव से ग्रसित हो जाएँ? समझो। वस्तुतत्त्व को समझो, अपनी निज की कषाय को पकड़ो।

भैया! यहाँ पर आपके गुरुमहाराज विराजे हों। उनका कोई उत्सव मनाया जा रहा हो, तो आपका भी मन होगा कि मैं भी दो शब्द बोलूँ, परंतु समय–अभाव के कारण कुछ लोगों को बोलने मिला, परंतु मात्र आपको बोलने नहीं मिला। अब निज के परिणामों को निहारो, अपनी कषाय को पकड़ो। आप क्या कहोगे? कि सबको तो बोलने मिला, मुझे गुरु के बारे में दो शब्द भी बोलने को नहीं मिले। आप क्या कहना चाहते थे? भक्ति प्रदर्शित करना चाहते थे। यदि भक्ति है तुम्हारे अंदर, तो कहने की क्या आवश्यकता? और भक्ति नहीं है, तो कहने की क्या आवश्यकता है?

यथार्थ में भक्त है, तो वो उसी में मुस्कुराएगा कि कोई बात नहीं, हमारे गुरु के बारे में दूसरे ने बोला, यही अच्छा हुआ। ओहो! हे जीव! पर की प्रशंसा करने में भी यदि खेद को प्राप्त हो रहा है, तो वह पर की प्रशंसा नहीं करना चाहता था, पर की प्रशंसा में निहित थी स्वयं की प्रशंसा। लोग कहेंगे कि आ हा! कितना अच्छा बोला गुरु के प्रति। ज्ञानी! जिसे लोक 'धर्म' कहता है, उसे जिनागम 'कषाय' कह रहा है। यदि आप किसी की प्रशंसा के पीछे अपने परिणाम खराब कर रहे हो, तो इसमें निहित है स्व की प्रशंसा। उसे आप पकड़ नहीं पाओ, वो विषय आपके क्षयोपशम की कमी है। कषाय तो कषाय ही है। दसवें गुणस्थान तक लोभ कषाय चलती है।

हे ऋषिराज! हे योगीश्वर! मोक्ष की इच्छा भी कषाय ही है।जब मोक्ष की इच्छा कषाय हो

सकती है, तो फिर जगत् के विषय–भोगों की इच्छा अकषाय कैसे? मोक्ष की इच्छा भी कषाय है।

यस्य मोक्षेऽपि नाकाङ्क्षा, स मोक्षमधि गच्छति।
इत्युक्तत्वाद्धितान्वेषी काङ्क्षा न क्वापि योजयेत्।।२१।।

(स्व.सं.)

मेरे मित्र! इच्छा करने से ब्रह्मांड में कुछ भी नहीं मिलता है, फिर तुम क्यों भिखारी बन रहे हो? इच्छा करने से मिलता होता, तो विश्व में कोई भी भीख माँगते नहीं मिलता। इच्छा करने से मिलता होता, तो आज कोई संसार में जीवित ही नहीं होता, कोई जीवित ही नहीं बचता।

हे मुमुक्षु! ऐसा कौनसा महापुरुष है जिसके संबंध में कोई–न–कोई अशुभ सोचने न बैठा हो? माँ जिसे जन्म देती है, वही जब कोई काम बिगाड़ दे तो माँ कहती है कि तू मर जाता। हे माँ! कोई यदि ऐसे मर जाता होता, तो तेरे घर में बेटा ही न होता। **'कऊओं के चिल्लाने से ढोर नहीं मरते हैं।'**

हे मित्र! यदि इच्छा से सभी काम बनते होते, तो कोई किसी की नौकरी नहीं करता। कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता कि मैं गलियाँ साफ करूँ, सड़क पर झाड़ू लगाऊँ। प्रत्येक व्यक्ति अपने घर में सुखमय जीवन जीना चाहता है। तुम्हारे चाहने से क्या होता है? जो जैसा करेगा, वो वैसा प्राप्त करेगा। जितने सेठ–साहूकार सुखमय जी रहे हैं, यदि गरीबों की इच्छा पूर्ति हो जाए, तो तुम्हारा सुख नष्ट हो जाए। कितने लोग तुम्हारी दुकानों पर काम करते हैं। कितने लोग तुम्हारे घरों में काम करते हैं।

हे ज्ञानी! व्यवहार की भाषा छोड़ दीजिए, परमार्थ– दृष्टि से देखिये। जगत् में कोई किसी का काम नहीं करता है। यदि आप कहो कि मेरी पत्नी मेरे घर का पूरा काम करती है, तो विश्वास रखना, वो भी तेरा काम नहीं करती है। आप कहो कि मैं करोड़ों कमा करके अपनी पत्नी को सौंपता हूँ, तो वो भी तू नहीं देता। समझो वस्तुव्यवस्था को। समझो समयसार। अपनी काम–इच्छा की पूर्ति के कारण, इच्छा पूर्ति कर रहे हो। कोई किसी के काम नहीं कर रहा है, सभी अपने–अपने राग का ही काम कर रहे हैं।

भैया! कहा अवश्य जाता है कि मैं समाज का सेवक हूँ। परंतु आप समाज के सेवक नहीं हो, देश के सेवक नहीं हो, अपने राग के ही सेवक हो। वित्त में चित्त है, सेवा का लक्ष्य नहीं है। बिना सेवा के वित्त मिलेगा कैसे? इसलिए सेवा तो करनी पड़ती है। ये सेवा की सेवा नहीं है, ये

तो अर्थ की सेवा है।

ज्ञानियो! राजा की सेवा कौन करेगा? जिसको राजा का द्रव्य चाहिए वही राजा की सेवा करता है। जिसको राजा से कुछ चाहिए, वही तो राजा की सेवा करेगा। जिसके राग–द्वेष की निवृत्ति हो चुकी है, वह पुरुष राजा की सेवा क्यों करेगा? राग–द्वेष ही सेवा कराता है और राग–द्वेष ही कष्ट देता है। संसार में कोई किसी को कष्ट देता ही नहीं। कौन किसको कष्ट दे रहा है? जब कषाय मंद होती है तो सब समझ में आता है।

जगत् में कोई किसी का अधिकारी नहीं है। कोई किसी का सेवक नहीं है। ओ हो! राग–मोह की दशा विचित्र है कि बोझा ढोते–ढोते पूरा जीवन व्यतीत कर दिया है, पर यथार्थता का बोध नहीं कर सका। ज्ञानी! जितनी प्रीति से मंदिर में भगवान् के दर्शन करने जाते हो, वैसे–ही कभी–कभी श्मशान में भी चले जाया करो। राख के ढेरों को, अस्थियों के समूह को निहार लिया करो और कहीं किसी अस्थि में ठोकर लग जाए तो उसे भी अच्छे से देख लेना, क्योंकि सबके दिन एक–से नहीं होते हैं।

सम्राट की खोपड़ी भी श्मशान में पड़ी रहती है। जो सम्राट कभी सिंहासन पर बैठता था, वही श्मशान की भूमि पर राख बनकर पड़ा है। जो राग करते–करते मर गया, कितने भवन निर्मित किए? एक–एक इंच भूमि के पीछे भाई से झगड़ा किया था, आज श्मशान में पड़ा है, राख का मात्र ढेर बनकर। **ओ हो! कैसा पंचमकाल? बेटी माँ को कटघरे में खड़ा कर रही है। बेटे पिता को न्यायालय में खड़ा किए हैं। पिता पुत्र को, माँ बेटी को न्यायालय में ले जा रही है। यहाँ खोज करो, ऐसा क्यों हो रहा है?**

मेरे मित्र! जब एक–दूसरे की इच्छा की पूर्ति नहीं होती है, राग की पुष्टि नहीं होती है, तब वहीं द्वेष का जन्म होता है। **द्वेष ही एक–दूसरे को न्यायालय में खड़ा कर रहा है। आप जिनके साथ प्रीति पूर्वक रह रहे हो, उनके राग की पुष्टि कर रहे हो, इसलिए प्रीति दिख रही है। जिस दिन आप अपनों की राग की पुष्टि बंद कर दोगे, उसी दिन द्वेष खड़ा हो जाएगा।**

स्निग्धरूक्षत्वाद्–बन्धः।। ३३/त.सू.।।

ऐसे भी पुराने भवन आपको देखने मिल जाएँगे, जिनकी ईंटें ऊपर टँगी हुई हैं और नीचे दरार पड़ी है। आपको पता होना चाहिए कि स्निग्ध रूक्ष के संयोग से बंध होता है। बालू रूक्ष था, सीमेंट स्निग्ध था, उसमें बँध गया। जब सीमेंट की स्निग्धता नष्ट होने लगी, तो बालू झड़ना प्रारंभ हो चुकी है, जिससे ईंट टँगी है। ऐसे–ही जिस दिन तुम्हारे राग की पूर्ति में कमी हो जाएगी, उस

दिन सबके सब संबंध टँगे रह जाएँगे, कोई किसी से जुड़ा नहीं दिखेगा।

ओ हो! एक भैया दूसरे भैया को भी नहीं देख रहा है। वे दिन कहाँ गये जब माँ आँगन में बैठाकर दो भाइयों को एक ही कटोरे से खीर खिलाती थी। आज माँ वृद्ध हो गई, भाई बड़े हो गए तो आपने आँगन में दीवार खड़ी कर ली है।

यहाँ आचार्य भगवन् अमृतचंद स्वामी कह रहे हैं कि हे श्रमण! मोक्ष की इच्छा भी मोक्ष नहीं दिला पाएगी। भट्ट अकलंक स्वामी ने भी स्वरूप संबोधन ग्रंथ में लिखा है कि–

यस्य मोक्षेऽपि नाकाङक्षा, स मोक्ष मधि गच्छति।
इत्युक्तत्वाद्धि तान्वेषी, काङ्क्षा न क्वापि योजयेत्।।

हे साधुओ! इच्छा से द्रव्य मिलता है कि साधना से द्रव्य मिलता है। यश:कीर्ति से यश मिलता है कि यश की चाहना से यश मिलता है। ज्ञानी! लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से द्रव्य मिलता है कि आपकी इच्छा से द्रव्य मिलता है? ऐसे ही मोक्ष की साधना करेगा, तो मोक्ष मिलेगा, मोक्ष की आकांक्षा से मोक्ष नहीं मिलेगा। मोक्ष की इच्छा भी कषाय है। बिना कषाय के इच्छा का जन्म होता ही नहीं है। **इच्छा ही कषाय है और कषाय ही इच्छा उत्पन्न करती है।**

हे भव्य! यदि तू अपने हित का अन्वेषक है, हित का आकांक्षी है, तो फिर मोक्ष की इच्छा भी समाप्त कर दे। आप कहोगे कि महाराज ये कैसे? तो ज्ञानी ये वो धारा चल रही है जहाँ पर आत्मा को आत्मा में लीन कर लिया है। अब मुझे जगत् का कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। आनंद आ रहा है। भैया! एक क्षण को अपनी स्वतंत्रता का वेदन कर लो।

युवाओ! भगवान् का ध्यान आँख खोलकर, आँख बंद करके अनेक बार किया है। एक बार इस यथार्थ का वेदन करो कि मैं स्वतंत्र हूँ। मुनि मात्र इसलिए बना जाता है कि निज में रहो, क्योंकि घर में रहोगे तो संबंधों को निभाना पड़ेगा। विषय ऐसा है कि स्थिर पानी में आपका चेहरा भी दिख जाता है, स्वच्छ पानी में चेहरा देख सकते हो और किसी ने स्थिर पानी में एक कंकड़ छोड़ दिया तो चेहरा क्या दृश्यमान रहेगा? नहीं।

जैसे एक कंकड़ पड़ते ही चेहरा दिखना बंद हो जाता है। ऐसे ही जो चित्त की एकाग्रता से निजानंद से निज के आनंद की अनुभूति योगी ले रहा है उसमें कषाय का कंकड़ आ गया तो आनंद भंग हो जायेगा। हे जीव! घर–गृहस्थी में राग–द्वेष के कंकड़ हैं वो पानी को स्थिर नहीं रहने देते हैं। यदि प्रपंच से युक्त साधु है तो वो भी अपनी शुद्धात्मानुभूति का चेहरा देख नहीं पाएगा।

हे श्रमणो! तुम्हारा अहोभाग्य है कि निर्ग्रंथ, वीतरागी मुद्रा को प्राप्त किया है। तुम्हें आर्य–आर्या

जैसा जीवन जीना चाहिए। समीप में बैठा साधु क्या कर रहा है? यह भी मत देखो, मात्र निज को देखो, पर को छोड़ो। यदि मुनिपने की अवस्था आपने प्राप्त की है तो इसका वेदन करो। आर्या–आर्य का तात्पर्य है कि भोग–भूमि के जीव। भोग भूमि में जो जीव होते हैं वह समीप बैठे दूसरे दंपति से भी बात नहीं करते हैं। वे मात्र स्व दंपत्ति से ही परस्पर में वार्ता करते हैं, दूसरों से कोई प्रयोजन नहीं रखते हैं।

हे मुमुक्षु! जिसकी लेश्या स्थान अत्यंत–विशुद्ध होते हैं वे किसी के सुख–दुःख में स्वयं को सुखी–दुःखी नहीं करते हैं और जिनके लेश्या स्थान कलुषित हैं वे दुनिया के यहाँ–वहाँ के विकल्पों में पड़कर के अपनी आत्मा को दुःखी करते हैं।

ओ हो! समझो, यह वीतरागी मुद्रा है। यह वो दृष्टि है जहाँ तुम्हारी दया भी अदया हो जाती है। जो निज में लीन है उसे दयाभाव ने भी अटका दिया। **करुणा भी तभी आती है, जब तुम निज में स्थिर नहीं हो। आप अपनी पीड़ा मिटाने को पर–पर करुणा करते हो।** जब मैं पीड़ा को ही नहीं झेलना चाहता हूँ, तो अकरुणा की पीड़ा को क्यों प्राप्त करूँगा? पाँच पाण्डव ध्यान–मग्न थे, उन पर शत्रु ने उपसर्ग कर दिया। छोटे भाइयों को बड़े भाई पर करुणा आ गई, मात्र इतनी सी कि ये उपसर्ग कैसे सहन करेंगे? ओ हो! भावों कि परिणती करुणा भी अकरुणा हो गई निज पर, तैंतीस सागर की जेल हो गई। करुणा करने वाले सर्वार्थसिद्धि में गए और उपसर्ग सहन कर तीन पांडव मुनि मोक्ष गए।

हे साधक! निमित्तों को दोष देकर, क्यों अपने उपादान को दुखित कर रहे हो। पर निमित्तों से भिन्न होकर ही निजब्रह्म का सम्यक्–बोध होता है। ज्ञायक–भाव।

हे मुमुक्षु! साक्षी भाव का अर्थ, पापों में निमग्न जीवन जीना नहीं है। जगत् में साक्षी भाव और सहज भाव पर लोगों ने निज की विडम्बना कर ली है। ओ हो! स्त्री–पुरुष का संबंध चल रहा है, बोले साक्षी भाव, वो तो सहज है। हे पापी! अब्रह्म क्या होगा? नाच रहा है, हास्य कर रहा है और कह रहा है कि साक्षी भाव, सहज है। अब्रह्म पाप है।

ज्ञानी! एक तेरे घर की मटकी का पानी है, गिलास में पानी है उसमें फिटकरी डली है। बर्तन–बर्तन है, पानी– पानी है। एक डॉक्टर के पास पानी है जिससे वह घाव को साफ करता है। गिलास का भी पानी है और डॉक्टर के पास भी पानी है। जहाँ से गिलास प्रारंभ होता है, वहाँ पानी नहीं होता है। डॉक्टर के पास वाष्पित किया हुआ स्वच्छ पानी है। **मुनिराज का कमंडल है, इसमें पानी भरा है। जहाँ से कमंडल प्रारंभ होता है, वहाँ पानी नहीं है और जहाँ से पानी**

है वहाँ कमंडल नहीं है, परंतु फिर भी कमंडल में पानी है। ऐसे ही जहाँ देह है, वहाँ आत्मा नहीं है। जहाँ आत्मा है, वहाँ देह नहीं है। एक दूसरे का संबंध होने पर भी स्वभावभूत नहीं है।

धन्य हो उन श्रावकों को जो साधु को देख करके साधु स्वभाव में लीन होने का भाव कर रहे हैं। ओ हो! वो दिन कब आएँगे जब मैं मुनि बनकर वन में विचरण करूँगा। हे मुनिराजो! एक गृहस्थ घर में रहकर तड़फ रहा है कि मैं कब मुनि बनूँ? जैसे पानी के बिना मछली तड़फ रही है वैसे ही भव्य जीव चारित्र प्राप्ति के लिए तड़फता है कि कब संयम धारण करूँ! बिन पानी के मछली तड़फ रही है और तुम पानी में रहकर प्यासे हो। श्रावक सोच रहा है कि संत–साधु बनकर बिचरूँ और तुम साधु बनकर निम्न प्रवृत्ति कर रहे हो, तो तुमसे अधिक दुर्भाग्यशाली और कौन होगा? ज्ञानियो! साधु बनने का मन बना रहे हैं, तो साधु बनकर जी सको तब तो कपड़े उतारने का भाव बनाना, अन्यथा घर में रहना ही श्रेष्ठ है।

श्रावकों की भक्ति तो देखो। पाकिस्तान भारत का जब बँटवारा हुआ तो पाकिस्तान में जो जैन श्रावक थे उन्होंने भारत आने के पहले कहा कि पहले हमारे भगवान् जाएँगे फिर हम जाएँगे। श्रावकों ने उपवास कर लिया, फिर विमान में जिनप्रतिमा विराजित करके जयपुर पहुँचे। पाकिस्तान सरकार अभी तक वहाँ जिनमंदिरों को सुरक्षित रखे है। धन्य हो श्रावकों की श्रद्धा को। धन–संपत्ति छोड़कर आ गए, परंतु भगवान् नहीं छोड़े। अभी भी जयपुर में वे जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं, वहाँ के श्रावकों की भक्ति देखने लायक है। वे अभी भी मुल्तानी जैन कहलाते हैं।

एक श्रावक मुनि को देखकर कह रहा है कि 'अति पुण्य उदय मम आया, तब गुरुवर का दर्शन पाया' और तुम मुनि बनकर भी मुनि को नहीं देख पा रहे हो, यह तुम्हारा दुर्भाग्य है।

ज्ञानियो! मौन साधना करो। आगम वचन है कि आवश्यकता पड़े तो मुनियों को आचार्य से, सम्यग्दृष्टि से चर्चा करना चाहिए, शेषकाल में मुनियों को मुनियों से भी मौन रहना चाहिए। गृहस्थों से मुनियों को बोलने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जब मुनियों को मुनियों से बात करने का निषेध है, तो फिर रागियों से बात क्या करना? **रागियों से चर्चा करना असंयम के पास जाना है। संयम को निर्मल रखना चाहते हो तो विपरीत–लिङ्गियों से अपनी रक्षा करना। जिसकी नेता– अभिनेता पर दृष्टि जा रही है, वह साधुपुरुष नहीं, लौकिक पुरुष है।**

ओ हो! नेता, अभिनेता के इंतजार में मंच पर बैठे हैं, मंच पर ही सामायिक करने बैठ गए। हे साधक! आप श्रेष्ठ हो कि आपकी सामायिक श्रेष्ठ है कि नेता–अभिनेता श्रेष्ठ हैं? नेता चाहे कि

साधु के साथ फोटो खिंच जाए, तो फिर भी ठीक है, परंतु साधु ही नेता–अभिनेता के साथ फोटो खिंचाने की कामना करें तो फिर सोचो आप महान् हो कि नेता–अभिनेता महान् हैं? सत्य ये है कि चित्रों में चित्त को भ्रमित करके रखा है। लोग इसे ही प्रभावना का अंग मानने लगे हैं कि जगह–जगह मेरे चित्र लग जाएँ, तो लोग समझें कि कितना प्रभावशाली है?

हे मित्र! निज की तस्वीर जो निज में छाप लेगा, उससे बड़ा विश्व में कोई प्रभावशाली होता ही नहीं है। अनादिकाल से इस संसार में जीव स्व–प्रज्ञा से ही भव–भ्रमण कर रहा है। अब नहीं कहना कि दूसरे ने मुझे रागी–द्वेषी बनाया है। **मेरे मित्र! समयसार का राग भी असमयसार ही है। तत्त्व का राग भी अतत्त्व भाव ही है। तत्त्व में राग नहीं करना, तत्त्व में लीन हो जाना। किसी भी द्रव्य के प्रति ग्लानि–भाव नहीं करना।** जिस प्रज्ञा से तुमने राग–द्वेष किया है, उसे भिन्न करके दर्शन–ज्ञान–चारित्र को नित्य ही अपने आप में स्थापित करो। अति–निश्चल हो करके आत्मा को आत्मा में स्थिर कर दो तथा समस्त चिंताएँ, जो विभिन्न प्रकार की, नाना प्रकार की चिंताएँ हैं, उन चिंताओं से अपने आपको भिन्न करके, अत्यंत एकाग्र हो करके दर्शन, ज्ञान, चारित्र का ही ध्यान करो।

मेरा मंदिर, मेरी मूर्ति, मेरे भगवान्, मेरे गुरु भी परगत तत्त्व हैं। जिस अद्वैत का वेदन तू कर रहा था, तू द्वैत में चला गया। जो माया शब्द का प्रयोग है, वह असद्भूत नहीं है, लेकिन मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिए मुझे माया धर्म नहीं।

माया से तात्पर्य, जैन दर्शन क्या कह रहा है? माया से तात्पर्य जो निजभूत नहीं है, इसलिए माया; परंतु असत् नहीं है, इसलिए सत्ता है। उसको असत्ता नहीं कह देना। चाहे भवन हो, स्त्री हो, पुत्र हो, वस्तु आदि जो भी द्रव्य दिख रहा है उन सबकी सत्ता है। असत्ताभूत माया नहीं है। है तो सत्ता, पर निजभूत नहीं है। **परद्रव्य को तू अपना मान रहा है, ये तेरी अविद्या है। शरीर, देह में एकत्व बुद्धि जिसकी चल रही है यही अविद्या है।**

हे जीव! कितने द्रव्यों पर तेरी एकत्व बुद्धि चल रही है? आप लोग पकड़ नहीं पा रहे हो, जिसमें मोह के स्थान नहीं थे उसमें भी तुम्हारा मोह है, रति भाव है। हे ज्ञानी! तू कितने–से स्थान पर रहता है? परंतु रति भाव कितने द्रव्यों में चल रहा है? ओ हो! जन्मभूमि, मातृभूमि। आप कहोगे कि महाराज! स्वर्ग से भी श्रेष्ठ होती है जन्मभूमि, फिर कैसे भूल जाएँ? हे जीव! तीनलोक में कौनसा स्थान है, भूप्रदेश है, भूखण्ड है जहाँ तुमने जन्म–मरण नहीं किया है? किस–किसके लिए तू रोएगा? जब तक देश की, प्रदेश की, नगर, जनपद की रति है, तो अभी तुमने घर से,

नगर से शरीर दौड़ाकर लाए हो, परंतु वहाँ से मन को खींचकर नहीं ला पाए हो। ये राग भी समाधि को भंग कर देगा।

मुझ से भिन्न एक प्रदेश मात्र भी मेरे भीतर प्रवेश को प्राप्त नहीं है, तब भी कितने प्रदेशों में राग है? निज स्वभाव पर दृष्टि ही नहीं है।

चेलनी पड़गाहन कर रही है और साथ में तीन अंगुली दिखा रही है। हे स्वामी नमोऽस्तु! मुनिराज सोचते हैं कि पड़गाहन के काल में तीन अँगुली दिखाने का रहस्य क्या है? शुद्धि बोलती है कि त्रयगुप्तिधारक हे मुनीश्वर! आहार ग्रहण करें। तीनों मुनिराज आहार ग्रहण किए बिना ही वापस चले गए। राजा श्रेणिक (बिम्बसार) चेलनी से पूछते हैं कि हे प्रिया! ये क्या रहस्य है?

स्वामी! क्या जाता है अपना, उनसे ही चलकर पूछ लें। प्रथम मुनिराज जो आकर वापस हो गए थे, उनके पास सबसे पहले पहुँचे। कोई महाराज आएँ तो कितने भक्ति भाव होते हैं और चले जाएँ तो कैसा लगता है? ये तो किसी श्रावक से ही पूछना पड़ेगा। जैसे ही रुके, वो प्रदक्षिणा लगाने के भाव बना रहा था, पर वह आगे बढ़ जाएँ। महाराज! एक इंद्रिय, दो इंद्रिय आदि को देखकर चलते हो। हम इतने बड़े खड़े हैं सो आप देखते ही नहीं हो।

राजन् ने महाराज से पूछा 'स्वामी! आप क्यों वापस चले आए?' मुनिराज कहते हैं राजन्! महारानी चेलनी ने यह कहकर पड़गाहन किया कि हे मनोगुप्तिधारक महाराज! अत्र–अत्र तिष्ठ–तिष्ठ। मुनिराज धीमे स्वर में कहने लगे कि राजन्! मेरी मनोगुप्ति भंग हो गई है। वो कैसे? बोले मैं एक श्रावक के घर आहार लेने गया था, जो माँ भोजन दे रही थी बोली सुनो महाराज तुम्हारी दृष्टि मात्र अंजुली पर होनी चाहिए। ये मत देखना कि आज मुझे कौन आहार देने आए हैं। तुम्हारी दृष्टि न किसी स्त्री पर, न किसी पुरुष पर होनी चाहिए। जैसे गाय किसी को नहीं देखती है, मात्र चारे पर दृष्टि रखती है।

महाराज बोले कि जब वो श्राविका आहार दे रही थी, उस समय मेरी दृष्टि उसके पैर के अंगूठे पर चली गई, उस समय मुझे अपनी स्त्री की याद आ गई, क्योंकि जैसा श्राविका के अंगूठे में चिह्न था, वैसा ही मेरी पत्नी के अंगूठे में था। मेरा मन भंग हो गया, मेरी मनोगुप्ति नष्ट हो गई थी। अत: मैं वापस आ गया।

राजन् दूसरे मुनिराज के पास पहुँचे और पूछा 'स्वामी! आप क्यों वापस आ गए?' राजन्! मैं एक अटवी में ध्यान कर रहा था, जहाँ से चारों ओर से लोग आया करते थे। एक सम्राट दूसरे देश से युद्ध करने जा रहा था। मेरे नेत्र बंद थे, पर वो कहता है 'स्वामी! प्रणाम। आज परम शुभ

हो गया, दिगम्बर मुनि के दर्शन हो गए।' महाभारत में व्यासजी लिखते हैं–

अर्जुन नारायण श्रीकृष्ण से कहते हैं केशव! एक ओर आपकी पूरी सेना, भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य आदि हैं और दूसरी ओर हम पाँच और आप हैं। विजय कैसे संभव होगी? उस समय श्रीकृष्ण रथ के सारथी थे, वे कहते हैं 'देखो, सामने से दिगम्बर मुनि चले आ रहे हैं। हे अर्जुन! जिस स्थान में पद्मिनी स्त्री, राजहंस पक्षी आदि हों, दिगम्बर मुनि तुम्हारे सामने से गुजर रहे हों, तो तुम्हारी विजय सुनिश्चित है।

जब सम्राट ने मुझे देखा तो उसके मुख से निकल पड़ा, स्वामी! मैंने आपके दर्शन किए हैं, अब मेरी विजय सुनिश्चित है। मुनिराज कुछ नहीं बोले। वे तो ध्यान में थे। पर कानों ने सुन लिया। जीव को जब लगता है कि आशीष मिला है, शक्ति प्राप्त हुई है, तो जोश बढ़ता है। जोश से उत्साहशक्ति बढ़ती है, फिर निर्बल व्यक्ति भी विजय को प्राप्त हो जाता है। नियोग ऐसा बना कि वो सम्राट विजय को प्राप्त हो गया। शत्रु राजा को बंदी बना लिया और विजय शंखनाद फूँक दिया। विजय के उत्साह के अतिरेक में बोल पड़ा कि मैंने महाराज को नमस्कार किया तो मेरी विजय हो गई। पराजित राजा से सहन नहीं हुआ। वह अपने दल के साथ महाराज की वंदना को आया और कहता है स्वामी! मैं तो बंदी हो चुका हूँ, लेकिन धर्मग्रंथों में निर्ग्रंथों को युद्ध के लिए आशीर्वाद देना नहीं लिखा है।

हे मुनियो! सुनो, यदि तुम्हारा लक्ष्य ये है कि कौनसी पार्टी जीतेगी, कौनसी हारेगी, तो तुम दिगम्बर मुनि नहीं हो। यदि समाज के चुनाव हो रहे हों तो वहाँ से विहार कर जाना, क्योंकि तुम्हारे लिए सब श्रावक एक हैं। यदि तुम्हारे मन में ये भाव आ गया कि जो पक्ष मेरी भक्ति करता है, उसको जिता करके विहार करूँगा, तो तुम मुनि नहीं हो।

पराजित राजा के ऐसा कहने पर मुनिराज के मुख से निकल पड़ा कि भाई! मैंने ऐसा कोई आशीर्वाद नहीं दिया है। मात्र इतना कहने से उनकी वचनगुप्ति भंग हो गई। भैया! सफाई देना भी पाप है, क्योंकि तुम मुनि हो। 'जो है सो है' में जियो।

सम्राट ने तीसरे मुनिराज से पूछा 'आप आहार को आए और लौट क्यों गए? महाराज बोले 'राजन्! महारानी ने कहा था पड़गाहन के समय 'तीन गुप्ति धारी मुनिराज', परंतु मेरी कायगुप्ति तो भंग हो चुकी थी? कैसे? श्मशान घाट पर मैंने विचार किया कि आज शवासन से ध्यान करूँगा। मैं शवासन से ध्यान कर रहा था। उसी समय एक मंत्रवादी अघोरी मंत्र सिद्धि के लिए वहाँ से गुजर रहा था। उसने देखा कि आज तो अच्छा हुआ, पूरा–का–पूरा मुर्दा मिल गया। उसने

एक अधजला मुर्दा सामने से उठाया और उस मुर्दे को मेरे बगल में लिटा दिया। फिर शवासन में स्थित महाराज को मुर्दा समझकर दोनों के सिर को आपस में सटा दिया और मंत्र साधना के लिए खिचड़ी पकाना शुरू करने को दोनों सिर के बीच में अग्नि लगा दी। आग लगने के पश्चात् शक्ति भर सहन किया। जब शरीर नहीं सहन कर सका, तो सिर हिल गया, उसकी खिचड़ी गिर गई। कापालिक भयभीत होकर भाग गया। मेरी कायगुप्ति भंग हो गई।

हाथ और पैर हिलने मात्र से दिगम्बर मुनि प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण करते हैं। आचार्य विरागसागरजी १९९० में टीकमगढ़ में नियमसारजी की वाचना कर रहे थे तो शरीर में रोमांच होता था। धमनियों का धड़कना, कोशिकाओं का संचरित होना, रक्त कणिकाओं का चलना अर्थात् रक्त बहना, श्वास का चलना इसमें भी जीवहिंसा हो रही है। इससे कायगुप्ति में दोष लग रहा है। मुनिराज को छींक आ जाए, जुकाम हो जाए, खाँसी आ जाए तो प्रायश्चित्त लेते हैं, क्योंकि जहाँ पर श्लेष्मा गिरेगा वहाँ पर जीवों की हिंसा होगी और जो श्लेष्मा निकला, उसमें भी संमूर्च्छन जीव थे, उनकी भी हिंसा होगी। भोजन भी सावधानी से करें जिससे कि थैली गरम करके पेट को सेकना न पड़े, क्योंकि गरम थैली से पेट सेकने पर जो कृमि आदि जीव पेट के अंदर हैं, उनको कष्ट होगा, नष्ट भी हो सकते हैं।

सम्राट चौथे मुनिराज के पास गए, पूछा 'स्वामी! आप क्यों लौट आए? राजन्! महारानी चेलनी पड़गाहन करते समय कह रही थी कि हे त्रिगुप्तिधारक स्वामी! अत्र–अत्र तिष्ठ–तिष्ठ। मैं तीन गुप्ति धारक तो था, पर विचित्र पड़गाहन के कारण मैंने अवधिज्ञान लगाया, क्योंकि विशेषण लगाने का कोई कारण तो होना चाहिए। मैंने अपने अवधिज्ञान से जाना कि रसोई में हड्डियाँ गड़ी हुई हैं। राजा ने बदला लेने हेतु हड्डियाँ स्वयं गड़वाई थीं। चेलनी रानी ने बौद्ध गुरुओं का अपमान किया था तो उसका बदला लेने के लिए राजा श्रेणिक ने कहा कि तुम अपने गुरुओं को आहार के लिए बुलाओ। हम भी तो जानें तुम्हारे गुरु कितने ज्ञानी हैं? मुनिराज ने कहा कि राजन्! आपकी रसोईघर में हड्डियाँ गड़ी थीं, इसलिए लौट गए। चेलनी ने बौद्ध गुरुओं को भोजन हेतु बुलाकर, उनके ये कहने पर कि हम सर्वज्ञ हैं, उन गुरुओं की एक–एक जूतियों के बारीक टुकड़े कर खीर में मिलाकर खिला दिया था। भोजन के पश्चात् जूतियाँ नहीं मिलने पर चेलनी ने कहा कि अपने दिव्य ज्ञान से जान लो और नहीं जान पा रहे हो तो वमन करो। वमन किया तो जूतियों के टुकड़े वमन में दिखने लगे। बौद्ध गुरुओं का अपमान होने के कारण, उसका बदला लेने को राजा श्रेणिक ने हड्डी गड़वा दी थीं। यह सब जानकर राजा श्रेणिक कहता है 'हे मुनिराज! नमोस्तु। आपका

चारित्र, आपका श्रद्धान, आपका ज्ञान त्रिकाल वंदनीय है।

जैसे शत्रु से आत्मरक्षा के लिए व्यक्ति गुप्ति को हाथ में लिए रहता है, वैसे–ही मुनिराज मन, वचन, काय रूपी त्रिगुप्ति को आत्मा की रक्षा हेतु धारण किए रहते हैं। गुप्ति लकड़ी में छिपा हुआ कटार जैसा अस्त्र होता है। ये मत सोचना कि मुनिराज शस्त्र वाली गुप्ति लेकर आत्मरक्षार्थ चलते हैं। महाराज की त्रिगुप्ति मन, वचन, काय की चंचलता का निरोध है।

पुव्वं जो पंचेंदिय तणुमणवचिहत्थ–पाय मुंडाओ।
पच्छा सिर मुण्डाओ सिवगदि पहणायगो होदि।।७६।।

(रयणसार)

जो पहले पाँचों इंद्रियों, शरीर, मन, वचन, हाथ, पैरों को मूंडता है, वश में करता है, उसके पश्चात् केशलुंचन करता है, वह मोक्षमार्ग का पथिक/नेता होता है। जो ऐसा नहीं करता है, उसके लिए कहा गया है–

मूड़ मुड़ाये तीन गुण, मिटे सिर की खाज।
खाने को लड्डू मिले, लोग कहें महाराज।।

भैया! इसके लिए सिर मुंडन अर्थात् केशलुंचन नहीं करना। ये वस्तुस्वरूप कठिन नहीं है, बहुत सरल है, कुछ भी नहीं करना पड़ता है। जो कुछ नहीं करे, वही साधु है। कुछ भी करना, माँगना, ये साधुपना नहीं है।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि तुम्हें ध्यान भी करना है तो तीन का ही करो तथा **'सकल कर्म कर्मफल चेतना सन्यासेन'** संपूर्ण कर्म, कर्मफल चेतना से भिन्न, संन्यास लेकरके रहो। घर से संन्यास लेने वालों की दुनिया में भीड़ मिल जाएगी, लेकिन कषाय से संन्यास लो। भेष बनाके नेताओं के नेता बनने लग गए और कहने लगे हम संन्यासी हैं। संन्यास ही है तो सत् का न्यास करो, अब भवनों के न्यास छोड़ो। न्यास का अर्थ होता है ट्रस्ट। हो संन्यासी और बने बैठे हो ट्रस्टी। अरे! संन्यासी का मतलब समझो। सत् + न्यास। जो सत् कार्य में निज को स्थापित कर ले, उसका नाम है सन्यासी, न कि कोई ट्रस्ट बनाके जीना। मित्र! राग–द्वेष के जितने काम करना हो पहले कर लेना, लेकिन साधु बनके नहीं करना।

महाराज! इतने दुखिया लोग हैं। हॉस्पिटल बनाएँगे तो सबके दुःख दूर हो जाएँगे, इसलिए मैं ऐसा कर रहा हूँ। मेरे मित्र! शरीर के रोगों के उपचार के लिए अनेक साधन हैं। गृहस्थ विदेश तक चला जाता है, लेकिन आत्मशांति विदेश में नहीं मिलती, बाहर में नहीं मिलती। यदि तन के

रोग को दूर करने का ही उद्देश्य था तो तुमने साधु बनकर क्या पाया? चेतन के रोग को दूर करने के लिए साधु बना जाता है। 'जन्म जरा मृत्यु रोग विनाशनाय।'

'शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा' शुद्ध ज्ञान चेतना में हो करके **'दर्शनज्ञानचारित्राण्येव चेतयस्व'** हे जीव ज्ञान दर्शन चारित्र का ही अनुभव कर **'तथा द्रव्यस्वभाववशतः'** द्रव्य स्वभाव का आलम्बन लेकर, तन्मय होकरके **'प्रतिक्षण विजृम्भमाण परिणामतया तन्मयपरिणामो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव विहर'** हे जीव! तेरा द्रव्य स्वभाव के वश क्षण–क्षण में परिणमित होता है। उन परिणमन में तन्मय होकरके, दर्शनज्ञानचारित्र में विहार करके, अन्य कहीं विहार मत कर। तथा **'ज्ञानरूपमेकमेवाचलितमवलम्बमानो'** ज्ञान रूप एक में अचलित होकर के **'ज्ञेयरूपेणोपाधितया'** ज्ञेयरूप से यानि निज में रमण कर दौड़ो 'सर्वत एव प्रधावत्स्वपि' उसमें तुम दौड़ करो गमन करो, **'परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहार्षीः'** परद्रव्य में जो ज्ञेयरूप ज्ञान उपाधिरूप है, ऐसे ज्ञान से विस्तृत (फैले हुए) सद्परद्रव्य में किंचित् मात्र विहार मत करो। तो किसमें विहार करें? अपने आत्मद्रव्य में ही विहार कर, अन्य किसी में विहार मत कर।

ज्ञानी! ये विहार बंद करने की व्याख्या नहीं कर रहे हैं। जो तेरा चित्त इधर–उधर विहार कर रहा है, भटक रहा है, उसको रोक करके अपने चैतन्य भगवान्–आत्मा में लीन करो। इस प्रकार आचार्यभगवन् ने तत्त्व की प्ररूपणा करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि मात्र निज विहार ही श्रेष्ठ है, अन्य सारे विहार बंद करो।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यन्त भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

समय देशना

भव्य बंधुओ! आचार्य अमृतचंद्र स्वामी समयसारजी की आत्मख्याति टीका में भगवन् कुंदकुंद स्वामी के अंतस् के रहस्यों को उद्घाटित करते हुए कलश के माध्यम से समझा रहे हैं।

एको मोक्ष पथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्तात्मकस्–
तत्रैवस्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्य–स्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति।।

(२४० कलश)

दर्शनज्ञानचारित्र स्वरूप यही एक मोक्षमार्ग है। जो पुरुष उसी में तिष्ठता है, उसी को निरंतर ध्याता है, उसी का अनुभव करता है और अन्य द्रव्यों का स्पर्श नहीं करता, उसी में निरंतर प्रवर्त्तन करता है। वह पुरुष थोड़े ही काल में अवश्य समयसार रूप परमात्मा के रूप को अनुभव करता है अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग के सेवन से थोड़े ही काल में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ज्ञानी! परद्रव्य का स्पर्श मात्र भी इस शुद्धात्म तत्त्व ने नहीं किया। यदि स्पर्श भी तुझे करना पड़े तो तू निज में ही स्पर्शित हो। मैं किसी का स्पर्श नहीं, मैं किसी का भोक्तृत्व नहीं, मैं किसी का कर्त्तृत्वभूत नहीं। समयसारजी में मात्र अध्यात्म पक्ष ही नहीं है, दार्शनिक पक्ष भी साथ है। जहाँ अपनी सत्ता को पर के हाथ में सौंपा जा रहा था, तो कह दिया कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता है ही नहीं। **जैसे जड़ का चेतन में अत्यंताभाव है, ऐसा–ही निज चैतन्य का पर चैतन्य में अत्यन्ताभाव है। सादृश्य अस्तित्व की अपेक्षा से एकत्व है, पर स्वरूप अस्तित्व की दृष्टि से भिन्नत्व ही है।**

जहाँ हम लोक में ये शब्द सुन रहे हैं कि सारा विश्व ईश्वर का अंश है, भइया! वहाँ कह दिया अत्यंताभाव है। हम ईश्वर से ईश्वरयुक्त अवश्य हैं, हम निज के परिणाम शक्ति से युक्त अवश्य हैं, लेकिन किसी परमात्मा के अंश नहीं हैं। मैं पर से भिन्न ही हूँ, कोई पर मेरा अवयवी नहीं है। मैं किसी का अवयव, अंश नहीं हूँ। मैं स्वतंत्र हूँ। आप स्वरूप अस्तित्व की ओर दृष्टिपात करो। मैं भिन्न परमात्मा से अपनी आत्मा को भिन्न ही स्वीकार कर रहा हूँ। कहीं भक्ति के अतिरेक

में आकर ऐसा नहीं कह बैठना कि मेरे प्रभु, मेरे गुरु, इनके शरीर भिन्न हैं पर हम दोनों की आत्मा तो एक ही है। ऐसे शब्द लोग अतिरेक में बोल देते हैं कि हमारे शरीर भिन्न अवश्य दिखते हैं, पर हम दोनों की आत्मा एक ही है। आप दोनों की आत्मा एक है, इसे जैनदर्शन मानता है क्या? है। स्यात्। हम सबकी आत्मा एक–सी है, इसे हम मानते हैं। सादृश्य अस्तित्व की दृष्टि से सब जीव चैतन्यभूत हैं, ज्ञान–दर्शनभूत हैं, इसलिए एकत्वभूत हैं, लेकिन स्वरूप अस्तित्व की दृष्टि से भिन्न ही हूँ। मैं, मेरे गुरु की आत्मा, प्रभु की आत्मा एक नहीं है।

सभी जीवतत्त्व भिन्न– भिन्न ही हैं। जैसे शेष द्रव्य मेरे से भिन्न हैं। धर्म द्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है, स्यात्। अखण्डत्व की दृष्टि से काल द्रव्य, आकाश द्रव्य एक है, पर एक नहीं है। पुद्गल पुद्गलत्व की दृष्टि से एकत्व है, पर सभी पुद्गल एक नहीं हैं। ऐसे ही जीव जीवत्व की दृष्टि से सदृश्यभूत हैं, परंतु सभी जीव एकभूत नहीं हैं, एक ही नहीं हैं। नहीं तो एक का परिणमन दूसरे में होगा, दूसरे का परिणमन अन्य दूसरे में होगा। एक रोएगा तो अनंत रोएँगे, एक हँसेगा तो अनंत हँसेंगे, एक खाएगा तो अनंत खाएँगे, फिर संयम नाम की वस्तु नहीं बचेगी।

एक खाएगा तो अनंत खाएँगे। यदि कोई साधु बनकर बैठ गया तो स्वाद उसको भी आएगा। कोई रात्रि में खा रहा होगा तो रात्रि में उसको भी स्वाद आएगा, तो तुम्हारा संयम कैसे होगा? आप कहो कि मैं प्रभु का अंश हूँ, मैं प्रभु की सत्ता हूँ। जो ये छद्मस्थ लोग देखे जाते हैं। तुम्हारा प्रभु इंद्रियों से कार्य करता है कि अतीन्द्रिय से कार्य करता है? यदि अतीन्द्रिय से कार्य कर रहा है तो आपको भी अतीन्द्रिय होना चाहिए। इंद्रियों से कार्य कर रहा है तो प्रभु को भी इंद्रिय होना चाहिए। दोनों में एकत्व नहीं बन रहा है। एकत्व बनाने पर दोनों में से कोई एक ज्ञानी सत्ता से भिन्न होकर रहेगा।

जैनदर्शन की दृष्टि से स्व चतुष्टय स्वरूप है। जिसे वह स्वरूप कह रहे हैं, उसे हम सादृश्य कह रहे हैं। अद्वैत में दोनों दृष्टि में भूल कहाँ है? जो तुम अद्वैत देखना चाहते थे, द्वैत करके अद्वैत देखते तो तुम्हारा अद्वैत समझ में आता। तुमने अद्वैत को द्वैत से भिन्न करके देख लिया है, तो जीव अपनी स्वतंत्रता खो बैठा। अद्वैत को द्वैत करके देखते तो तुम्हारा अद्वैत मुझे स्वीकार है। तुमने अद्वैत को अद्वैत रूप में ही देखा है, इसलिए आपका अद्वैत सम्यक् नहीं है। बिना हेतु के अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती है। हेतु से अद्वैत है, कि अहेतु से अद्वैत है? यदि हेतु से अद्वैत है, तो हेतु (साधन) और साध्य ये दो हो गए। इसलिए जहाँ स्वरूप अस्तित्व, वहाँ सादृश्य अस्तित्व।

वेदांत से, किसमें भेद? किसमें भिन्नत्व? परमब्रह्मसत्ता एकत्वभूत है। भेद करके जाति को देखते हो, भेद करके लिंग को देखते हो। तुम भेद कर भेष को, संप्रदाय को देख रहे हो, सत्य को नहीं जान रहे हो। स्वरूप में सारा विश्व एकत्वभूत है, परमब्रह्म है। ब्रह्म ही विश्व है, विश्व ही ब्रह्म है।

यह जड़ और चेतन दोनों की अपेक्षा से कहा गया है कि ब्रह्म ही विश्व है, विश्व ही ब्रह्म है। 'चराचर' पदार्थ के एक ही ब्रह्म है। तुम भेद दृष्टि हटा लो। कौन पथ? कौन पथिक? सारे विश्व को एक स्वरूप देखो। वही वही है, कोई अन्य नहीं है, अन्य से नहीं है, अन्य में नहीं है। वह वही है। जड़ चेतन में कोई भेद नहीं है। प्रकृति पुरुष का संयोग ही विश्व है। पुरुष चैतन्यभूत है, प्रकृति जड़भूत है। परंतु ज्ञानदर्शन प्रकृति में है, पुरुष में ज्ञान–दर्शन नहीं है। ये शब्द वेदांत बोल रहा है। ये शब्द–सामानाधिकरण्य है, अर्थ सामानाधिकरण्य बिल्कुल नहीं है।

जैनदर्शन से– हे जीव! यदि वही वही है, तो एक बार शिवत्व को प्राप्त करने के बाद फिर संसारी कैसे? वही वही है तो एक हिंसक एक अहिंसक क्यों है? जिसको तुम पल–पल में छोड़ रहे हो, वही वही है, तो उसे तुम क्यों छोड़ रहे हो? एक को तुम प्रसाद मानके सेवन कर रहे हो और आप कह रहे हो कि सब ब्रह्म की ही लीला है। ब्रह्म खा रहा है, कि तेरा अब्रह्म खा रहा है? यदि जीवों के पिण्ड को ब्रह्म खा रहा है, तो ब्रह्म कैसे? यदि तू (अब्रह्म) खा रहा है, तो ब्रह्म को खा रहा है, तो अब्रह्म ब्रह्म को खा क्यों रहा है? वही वही है। यदि वही वही है, तो वे भिन्न नहीं हैं, वही माया है, उसी एक की माया है। यदि एक की माया है, तो अनेकरूपता क्यों दिखती है? कोई सुखी, कोई दु:खी क्यों? अपने आपको दु:खी करना ये तो किसी का भी धर्म नहीं है। अपने आपको क्लेश में डालना किसी का धर्म नहीं है। अपने आपको नरक भेजना, पशु बनाना, गरीब बनाना, स्वर्ग भेजना। यदि वही वही है, तो एक की वेदना में अनंतों को वेदना होनी चाहिए, जबकि प्रत्यक्ष में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

ज्ञानी! क्रियाओं के भेद को पलटने की शक्ति तो अनंतों के पास है, पर ज्ञानदृष्टि के भेद को पलटने की शक्ति बिरलों के पास है। क्रियाओं के मिथ्यात्व को छोड़ना बहुत कठिन नहीं है, पर ज्ञान के मिथ्यात्व को छोड़ पाना, छुड़वा पाना बहुत कठिन है। क्रियाओं में मिथ्यात्व से दूर हो जाना कठिन नहीं है। क्रियाओं में लोग भयभीत हो जाते हैं, परंतु ज्ञान से कोई डर नहीं पाता है। जटिल कोई बंधन है तो ज्ञान का विपर्यास ही है।

ज्ञानी! जितने प्रश्न किए थे, उनका उत्तर सुनो। धारावाहिक, धारावाहिक है क्या? हम स्याद्

धारावाहिक मानते हैं कि अपूर्व अपूर्व मानते हैं? वही वही है, कि अपूर्व अपूर्व है? हे जीव! एक दृष्टि में वही वही कह रहे थे तो उस समय सारे जीव को वही वही कह रहे थे। जब यूँ कह करके तेरे परिणाम की धारा, तेरे ज्ञान की धारा, तेरी अवस्थाओं की धारा वही वही है, कि अपूर्व अपूर्व है?

द्रव्यत्व द्रव्यत्व दृष्टि से, ज्ञायकत्व ज्ञायकत्व दृष्टि से, अमृतचंद्र स्वामी की दृष्टि में समयसारजी की व्याख्या में धारावाहिक है। वही वही है। हे जीव! जो श्रुत की अखण्ड धारा है, यदि मेरे ज्ञान में परमात्मा भी आ रहा है तो मेरा ज्ञान खंडित हो रहा है। मेरे ज्ञान में गुरु, प्रभु, पंचपरमेष्ठी भी आ रहे हैं तो मेरा ज्ञान खंडित होता है। तो फिर पच्चीस कषायें जिसके ज्ञान में आ रही हैं, तो उसका ज्ञान अखंडित कैसे? कषायों से रहित, विकारों से रहित, परमात्मा से रहित, ज्ञायक एकमात्र ज्ञाताभाव ही में लीन हो रहा है, ये ज्ञानी है वही वही। जिस स्वभाव के लिए समयसारजी की व्याख्या चल रही है, उस परम स्वभाव पर पहुँचा नहीं है। परम स्वभाव का वेदन कर रहा है। दोनों में अंतर है कि नहीं?

जिसे योगी परम स्वभाव की अनुभूति कह रहा है, योगी जिसे परम स्वभाव की लीनता में लवलीन होकर वेदन कर रहा है, वह जो वेदन है, वह श्रुतज्ञान से अखण्ड श्रुत की अनुभूति का वेदन चल रहा है। यह शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति के लिए वेदन, पुरुषार्थ चल रहा है, लेकिन शुद्ध स्वभाव में नहीं है। शुद्ध में है भी, नहीं भी। स्वरूप की लीनता में लीन है, इसलिए स्वरूप में है; परंतु जो आत्मा का स्वरूप है, वह अशरीरी है, कर्मातीत है। ये कर्मातीत, अशरीरी का चिंतवन तो कर रहा है। ये अशरीरी कर्मातीत का ज्ञान में वेदन तो कर रहा है, शुद्धात्मा का कर्मनिरपेक्ष होकरके वेदन तो कर रहा है, फिर भी परोक्ष ही कर रहा है। सिद्धांत की भाषा में द्रव्यानुयोग की भाषा में प्रत्यक्ष है।

संसारी और सिद्धों के बीच की चर्चा कर रहा हूँ। जिस योगी का परमब्रह्म है, वो ध्यान का परम ब्रह्म है, देह का परमब्रह्म है, वस्तुभूत परमब्रह्म नहीं है। ध्यानभूत परमब्रह्म, देहभूत परमब्रह्म। जब तक योगी का ये ध्यानभूत परमब्रह्म है, तब–तक परमब्रह्म नहीं है। **ध्यान अप्राप्य का होता है, प्राप्य का ध्यान नहीं होता है। प्राप्य की अनुभूति होती है।** योगी शुद्धोपयोग में बैठकर ध्या रहा है निज आत्मा को। अखण्ड ब्रह्म को ही ध्या रहा है। जैसा सिद्धालय में ब्रह्म है, वैसे ही ब्रह्म को ध्या रहा है, तब भी करणानुयोग की दृष्टि से अभी परोक्ष है। द्रव्यानुयोग की दृष्टि से आत्मा से ही ध्या रहा है, आत्मा में ही ध्या रहा है, आत्मा को ही ध्या रहा है, इसलिए प्रत्यक्ष है। फिर

भी जो ध्याया जा रहा है, योगी के ज्ञान का विषय, ध्यान का विषय बना हुआ है, वह मेरे से भिन्न सिद्ध से प्रयोजन नहीं है। मैं ही जब निज ब्रह्म का ध्यान करते–करते १४८ कर्म, नोकर्म को नष्ट करूँगा, तब मैं ध्यान, ध्येयभूत जो ब्रह्म था, कार्यभूत नहीं था। हे योगी! जो आपका ब्रह्मशब्द गूँज रहा है, वो कारण ब्रह्म है।

ज्ञानी! लोक में वेदांत में महान् अंतर आ गया। कारण ब्रह्म कार्य ब्रह्म शब्द का प्रयोग तुम नहीं कर पा रहे हो। कारण ब्रह्म, कार्य ब्रह्म को आचार्य कुंदकुंद की भाषा में कारण समयसार, कार्य समयसार कहा जाता है। अरिहंत अवस्था सयोग केवली, अयोग केवली गुणस्थान तक कारण समयसार ही है, कार्य समयसार नहीं है। सप्तम गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक कारण समयसार है, कार्य समयसार नहीं है।

जिस परमब्रह्म की व्याख्या चल रही है, कर्मातीत परमब्रह्म है, वह कारण परमात्मा नहीं, कार्य परमात्मा है। कार्य परमात्मा को कोई ध्यान नहीं होता, उसका कोई ध्येय नहीं होता। उपेय उपाय नहीं होता है। जो सप्तम गुणस्थान का परमब्रह्म है, अष्टम गुणस्थान का परम ब्रह्म और चौदहवें गुणस्थान का परमब्रह्म है, ये सब कारणभूत परमब्रह्म हैं।

मल–रहिओ णाणमओ, णिवसइ सिद्धिए जरिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो, परमो बंभो मुणेयव्वो।।२६।।

(तत्त्वसार)

मल से रहित, ज्ञानमयी जैसा परमब्रह्म सिद्धालय में विराजा है, वैसा परमब्रह्म मेरे देह–देवालय में विराजा है। इसका तात्पर्य समझिए। जो देह–देवालय का परमब्रह्म है, वह परमब्रह्म ही है, लेकिन वह समल है, कारणभूत है, कार्यभूत नहीं है। जैसे स्कंध में परमाणु है, वैसे–मेरी देह में ब्रह्म है। जैसे परमाणु परमाणु है, वैसे–ही सिद्धशिला पर परमब्रह्म है। स्कंध में परमाणु है, स्कंध परमाणु नहीं है। स्कंध में अनंत परमाणु हैं। परंतु जैसे परमाणु परमाणु हैं, वैसे सिद्धालय में परमब्रह्म हैं। जब–तक कारण परमाणु नहीं होगा, तब–तक कार्य परमाणु नहीं होगा। जब–तक कारण समयसार नहीं होगा, तब तक कार्य समयसार नहीं होगा।

महाराजजी! कारण नहीं होगा तो कार्य कैसे होगा? कारण कार्य यहाँ दो धारायें हैं– द्वैतभूत कारण– कार्य, अद्वैतभूत कारण–कार्य। बेलन से रोटी का बनना द्वैत (भिन्न) भूत कारण–कार्य। आटे से रोटी का बनना अद्वैत (अभिन्न) भूत कारण–कार्य। जो परमात्मा सिद्धशिला पर विराजमान है, अभिन्न कार्य परमात्मा। स्वयं के लिए मैं यहाँ शरीर हुआ होता तो भिन्न कारण परमात्मा। मैं

उनका आलम्बन लूँगा अपने मोक्ष जाने के लिए तो मेरे लिए भिन्न कारण परमात्मा हो जाएँगे और मैं सिद्ध मात्र उनको देख रहा हूँ, ये सिद्ध हैं तो भिन्न कार्य परमात्मा। उन सिद्धों को जब मैं सिद्ध रूप में देख रहा हूँ तो भिन्न कार्य परमात्मा। मैं अपना ध्येय बना रहा हूँ तो मेरे लिए भिन्न कारण परमात्मा। मेरे कार्य के लिए पर जो मैं परमात्मा हूँ, मैं भिन्न कारण कार्य देख रहा हूँ, मैं अभिन्न कारण कार्य देख रहा हूँ। मेरे परिणामों की वर्तमान पर्याय मेरे में ही हो रही है, वही मेरे परिणामों की पर्याय मेरे में ही परिणमित होगी।

मेरे ही परिणाम, मैं ही परिणामी। मैं किसी प्रभु के आलम्बन से मोक्ष नहीं जा रहा हूँ। द्वैत अद्वैत में जा रहा है। मैं अब प्रभु को कारण नहीं बना रहा हूँ, गुरु को कारण नहीं बना रहा हूँ। मेरे वर्तमान के रत्नत्रय के जो परिणाम हैं, वे मेरे परमब्रह्म हैं। कर्मातीत, रूपातीत, वर्णातीत, गंधातीत, स्पर्शातीत, लिंगातीत। मैं अपने भीतर निहार रहा हूँ, आँखों से नहीं। इंद्रियातीत, अतीन्द्रिय से ही। ज्ञान में ही ज्ञाता का वेदन कर रहा हूँ। वही है मेरा कारण परमात्मा, कारण ब्रह्म। यही धारा उग्र–उग्र होते हुए जब मैं कर्म से अपने को भिन्न कर लूँगा, एक दिन शरीर भी विलीन हो जाएगा और मेरी ही आत्मा सिद्धशिला पर विराजेगी, तो मैं कार्य परमात्मा होऊँगा। इसके पहले मेरी ही आत्मा कारण परमात्मा है। ये योगी के भीतर का विषय चल रहा है।

ज्ञानी! अब सिद्धों को कुछ नहीं करना। जो कुछ करना है असिद्धों को करना है। आप यहाँ बैठकर जो वेदन कर रहे हो, उनका कर रहे हो कि निज का कर रहे हो? जीव ने जो स्वयं के सारे कारण हटाए हैं, वह परमब्रह्म है। अब परमब्रह्म की व्याख्या करूँगा। यहाँ ब्रह्मा नामक व्यक्ति की व्याख्या नहीं है। जो परमसत्ता में सिद्धत्व को प्राप्त कर चुका है, अब उसके अंश मेरे में हैं कि मेरे अंश उसमें हैं? न मेरे अंश उसमें हैं, न मैं उनका अंश हूँ। भइया कह रहे थे कि स्वरूप दृष्टि से हम सब एक हैं, तो कैसे एक हैं? स्वरूप दृष्टि से मैं एक हूँ ही नहीं। मेरा चतुष्टय उनका चतुष्टय भिन्न है। एक वे मानें जो सारे विश्व को ईश्वर का अंश कह रहे हैं।

संपूर्ण द्रव्यों की सत्ता स्वतंत्र है। अणु–अणु, कण–कण स्वतंत्र है। जब इस व्याख्या में चले जाते हैं तो एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यंताभाव है। यदि अत्यंताभाव का अभाव कर दोगे तो द्रव्य सर्वात्मक हो जाएगा। सर्वात्मक होने के कारण जड़ चेतन हो जाएगा, चेतन जड़ हो जाएगा। मेरे मित्र! हम सर्वात्मक नहीं हैं। हम सभी का स्वरूप एक–सा नहीं है।

किसी पदार्थ को भावात्मक दृष्टि से देखूँ कि भावनात्मक दृष्टि से देखूँ? मैं भावात्मक में देखूँ अभी, कि अभाव करके भाव देखूँ, कि भाव में ही भाव देखूँ, कि पर में पर का भाव मिलाकर

देखूँ? कैसे देखूँ? यह पंचास्तिकाय से बोल रहा हूँ।

करुणानुयोग तो गूढ़ है ही, पर द्रव्यानुयोग उससे भी गूढ़ है। लोगों ने द्रव्यानुयोग को क्या समझ लिया कि आत्मा–पुद्गल कह लो, समयसारी हो गए; अथवा निश्चय–व्यवहार कह लो, समयसारी हो गए; अथवा हम मुनियों को नमस्कार करते हैं, ये नहीं करते, ये सब समयसार नहीं है। ये पागलों की भाषा है।

ज्ञानी! भाव करो, भावात्मक दृष्टि है, ये जैनदर्शन की भावना है। तुम्हारा जो भावात्मकपना है वो भावना रूप है कि भावरूप है? भावना रूप है। तो तुम्हारा सिद्धांत स्याद्वाद के चरणों में झुक चुका है। कुन्दकुन्द स्वामी की भाषा में खीर खीर है, क्षीर क्षीर है। प्राकृत में दूध को खीर कहा जाता है। दूध और पानी एक दिख रहे हैं, संश्लेष संबंध है, फिर भी एक नहीं है।

आइये जिससे वेदांत प्रश्नात्मक की जगह उत्तरात्मक होता है। तुम किसमें भेद कर रहे हो? भेद दृष्टि है संक्लेश दृष्टि। संक्लेशता में विशुद्धि का अंश नहीं होता। जहाँ विशुद्धि का अंश नहीं है, वहाँ परमात्म तत्त्व की अनुभूति किंचित् भी नहीं है। विशुद्धि में ही शुद्ध का चिंतन है, शुद्ध की झलकन है। मेरी चेतना और वनस्पति की चेतना में क्या अंतर है? ज्ञान–दर्शन मेरे में है, उसमें है। स्त्री, पुरुष, नपुंसक जिसे तुम देख रहे हो, ये बर्तन के भेद हैं। स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये बर्तन हैं, इसमें तुम्हारा ज्ञान वर्तन कर रहा है। इन बर्तनों में ज्ञान का वर्तन मत कराइए, उसे देखिये जो है। उसे मत देखिये जो दिख रहा है। जो दिख रहा है, वह देह है, बर्तन है। जो है, वह पुरुष (आत्मा) है। जो पुरुष है, उसमें स्पर्श, गंध, वर्ण, रस, लिंग नहीं है।

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगंधरसवर्णैः।
गुणपर्यय–समवेतः समाहितः समुदय–व्यय–ध्रौव्यैः।।९।।

(पु.सि.)

ज्ञानी! बर्तन, लोटा, गिलास, कटोरा है। इन पात्रों को मत देखिये। इसमें जो पानी भरा है, वो एक है। कौन शूद्र, जैन, ब्राह्मण, क्षत्रिय है? स्पर्श है, अस्पर्श है। तुम अस्पर्श स्वभावी में भेद कर रहे हो।

मैं खमण, श्रमण, भिक्षुक, श्वेतपट्ट, पीतपट्ट, भगवाधारी हूँ। ये तुम भगवत्ता से शून्य लोग हो। उसे देखिये जो इनसे भिन्न है। मैं गोरा हूँ, काला हूँ, मैं साँवला हूँ। उसे देखिये जो वर्ण रहित है। 'न कृष्णम् न शुक्लम्।' इन सबसे परे है। उसे देखिये, सबमें देखिये, वो वैसा ही है जैसा है। मिश्री घुला पानी, पीला रंग घुला पानी, नीला रंग, काला रंग घुला पानी, मिट्टी मिश्रित पानी, तुम

सब पानी के रंग को देख रहे हो। उसे देखो जो पानी है। एक भी वर्ण पानी नहीं है। इन वर्णों से शून्य है। 'जो है, सो है' वह पानी है। ये भाव नहीं, भावना है। ये भावना में देख रहे हो। जब भावों में देखेगा। भावतद्भूत होकर देखोगे, तो ज्ञाता–दृष्टा ही होंगे। फिर देखोगे नहीं, जानोगे नहीं। दिखेगा–जनेगा। अशरीरी सिद्ध होगा।

ज्ञानी! प्रक्रिया को क्रिया की उत्पत्ति मत मानिये, उत्पत्ति के साधन मानिये। मिश्रण कहाँ चल रहा है? आपके निश्चयाभास और व्यवहाराभास में। आप प्रक्रिया मात्र को भी कौनसी प्रक्रिया? जिसका खण्डन कुन्दकुन्द देव कर रहे हैं। ये पिच्छिका, ये कमंडलु, ये दिगम्बर मुद्रा, ये मैं चर्या को जाता। मैं आँख भींचकर, वे आँख खोलकर बैठते हैं। मैं खड़े होकर सामायिक करता हूँ, वे बैठकर करते हैं। इन सबको, क्रियाओं को तुम मोक्ष मानकर बैठे हो। ये मैं प्रक्रिया बता रहा हूँ। इसे तुम सोचने का समय ही नहीं दे रहे हो।

हे जीव! तूने देहजन्य प्रक्रिया को प्रक्रिया मान लिया है। अभी देह की क्रिया तो शुरू ही नहीं की है। जब इसे ही तू कठिन कह रहा है, तो वह परमवस्तु कितनी कठिन तुझे कैसे मिलेगी? यहाँ खण्डन किसका चल रहा है? कोई मुनि बनने का निषेध नहीं चल रहा है। आप जिनलिंग धारण करने के बाद ये मुख से नहीं कह पाए कि मैं विशुद्धसागरजी का शिष्य हूँ। नहीं कह पायेंगे। बस जो हो चुका है, अब मैं भीतर की क्रिया में उतरा हूँ। जब मैं निगोदिया की पर्याय में वही देख रहा हूँ, अब यहाँ पर वही देख रहा हूँ। वही वही नहीं, वही जैसा। वह वैसा वही देख रहा हूँ। वही वही देखने पर भी वही नहीं देखता हूँ। मेरे वही वही में अंतर दिख रहा है आपको।

मैं द्रव्यरूप से कह रहा हूँ कि वही वही है, पर वही वही होने पर भी भाव में भी अभाव है। वही भाव नहीं है जो भाव है। मेरा द्रव्य भिन्न है, उनका द्रव्य भिन्न है। द्रव्यत्व द्रव्यत्व, वृक्षत्व वृक्षत्व की दृष्टि से वही वही है, पर प्रत्येक वृक्ष स्वतंत्र है। तुम फूल पत्ती हरे पीले में उलझे हो, जिसके लिए जैनत्व प्राप्त हुआ है उसकी तुम बात नहीं कर रहे हो। एक ने नियम ले लिया जब तक कोई फूल से नहीं पड़गाहेगा तब–तक मैं आहार नहीं करूँगा। ओहो! ये किस पागलपन में पड़े हो? सहज होकर जिओ। इन सबसे भिन्न की बात कर रहा हूँ। ये सच जो तुम्हारे पास है, बहुत स्थूल परसमयी हो तुम सब। अब सोचा है वो जो हमने सुना है। मैं भले ही इन सबके बीच में जीता हूँ, जबकि स्वविषय में जीता हूँ। मैं किसी के साथ जीता नहीं हूँ, आप जीते हो। मैं तो यहाँ तक कह देता हूँ कि मैं जीवन के साथ भी नहीं जीता हूँ। इस रहस्य को समझो, मैं जीवन के साथ नहीं जीता हूँ। जिस जीवन को जगत् जी रहा है, वो जीवन तो जड़ है। मित्र! जिस जीवन

में आप मुझे देख रहे हो, वो वाला जीवन तो जड़ है।

जिस जीवन में मैं जी रहा हूँ, वो जीवन कभी नष्ट होगा कि नहीं? मेरी मृत्यु तीन काल में होने वाली नहीं है। जिनको मरना हो मरो, मैं तो मरने वाला नहीं हूँ। ज्ञानियो! जिसे तुम जीवन मान रहे हो, वो तो मरण ही है। जो जीवन है, उसका मरण नहीं है।

व्यवहार का जो जीव है, वो तो जड़ ही है। निश्चय तो निज चैतन्य ज्ञान–दर्शनभूत है, उस जीवन का तो मरण ही नहीं है। जीव तो चेतन है। सब तय है। जैसा तेरा दैव आएगा, वैसा तेरा ज्ञान होगा। इसे मानोगे। आप नहीं मानोगे तो मैं मनवा लूँगा। मैं नहीं मनवाऊँगा, कुन्दकुन्द देव मनवायेंगे।

मैं जो हूँ, वह अन्य है। जिसे मुझे आप देख रहे हो, वो दूसरा ही है। जो दूसरा है वो मैं नहीं हूँ। भावनात्मक कि भावात्मक? ये दो विषय भीतर छिपे हुए हैं। भावात्मक जो औपशमिक क्षायोपशमिक आदि भावों की दृष्टि लगा रहे हो कि भाव ही प्रधान है। जीव के असाता में जो भाव हैं उनको आप भाव मान रहे हो कि जीवत्व भाव ही भाव हैं? ये है तत्त्व की शुद्ध व्याख्या। औपशमिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक ये भी मैं नहीं हूँ। परंपरा, भाव में अभाव है। मैं चैतन्य भाव पदार्थ हूँ। मेरे में मेरे चैतन्य का अभाव है। मैं चेतन पदार्थ हूँ। मेरे में इस ग्रंथभूत जड़ का अभाव है। मैं चैतन्य हूँ। मेरे चेतन से भिन्न जितने चेतन हैं, उन सबका मेरे में अभाव है।

जितने ज्ञानी लोग हैं मात्र निश्चय व्यवहार कर के अपने आपको ज्ञानी मान रहे हैं, उनसे कभी समयसार प्राप्त नहीं होता है। समयसार समझना तो शुद्ध द्वैत में जाना है। तुम तो यहीं असफल हो गए। बोले कि हमारे इतने लोग निश्चय वाले हैं, हमारे इतने व्यवहार वाले हैं। तुम पर को ही अपना मान रहे हो, तुम्हारा निश्चयवाद है क्या? आप तो समाज को तोड़कर बैठ गए। ज्ञानी! ये चेतना नहीं है। चेतना निर्भय होती है।

मैं कह रहा हूँ कि जिसे आप देख रहे हो, सुन रहे हो, वो मैं हूँ ही नहीं। प्रत्यक्ष देखने वाला कहेगा कि कितना झूठ बोलते हैं, सामने तो बोल रहे हैं और कह रहे हैं कि मैं हूँ ही नहीं। तुम जिसे हूँ कह रहे हो, वो व्यवहारिक पक्ष है। जिसे मैं कह रहा हूँ, वो परमात्वभूत पक्ष है।

ज्ञानी व्यक्ति नेत्र से देखता है, नेत्र से जानता नहीं है। व्यक्ति नेत्र से देखता है पर नेत्र देखता नहीं है। नेत्र करण साधन है, कर्त्ता साधन नहीं है। व्यक्ति नेत्र से ही देखता है, पर नेत्र कैसे देख सकता है, वो तो जड़ है? देखने की दृष्टि चैतन्य का गुण है। ज्ञान–दर्शन चैतन्य का धर्म है। अज्ञानी जीव जानता नहीं है, पर वो भी देखता नेत्र से ही है। अज्ञानी आँखों से देखता है, आँखें

देख रही हैं वो ये बोलता है, परंतु ज्ञानी यह कहता है कि आँखों से देखता हूँ, पर आँखें देखती ही नहीं हैं।

आगम चक्खू साहू, इंदिय चक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु।।

(२३४ प्र.सार.)

हमारे यहाँ तो एकसूत्रीय कार्यक्रम चल रहा है। मात्र अभी नहीं, जीवनपर्यंत चलेगा। लक्ष्य ये है कि कुछ दिन बाद ऐसा दिन आ जाए कि आँखें अक्षों पर भी न जाएँ, अक्ष पर ही जाए। ग्रंथ भी खोलना बंद कर दो। निर्ग्रंथों को भी देखना बंद कर दो। निर्ग्रन्थता में ही रहो। ध्रुवधाम ये भावना है कि निज वास में ही निवास करूँ जिसमें कोई ईंट नहीं, पत्थर नहीं, झोपड़ी नहीं। आश्रमवास को समंतभद्र स्वामी महाहिंसा बोलते हैं।

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रम विधौ।
ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रंथमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृत–वेषोपधिरतः।।

(११९ स्व.भू.स्तोत्र)

हे प्रभु! विश्व में परमब्रह्म है तो अहिंसा है। समयसार की अहिंसा भी उसमें है। ध्यान रखना, कोई हटके नहीं है। परमब्रह्म वो अहिंसा है। वह नहीं हो सकती है वहाँ, कहाँ? जहाँ अणु मात्र भी आरंभ है। आरंभ कहाँ है? जो आश्रम की विधि है। ज्ञानी! इसलिए निर्ग्रंथों के लिए ब्रह्मचर्य ही आश्रम है, संघ ही आश्रम है, अन्य कोई आश्रम नहीं है। आपने अहिंसा की सिद्धि के लिए, परम करुणा से युक्त होकर बाह्य–अंतर रूप उभय प्रकार के परिग्रह को छोड़ा है। जो विकृत भेष और उपाधि में रत हैं, उन्होंने बाह्याभ्यंतर परिग्रह को नहीं छोड़ा है। जो आश्रम में पत्नी रखकर ऋषि कहला रहे थे, ये उन संतों की व्याख्या नहीं है। ये तो निर्ग्रंथों की व्याख्या है।

ज्ञानी! कुछ लोग बोलते हैं कि आपको ये सब बोलने में भय नहीं लगता है क्या? लोगों को देखूँ कि जिनागम को देखूँ। उमास्वामी महाराज कहते हैं कि भयभीत आगम को नहीं कह पाएगा।

क्रोध–लोभ–भीरुत्व–हास्य–प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च। (७/५ त.सू.)

अर्थात् क्रोध, लोभ, डर, हास्य का प्रत्याख्यान, अनुवीचि भाषण ये पाँच सत्यव्रत की भावना

हैं। जो क्रोधी होगा, लोभी होगा, भयभीत होगा, हँसी–मजाक करने वाला होगा, वो सत्य नहीं बोल सकता। इनका प्रत्याख्यान कीजिए और सारे विकल्पों को छोड़ करके जो जिनागम में लिखा है, उसे बोलिए।

वेदांत, सत्ता का व्याख्यान करने के पश्चात्, धीरे–से कहता है 'हे जगत् के प्राणियो! कर्म करो, फल की आकांक्षा मत करो, फल मेरे ऊपर छोड़ दो।' जैसे तुमने कहा कि फल मेरे ऊपर छोड़ दो, मैं तुम्हें ही छोड़कर जाता हूँ। मैं अपनी सत्ता का नाश करने के लिए किसी से मिलना पसंद नहीं करता।

जे णयदिठ्ठि विहीणा तेसिं ण हु वत्थु रूव उवलद्धि।
वत्थुसहावविहूणा सम्माइठ्ठी कहं हुंति।।

(१० लघु नयचक्र)

जिनागम कहता है कि न क्रिया एकांत तुम्हारा सत्य है, न ज्ञान एकांत सत्य है, न एकांत सत्य है। जो स्याद्वाद नय के विद्वेषी हैं, उनके एक भी एकांत घटित नहीं होता है। जो स्याद्वाद के परम भक्त हैं, उनके यहाँ सबकुछ सत्य है। वे अज्ञानी हैं जो हमारे स्याद्वाद को, नय वाद को संशयवाद कहते हैं। ये संशयवाद नहीं हैं, ये सम्यक्वाद है। अपनी दृष्टि को ठीक कीजिए। हमारे स्याद्वाद को संशयवाद बोलने की चेष्ठा मत कीजिए।

स्वरूप अस्तित्व,सादृश्य अस्तित्व। जब हम स्वरूप अस्तित्व की दृष्टि रखते हैं तो प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र दिखाई देता है। जब सादृश्य अस्तित्व की दृष्टि से देखते हैं जिसे ज्ञानी भावात्मक दृष्टि बोल रहा था, भावात्मक दृष्टि से क्या देखते हैं? कर्म चेतना, कर्मफल चेतना, ज्ञान चेतना। जितने स्थावर हैं, कर्मफल चेतना भोग रहे हैं। त्रस कर्म चेतना, कर्मफल चेतना भोग रहे हैं। जो अशरीरी शुद्ध परमात्मा हैं, वे ज्ञान चेतना भोग रहे हैं। शुद्ध ज्ञान चेतना से जब निहारते हैं तो मेरे में और सिद्धों में कोई अंतर दिखाई नहीं देता है।

सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।।

शुद्ध नय से सभी सिद्ध समान हैं, इसलिए किसी में भेद मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो। हे योगी! उस परम सत्य को समझना है तो इन विकल्पों से अपने को भिन्न कर लो। जिसकी व्याख्या आप सुन रहे हो, जो व्याख्या आप सुन रहे हो, इसके लिए न गच्छ, न गण, न पंथ, न आम्नाय दिखेगी। वहाँ अखण्ड शुद्ध आत्मा में लीन होगा। शुद्ध मध्यस्थ भाव, परमवीतराग दशा।

कई जीवों की मुनिपर्याय मुनिभेष में निकल गई, उन पर दया आती है कि इस परम सत्य को कब समझेंगे? क्योंकि उन्होंने ये ही समझ कर रखा है कि मेरे गुरु की परंपरा, मेरे प्रभु की परंपरा, मेरे पंथ की परंपरा, मेरे देश–प्रदेश की परंपरा। जिस उद्देश्य में रमण के लिए आए थे, उस उद्देश्य पर ध्यान ही नहीं है।

ज्ञानी! तू कितनी स्त्रियों के पास जाता है? मैं तो किसी परस्त्री के पास नहीं जाता। अपनी स्त्री पर ही संतोष रखता हूँ। सुनो तो, तू राजा के डर से नहीं जाता, समाज के डर से नहीं जाता कि तेरा नाम बदनाम होगा? इसलिए नहीं जाता कि तेरे भीतर पाप नहीं है? लोक का डर है तो तू व्रती नहीं है, समाज का डर है तो तू व्रती नहीं है, बदनामी का डर है तो तू व्रती नहीं है। ये भय हैं तो तू व्रती नहीं है। अपने स्वरूप की लीनता के लिए मैं पापों से मुक्त होता हूँ, पाप से भयभीत होता हूँ, पर मैं सबसे नहीं डरता हूँ, तो तू व्रती है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार गूढ़ न्यायशास्त्र है। इसमें उन्होंने 'नमः श्री वर्द्धमानाय' कहने में न्याय रख दिया है। जो अंतरंग, बहिरंग लक्ष्मी से युक्त हैं उनको नमः, न कि सबको नमः। श्रीमान को नमस्कार है, श्रीमानों को नहीं। जो श्रीमान की वंदना नहीं करेगा, वो बंध को प्राप्त होगा। जो श्रीमान की वंदना करेगा, वो बंध को प्राप्त होगा। मुमुक्षु! जो अंतरंग व बहिरंग लक्ष्मी से युक्त श्रीमान हैं ऐसे वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार नहीं करेगा तो बंध को प्राप्त होगा। जो श्री अर्थात् धन आदि में चिपके हुए हैं, ऐसे श्रीमान की वंदना करेगा तो बंध को प्राप्त होगा।

जो स्वरूप अस्तित्व, सादृश्य अस्तित्व को समझ लेगा, वह सारे विश्व के विषय को समझ लेगा। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कलश २४० में कह रहे हैं कि दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप यही एक मोक्षमार्ग है। हे जीव! उसी में तुम अवस्थित होओ, उसी का ध्यान करो, उसी का चिंतन करो, निरंतर उसी में विहार करो। चैतन्य आत्मा अन्य द्रव्यों का स्पर्श नहीं करती। वही समय का सार है। उसी को नित्य उदित्त होकरके वेदन करो। ऐसे परमात्म तत्त्व का अनुभव निर्ग्रंथ वीतरागी भावलिंगी श्रमण करता है, अन्य कुछ का नहीं। निश्चय मोक्षमार्ग के सेवन से थोड़े ही काल में मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा जानना चाहिए।

ज्ञानी! शिल्पकार से जैसी मूर्ति बनवाना चाहो, बना सकता है, लेकिन आपको उसका एक चित्र देना पड़ेगा। उस चित्र को देख नहीं सकता है, जो चित्र दिया गया है उस चित्र को बना रहा है कि उस चित्र में बना रहा है कि चित्त में बैठकर के भिन्न प्रतिमा से मूर्ति बना रहा है? यदि ये

समझ में आ गया तो ये समझ में आएगा कि महाराज क्या बोल रहे हैं।

हमने शिल्पकार से कहा कि जैसे तीर्थंकर नेमिनाथ स्वामी का जिनबिम्ब छतरपुर जिनालय में विराजमान है, ऐसा आपको बनाना है। वो शिल्पकार उस चित्र को अपने सामने रख लेता है। चित्र तो चित्र ही है, तटस्थ है। चित्र नवीन प्रतिमा को उत्कीर्ण नहीं कर रहा है। शिल्पकार ने उस चित्र को चित्त में स्थापित कर लिया है। अपने उपयोग में चित्त को इस्तेमाल किया है। योग से काययोग से छैनी–हथौड़ा का प्रयोग कर रहा है भिन्न पाषाण में। जैसे भिन्न पाषाण में शिल्पकार नवीन प्रतिमा बना रहा है, वो चित्र तो मात्र माध्यम है। ऐसे ही जिनशासन क्या कह रहा है कि जो प्रकट परमात्मा हो चुके हैं, सिद्धशिला पर हैं, जिनकी प्रतिमाएँ मंदिरों में स्थापित हैं, वे भगवान् नहीं बना रहे हैं, उनके भगवान् भी नहीं बन रहे हैं। उनके बिम्ब को निहार करके जो भिन्न पाषाण जैसे हैं, वैसी ही भिन्न आत्मा है।

निज भेदविज्ञान की छैनी से आत्मा निज के परमात्मा को प्रकट कर रही है। यानि परमात्मा की प्रतिमा तुम्हारे लिए भगवान् नहीं बना रही है। **जैसे शिल्पकार ने भिन्न प्रतिमा के चित्र को देखा है, ऐसे ही योगी परमात्मा की मूर्ति को चित्र के समान निहार कर अपने भीतर के चैतन्य को प्रकट कर रहा है। एक बार चित्र देखने के बाद शिल्पकार जब प्रतिमा को बनाने लगता है तो फिर उस चित्र को नहीं देखता है, वह पाषाण के अंदर जैसी प्रतिमा उत्कीर्ण करना है उसे मस्तिष्क में निहारता है। यदि चित्र ही देखता रहेगा तो हथौड़ी, छैनी कैसे चलाएगा? जब उसे देखता है तो बनाता नहीं है, जब बनाता है तो उसे देखता है। ऐसे–ही योगी जब परमात्मा को देखते हैं तो निज में नहीं होते हैं और जब निज में होते हैं तो परमात्मा को नहीं देखते हैं, नहीं निहारते हैं। तब किसे निहारते हैं? जिसे हम प्रकट कर रहे हैं।**

ज्ञानी! आँखों से देखनहारे को शिल्पकार प्रतिमा गढ़ते दिखेगा, पर शिल्पकार को प्रतिमा दिख चुकी है। शिल्पकार जब भी प्रतिमा बनाता है तो जिस चित्र को देख चुका था, उसका ज्ञानाकार भीतर होता है। उसका ज्ञानाकार भीतर चल रहा है। लोग कहेंगे ज्ञेयाकार है, अज्ञानी कहेगा ज्ञेयाकार है। जो ज्ञेयाकार है वही ज्ञानाकार है। इस बात को रोटी बनाने वाली माँ भी जानती है। आपको आटे में रोटी दिखना प्रारंभ हो चुकी है। जो मैं व्याख्यान दे रहा हूँ, वो ज्ञानाकार है। वो किसी से कुछ नहीं कह रहा है। वो कल्पना कर ही नहीं रहा है, उसको तो दिख रहा है। व्याख्यान में आपको नय से बोलना पड़ेगा।

शिल्पकार को उस प्रतिमा में कहाँ नख बनना है, कहाँ केश विन्यास होना है, किस अंग

पर क्या–क्या रेखाएँ अंकित करना है, हथेली में स्वस्तिक बनाना है वह भी उसके ज्ञान में आ चुका है। जिसे सबकुछ दिख रहा है, पर जब बनाएगा तो नय से बनाएगा। अंग–अंग को बनाएगा, पर देख रहा सर्वांग को है। अंग–अंग पर ही छैनी चलाएगा, पर सर्वांग को देख चुका था। ऐसे–ही योगी जब रत्नत्रय धर्म रूप चर्या करता है, तब भेद रत्नत्रय को पालता है, एक–एक समिति को पालता है, एक–एक महाव्रत आदि को पालता है। लेकिन जब रत्नत्रय में लीन होता है, सर्वांग रत्नत्रय में लवलीन होता है, तब उसे कुछ भी नहीं करना पड़ता। उसे कुछ भी नहीं करना पड़ रहा है।

शिल्पकार चित्र को देख अवश्य रहा है, पर उसे बना नहीं रहा है, उससे नहीं बना रहा है। जिसे बना रहा है, उसमें ही बना रहा है, उसको ही बना रहा है। ऐसे–ही योगी परमात्मा को देखता, मानता अवश्य है, परमात्मा को छोड़ता नहीं है, लेकिन जब निज के परमात्मा को लक्ष्य में रखता है, तब वह परमात्मा से भिन्न ही होता है।

बालक का पिता कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, हर समय उसकी स्मृति में डूबा रहता हो, गुणानुवाद करता रहता हो। पिताजी सामने भोजन भी कर रहे हों, उस समय बालक जब स्वयं के भोजन का ग्रास उठाता है तो अपने ही ग्रास को देखता है, अपने ही ग्रास की अनुभूति लेता है, उस समय पिता का उसे कोई ध्यान नहीं आता। यदि भोजन करते समय प्रतिक्षण पिता को देखता रहेगा तो जो भोजन का स्वाद है, उसे नहीं आ पाता है। ऐसे–ही योगी जब निज में रमण करेगा तो परमात्मा का ध्यान नहीं कर पाएगा और परमात्मा का ध्यान करेगा तो निज में रमण नहीं कर पाएगा।

२४०वें कलश में कहा गया था जो मोक्षमार्ग एक है, वो है दर्शन–ज्ञान–चारित्र। दर्शन यानी व्यवहार से तत्त्वों पर आस्था, देव–शास्त्र–गुरु पर आस्था। इन पर श्रद्धा टिकी है, इनको देखता है वो ही सम्यक्त्व है। निश्चय से निज को देख रहा है, निज पर स्थिर है, वही सम्यक्त्व है। यदि ये जीव उपकारी के उपकार को, पूज्य की पूजा को ही निहारता रहेगा तो पुजारी संज्ञा को प्राप्त होगा कि पूज्य संज्ञा को प्राप्त होगा? जैनदर्शन में कोई दास नहीं है। पुजारी श्रेष्ठ है, कि पूज्य श्रेष्ठ है? उपासक श्रेष्ठ है, कि उपास्य श्रेष्ठ है? हे समयसार उपासको! हे श्रमणो! श्रमण पूज्य है, समयसार पूज्य है, उपासक तो पूजक है। पूजक, आराधक है। ये आराधना कर रहा है। ये आराधना आपकी भिन्न में चल रही है तो भिन्न के पुजारी हो। ये उपासना भिन्न में चल रही है तो भिन्न के उपासक हो। अभिन्न कृति में प्रवेश करेगा तो पूजा, उपास्य, उपासक के भेद का भी अभाव

हो जाएगा।

यदि वरिष्ठ नेता आ जाए, तीर्थंकर का पंचकल्याणक भी क्यों न चल रहा हो, लोग भगवान् को गौण कर देते हैं और उस नेता के आगे–पीछे होते रहते हैं। जो उस नेता को माला पहना रहा होता है, उसका चेहरा खिला होता है, गद्गद् भाव होता है। ऐसे–ही पुजारी परमात्मा की भक्ति में आनंद से लवलीन होता है। जिसके गले में माला पड़ रही है, उसका आनंद भिन्न होता है और जो माला डाल रहा है, उसका आनंद भिन्न है, पर आनंद दोनों को है।

पूजा का भी आनंद है, पर पूज्य के सामने पूजा का आनंद नहीं है। जिनशासन में ये पूजा आनंद के लिए नहीं की जा रही है। पूज्य के आनंद की प्राप्ति के लिए पूजा की जा रही है।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त–गुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

(८० प्र.सार.)

जो अरिहंत के द्रव्य को, गुण को, पर्याय को जानता है उसका मोह विलीन हो जाता है। वो निज की आत्मा को जानता है। निज की आत्मा को जानने के लिए अरिहंत की द्रव्य, गुण, पर्याय को जानता है। अरिहंत के द्रव्य गुण पर्याय को जानने के लिए अपनी आत्मा को उपयोग में लगाकर मात्र वहीं मत बैठ जाना। हे योगी! जिनको निज के द्रव्य–गुण–पर्याय को जानने की सामर्थ्य नहीं है, वे तो अरिहंत तक सीमित रहें। पर तुम्हारे अंदर योग्यता है और तुमको ये राग लगा जा रहा है कि मैं भगवान् की भक्ति कैसे छोड़ूँ? ये लोक की लीला है। बड़े–बड़े तपस्वी कहते हैं कि तुम कैसे समयसार की बात कर रहे हो? तीनलोक के नाथ को कैसे छोड़ दूँ? तो तीनलोक के नाथ को पकड़े रहो, पर स्वयं तीनलोक के नाथ नहीं बन पाओगे।

मैं आपकी भक्ति को कम नहीं करा रहा हूँ। ये भगवान् की अविनय नहीं है। भैया! माँ को छोड़े बिना पत्नी नहीं मिलेगी। एक दिन माँ को छोड़कर गया था पत्नी को लेने। बारात में तेरा पिता भी चल रहा था, पर तू घोड़े पर था तेरा पिता जमीन पर चल रहा था। तुझे शर्म नहीं आई कि पिता के सामने घोड़े पर बैठ गया? वहाँ तो भूल गया कि पिता की विनय करना चाहिए। पिता की विनय में पिता को घोड़े पर बैठाता तो शादी किसकी होती? जब तुम सांसारिक कार्यों में विवेक लगाना जानते हो, तो वस्तु स्वरूप को समझो। शादी में घोड़े पर बैठना पिताजी की अविनय नहीं है, लोकव्यवस्था है कि पिता को पैदल चलना पड़ेगा और बेटे को घोड़े पर बैठना पड़ेगा। इसी तरह जब तुझे परमात्मा बनना है और मुक्तिवधू का वरण करना है, तो परमात्मा को छोड़कर ही

चलना होगा। ये अविनय, अभक्ति का पाप नहीं है, व्यवस्था ही ऐसी है।

ज्ञानी! व्यवस्था बनाने के लिए पुरानी व्यवस्था को बिगाड़ना ही पड़ता है। जब आपने दीक्षा ली थी, उस समय घर की व्यवस्था व्यवस्थित चल रही थी। पर आपके यहाँ आने पर वहाँ की व्यवस्था भंग हुई कि नहीं? भंग हुई।

ज्ञानी! दूध से घृत बनाने के लिए, दूध को तपाकर उसमें जामन डालकर खट्टा अर्थात् दही बनाना पड़ता है। बिना बिगाड़े बनता नहीं। दूध के खट्टा होने पर उसको दही संज्ञा प्राप्त हो गई, दूध बचा क्या? एक सुंदर युवा बढ़िया ड्रेस पहने घूमता हो, उसको धोती–दुपट्टा पहना दिया। इतना ही नहीं बिगाड़ा, उसको क्षुल्लक बना दिया। उसका दुपट्टा भी खींचकर ऐलक बनवा दिया, तो सामनेवाला यही कहेगा कि युवा कितना सुंदर लगता था, उसका भेष क्या बना दिया, दही को मथकर मट्ठा बना दिया। उद्देश्य मट्ठा बनाना नहीं होता है। उद्देश्य मक्खन निकालना था। बिगड़ते–बिगड़ते कुछ तो बन रहा था। जब मक्खन को तपा दिया तो गोरस की शुद्धपर्याय घी बन गया। ऐसे–ही विषयों का आनंद लेने वाली धारा है, उसको तो बिगाड़ना पड़ेगा। वो बिगड़ते–बिगड़ते तेरी शुद्ध दशा बन जाएगी। भक्ति का मार्ग भी छोड़ना पड़ेगा। ये निर्ग्रंथ दशा की व्याख्या है। हे मुनि! तुम शुभोपयोग में कब तक जीते रहोगे? ऊपर की ओर निहारना चाहिए।

बड़े–बड़े लोग परभावों में लिप्त देखे जाते हैं, पर समयसार तो समयसार है। जब निज ब्रह्म में लीन होगा, निज के समयसार में लगा होगा, तब जगत् पर लक्ष्य नहीं जाएगा। इतना ही याद रखना कि उत्तम स्वात्मा की ही चिंता है। पर के उपकार को भी छोड़ दो। पर के उपकार के राग में ये जीव बाह्य में इतना चला जाता है कि तत्त्वों की मिथ्या प्ररूपणा को सम्यक् समझने लगता है।

उत्तमा स्वात्मचिंतास्यान्मोहचिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात् परचिन्ताऽधमाधमा।।

(४ परमानंद स्तोत्र)

ज्ञानी! जब अखण्ड अद्वैत में प्रवेश किया, तो कारण ही भूल गया कार्य की अपेक्षा। कारण में इतना दौड़ा कि कार्य ही भूल गया। ऐसे व्यवहाराभासी हुए। मोक्ष का कारण व्यवहार व्यवहार होता तो है, देव–शास्त्र–गुरु हैं। इतना आगे दौड़ गया कि दौड़ते दौड़ते कारण को ही कार्य मान बैठा।

ज्ञानी! आपने एक भवन बनवाने का विचार किया। एक विशाल भूखण्ड खरीद लिया। आपने

विचार किया कि विशाल भवन बनवाऊँगा। आपने निर्माण सामग्री विभिन्न देशों से पत्थर, मसाले आदि मँगवाए। उनको संग्रह करने में इतना समय लग गया कि तेरी आयु पूरी हो गई, भवन की एक दीवार भी खड़ी नहीं हो सकी। मैं उनसे भी कह रहा हूँ कि जिनको ध्यान करने की इच्छा है और वे ध्यानकेंद्र बनाने में लगे हैं। जब–तक ध्यान–केंद्र बन पाया तब–तक उनकी आयु पूरी हो गई, ध्यान हो नहीं पाया। तुमको ध्यान करना था तो तुम जहाँ बैठ जाते वहीं तुम्हारा ध्यानकेंद्र था।

ज्ञानी! व्यवहार व्यवहार है। निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार है, न–कि व्यवहार में लिप्त होने के लिए व्यवहार है। एक ने तो सामग्री संग्रहित कर ली। दूसरे ने हाथ में परखी ली और गल्ला मंडी पहुँच गया। जितने बोरे बाजार में आए, सबको परखने में लग गए। सुबह ८ बजे से प्रारंभ किया, शाम के ५.३० बज गए, गल्ला मंडी बंद हो गई। एक भी बोरा माल नहीं खरीद सका। निश्चय एकांतियों ने क्या किया? हमने तो जान लिया कि ध्रुव आत्मा का स्वरूप ऐसा होता है। मात्र जानते–जानते ही रहे, प्राप्ति का उपाय शुरू नहीं किया। निश्चय एकांत मात्र जान रहा है, उपाय नहीं कर रहा है। व्यवहार एकांत मात्र उपाय कर रहा है, पर उपेय को जानने का प्रयास नहीं कर रहा है।

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होई णिव्वाणं।।

(२/नि.सार.)

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने मार्ग और मार्ग का फल, ये दो प्ररूपणाएँ की हैं। मार्ग मोक्ष का उपाय है और मार्ग का फल मोक्ष है। सुगत की अहिंसा ने क्या किया? उनको ये सिद्धांत क्यों लागू करना पड़ा कि आप किसके पीछे जीवों की बलि दे रहे हो? वे ईश्वर के नाम पर जीवों की आहुति दे रहे थे कि अगला भव अच्छा मिलेगा। सुगत ने कह दिया कि सारा जगत् शून्य है, जड़ है, क्षणिक है, भविष्य में कुछ भी नहीं है। क्षणिकवाद में प्रवेश कर गए। तुम किसकी बात कर रहे हो? जो अगले क्षण में नाश हो जाता है। जो हिंसक है वो नहीं है, हिंसनीय नहीं है। द्वितीय चरण में नाश को प्राप्त हो गया। उन्होंने अहिंसा के लिए ऐसा सूत्र बना दिया, लोग हिंसा में ही प्रवेश कर गए। मिथ्यात्व को गलत करने के लिए मिथ्यात्व में ही विलीन हो गए।

ज्ञानी! विद्वानों को मुनिसंघ में जाना चाहिए। वे आपको पसंद नहीं करेंगे क्योंकि आप समयसार की प्ररूपणा करोगे, क्योंकि उनका क्रियाकांड जमा हुआ है। वे पसंद करें या न करें, पर भीतर का मुनि जरूर कहेगा कि ये आदमी ठीक कह रहा है। आपके जाते ही उनकी क्रियाओं में अंतर

आएगा। आचार्य शांतिसागर, शिवसागर, महावीरकीर्ति, धर्मसागर, विमलसागर आदि के संघों में बड़े–बड़े विद्वान् आते– जाते रहते थे। उससे यह होता था कि विद्वानों के आने के कारण, कई बार साधु जो करना चाहता था, उससे थोड़ा हिचकता था। संघों में इसलिए भी जाना चाहिए कि स्वामी आप कहीं सम्यक्त्व के राग में मिथ्यात्व में तो नहीं जा रहे हो? व्यवस्था के राग में कहीं आपके भीतर अव्यवस्था तो खड़ी नहीं हो रही है।

वैराग्य है भोगों से उदासीनता, न कि किसी से द्वेष। वैराग्य है भोगों से अरुचि, न कि भोगों के प्रति द्वेष। वैराग्य निज राग का समापन करना है, राग के हेतुओं का नाश करना है। यदि किसी को वैराग्य हो रहा है और आकर कहे कि मैं चाहता हूँ कि मेरे माता–पिता ऊपर चले जाएँ तो मैं फुर्सत हो जाऊँ, तब दीक्षा ले लूँ। हे ज्ञानी! पंचेन्द्रिय जीव के घात का भाव तेरे मन में आ रहा है, तू दीक्षा कैसे लेगा? षट्काय के जीवों की रक्षा के लिए ही दीक्षा होती है। यदि तू पंचेन्द्रिय जीवों की विघात सोच रहा है तो फिर दीक्षा का उद्देश्य क्या? घर छोड़करके, नंगे होकरके, समाज की रोटियाँ खाने का नाम दीक्षा नहीं है। ये कठोर अवश्य है, पर सत्य है।

मैं भावों को निहार रहा हूँ। उस भेष में पहुँचने के भाव नहीं बन पा रहे हैं तो मैं उस भेष में पहुँच कर अपने भावों की विडम्बना नहीं करना चाहता हूँ, क्योंकि ये भावों की ही विडम्बना नहीं होगी, ये भव की भी विडम्बना होगी। **उच्च पद पर पहुँचकर नीच कर्म करना श्रेष्ठ नहीं है। नीचे होकरके ऊपर देखना, ये चकोरवृत्ति है। ऊँचे होकरके नीचे देखना, ये चीलवृत्ति है,** जो निकृष्ट है। कौन क्या कहेगा, क्या सोचेगा, ये बाद में देखना। मेरे निज के परिणाम मुझसे क्या कह रहे हैं, ये पहले देखना, क्योंकि मुझे कहनेवालों के साथ नहीं रहना है। मुझे निज भावों के साथ रहना है।

ज्ञानी! घर की विडम्बना कब होती है? जब आपकी बहन आपके घर आए, आप बहन की बातों में आ जाएँ तो तुम्हारे घर की विडम्बना प्रारंभ। क्योंकि बहन तो भइया को दुलार दिखाएगी और भाभी के बारे में जरूर कुछ–न–कुछ कमियाँ खोजेगी। बहन की बातों में आकर पति ही पत्नी के प्रति अशुभ भाव रखना प्रारंभ कर देगा। वह इस बात को भूल चुका था कि ये तो आई है और इसको (पत्नी को) तो रहना है इसलिये जिसको रहना है, उस पर ध्यान देना चाहिए। जो रोज तुमको रोटियाँ बनाकर खिला रही है, उसको तुम टेढ़ी निगाह से देख रहे हो। जो आई थी, वो तो एकाध दिन में चली जाएगी। यदि कोई अनर्थ करके अपनी पत्नी से हाथ धो बैठे तो फिर वो बहन तुम्हारे घर पर रोटी बनाने नहीं आएगी। बहन के राग में तुमने पत्नी के साथ क्या कर दिया?

हे जीव! बहन तो मेहमान बनकर आई थी। ऐसे–ही कुछ भाव मेहमान बनकर आते हैं और स्वभाव तो निज रमणी है। कुभाव भावों के राग में निज रमणी को भूल गया तो तेरी विडम्बना वैसे ही होगी जैसी घर की विडम्बना गृहस्थों के होती है। कितने घर इसी कारण से बिगड़े हैं। जैसे किसी शिष्य का लक्ष्य है कि मुझे विशुद्धसागर के पास रहना है। कोई भिन्न साधक आ गया वे बड़ा दुलार, वात्सल्य इनके साथ प्रकट करेंगे और कहेंगे महाराज मेरे साथ चलो हम आपको उपाध्याय, आचार्य बनाएँगे, बड़ी–बड़ी पदवियाँ देंगे और आपका राष्ट्रीय सम्मान कराएँगे। हे जीव! ये तुम्हारा शत्रु आ गया है। जब तुम निर्णय कर चुके हो कि मुझे तो अपने गुरु के पास रहना है, तो मुझे पर की बात सुनने के लिए समय ही नहीं है।

ज्ञानी! जैसे व्यवहार गुरु के पास रहने के लिए आपको जगत् के सारे गुरु छोड़ने पड़ जाते हैं तब तुम समता से रह पाते हो, ऐसे–ही मुमुक्षु! आत्म गुरु के पास रहना है तो जगत् के सारे गुरु, प्रभु को छोड़ना पड़ेगा। लोग कहें कि छूट जाएँगे, ये भूल चल रही है। मेरे मित्र! जब लीनता में बैठेगा तब छूटेंगे। यदि तू बैठ ही नहीं रहा है, तो छूटेंगे कब?

मित्र! ये तो बताओ कि पहले अध्यात्म होता है कि अध्यात्म को ध्येय बनाया जाता है? पहले ध्येय बनता है। ध्येय बनेगा तब, तो आप जाओगे। आपने दीक्षा के ५०–६० वर्ष निकाल दिए, पर आपके श्रीमुख से यही सुनता रहा कि ये तो स्वयमेव छूट जाएँगे, जब निज में जाएँगे। आपको मालूम होना चाहिए, माघनंदी स्वामी ने 'ध्यान सूत्राणि' में लिखा है कि आपको जो बनाना हो उसकी सामग्री जुटाना पड़ती है। यदि आपने मन बना लिया है कि आज खीर बनानी है, तो दाल–चावल की जगह दूध और चावल लाओगे। खिचड़ी बनाना है तो दाल–चावल लाओगे। जिसको शुद्धोपयोग में जाना है, उस जीव को दाल–चावल नहीं बनाना है। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जिसको स्वर्ण के आभूषण चाहिए, उसे स्वर्ण धातु ही खरीदना पड़ेगी, लोहा नहीं खरीदना पड़ेगा।

'ब्रह्मानंद स्वरूपोऽहम्, सहजानंद स्वरूपोऽहम्' शब्दावली अभिमंत्रित करनी है। उनमें से भाव आते हैं। किसी को उत्तेजना देना हो तो आप प्रेम की भाषा नहीं बोलते, गाली सुनाते हो, तभी तो उत्तेजित होगा। ये भी मंत्र है। **मंत्र क्या है? पर को निज के अधीन करना।** व्याकरण से आमंत्रण एवं निमंत्रण में भेद है। **शादी में आमंत्रण, तेरहवीं ज्योनार में निमंत्रण।** केशलुंचन और बाल उखाड़ना, दोनों के अर्थ एक होते हुए भी शब्द अलग हैं। संयमी का केशलुंचन होता है और सुअर आदि के बाल उखाड़े जाते हैं। कातंत्र व्याकरणानुसार शोक के समाचार के लिए

निमंत्रण और माँगलिक कार्यों के लिए आमंत्रण होता है।

हे जीव! यदि आपको निज की विडम्बना से दूर होना है तो पर की बात मानना बंद कर दो। विधिपूर्वक आपको बैठना पड़ेगा, उपयोग को खींचना पड़ेगा, उपयोग को परिवर्तित करना पड़ेगा। उपयोग को परिवर्तित करोगे तो फिर आपको छोड़ना नहीं पड़ेगा, छूट जाएगा। लेकिन उपयोग तो आपको बदलना ही पड़ेगा। यदि आप आदिनाथ जिनालय से नेमिनाथ जिनालय की ओर जाना चाहोगे तो आपको मुड़ना ही पड़ेगा। मुड़ जाओगे तो पीछे अपने आप छूट जाएगा। पर मुड़े बिना, गमन किए बिना आप वहाँ से कैसे छूटोगे? मुड़ना तो पड़ेगा, लक्ष्य परिवर्तित करना ही पड़ेगा। जब तक लक्ष्य परिवर्तित नहीं कर रहे तब तक आपको लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा।

ज्ञानी! कुछ परिणमन सहज हैं, कुछ परिणमन पुरुषार्थ–साध्य हैं। आपके भीतर जो उपयोग की धारा चल रही है, वो सहज है। उपयोग में उपयोग तो सहज है, पर उपयोग को बदलना पुरुषार्थ साध्य है। मंदिर में दो कलशियाँ रहती हैं। एक का पानी गंधोदक, दूसरे का सामान्य जल। नीरत्व की दृष्टि से देखोगे तो एकत्व है। भिन्नत्व की दृष्टि से जो जल भगवान् के सिर के ऊपर से ढुरा है वह गंधोदक है और जो सीधा पानी है वह पानी संज्ञा को प्राप्त हो रहा है। एक को सम्मानपूर्वक शिर पर लगा रहे हो एवं दूसरे से हाथ धो रहे हो। ऐसे–ही ज्ञानी! उपयोग का परिणमन उपयोग की दृष्टि से एकत्वभूत है, पर उपयोग का आपने परिणमन किया है, आपके पुरुषार्थ–साध्य है। हमारे भीतर कितने परिणमन हैं? अनंत परिणमन हैं। बहुत सारे परिणमनों पर हमारी दृष्टि नहीं जा रही है, तब भी परिणमन हो रहा है। असमान जाति पर्याय का परिणमन चल ही रहा है। इसमें सात धातुएँ हैं, प्रत्येक धातु का परिणमन स्वतंत्र–स्वतंत्र चल रहा है। हमारे भीतर जो आत्मिक द्रव्य हैं, वे भी बहुत सारे हैं।

अस्तित्व वस्तुत्व के असंखेय गुणों में गुण है। ज्ञान का, दर्शन का, वीर्य का, सुख का अस्तित्व स्वतंत्र है वस्तुत्व भी स्वतंत्र है। प्रमेयविधि भी स्वतंत्र है। यदि स्वतंत्र नहीं मानोगे तो ज्ञान–दर्शन में भेद नहीं कर पाओगे। ये भिन्न प्रमेय है। एक में परिणमन सहज चल रहा है, लेकिन वो परिणामी जीव जो है उस परिणामी की व्याख्या करेंगे, भावभूत परिणमन की बात करोगे तो कितने ऐसे हैं जिन्हें भावक शब्द नहीं पकड़ पा रहा है। बहुत सारे मेरे निज के परिणाम ऐसे हैं, भाव ऐसे हैं जिसे भावक समझ ही नहीं पा रहा है। आप कह रहे हो मैं धर्म कर रहा हूँ, पर मैं पाप कर रहा हूँ। जैसे श्रीजी की प्रतिमा का आपने अभिषेक किया, मार्जन के लिए श्रीजी को हाथ में लिए हो, सामने चार लोग खड़े हैं इस दृष्टि से कि गंधोदक ले लें, क्योंकि ये तो हाथ में श्रीजी

लिये है। इसके भीतर भाव चल रहा है कि पहला गंधोदक मैं लूँगा। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो दूसरे के हाथ लगाने से अशुद्ध मानते हैं। भगवान् के अभिषेक करने वाले के भावों से पूछो, वो ये ही सोच रहा है कि मैं पहले लूँगा तो पुण्य अधिक होगा। पर चार लोगों को अंतराय डाल रहा था। वह पुण्य कर रहा था कि पाप?

ज्ञानी! कभी मित्रों के बीच भोजन किया है? कभी शत्रुओं के बीच भोजन किया है? सभी के बीच में किया है। थाली में दस वस्तुएँ रखी हैं पर जिस वस्तु पर पहले हाथ जा रहा है उसमें आपका राग विशेष है, आप पकड़ नहीं पा रहे हो। बहुत सारा कषाय भाव ऐसा है जो जीव पकड़ नहीं पा रहा है। भोजन करते–करते पानी की इच्छा हो गई, उस समय कोई कहे ये वस्तु खा लो, तो कहेगा 'ठहरो, भाई! पानी पीना है।' ये कषाय नहीं थी क्या? बहुत सारी कषाय को, बहुत सारे पाप को हम समझते ही नहीं हैं कि ये पाप है।

मेरे मित्र! जिसे तू सहज कह रहा है, ऐसी सहजता का खण्डन 'प्रमेयकमल मार्तंड' में आचार्य प्रभाचंद स्वामी ने किया है। एक ऐसा भी जीव हुआ है जिसने 'सहज' कह करके तुमको कहाँ खड़ा कर दिया? जो मैं पूछ रहा हूँ ये सहज नहीं है, कषाय से युक्त है। बोले महाराज कषाय कर रहे हो? हाँ, बिल्कुल कर रहा हूँ काषायिक भाव, क्योंकि जब–तक जीव १२वें गुणस्थान, ११वें गुणस्थान में नहीं जाता, तब–तक कषायी जीव है। भगवान् की भक्ति जो करता है वो कषायी होता है या अकषायी? कषायी। **मेरे मित्र! तीव्र कषायी भक्ति नहीं कर सकता, अकषायी भक्ति नहीं कर सकता, मंद कषाय में ही भक्ति होती है।**

ज्ञानी! मकड़ी जाल क्यों बुनती है? वो तो शरीर से सहज निकलता है, सहजक्रिया है न? जो आप सहज कह रहे हो, वो परिपूर्ण असहज ही है। हर समय क्यों नहीं बुनती? जीवों को फँसाने के लिए, आहार संज्ञा से युक्त होकरके वह अपना जाल फैलाती है और अज्ञानी ने इसको कह दिया कि ये सहज है। स्त्री सेवन की भावना राग भाव है। अज्ञानी कहेगा, महाराज! उम्र के आने पर सहज है। पापी को जो–जो प्रकार के पाप करना होगा, कह देगा कि सब सहज है। सहज कहके कुछ भी करता रहेगा। मेरे मित्र! ये सहज नहीं है। ये विषय–कषाय से ग्रसित राग–द्वेष भाव है। आहार, भय, निद्रा, मैथुन ये सहज नहीं है, कर्म–सापेक्ष है, कषाय–सापेक्ष है। यदि ये सहज हो गई तो सहज स्वरूप क्या होगा?

सहज स्वरूपोऽहम् बोलकर ध्यान करा रहा था, भइया नाच कर खड़ा हो गया। महाराज जी! मैं नाच रहा हूँ। क्या? सहज स्वरूपोऽहम्। आपके गले में हाथ डाल कर कहता है सहजस्वरूपोऽहम्।

कभी रो रहा है तो कहता है सहज स्वरूपोऽहम्। कभी हँस रहा है तो सहज स्वरूपोऽहम्। भइया! ये सहज स्वरूप विषय–कषाय के अतिरेक हैं, सहज स्वरूप नहीं है। तो सहज स्वरूप क्या है? सहज स्वरूप की व्याख्या 'नियमसार' जी में कुन्दकुन्द स्वामी ने की है।

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं।।

(५६ वृ.द्र.सं.)

जहाँ कोई विचार नहीं, चेष्टा चिंतवन नहीं। चिद्रूप में आत्मा में आत्मा को स्थिर किए है। जो परमध्यान है, वह योगी की सहज दशा है।

मेरे मित्र! जो सहज स्वरूप है, वह परवृत्ति उपेक्षा है, परभाव निरपेक्ष है, वाक्य निरपेक्ष है, वाणी निरपेक्ष है, नय निरपेक्ष है, पद प्रमाण निरपेक्ष है। जगत् निरपेक्ष जो है, वो सहज है। किंचित् भी पर की सापेक्षता है तो वो असहज है, पर प्रमाण निरपेक्ष है। **'सम्यक् ज्ञानं प्रमाणम्'** सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। मेरा निज में निज का सम्यग्ज्ञान है वो ही मेरे लिए सहज है। पर का सम्यग्ज्ञान मेरे लिए असहज है।

पंचमकाल में योगी सहज स्वरूप की प्राप्ति कर सकता है। बेटा धोखे में जल्दी मत कर लेना, जीवन में ये शब्द नहीं गूँजे तुझे कि मैंने निर्णय सम्यक् किया कि नहीं किया? इतना विकल्प कहीं रह गया, तो जीवन में कभी शुद्धोपयोग में नहीं जा पाओगे। बिल्कुल सत्य कह रहा हूँ। दीक्षा के काल में अनेक विकल्पों में गुजरना पड़ता है, लेकिन कभी ये भाव नहीं आया कि मैंने दीक्षा लेकर गलती की है, तो आनंद आया। जिस स्थान पर हो, उसमें संतुष्टि नहीं होगी तो आनंद नहीं आएगा और संतुष्टि होगी तो आनंद आएगा।

हे जीव! ये मत कहना कि सहज अवस्था इस काल में नहीं है। इस काल में नहीं है यदि ये विकल्प है, तो जगत् को छोड़कर आने वाले जगत् के कार्य में पुनः लिप्त होते देखे जा रहे हैं। इसका मुख्य कारण है कि वे परम सहज को स्पर्श नहीं कर सके। जहाँ स्पर्श करना चाहिए था, उसका स्पर्श नहीं कर सके। **'द्रव्यान्तराण्य स्पृशन्'** जब द्रव्यान्तर के अस्पर्शन से युक्त होगा, तभी निज द्रव्य का स्पर्श कर सकेगा। भैया! एक मौसम में दो मौसम की अनुभूति ले सकते हो क्या? शीतकाल में ग्रीष्मकाल का वेदन कर सकते हो क्या? ग्रीष्मकाल में शीतकाल का वेदन कर सकते हो क्या? एक ही समय में जैसे एक मौसम का वेदन होता है, ऐसे–ही जब निज सहज स्वरूप का वेदन करेगा तो परद्रव्य का स्पर्श नहीं करेगा और पर द्रव्य का स्पर्श कर रहा है तो

निज द्रव्य का स्पर्श नहीं होगा।

ऐसे कितने विषय के राग हैं जिनको जीव पकड़ नहीं पाता है। कभी– कभी साधना का राग जीव को साधना से शून्य कर देता है। शिष्य ने कहा मुझे सम्मेदशिखर की वंदना करना है। गुरु महाराज कहने लगे अभी गिरनारजी की वंदना कर लो फिर सम्मेद शिखर देखेंगे। वंदना के राग में, वहाँ ऐसे विकल्प हुए कि गुरु शिष्य का विच्छेद हो गया। दोनों ने अलग–अलग रास्ते पकड़ लिए। हे तीर्थवंदना! तूने तीर्थ की वंदना समाप्त कर दी।

सरल बनो। सहज कितना हो रहा हूँ? सहज बहुत ऊँची वस्तु है, पर सरल कितना सरल है। पहले सरल, फिर सहज। पर जिसे आप सरल समझ रहे हो, वे कषायी लोग हैं। तेरा इतना पुण्य है कि समय पर पानी माँगता है तो दूध मिलता है। समय पर भोजन, समय पर वस्त्र, सारी सामग्री समय पर मिल रही है। अब कह रहा है बड़ा सरल है। यदि ये सब बदल दिया जाए, पानी की जगह खाली लोटा दे दिया जाए फिर भी आप शांत रहो, तो सोचा जा सकता है कि सरल है। अपनी प्रशंसा में सभी सरल रहते हैं, निंदा में पता चलता है कि कितनी शांति है। प्रशंसक तो बहुत मिलते हैं, निंदक भी मिलना चाहिए। उनकी निंदा के बाद आपके मुख से ये नहीं निकलना चाहिए कि ये मेरी निंदा कर रहे हैं। **'द्रव्यान्तराण्य स्पृशन्'** द्रव्यान्तर का अस्पर्शन होना ही चाहिए, स्पर्शन नहीं।

कलश २४० में, पूर्व में कहा है कि रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है, रत्नत्रय की आत्मस्थिरता की प्राप्ति का लक्ष्य है। २४१ कलश में कह रहे हैं–

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकम तुलालोकं स्वभावप्रभा–
प्राग्भारं समयस्यसारममलं नाद्यापि पश्चन्ति ते।।

(२४१ कलश)

'ये त्वेनं परिहृत्य' उसको छोड़कर **'संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना',** जो अपनी आत्मा के उपचार में ही यानि व्यवहार रत्नत्रय में ही, व्यवहार धर्म में ही स्थापित किए हैं **'लिङ्गे द्रव्यमयेवहन्ति ममतां'** लिंग मात्र में ही जो अपनी ममता को बहा रहा है, लिंग मात्र में ही जो ममता किए हैं, लिंग मात्र को ही जो मोक्ष मार्ग मान रहा है **'तत्त्वावबोधच्युताः'** वो जीव तत्त्व गुण से च्युत है, ज्ञान से च्युत है। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य भेदविज्ञान से है। वट्टकेर स्वामी 'मूलाचार' जी में ज्ञान के

विषय में कह रहे हैं।

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे।।२६७।।

जिससे चित्त का निरोध हो, तत्त्व का बोध हो, आत्मा का शोध हो, ये जिनशासन में ज्ञान है।

धन्य हैं वे मुनीश्वर जो आँख उठाने में भी अपने समय की बर्बादी मानते हैं। पलक को ऊपर से नीचे ले जाने में भी अहिंसा में दोष मानते हैं, ऐसी मानसिकता से भरे हैं।

संपूर्ण अध्यात्म शास्त्रों का सत् देखना है तो वो 'समाधितंत्र' में है। जो जिस कुल से आता है, उसे पता तो रहता ही है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी को जगत् के वेदांतों का ज्ञान था। अविद्या आदि शब्द का प्रयोग उन्होंने किया। शब्द ब्रह्म का प्रयोग दिगम्बर आम्नाय में करने वाले अमृतचंद स्वामी सबसे पहले थे।

मेरे मित्र! दुनिया को कहने की आवश्यकता नहीं है। आयु के दिन निकलते–निकलते भीतर में अपना निर्णय कर लेना कि इतनी उम्र तक हमको ऐसे–ऐसे परिवर्तन लाना है अन्यथा तबेली को ही तपाते रहोगे, दूध पर लक्ष्य नहीं जाएगा। ज्ञानी! आपने तबेली को तपाने के लिए नहीं, दूध को तपाने के लिए तपा है।

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने।।

(८३ वृ.स्व.स्त्रो.)

हे प्रभु! अपने परम दुश्चर बाह्य तप बाह्य के लिए नहीं तपे, अभ्यंतर तप की परिवृद्धि के लिए तपे। आर्त्त–रौद्र ध्यान का निराकरण करके उत्तरवर्ती दो ध्यानों में प्रवृत हुए।

ज्ञानी! समझो मेरा उद्देश्य। तुमको तपस्या करने से निषेध नहीं है। बाहरी तप को अभ्यंतर तप के लिए तपो। जिस दिन आपने उपवास किया, उस दिन आपकी समता अधिक होना चाहिए। अंतराय हो जाए तो चेहरे पर सिकुड़न/चिड़चिड़ापन नहीं आना चाहिए। चिड़चिड़ापन आ रहा है तो तुमने शरीर को तपाने के लिए तपा है।

ज्ञानी! जो लिंग मात्र को ये मान रहा है कि मैं मोक्षमार्गी हूँ, वह तत्त्वबोध से च्युत है। **'नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं'** जो नित्य, एक, अखंडित, अलौकिक (जिसके समान अन्य नहीं है) ऐसा जिसका प्रकाश है, **'स्वभाव प्रभाप्राग्भारं'** जो स्वभाव विभाव से भिन्न, जिसके भार

को सहन करना सभी के सामर्थ्य में नहीं है।, **'समयस्य सारममलं'** वह निर्मल समयसार है। **'नाद्यापि पश्यन्ति ते'** ऐसे परमात्मा के स्वरूप को द्रव्यलिंगी नहीं पा सकता। अर्थात् जो ज्ञानी मात्र बाह्य आचरण से ही मोक्ष मान रहे हैं, लिंग मात्र से ही मोक्ष मान रहे हैं, वे जीव निर्मल पवित्र समयसार को नहीं देख पा रहे हैं।

जिस आत्मा की व्याख्या की है उस आत्मा प्रमाण का अंश मात्र इसमें शामिल है। जो अंश मात्र कह रहे हैं, उसमें गूढ़ रहस्य है। दिगम्बर आचार्यों ने वल्लभी, माघवी आदि वाचनाओं में संग्रहित श्रुत को स्वीकार नहीं किया है। स्थूलभद्र आदि की साक्षी में जो वाचनाएँ हुई हैं, उन वाचनाओं को दिगम्बर आचार्यों ने कल्पित घोषित कर दिया है। श्वेताम्बर परंपरा में आज भी द्वादशांग है। श्वेताम्बर परंपरा वाले भी इस बात को मानते हैं कि यह पूर्ण सत्य नहीं हैं, ये संग्रह है। इस संग्रह में बहुत–सा निजी संयोजित किया गया है।

दिगम्बराचार्यों ने जो परंपरा से चला आ रहा था, जो है उनको माना। इसके बाद के लेखन में वह सुस्पष्ट है, व्यवस्थित है। भले अल्प हो, पर कल्पनाओं को स्वीकार नहीं किया है। तार्किक दृष्टि, सैद्धांतिक दृष्टि से आज जैन परंपरा में कोई भी जीव जिनागम का ज्ञाता बनना चाहता है, किसी भी परंपरा का हो, उसको दिगम्बराचार्यों के ग्रंथों का स्वाध्याय करना ही पड़ता है। चाहे द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, प्रथमानुयोग संबंधी हो, दिगम्बराचार्यों के ग्रंथों का स्वाध्याय सभी परंपरा वाले करते हैं। भले ही अपनी बात रखते रहें, लेकिन इनका अध्ययन तो करना होता है। दार्शनिक दृष्टि से देखा जाए तो दिगम्बराचार्यों के पास जो है वह श्वेताम्बर परंपरा में नहीं है।

आचार्य समंतभद्र स्वामी, अकलंक स्वामी, विद्यानंद स्वामी ये ऐसे आचार्य हुए हैं, इन्होंने अपने ग्रंथों में अध्यात्म सिद्धांत में दर्शन का उपयोग किया है। आचार्य कुन्दकुन्द की दार्शनिक शैली वह अध्यात्म सिद्धांत से भरी है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अध्यात्म सिद्धांत में दर्शन का प्रयोग किया है, आचार्य समंतभद्र ने दर्शन में अध्यात्म सिद्धांत का प्रयोग किया है।

कुन्दकुन्द देव ने सिद्धांत पक्ष में, भगवन् पुष्पदंत भूतबली स्वामी, आचार्य वीरसेन इन सिद्धांताचार्यों ने सिद्धांत में दर्शन का प्रयोग किया है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि जैनदर्शन का सूत्रपात आचार्य समन्तभद्र से हुआ है। ये पूर्ण सत्य नहीं है। आचार्य समन्तभद्र ने शैली का परिवर्तन किया है, पर सूत्रपात्र नहीं किया है। नय निक्षेप आदि की व्याख्या पूर्व में हो चुकी थी। षट्खण्डागम आदि सिद्धांत शास्त्रों में नय–प्रमाण की व्याख्या है। धवला टीका जब भी प्रारंभ होती है तो सबसे पहले प्रमाण नय निक्षेप की ही व्याख्या है। धवला पुस्तक १३ के सूत्रों में नय प्रमाण की व्याख्या

है, सिद्धांत प्रारंभ होने के पूर्व। वीरसेन स्वामी से पहले पूज्यपाद स्वामी हुए हैं। उन्होंने इसी शैली का प्रयोग किया है। समंतभद्र स्वामी से पहले उमास्वामी हुए हैं, उन्होंने नय प्रमाण का व्याख्यान किया है। उमास्वामी से पहले कुन्दकुन्द स्वामी हुए हैं, इन्होंने अपने ग्रंथों में परिपूर्ण रूप से नय प्रमाण की व्याख्या की है।

सिद्धांतों में नय भरा हुआ है। जब कहा जाता था कि तुम्हारे पास न्यायशास्त्र है, तब न्याय में सिद्धांत भरा गया। उसको लिखने वाले आचार्य समंतभद्र आदि हुए। अपनी बात को तर्क के साथ कैसे सिद्ध किया जाए, वो व्याख्या आचार्य समंतभद्र ने जैनन्याय के रूप में आगे बढ़ाई। आचार्य अकलंक, समंतभद्र स्वामी का एक युग चला है। 'अष्टसहस्री' कर्ता आचार्य विद्यानंद स्वामी ने इस विषय को और– आगे बढ़ाया, विस्तार किया। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने द्रव्यानुयोग को बहुत अच्छे तरीके से प्ररूपित किया तो ऊपरवर्ती आचार्यों को विषय मिलने के कारण उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में जैन अध्यात्म के अनेक ग्रंथों की प्ररूपणा की है। ये मत समझना कि अध्यात्म था नहीं। कभी–कभी सदियों में आचार्य परंपरा में उलझ करके व्यक्ति सिद्धांतों की सीमा बाँध लेते हैं। ये तो कुन्दकुन्द से शुरू हुआ, जिनसेन से शुरू हुआ, समंतभद्र से शुरू हुआ, पूज्यपाद से शुरू हुआ। ऐसा विषय बाँध करके, मान करके तुम सनातन श्रुत की विच्छति मत कर बैठना।

ज्ञानी! तीर्थंकरों ने श्रुत का निबंधन किया है, कि उद्घाटित किया है, कि निर्मित किया है? **तीर्थंकरों ने सनातन श्रुत को बतलाया है, बनाया नहीं है। श्रुत सादि है, कि अनादि है? ये सब समझना इसलिए आवश्यक है कि कुछ लोगों को भ्रांति है कि ये तो भगवान् महावीर स्वामी से शुरू हुआ है। यदि ऐसा मानते रहोगे तो तुम्हारा जैनदर्शन महावीर स्वामी से प्रारंभ होगा। जब तीर्थंकर की दिव्यध्वनि खिरती है, तभी से उनका धर्मतीर्थ/शासन प्रारंभ होता है, उसके पूर्व नहीं होता है। इसलिए आपको कहना चाहिए कि श्रुत स्याद् सादि स्याद् अनादि। वर्तमान में जो वाणी प्राप्त है, वह भगवान् महावीर स्वामी से प्राप्त है। इस दृष्टि से सादि है, लेकिन भगवान् महावीर स्वामी ने वही कहा है जो पूर्व तीर्थंकरों ने कहा है। पूर्व तीर्थंकरों ने जो कहा है, वो उनके कहने से ऐसा नहीं है। जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा कथन किया गया है। इसलिए धर्म सनातन है, अनादि ही है और श्रुत अनादि ही है।**

महावीर स्वामी का प्रचार हुआ तो लोगों ने ऋषभदेव का प्रचार प्रारंभ कर दिया। बोले हम यहाँ से नहीं, यहाँ से हैं। एक भूल को सुधारने में दूसरी भूल कर दी। आपको यह कहना चाहिए कि तीर्थंकर महावीर स्वामी के पूर्व २३ तीर्थंकर और हुए हैं। इन २३ तीर्थंकरों के पूर्व भी अनंत

चौबीसियाँ हो चुकी है, इसलिए धर्म सनातन है। मित्र! तीर्थंकर कर्त्ता नहीं, विचारक प्रचारक हैं।

ज्ञानी! कर्त्तृत्व को हम स्वीकार नहीं करते। तीर्थंकर भगवान् प्रचार की दृष्टि से, वर्तमान में कहने की दृष्टि से ही कर्त्ता हैं, पर सनातन कर्त्ता नहीं हैं। तीर्थंकर धर्मतीर्थ को करनेवाले हैं, धर्म की प्रवृत्ति को विस्तृत करनेवाले हैं। जो लोग भूल चुके हैं, उसको बताने वाले हैं। लेकिन जिसे हम वस्तुस्वभाव धर्म कह रहे हैं, उस धर्म को उपचार भाव से बताने के कर्त्ता हैं, कर्तृत्व भाव है, लेकिन वस्तु तत्त्व को बनाने वाले नहीं हैं। बहुत सारे विषय उपचार की दृष्टि से चलते हैं। सामान्य लोग नहीं समझते हैं, वे सीधे कर्त्ता ही मान लेते हैं। जहाँ हमारे आचार्यों ने तीर्थंकरों के लिये कर्त्ता शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ उपचार लगाना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने तीर्थंकरों के लिए कर्त्ता शब्द का प्रयोग किया है।

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।

(१ प्र.सार.)

'प्रवचनसार' जी में मंगलाचरण में उन्होंने तीर्थंकर महावीर स्वामी को धर्मतीर्थ का कर्त्ता कहा है। आचार्य अकलंक स्वामी ने 'लघीयस्त्रय' ग्रंथ के मंगलाचरण में तीर्थंकर भगवंतों को कर्त्ता कहा है।

धर्मतीर्थ करेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
वृषभादि महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये।।

आप धर्मतीर्थ के कर्त्ता हो, लेकिन वहाँ भी दृष्टि यही थी कि प्रभु! आप उपदेष्टा हो। ज्ञानी! जो ज्ञाता होगा, वही तो वक्ता होगा। ज्ञाता हुये बिना कोई वक्ता होता नहीं। जो ज्ञाता हुए बिना अपने आपको वक्ता मानता है, वो वक्ता होता नहीं।

जब किसी व्यक्ति से बनता नहीं है तो वो येन–केन–प्रकारेण कोई–न–कोई दोष आप में खोजना चाहता है। जब कोई दोष नहीं दिखा, तो बोल दिया कि बोलते वो हैं जो पागल पुरुष होते हैं। पागल पुरुष ही बोलते हैं। जिन जिन ने बोला है जो वक्ता है वह पागल/रथ्या पुरुष है। तब अकलंक स्वामी ने कहा कि वे रथ्या पुरुष नहीं हैं। **श्रेष्ठ वक्ता वही होता है जो श्रेष्ठ ज्ञाता होता है।** ज्ञाता हुए बिना तुम बोलोगे क्या? इसलिए भगवन् का बोलना पागल पुरुष की पहचान नहीं है, ये परम ज्ञाता की पहचान है। उन्मत्त की, अल्प बुद्धि की भाषा अलग होगी। जिनके सर्वांग से दिव्यध्वनि खिर रही है, वे उन्मत्त पुरुष नहीं हैं।

ज्ञानी! जो प्रमाण नय निक्षेप है, इसकी जो व्याख्या है, वह आचार्यों ने तीर्थंकर परंपरा से कही और तीर्थंकर भगवंतों ने वही कहा है जो वस्तुव्यवस्था थी। उन्होंने अलग से कुछ भी नहीं कहा है और न बनाया है। संपूर्ण चर्या को निर्दोष पालते हुए, अध्यात्म की व्याख्या को अच्छे से समझते हुए, जो कर्तृत्व भाव लोक में जैसा निहित है वैसा तुमने तीर्थंकर में निहित कर दिया, तो फिर चर्या, ज्ञान के होने पर भी वो ज्ञान, वो चारित्र 'कु' उपसर्ग से युक्त होगा। लोक से तात्पर्य, जैसे लोक में अन्य मतावलंबी जैसा कर्तृत्व मानते हैं वैसा कर्तृत्व आप भी स्वीकारते हो तीर्थंकर को अथवा तीर्थंकर के केवलज्ञान को, तो आप मिथ्यादृष्टि हो।

जैसे कर्मप्रदत्त एकांत, पुद्गल कर्तृत्व एकांत, निमित्त कर्तृत्व एकांत, ऐसे ही केवलज्ञान के कर्तृत्व में भी एकांत है, मिथ्यादृष्टि ही हो। सर्वज्ञ जो जान रहा है, परंतु वस्तु जैसी है वैसी जान रहा है। सर्वज्ञ के किसी भी ज्ञान से जगत् के किसी भी द्रव्य में परिणमन होता है क्या? नहीं होता। केवली के ज्ञान से किसी भी द्रव्य में परिणमन होता है क्या? नहीं होता। **जो द्रव्य में परिणमन चल रहा है, वो केवली के ज्ञान में मात्र झलक रहा है, लेकिन आरोपित कथन करके तुम यह क्यों कह देते हो कि जो केवली के ज्ञान में झलकेगा, वैसा ही होगा। जबकि जैसा होगा, वैसा केवली के ज्ञान में झलकेगा।**

लोग दूर की वस्तु को प्रमाणिकता देने में बड़े आनंदित होते हैं। जबकि आवश्यक नहीं है कि दूर की वस्तु प्रमाणिक ही हो। जैसे छतरपुर में दिल्ली, जयपुर या दूरदराज से कोई विद्वान् आया तो उसको सुनने के लिए आपके यहाँ बहुत भीड़ लग जाएगी। क्यों? इतनी दूरी बनारस से पढ़कर आए हैं, जबकि बनारस जो पढ़ने गया था वो यहीं का छात्र था। कभी–कभी स्थानीय वैद्य महान् ज्ञानी होता है पर नागपुर आदि जाकर दिखाओ तो मानसिकता और ही होती है, क्योंकि वो दूर का था। ऐसे ही क्षेत्रांतर दूरवर्ती, धर्मांतर दूरवर्ती ये मिथ्यात्व के बड़े सूत्र हैं, मिथ्यात्व में ले जाने वाले सूत्र हैं। भिन्न धर्म का पुरुष जरा–सी अच्छी बात बोल दे तो आप शीघ्र प्रभावित हो जाते हो। धर्मांतर दूरवर्ती ने आपको प्रभावित कर लिया है, जबकि नीतिज्ञान की भाषा सबकी एक–सी हो सकती है, पर सिद्धांत एक–से नहीं हो सकते हैं। अध्यात्म की शैली एक ही हो सकती है, पर अध्यात्म के सिद्धांत एक से नहीं हैं।

क्षेत्रांतर दूरवर्ती से प्रभावित हो रहा है, कैसे? बनारस से, जयपुर से अध्ययन करके आया है। अरे भाई! इतनी दूर से विद्वान् चलकर आया है, पर इतनी दूर से तुमको ये पता नहीं है कि वे ही ईंट–चूने के भवन वहाँ होंगे, वैसे ही रागी–द्वेषी जीव वहाँ होंगे और वे ही चार संज्ञाओं से

प्रभावित जीव हैं, पच्चीस कषायों से ग्रसित जीव हैं। इसका जिनवाणी का निर्णय सम्यक् है तो दूरवर्ती में सम्यक्पना खोजना।

ज्ञानी! कभी निकटवर्तीपने में भी मिथ्यात्व होता है। कैसे? जो तुम्हारे नजदीक है, बहुत घुला–मिला है, जिन पर तुम्हारी आस्था टिकी हुई है, वे विपरीत भी कथन कर दें, लेकिन वे मेरे पास के हैं, मेरे हैं, मेरे लोग ऐसा कथन कैसे कर सकते हैं? इसलिए न निकटवर्ती की, न दूरवर्ती की बात मानना, न धर्मांतर, न क्षेत्रांतर की बात मानना। यदि आपको बात स्वीकारना हो तो सर्वज्ञदेव की बात स्वीकारना। खास करके पंचमकाल में, जो मूल सिद्धांत ग्रंथ हैं, उनसे मिलान करके ही बात को स्वीकारना। आवश्यक नहीं कि निकटवर्ती, दूरवर्ती सत्य बोलता हो। आवश्यक नहीं कि धर्मांतर दूरवर्ती सत्य बोलता हो और जो तुम्हारे धर्म के नजदीक है वो भी आवश्यक नहीं कि सत्य बोलता हो।

ज्ञानी! आप वर्तमान में मूलग्रंथ को देखिए। आचार्य अकलंक स्वामी ने 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में स्पष्ट लिख दिया है कि– दूसरे के अभिप्राय को बदलता अशक्य है।

ज्ञानी! आपने स्वयं भोजन बनाया और जैसे–ही ग्रास को आप मुख की ओर ले जाने को तैयार हुए, तो आपको एक जीव दिख गया। जैसे–ही जीव दिखा, अंतराय आ गया, जो मुख के पास जा रहा था वो मुख से दूर हो गया। अंतराय। अंतराय कौन–सी वस्तु है? जो दो के बीच में अंतर करवा दे, वह अंतराय है। मित्र! आप अच्छे–से रत्नत्रय की साधना कर रहे थे, पर साधना करते हुए अभिप्राय में एकांत आ गया और जिनवाणी से विपरीत एक सूत्र पर तुम्हारा विश्वास आ गया तो आपके मोक्षमार्ग में अंतर आ गया। आपकी सामायिक नष्ट हो चुकी है। सामायिक किसे मानते हो? कौनसी वस्तु है? पहले समता है कि समकित है? कि पहले समकित है कि समता है? ये सिद्धांत अध्यात्म की वाचना है, स्थूल की बात नहीं चल रही है। समकित के अभाव में समता कैसी? समकित के पहले समता कैसी? जहाँ पहले समकित होगा, सम्यक्त्वपना है, वहीं समता सामायिक है। जहाँ समकित नहीं है, वहाँ सामायिक समता नहीं है।

ज्ञानी! तात्पर्य समझिए। किसे तुम समता कह रहे हो? तुम शांत परिणामों को समता कह रहे हो। सभी जीवों पर साम्यभाव रखने को समता कह रहे हो। सभी जीवों पर साम्य भाव तो कभी–कभी कुलिंगी भी कर लेते हैं, दया का पालन वो भी कर लेते हैं। ज्ञानी! परमहंस १२वें स्वर्ग तक चले जाते हैं, किसके बल पर? समता के बल पर। नहीं, वो समता नहीं है। ये मुमुक्षु अनंतानुबंधी कषाय के काल में भद्रता के कारण, मंद कषाय के कारण जा रहा है। जहाँ समकितता

के साथ होगा, आर्त्त–रौद्र ध्यान का अभाव होगा, उसका नाम सामायिक है। सामायिक का एक ही सूत्र है– अभि मुख। जो निज आत्मा के अभिमुख हो रही है, उसका नाम सामायिक है। इसलिए पहले समकित, फिर सामायिक।

यदि समता को सामायिक कह रहे हो और समता यदि सामायिक हो गई, तो मिथ्यादृष्टि जीवों को सामायिक चारित्र हो जाएगा, जबकि मिथ्यादृष्टि जीव को सामायिक चारित्र नहीं है, करुणानुयोग से। चरणानुयोग की पद्धति से तो अभव्य जीव भी मिथ्यादृष्टि कहलाता है, अभव्य जीव भी मुनि कहलाता है। 'श्लोकवार्तिक' में इस विषय को बहुत अच्छे तरीके से समझाया गया है। 'पंचाध्यायी' इसी विषय पर निर्मित है। प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य ये अंतर की सत्ता में, पंचाध्यायीकार नहीं मानते हैं। आचार्य विद्यानंद स्वामी 'श्लोकवार्तिक' ग्रंथ में कहते हैं कि जहाँ सम्यक्त्व ही नहीं है, जहाँ आस्तिक्य गुण नहीं है, श्रद्धा गुण नहीं है, वहाँ पर आप क्रोध, कषाय मानते हो। भद्र परिणाम! भान के साथ बैठे शांत, विपरीत तत्वों का श्रद्धान है। आपको इसलिए शांत दिख रहे हैं। जगत् में कितने भिन्न लिंग वाले ऐसे साधु हैं जो बिल्कुल भद्र परिणामी हैं। उनका कुछ भी बिगड़ जाए तब भी वे शांत रहते हैं। पर उनकी शांतता जो है, ये क्रोध मान माया लोभ कषाय का मंद उदय चल रहा है। इसलिए कषाय से भिन्न मिथ्यात्व को पकड़ना पड़ेगा।

ज्ञानी! साम्य परिणामी जीव दिख रहा है, जो क्रोध मान माया लोभ है, इन कषायों के शांत होने पर मिथ्यादृष्टि हो सकता है कि नहीं? जिसे तुम शांत कह रहे हो, वह मंद है, परंतु किसी कषाय की सत्ता के बिना मिथ्यात्व जीता नहीं है। मिथ्यात्व जहाँ भी होगा, उसका सहचर अनंतानुबंधी कषाय ही होगी। अनंतानुबंधी कषाय के साथ सहचर मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि करणानुयोग का विषय बनाएँगे तो द्वितीय गुणस्थान में भी मिथ्यात्व स्वीकारना पड़ेगा। जबकि द्वितीय गुणस्थान में मिथ्यात्व नहीं होता है, पर अनंतानुबंधी चार कषाय में से किसी एक कषाय की सत्ता अवश्य होती है। इसलिए मिथ्यात्व जब भी होगा वहाँ नियम से कषाय होगी।

ज्ञानी! अनुंतानुबंधी कषाय की भद्रता भी इतनी महान् होती है कि घानी में भी पेल दो तो आवाज न निकले और संज्वलन कषाय में भी, बारह कोस की द्वारका भस्म होती है। ये भावों की दशा है वहाँ। आपने अग्नि में विरलन देखा, अग्नि में घनत्व देखा? दिगम्बराचार्यों के मस्तिष्क इतने विशाल थे कि अग्नि का विरलन, घनत्व देखा। घासफूस में लगी अग्नि में घनत्व नहीं होता, वहीं कोयले की अग्नि का घनत्व देखो। दूध अग्नि का संचय अधिक नहीं कर पाता है इसलिए गर्म उबलते दूध को प्लास्टिक की छन्नी से छान सकते हो। घृत अग्नि का बहुत संचय

कर लेता है, इसलिए गर्म घी को प्लास्टिक की छन्नी से छानोगे तो जल जाएगी। ज्ञानी! जो संज्वलन संबंधी क्रोध है उसने शांति भले ही जला दी हो, तब भी वहाँ संयम चल रहा था, घनत्व रूप नहीं था। पर मिथ्यादृष्टि जीव की शांतता भी इतनी घनत्वभूत है कि वह क्रोध में है, लोभ, मान, माया में है आप समझ नहीं पा रहे हो।

जो वर्षों से एक आसन पड़े हुए हैं, वर्षों से विभिन्न रूप बनाकर खड़े हुए हैं, शांत दिख रहे हैं, ज्ञानी जाएगा, उनको प्रणाम करके कहेगा, धन्य हो आपकी समता को। ज्ञानी! समता की परीक्षा तो करो कि कहीं ये समता अनंतानुबंधी मान की तो नहीं है? जो जीव कुलिंग को धारण किए हैं, जब आप उनके पास बैठते हो तो उनकी वर्गणाएँ आपको प्रभावित करती हैं। आपको अच्छा लगता है। वो जीव उच्च कोटि की आध्यात्मिक व्याख्या करना जानता है, एक आसन से घंटों बैठा रहता है, क्या उसमें समता है? करणानुयोग कहेगा कि उसका समता भेष ही नहीं है, क्योंकि कुलिंगी है। कुलिंग बुद्धिपूर्वक उसकी मान्यता में बैठा है, ईश्वर ही कर्त्ता, हर्त्ता, रक्षक है। ऐसे जीव के भीतर आपको समता के दर्शन हो रहे हैं। आप बैर नहीं लेना चाहते हो।

लोक में कैसी–कैसी मिथ्यात्व के आनंद की अनुभूतियाँ हैं। वो वैर नहीं लेना चाहता। अबोध है ये नहीं कह रहा है। उसमें समता दिख रही है आपको। अपर वेदांत ये नहीं कहता है कि गाय नहीं, बैल है। वो ये कहेगा कि गाय है। आप नकारात्मक भाषा का प्रयोग कर रहे हो क्या? अब आपको कषाय से कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसी बात है तो हान उपादान उपेक्षा। आप कषाय की उपेक्षा कर रहे हो कि अभाव कर रहे हो? जो उपासना कर रहे हो, वो उपासना कषायी करता है कि अकषायी? हे आनंद! तू आज भी पंचमकाल में भरतक्षेत्र में जीवित है। सुगत से पूछा कि मोक्ष के बारे में तुम्हारा क्या कहना है? वो कहते हैं जो दिखता नहीं उसे बताना क्या? वो कहते हैं कि जो प्रत्येक समय नष्ट हो रहा है, उसको जानने की क्या चेष्टा करना? उनसे पूछा कि स्वर्ग नरक के बारे में आपका क्या सोच है? तो वो कहेगा कि यह प्रश्न अव्याकरणीय है। यही संजय बेलट्ठि पुत्र से पूछो तो वह कहेगा कि मैं जानता ही नहीं हूँ, बताऊँ क्या? कितना ईमानदार था? यही उसकी बेईमानी थी।

ज्ञानी ने वर्द्धमान से पूछा तो उन्होंने कहा स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवाच्य, स्यात् अस्ति अवाच्य, स्यात् नास्ति अवाच्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवाच्य। आपके नहीं जानने से वस्तु का अभाव नियत है क्या? जिसे आप नहीं जानते हो, वो वस्तु अस्तिरूप है कि नास्तिरूप है? पता नहीं है। मेरे मित्र! कोई शांत कब होता है? वो शांति कौन–सी वस्तु है?

किसके अभाव में प्रकट होती है? शांति आत्मा का स्वभाव है, वह आत्मा का चिंतन निरंतर करने से प्रकट होती है। वो चिंतन, विचार किसमें आ रहे हैं? जीव में, कि आत्मा में आ रहे हैं? ये विचार जीव कर रहा है, कि आत्मा कर रही है? जीव कर रहा है। वो चैतन्य प्राणों के साथ कर रहा है, कि द्रव्य प्राणों के साथ कर रहा है? दोनों के साथ। वह संसारी होता है कि कषायी होता है? कषायी।

ज्ञानी! अस्ति एकांत भी मिथ्या है, नास्ति एकांत भी मिथ्या है। इसलिए अन्य जगह 'कषाय' शब्द का प्रयोग नहीं है, 'शांत' शब्द का प्रयोग है; परंतु विश्वास रखना, प्रत्यक्ष वही सिद्ध कर पाएगा जो परोक्ष को स्वीकार कर पाएगा। जो परोक्ष को नहीं जानता है, उसके यहाँ प्रत्यक्ष की सिद्धि होती नहीं है। संसार में कैसे–कैसे प्राणी हैं जो साक्षात् शेर को देखकरके कह रहे हैं कि मैं तो इसे बकरा मानता हूँ। आप अब क्या करेंगे? बोले 'नहीं, नहीं। बकरे का ये लक्षण होता है, अब तुम स्वीकार कर लो।' मैं तो इसे बकरा ही मानता हूँ। ज्ञानी! वो शेर को बकरा बोल रहा है। आपको छूट है कि आप शेर को बकरा बोलना चाहते हो तो बोलते रहिए। जो सत्य है वो रहेगा ही। आप बोल सकते हो, कर नहीं सकते हो। जब शेर खाने आएगा तब देखना कि बकरा है या शेर है।

'मैं नहीं मानता हूँ कि अजगर निगलता है।' बिल्कुल मत मानो। अजगर को लाओ, उसको सामने खड़ा कर दो। लेकिन विश्वास रखना, उसको निगल भी जाएगा, तो भी उसके मुख से नहीं निकलेगा कि मैं मानता हूँ कि अजगर निगलता है। ये माया है। दूसरे के कहे पर चलना बड़ा असक्य है।

मैं ज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ, वक्ता हूँ, लेकिन अपने आपको बदलने का कर्त्ता नहीं हूँ। लगता है कि लोगों को दर्शनों का ज्ञान नहीं है। पता नहीं किस समय कौनसा जीव किस दर्शन में प्रवेश कर जाए। 'अष्टसहस्त्री से स्वरूप समझ में आता है। स्वरूप मिथ्यात्व से कैसे अपनी आत्मा की रक्षा कर पाओगे? **समता जो है, सम्यग्दृष्टि को होती है।** भटक मत जाना। और वो भी कब? जब महाव्रत धारण कर लेगा तब। बिना महाव्रत के कोई समता नहीं है। समता का अभ्यास है, आपका सामायिक व्रत है। मुनियों का सामायिक चारित्र है।

जो मुनि कहते हैं मैं सामायिक करने जा रहा हूँ, वे यथार्थ में सामायिक करने नहीं जा रहे हैं। वे देववंदना करने जा रहे हैं। कोई सागर बोले कि मैं सामायिक करने जा रहा हूँ तो शास्त्रीय विरोध करने वाला ज्ञानी बोलेगा कि मैं आपको अभी नमस्कार नहीं कर सकता। क्यों? आप

सामायिक में नहीं हो और मैं नमस्कार, सामायिक वाले मुनि को ही करता हूँ। आपका तो सामायिक चारित्र है, जीवनपर्यंत तक होता है। एक श्वास भर के लिए भी दूर नहीं होता है। यदि दूर हो गया तो मुनि नहीं हैं। श्रावक तो ये कहता है कि मैं ४८ मिनिट या इतने काल के लिए सबको छोड़ता हूँ, यथार्थ में ये प्रतिज्ञा है। ये प्रतिज्ञा सिर्फ गृहस्थ के लिए कही गई है।

ज्ञानी! वर्तमान में मानसिकता क्या चल रही है? शांत होकर, आँख बंद करके, बैठ जाओ। इसे सामायिक कह रहे हैं। आप एक घंटा माला फेर रहे हो, उसे सामायिक कह रहे हो। ये तो माला वाली तुम्हारी १ घंटे की सामायिक चल रही है, वह मुनि के परिणामों की प्राप्ति के लिए चल रही है। पर हे मुनिराज! धन्य हो। एक श्रावक कहता है कि मैं जब इतनी प्रक्रिया करूँगा तब सामायिक कर पाता हूँ और आप चलते–फिरते खाते हुए भी सामायिक में लीन हो, आपकी सामायिक धन्य है। इसलिए आप सामायिक करने नहीं जा रहे हो, आप तो त्रैकालिक सामायिक में हो। कुछ मुनियों ने कहा कि मेरी सामायिक तो त्रैकालिक है, उन्होंने सामायिक करना ही छोड़ दिया। ऐसा भी हुआ है।

ज्ञानी! सामायिक २८ मूलगुणों में नहीं है, परंतु कृति कर्म है। आपको देववंदना करना है। वह देववंदना तुम्हारे लिए सामायिक है। सामायिक तो प्रतिक्षण चल रही है। जो सामायिक चारित्र है, त्रैकालिक चल रहा है। ये सामायिक चारित्र के भीतर देववंदना कर रहा है। समझो, ज्ञानी! लोई तो सब जगह है, पर आकार बनेगा तो रोटी का भिन्न बनेगा, पूड़ी का अलग स्वाद होता है। बर्फ जमाने केलिये पानी को फ्रीज के बदले हीटर पर रख दो, क्योंकि विद्युत तो एक ही है? विद्युत एक होने पर भी, फिर आ गया सापेक्ष स्वरूप अस्तित्व। विद्युत विद्युत में एकत्व है, पर उपयोग की दृष्टि से एकत्व नहीं है। आत्मा के प्रदेश नाक पर, कान पर, आँख पर भी हैं। एक अखण्ड आत्मा को देखोगे तो एकत्वभूत है, परंतु प्रत्येक अंग पर उसका क्षयोपशम भिन्न–भिन्न हो रहा है। इसी प्रकार से आप देववंदना करने जा रहे हो, उस समय की सामायिक भिन्न है। आप जिसे सामायिक चारित्र कह रहे हो, वो त्रैकालिक धारावाहिक है।

सामायिक में सब क्रिया हो रही है, पर सब क्रियाओं में सामायिक हो, यह नियत नहीं है। जहाँ–जहाँ पर ६वाँ/७वाँ गुणस्थान होगा, वहाँ नियम से सामायिक होगी। ज्ञानी वृक्षत्व की दृष्टि से सभी वृक्षों में एकत्व है, लेकिन आम, अशोक ये भिन्न–भिन्न हैं।

सामायिक करने जा रहा है जीव, देववंदना करने जा रहा है वह सामायिक–चारित्र है। वह अनुभव– गम्य है, अवाच्य है। सामायिक चारित्र जो है वह प्रवृत्तिभूत नहीं है, निवृत्तिभूत है। आगम

की भाषा में देववंदना प्रवृत्तिमूलक है, निवृत्तिमूलक नहीं है। जिसे आप प्रवृत्ति निवृत्ति मानते हो, उससे तात्पर्य जो स्थूल क्रिया होते दिख रही है, उस प्रवृत्ति से यहाँ प्रयोजन है। अन्यथा जब शुद्धोपयोग में जाएगा तो अशुद्ध की निवृत्ति होगी, शुद्ध की प्रवृत्ति होगी। वह प्रवृत्ति जो आप सुन रहे हो विहार कर, विहार मत कर। मिथ्यात्व, असंयम, अज्ञानता में विचरण मत कर, रत्नत्रय में विहार कर। पर ये जो विहार है, स्थानांतरित, देशांतर विहार है, वो प्रवृत्तिपूर्वक विहार है और ये जो रत्नत्रय विहार है, ये निवृत्तिपूर्वक, निवृत्ति मूलक विहार है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के ७वें अध्याय में संयम की व्याख्या है। वहाँ संयम को शुभास्रव/आस्रव तत्त्व में लिया है, पर ९वें अध्याय में संयम को संवर–निर्जरा में रखा है। ऐसा क्यों? सप्तम अध्याय में श्रावक की चर्या का व्याख्यान किया है इसलिये वहाँ प्रवृत्तिमूलक में रखा है। नवम अध्याय में संवर के साथ रखा है, निवृत्तिमूलक में रखा है। उपचार से देववंदना को हम सामायिक भी कहते हैं। लोक में यही प्रसिद्ध है कि महाराज का सामायिक का समय हो गया। देववंदना में सामायिक का उपचार गुणेगुण उपचार, गुण पर्याय उपचार, पर्याय गुण उपचार, पर्याय पर्याय उपचार, पर्याय गुणो उपचार, गुणो पर्याय उपचार ९ प्रकार के उपचार आगम में कहे गए हैं।

जितने फोटो टंगे हैं, ये पर्याय का उपचार है। वो भी पर पर्याय का उपचार चल रहा है। **कोई सामायिक में बैठा है और अपनी पत्रिका सेट कर रहा है कि ये फोटो यहाँ, वो वहाँ लगाना चाहिए। अब बताओ कि उसकी देववंदना चल रही है, कि पर्याय का आनंद लूट रहा है?** सामायिक में मन इधर–उधर भागता है। सुनो, ज्ञानी! सामायिक में मन उनका भागता है, जो मन को वश में करना चाहते हैं। वे अज्ञानी लोग हैं जो मन को वश करना चाहते हैं। मन को वश करने का अर्थ नहीं समझे। क्या करें? छाया में चलना गुरु ने सिखा दिया, बेचारे ने पंडाल लगवा लिया। मीठा खाना, उसका अर्थ ही उल्टा कर दिया। मीठा खा लिया, बीमार पड़ गया। ज्ञानी! मीठा खाने का मतलब था मीठा बोलना, मीठा सुनना, अच्छा बोलना और छाया का मतलब था धर्म के साथ चलना। पहले मन को वश करने का अर्थ समझिये, फिर मन को वश करिये।

इंद्रियों की प्रवृत्ति, निवृत्ति ये मन से हो रही है। जिसने मन को जीत लिया है, वही जितेन्द्रिय है। स्यात् जिसने ज्ञान को ज्ञान में लगा लिया है, वही मन वश कर सकता है। एक दृष्टि। दूसरी दृष्टि में मन वश करने का तात्पर्य है ज्ञेय बदल देना। ज्ञेय बदलिए। नहीं निहारोगे, अशुभ ज्ञेय में नहीं जाओगे। आप क्या कर रहे हो? विषय नहीं दे रहे हो और विषय को रोकना चाह रहे हो, ऐसा नहीं होता है। वे जीव कभी मन वश नहीं कर पाएँगे, न जीवन में कभी सामायिक हो पाएगी।

विषय देना जानते नहीं और विषय से रोक रहे हैं। यही तो हुआ आज तक, समयसार जी का निषेध किया, पर समयसार की व्याख्या नहीं की, इसका परिणाम यह हुआ कि विपरीत व्याख्या का प्रचार लोगों में बढ़ गया।

ज्ञानी! विषय देना सीखो, विषय को रोकना चाहते हो तो। यदि आपको सामने वाला बालक अच्छा लग रहा है, बार–बार चित्त जा रहा है, आप उसको रोको नहीं। आप वहाँ से चले जाओ। उसके चेहरे की जगह भगवान् का चेहरा देखो। ये स्थूल दृष्टि का दृष्टांत है। गहरे में जाओगे तो जो उसका चेहरा देखने का मन बार–बार कर रहा था, आप उसी को देखो। उसको ही ज्ञेय बना लो, ध्यान का विषय बना लो। आप दो मिनट के अंदर वहाँ से भाग जाओगे। जैसे कोई पागल पुरुष है, वो तुम्हें सताने लग जाए, उसे भगाओ मत, उससे कहो कि मेरे पास आके बैठ जाओ। वो स्वयं ही भाग जाएगा।

ज्ञानी! जिसका चित्त पापों में जाता हो, उन जीवों को चाहिए कि तन को पकड़ कर रख लो, मन से कहो कि तुम चले जाओ। वहीं जाना पाप के पास। वो टिकेगा नहीं, दौड़कर आएगा, वापस नहीं टिकेगा। टिकेगा उनका जो वास्तव में सामायिक करते होंगे और रस ले रहे थे विषयों का उनका टिकेगा। जो वास्तव में सामायिक की कामना करता है, उस व्यक्ति का ज्ञेय बनाने पर भी उसका चित्त वापस हो जाएगा। अभी प्रयोग कर देख सकते हो। **आगम भ्रमशीलों के लिए नहीं है। जो धर्म के लिए निवारण करना चाहते हैं, उनके लिए है।**

'अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकः शुद्धात्मानुभूति लक्षणो मोक्षमार्गो' निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धात्मा की अनुभूति का लक्ष्य ही मोक्ष है। **मोक्ष के इच्छुक प्राणियों के लिए जो शुद्धात्मा की अनुभूति है, वही मोक्षमार्ग है। 'पुरुषेण सेवितव्य'** वही पुरुषों को सेवन करना चाहिए **'इत्युपदिशति'** इस बात को कह रहे हैं। अभव्यों को उपदेश नहीं दिया है। हे भव्य **'आत्मानं स्थापय'** आत्मा को स्थापित करो। ज्ञानी! आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही मन है। जगत् के प्राणी जान नहीं पा रहे हैं जिसको जानना चाह रहे हैं, जो जानना चाहता हूँ उसे नहीं जान पाए, भ्रमित हो रहे हैं सब। मैं बहुत बड़ी साधना करना चाहता हूँ, यही तो विराधना है। आपको मेरी भाषा विपरीत लगेगी, पर पूर्ण सत्य है।

महाराजजी! तीन दिन से सोच रहा हूँ, बहुत बड़ी साधना करना चाहता हूँ। तीन दिन से प्रार्थना कर रहा है। इतना सोच कर कितना कर्मास्रव–बंध कर लिया? साधना करना चाहते हो, उसको हटाना ही नहीं चाह रहे हो। करने बैठ जाते तो ३ दिन में कितनी निर्जरा कर लेते। **सहज,**

साम्य, समता में लीन हो जाओ, 'विषयों के विषय को भी छोड़ दो', यही तो साधना है, जिसे मैंने छोड़ा है, उसे भी विषय बनाना बंद कर दीजिए। जो ज्ञान है, वही मन है। वो मन ही ज्ञान का परिणमन है। भावमन जो है, भाव इंद्रिय है, वे सब ज्ञान आत्मा के गुण हैं। जितने विचार हैं, सब ज्ञान का विषय है। सविकल्प है। 'सविकल्प ज्ञानं'। निर्ग्रंथ दशा निर्विकल्प विषय है।

ज्ञान सविकल्प है। जो ज्ञान को सँभाल लेता है, उसको जितेंद्रिय मन को सँभालने की कोई आवश्यकता नहीं है, सबकुछ सँभल गया है। एक दिन शांत होकर इस प्रकार सामायिक करो। प्रत्येक इंद्रिय पर अपना लक्ष्य ले जाना धीरे–धीरे क्रम से। 'कुछ सूँघना चाहता हूँ मैं।' अभी कोई सुगंध या दुर्गंध आयी भी नहीं थी, लेकिन ऐसा लक्ष्य ले जाने पर नाक में अनुभूति प्रारंभ हो गई। नाक में अनुभूति कि, नाक से अनुभूति प्रारंभ हुई? नाक से अनुभूति प्रारंभ हुई। अनुभूति कौन ले रहा था? ज्ञान। उस समय कुछ सुनाई नहीं पड़ रहा था। अरे भाई! ठहरो, बताओ क्या कह रहे हो? नाक से हटा तो कान में पहुँच गया। हाँ, ठीक, समझ में आ गया।

आपको मालूम कि एक काला आदमी आ गया, कहाँ? दिखाऊँ, तुम देख नहीं रहे ठीक से। अब कहाँ गया? नाक से कान पर, कान से आँख पर। कौन गया? ज्ञान गया। नेत्रों में भी नेत्र है, इसको जिस दिन जान लेगा उस दिन किसी को जानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अज्ञानियों ने नेत्रों से ही जाना है, पर नेत्रों के नेत्र से जो जान लेता है, वह परमज्ञानी है, वो तीसरा नेत्र है। यह व्याख्या अमृतचंद्र स्वामी ने 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' ग्रंथ में की है। 'तिलोय पण्णति' ग्रंथ में केवली भगवान् की वंदना तीसरे नेत्र से की है। क्यों ज्ञानी! आप त्रिनेत्री की वंदना करते हैं क्या? मैं तो करता हूँ।

अपने देश भारतवर्ष में आदिनाथ स्वामी की कितनी प्रतिमाएँ स्थापित हैं जिसमें तीसरा नेत्र बना हुआ है, ललाट पर। सलेहा पन्ना श्रेयांसगिरी में ऐसी प्रतिमाएँ हैं। लोगों को लगता है कि शिल्पकार ने तिलक लगा दिया, सरागी बना दिया। तुमको रहस्य का पता नहीं है। जो तिलक जैसा बना है, वो ही तीसरे नेत्र का प्रतीक है। आपके दो नेत्र, भगवान् तीसरे नेत्र से जानते हैं, यही शिल्पकार ने प्रकट किया है। मुमुक्षु! आँखों की आँख से देखो तो तुम सत्य देख पाओगे। इनमें पूर्ण सत्यपना नहीं है। अरे! देखो ये कैसा है? ठंडा है। इससे पहले पता क्यों नहीं था? उसमें ज्ञान, उपयोग नहीं गया था। ये उपयोग कौन–सी बला है?

जो चेतन का परिणाम है, वही तो उपयोग है। वास्तव में जिनको सामायिक करना है, जिनको

मन वश में करना है, उन जीवों को कुछ नहीं करना चाहिए। यानि ज्ञान को ही सँभाल लेना चाहिए। उत्कृष्ट साधना है ज्ञान को सँभाल लेना। **ज्ञान को संभाल लो, वही समाधि है, वही चारित्र है, वही सबकुछ है। असंयम में जाता है तो ज्ञान से ही जाता है। ज्ञेय में संयम नहीं है, तेरे ज्ञान में संयम आता है।** ज्ञान की अनेक संज्ञा है। स्पर्श, रस, गंध आदि ये सब तो विषय हैं। पाँच इंद्रिय भी ज्ञान की संज्ञा है, मन भी ज्ञान की संज्ञा है। स्यात् भेद, स्यात् अभेद। संज्ञा, प्रयोजन, लक्षण की अपेक्षा से इनमें भेद है, पर अधिकरण की दृष्टि से अभेद है।

हे भव्य! **'आत्मानं स्थापय'** आत्मा को स्थापित करो। **'क्व विषये'** किस विषय में? आत्मा को स्थापित कहीं नहीं किया जाता है, वास्तव में अपने ज्ञान को ही आपको स्थापित करना है। **'शुद्धज्ञानदर्शन स्वभावात्मतत्त्व सम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुचरण रूपा'** ऐसे शुद्ध ज्ञानदर्शन का अनुचरण हो **'भेद रत्नत्रय स्वरूपे'** जो अभेद रत्नत्रय है **'मोक्ष पथे'** ऐसे मोक्ष पथ में आप स्थापित करो। **'तमेव मोक्षपथं चेतयस्व परमसमरसी भावेन अनुभवस्व'** हे जीव! उस मोक्ष पथ में चेतन का परम समरसीभाव है, उसमें अनुभव करो। **'तमेव ध्याय'** उसी का ध्यान करो। **'निर्विकल्प समाधौ स्थित्वा'** निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर **'भावय'** उसी का भावना करो।

ये जितने सूत्र आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने बताए हैं ये सब समयसार के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार के हैं। **'तत्थेव विहर'** उसमें विहार करो **'तत्रैव विहर वर्तनापरिणतिंकुरु'** उसमें वर्तन करो। यहाँ विहार से तात्पर्य इधर–उधर घूमना नहीं है। निज में हमेशा सर्वकाल **'दृष्टश्रुतानुभूत'** देखे हुए सुने हुए अनुभव किए हुए, जो तुम देख रहे हो उनमें, जो सुनकर रखा है उनमें चित्त जा रहा है और पूर्व में जो अनुभव किया है उसकी स्मृति में जीवन बर्बाद हो रहा है। **'दृष्टश्रुतानुभूत भोगाकांक्षारूप निदानबंधादि पर द्रव्यालम्बनोत्पन्न'** परद्रव्य के आलम्बन से उत्पन्न हुआ **'शुभाशुभ संकल्पविकल्पेषु'** शुभ–अशुभ जो संकल्प–विकल्प है **'मा विहार्षी'** इनमें विहार मत करो यानि इनमें परिणमन मत करो, **'मा गच्छ'** मत जाओ, 'मा परिणतिं कुर्वन्ति' इनमें परिणमन भी मत करो। इस प्रकार से आचार्य जयसेन स्वामी ने स्पष्ट कर दिया है। कुन्दकुन्द देव का अभिप्राय ये है कि आप शुभाशुभ से भी अपनी परिणति को हटा करके, मात्र निज स्वात्मस्वरूप में ही विचरण करो।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

उत्थानिका : लिंग के मोही समयसार को नहीं जानते।

गाथा :

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं।।४१३।।

संस्कृत छाया :

पाषंडिलिङ्गेषु वा गृहिलिङ्गेषु वा बहुप्रकारेषु।
कुर्वन्ति ये ममत्वं तैर्न ज्ञातः समयसारः।।४१३।।

अन्वयार्थ : (ये) जो पुरुष **(पाषंडिलिङ्गेषु)** पाखण्डी लिङ्गों में **(वा)** अथवा **(बहु प्रकारेषु गृहिलिङ्गेषु वा)** बहुत भेद वाले गृहस्थ लिङ्ग में **(ममत्वं)** ममता **(कुर्वन्ति)** करते हैं अर्थात् हमको ये ही मोक्ष के देने वाले हैं ऐसे, **(तैः)** उन पुरुषों ने **(समयसारः)** समयसार को **(न ज्ञातः)** नहीं जाना।

समय देशना

भव्य बंधुओ! आचार्यप्रवर भगवत् कुन्दुकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसारजी में ध्रुवज्ञायकस्वभावी भगवान्–आत्मा के सहजस्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। वह एक स्वतंत्र आत्मा है। जो मेरी आत्मा है, कर्मों से बंधी होने पर भी स्वतंत्र है। पहले ये बात स्वीकारिये कि मैं आत्मा को कर्मबंध में स्वतंत्र देख रहा हूँ और इस स्वतंत्रता को दो धाराओं में देख रहा हूँ। एक वे हैं जो आत्मा को ईश्वर से परतंत्र किए हैं। एक वे दर्शन हैं जो आत्मा को कर्म से ही परतंत्र किया मानते हैं।

उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में जो मंगलाचरण किया है, वह पूर्ण दर्शनशास्त्र है।

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म–भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां, वंदे तद्गुण लब्धये।।

'मोक्षमार्गस्य नेतारं' शब्द ही कह रहा है, यदि जीव कर्म से आवृत्त ही है तो फिर मोक्षमार्ग की आवश्यकता क्या? जब मोक्ष होगा ही नहीं, तब मार्ग भी नहीं होगा। जिनकी धारणा है कि

मोक्ष है अथवा कर्म से युक्त ही है, उनके लिए प्रभु! आप मोक्षमार्ग के नेता हो। नेता का तात्पर्य मार्गदर्शक। मार्गदर्शक कब होगा? जब मार्ग होगा। और मार्ग कब होगा? जब मार्गी होगा। गंतव्य स्थान नहीं, तो पथ किस बात का? अलक्ष्य में कोई लक्ष्य नहीं होता है। कोई अवश्य ही साध्य होना चाहिए। साध्य है, इसलिए साधन है। 'साध्याभावे किम् साधनः' साध्य के अभाव में साधन क्या? साध्य है तो साधन है। कार्य है तो कारण। कार्य ही नहीं है तो कारण किस बात का? साधन साध्य के लिए है। **मोक्षमार्ग साधन है, मोक्ष साध्य है। उसका मार्ग रत्नत्रय धर्म है।** जब साध्य है, साधन है, तो कोई साधक भी होना चाहिए। जो साधक हैं, द्वैत में कि अद्वैत में? जो साधन है, वो द्वैत में कि अद्वैत में? साधक स्यात् द्वैत में है, स्यात् अद्वैत में है। साधन स्यात् द्वैत में है, स्यात् अद्वैत में है।

भिन्न कारण कार्य, भिन्न साधक स्व को देखते हैं तो द्वैत में लिप्त होते हैं। भिन्न साध्य साधन देखते हैं तब अद्वैत में होता है। दिगम्बर परंपरा में एक पिच्छिका, एक कमंडलु, जिनवाणी मात्र ये तीन ही उपकरण हैं। जो उपकार करे, उसका नाम उपकरण है। जो उपकार न करे, वो उपकरण नहीं है। जैसे नेत्रों पर पलक, मौहें ये उपकरण हैं। वे अज्ञानी हैं जो चेहरे की सुंदरता के राग में ब्यूटी पार्लर जाके बाल निकलवा रहे हैं। उनसे बड़ा पागल जगत् में कौन है? नाक में, कान में, नेत्र में बाल हैं, इसका उद्देश्य क्या? भइया! जैनदर्शन में शरीर विज्ञान भी है। जब तूफान, आँधी या नेत्रों को घातक कोई विषय सामने आता है तो पलकें नेत्रों के पास आ जाती हैं। वायु के साथ कण इस नाजुक अंग नेत्र में प्रवेश न कर जाए, इसलिए बाल सुरक्षा के लिए हैं। नासिका में बाल हैं जिससे श्वांस के काल में कोई व्यर्थ के कण प्रवेश न करें। नाक के भीतर के बाल उपकरण हैं। शरीर के अंगों में उपकरण हैं, जिससे अंतरंग इंद्रिय को कोई बहिरंग हेतु प्रभावित न कर सकें, इसलिए बाहर में पलक आदि हैं। ऐसे–ही **अंतरंग मोक्षमार्ग की रक्षा के लिए बहिरंग मोक्षमार्ग है। जो मात्र बहिरंग को मोक्षमार्ग मान रहा है, वह अज्ञानी है।**

ज्ञानी! पिच्छिका श्रमण का लांछन है, चिह्न है। यह आवश्यक है। यदि नोट पर चिह्न नहीं है तो वह देश की मुद्रा नहीं है, कागज है। देश की मुहर नहीं है तो कागज है, कोई कीमत नहीं है। नोट के मध्य में एक तार भी रहता है, रिजर्व बैंक के गवर्नर के हस्ताक्षर हैं। ऐसे–ही बहिरंग लिंग, श्रमण का जो है, वह पिच्छिका, कमंडलु दिगम्बरत्व है ये मुद्रा है। इसके बिना मात्र नंगा है। ये बहिरंग भेष की धारा है। यदि नोट में से तार निकला हो, बाकी सब हो, तब भी आप नहीं लोगे। ऐसे–ही श्रमण के पास पिच्छिका, कमंडलु, दिगम्बर भेष तो है, लेकिन संयम का तार निकल

चुका हो, विशुद्धि नष्ट हो चुकी है, असंयम में प्रवृत्ति चल रही है तो वह मात्र कागज है, उसका तार निकल गया है, उसको स्वीकार नहीं किया जा सकता।

श्रमण के पास तीन वस्तु हैं। यदि ज्ञान उपकरण, संयम उपकरण, शौच उपकरण के अलावा कुछ भी दिखाई देता है, वो श्रमणत्व का घात है। आपको भी यदि कुछ भेंट करना है तो मात्र ३ द्रव्य ही दान देना है। करपुट पर आहार देना। इसके सिवा आप कोई भी द्रव्य देते हो तो आपको यति हत्या का पाप लगेगा, क्योंकि **दिगम्बर परंपरा में श्रमण शब्द का प्रयोग उनके लिए है जो निज के लिए निज में श्रम कर रहे हैं** और आप तीर्थंकर की मुद्रा को कलंकित कर रहे हो। उनका जो परिणाम है आकिंचन धर्म है, उसको किंचन कर रहे हो। श्रावको! कभी भी योगियों को ये प्रेरित मत करना कि स्वामी आपके योग से मेरे मंदिर में धन इकट्ठा हो जाएगा, इसलिए चातुर्मास कर लो। ऐसी आकांक्षा लेकर कभी चातुर्मास नहीं कराना। इनको श्री से जोड़ने का प्रयास मत करो, इनको श्रीजी बनाने का प्रयास करो।

तीर्थक्षेत्र के विकल्प में यदि साधु लग चुके हैं तो वे कहीं–न–कहीं अपने तत्त्व से भिन्न हो रहे हैं, श्रमणत्व से भिन्न हैं। छतरपुर में जब मंदिर बन रहा था तब वहाँ से श्रावक आते थे, कहते थे, कि बड़ा मंदिर का कार्य हो गया है, छोटे मंदिर में प्रारंभ हो गया है। ठीक है, आप श्रावकोचित कार्य कर रहे हो, इसलिये आशीर्वाद है। यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन कहीं विशुद्धसागर ये बोलने लग गए कि अमुक जगह ऐसा बनवाना, यहाँ कमरा बनवाना आदि, तो नींव भी खुदेगी, ईंट आदि सामग्री भी आएगी, तो तुम्हारे मुनि–धर्म का नाश होगा, क्योंकि आपने षट्काय के जीव की हिंसा की है, हत्या की है।

ज्ञानी! कोई विदेशी व्यक्ति हिन्दी बोले तो व्याकरण के माध्यम से सीखने के कारण शुद्ध बोलेगा। यदि कोई भारतीय अंग्रेजी बोलेगा तो शुद्ध बोलेगा, क्योंकि व्याकरण के माध्यम से सीखी है। परंतु भारतीय हिन्दी बोलेगा तो वह सब खिचड़ी होगी। हम भी ऐसे हैं कि कहीं की बात कहीं लगा दें। जो जीव जिस पक्ष का है उसमें अनेक विकल्प खड़े कर सकता है, पर भिन्न पक्ष से आकरके आपके पक्ष को जानना चाहेगा तो ग्रंथों को खोलकरके देखेगा। प्रतिलिपि का तात्पर्य होता है जैसा लिखा है वैसा लिखना। जो प्रतिलिपि करता है वो ज्यों–का–त्यों उतारता है। मुनिराजों को निहारना चाहिए कि श्रावक प्रतिलिपि तो नहीं कर रहा है। जैसा मैंने पढ़ा है, वैसे दिख रहे हैं, तो इनकी आस्था शिखर पर चली जाएगी। जैसा लिखा है वैसा नहीं दिख रहा है तो सोचेगा कि जो पढ़ा है वो सही है कि जो देख रहा हूँ वो सही है? इसलिए श्रमणो! अपनी साधना/प्रवृत्ति ऐसी

नहीं करना जो संशय का हेतु बने, क्योंकि उन्हें लगेगा कि ऐसा दिख रहा है और जिनागम में ऐसा लिखा है तो जिनागम सही है कि जैन मुनि सही है?

ज्ञानी! जिनागम में लिखा है कि जो मुनि तिल तुष मात्र भी परिग्रह रखता है, वह निगोद का पात्र बनता है। पिच्छिका, कमंडलु, जिनवाणी के सिवा जो तिल तुष मात्र भी परद्रव्य का संग्रह करता है, वह निगोद का पात्र है।

कोई जीव दिगम्बरत्व पर आस्था लेकर आपके पास आया हो और उसी समय आप किसी से कह रहे हो कि इतना द्रव्य ब्रह्मचारी के पास रखवा देना, तो आपने श्रावक की श्रद्धा की हत्या कर दी। निमित्तपना है। जब आपके दर्शन से सम्यक्त्व हो सकता है, जिनबिम्ब–दर्शन सम्यक्त्व का कारण है, ये मुनि चेतन जिनबिम्ब हैं। चार प्राणियों सिंह, शूकर आदि ने आहार ही तो देखे थे। जटायु को देखो, उसने समता से आहार ही तो देखे थे। जब तुम आहार कर रहे हो तब श्रावकों/साधकों का स्वाध्याय चले वो तुम्हारा आहार है, वो तुम्हारी एषणा समिति है।

ज्ञानी! स्वाध्याय में आँखें अक्षरों पर, मन अर्थ पर हो, वही स्वाध्याय है। आँखें और मन ये दोनों भटकाने वाली हैं, दोनों को वश में करने का कोई उपाय है तो वो स्वाध्याय है। विश्व में अनेक संप्रदाय हैं, साधु हैं। किसी भी संप्रदाय में अपने हाथों से साधु को कोई बच्चे की तरह नहीं खिलाएगा। दिगम्बर संप्रदाय में सब काम छोड़कर माँ बन करके तुम्हारी अंजुली में आहार रखते हैं। हे श्रमण! जब वे श्रावक तुमको आहार देते हैं उस समय उनका स्वाध्याय कैसे चलता है? उनकी आँखें आपके द्रव्य के शोधन में रहती हैं, आस्था (मन) तुम्हारी निर्ग्रंथ मुद्रा पर होता है। हे श्रमण! वो श्रावक स्वाध्याय ही कर रहा है। वो स्वाध्याय की विशुद्धि का प्रभाव है कि देव पंचाश्चर्य करने खड़े हो जाते हैं। जो आस्थापूर्वक इन श्रमणों के हाथ में ग्रास रख रहा है, वो चारित्रमोहनीय कर्म की निर्जरा कर रहा है।

ज्ञानी! अभेद वृत्ति में लीन योगी की बात करने में इतना आनंद आता है तो परमात्मा की बात कितनी विराट है। मैं जैन कुल में जन्मा हूँ इसलिए नहीं बोल रहा हूँ। मैं शुद्ध क्षत्रिय, शुद्ध–ब्राह्मण हूँ, जैनत्व से युक्त भी हूँ। तीर्थंकर क्षत्रिय की सेना में कोई कायर व्यक्ति नहीं होता। जो प्राणिमात्र को अपने छत्र के नीचे रख ले वो क्षत्रिय होता है। जगत् के प्राणिमात्र की रक्षा के लिए पिच्छी को छत्री के रूप में लिए हुए हैं, वे क्षत्रिय हैं। मैं परिपूर्ण ब्राह्मण हूँ, द्विज हूँ। द्विज ही मोक्षमार्गी होता है। उसके लिए मोक्षमार्ग के नेता शब्द का प्रयोग है। दुनिया में तीन द्विज (दुजन्मा) होते हैं। एक तेरा मुख अर्थात् दूध के दाँत टूटकर दूसरे आते हैं। दूसरा पक्षी कौआदि

और तीसरे मुनिराज द्विज हैं। पहले मादा पक्षी अंडा देता है। एक बार जन्म अंडे का, फिर अंडे से बाहर निकलता है सो दुजन्मा होता है। मुनिराज का एक बार जन्म माता–पिता से हुआ, गुरु ने दीक्षा दी तो दूसरा जन्म हो गया, दुजन्मा।

हे द्विजो! तुम ब्राह्मण हो कि नहीं? मैं शुद्ध ब्राह्मण हूँ। 'आत्मने चरति इति ब्राह्मण:' ब्रह्म यानि आत्मा। उस आत्मा में जो रमण करता है उसका नाम ब्राह्मण है। ब्राह्मण जाति नहीं, पंथ ब्राह्मण नहीं। **ब्रह्म की लीनता ही ब्राह्मणत्व है। जिस जीव ने इंद्रियों को जीत लिया है वो जितेन्द्रिय है। जो जितेंद्रिय है, वो जिन है। जो जिन को पूजे, सो जैन है।** इसलिए अहम् ब्राह्मण, अहम् द्विज, अहम् क्षत्रिय, अहम् जिना (जैन)।

ज्ञानी! कहाँ जगत् के प्रपंचों में पड़े हो? किसको सुधारो, किसको बिगाड़ो? जो है, सो है। इसलिए शांति से जियो। मारीचि की होनहार विकृत थी तो समवसरण से भाग गया। जब होनहार अच्छी हो गई, तो शेर की पर्याय में श्रावक बन गया। आनंद में जियो।

साधक, साध्य, साधन। साध्य भी है, साधन भी है श्रेष्ठ–से–श्रेष्ठ, पर साधक नहीं है। साध्य पर ही सब टिका हुआ है। अभेद दृष्टि में मैं ही साधक, मेरी परिणति ही साधन, मेरी श्रद्धा ही साध्य। मैं परमात्मा में मिलना पसंद नहीं करता हूँ। मैं परमात्मा से मिलकर रहना भी पसंद नहीं करता हूँ। मैं परमात्मा में मिल जाऊँगा तो मेरी सत्ता का नाश हो जाएगा। उनसे मिलकर ही बैठा रहूँगा तो सेवक बनके रहना पड़ेगा। श्रमण संस्कृति में परमात्मा से मिलना, पास बैठना नहीं सिखाया जाता है। जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, जिन्होंने कर्मरूपी पर्वतों का भेदन कर दिया है, जो विश्व के समस्त तत्त्वों के ज्ञाता हैं, उन गुणों की प्राप्ति के लिए वंदना है। उनसे मिलने के लिए वंदना नहीं है। उन जैसा बनने के लिए वंदना है। मैं कर्तृत्व को स्वीकारता नहीं हूँ। मैं कर्त्ता किसी का बनता नहीं।

ज्ञानी! तू संगीतकार है तुझे भजन सुनाना है। 'गुरुवर आपकी कृपा से सब काम हो रहे हैं। करते हो तुम गुरुवर, नाम मेरा हो रहा है।' भैया! तुम गा जरूर रहे हो, पर ईश्वरवाद के राग से गा रहे हो, तुम जैनत्व को छोड़कर गा रहे हो। तुम्हारा कोई काम करने को परमात्मा आ रहे हों तो वो परमात्मा कैसे?

ओ पालन हारे, ओ निर्गुण न्यारे
तुमरे बिन हमरा कौन यहाँ?

जो इस गीत को गाते हैं, सुनते हैं, लगता है उनको मिथ्यात्व में पटक दिया गया है। क्यों?

निर्गुण दशा है, निर्गुण ब्रह्म है। वो वैशेषिक का निर्गुण ब्रह्म तो हो सकता है, पर जैनियों का निर्गुण ब्रह्म नहीं होगा। जब भगवान् आठ कर्मों का नाश करते हैं तो आठ गुणों की उत्पत्ति होती है। जब आप गुणविहीन हो जाएँगे तो जगत् में ऐसा कोई द्रव्य नहीं होता जो गुण से रहित हो। जो द्रव्य के आश्रित होता है, वो गुण होता है। गुण का कोई गुण नहीं होता है, परंतु द्रव्य का गुण नियम से होता है।

महाराज! सहस्त्रनाम में जिनसेन स्वामी ने निर्गुण लिखा है। ज्ञानी! इसलिए लिखा हुआ है कि मैं स्वगुण में स्वगुणी हूँ, मेरे में परगुण नहीं हैं, इसलिए निर्गुणी हूँ। वही तो भजन में आया था। मेरे मित्र! भजन में ऐसा कहाँ लिखा है? आपके पास स्याद्वाद नहीं है। आप बोलते हो कि मैं स्याद्वादी हूँ तो बहुत अच्छी बात है, तुम्हारा निर्गुण नहीं बचता। आपकी प्रतिज्ञा की हानि होती है। आपने प्रतिज्ञा की थी कि मेरा परमात्मा निर्गुणी है। एकांत से कहते हो तो निर्गुणी कोई द्रव्य होता नहीं है। यदि आप ऐसा कहते हो कि परगुण की अपेक्षा से निर्गुणी हैं, स्वगुण की अपेक्षा से सगुणी हैं, तो तुम्हारी प्रतिज्ञा की हानि होती है, तुम जैनी हो गए, अब तुम्हारा एकांत बचा कहाँ?

ज्ञानी! आस्था के साथ सत्य को समझ रहे हो तो तुम सत्य नहीं समझ पाओगे, क्योंकि जिस दिन तेरी आस्था मेरे प्रति हट जाएगी, तुम बदल जाओगे, तुम्हारे सिद्धांत बदल जाएँगे। आपको सत्य समझना है तो पहले आस्था को हटा दीजिए और अपने मस्तिष्क में सत्य का अन्वेषण कीजिए कि जगत् में ऐसा कोई द्रव्य है जो गुण विहीन है? जब जगत् में ऐसा कोई द्रव्य ही नहीं जो गुण विहीन हो, तो फिर परमात्मा निर्गुण नहीं हो सकता है। परमात्मा निष्कर्मा, निकम्मा तो हो सकता है, पर निर्गुणी नहीं है। मैं उस परमात्मा की वंदना करता हूँ जो निकम्मा है। आपको कोई निकम्मा कह दे तो आप लड़ने को तैयार हो जाओगे, पर मैं निकम्मा बनने के लिए मुनि बना हूँ। हे परमात्मा! वो दिन कब आए कि मैं पूर्ण निकम्मा हो जाऊँ। निकम्मा का अर्थ वो नहीं है जिसे आप निकम्मा कहते हो। जिसके आठों कर्म निकल चुके हों, वो सिद्ध परमात्मा, शुद्ध परमात्मा निकम्मा अर्थात् कर्म रहित है।

णिक्कम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पादवएहिं संजुत्ता।।

(१४ द्र.सं.)

बेटा! मैं कह रहा हूँ, इसलिए सत्य नहीं है। जो सत्य है, वह मैं कह रहा हूँ। **जो व्यक्ति**

पर के भय से परमात्मा के चरणों में आएगा वो कभी भी भग जाएगा। जो श्रद्धा से आएगा, वो कभी नहीं भगेगा। जो व्यक्ति पढ़कर आएगा, वो ही विचलित हो सकता है। जो तर्कपूर्ण आएगा, वो कभी विचलित नहीं होगा।

तर्कात्तन्निर्णयः।(१५/प.मु.)

तत्त्व का निर्णय मैं आपके कहने से नहीं करूँगा। तत्त्व का निर्णय तो तर्क से होगा। तर्क की कसौटी से जो निकलेगा, वही सत्य होगा।

भैया! आप लोगों की अनुकंपा चल रही है जैसे दर्शन के प्रति। ध्वनि में अटक कर दिव्यदर्शन को मिटा रहे हो। ये संगीत की ध्वनि पसंद तो आ रही है, पर ये दिव्य नहीं है। दिव्यध्वनि में तो यह कहा गया है–

गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।(५/३८ त.सू.)

पज्जय–विजुदं दव्वं, दव्व–विजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं, भावं समणा परूविंति।।

(१२ पंचास्तिकाय)

पर्याय से रहित गुण नहीं, गुण से रहित पर्याय नहीं, गुण–पर्याय से रहित द्रव्य नहीं। ये अनन्य– भूत हैं, ऐसा भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है। भैया! भक्तिमार्ग तो सत्य है, लेकिन भक्तिमार्ग में वस्तु– व्यवस्था को भंग मत कर देना। जैनदर्शन में द्वैत व अद्वैत भक्ति को स्वीकार किया गया है। ये जो मंदिर दिख रहे हैं, द्वैत हैं। निर्ग्रंथ दिख रहे हैं, यही अद्वैत हैं। मंदिर दिख रहे हैं, प्रतिमाएँ दिख रही हैं, पूजा करने वाले दिख रहे हैं, ये द्वैत हैं। जो मुनिराज हैं, वे भगवान् की पूजा नहीं करते, ये निज में लीन रहने के लिए मुनि बने हैं, अद्वैत हैं। श्रावकों को कहूँगा भगवान् की भक्ति करो और श्रमणों से कहूँगा निज की भक्ति करो। श्रावकों से यही कहना है–

दाणं–पूया–मुक्खं सावये–धम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइ धम्मं तं विणा तहा सो वि।।

(र.सार.)

दान करो, पूजा करो ये श्रावक का मुख्य धर्म है, इसके बिना तुम साधक नहीं हो। ध्यान करो, अध्ययन करो ये यति का मुख्य धर्म है, इसके बिना वह शोभा को प्राप्त नहीं होता है। साधु का कार्य तपस्या करना है। तपस्या करो, श्रुत में लीन हो जाओ। जो सुख की अखण्ड धारा है, वह अद्वैत है।

मैं अग्राही हूँ। मुझे कौन ग्रहण कर सकता है? जिसे तुम देख रहे हो, जिसे तुम जान रहे हो, वो भी नहीं है।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुण मसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं।।

(४९ स.सार.)

जिसको तुम देख रहे हो, वह रूप है, वो जाननेवाला नहीं है। जो जाननेवाला है, वह किसी को दिखाई नहीं देता है। मित्र! अद्वैत की अखण्ड धारा में चल रहे हो। जो देखनहार है, जो जाननहार है, उसे आप आँखों से न देख सकते हो, न कानों से सुन सकते हो। जो जाननेवाला, देखनेवाला है, उसका कोई रूप नहीं है, उसे तुम क्या देख पाओगे? निज स्वभाव की दृष्टि से, निज ज्ञान–ज्ञायकत्व की दृष्टि से, प्रमेय की दृष्टि से, मैं ग्राह्य हूँ और जिसको मैं ग्रहण किए हूँ उसको मैं कभी छोड़ूँगा नहीं।

ज्ञाता ज्ञान से स्यात् भिन्न है, स्यात् अभिन्न है। जब कहते हो कि मैंने इतना ज्ञान ग्रहण कर लिया है, ज्ञानी! निज के क्षयोपशम की वृद्धि हुई है, पर को ग्रहण नहीं किया है। निज ज्ञायकत्व भाव, निज ज्ञान को तुमने वृद्धिमान किया है। जो ज्ञान आपका है, वो तुमने ग्रहण किया है। कैवल्य को ग्रहण किया है, उसको मैं कभी नहीं छोड़ूँगा। क्यों भाई! आपके पास केवलदर्शन–ज्ञान गुण है? आपके पास अभी ज्ञानगुण है। अनंत सुख गुण है? नहीं है। उसको ग्रहण करेगा कि नहीं करेगा? प्रकट करेगा कि नहीं करेगा? जिसको तू प्रकट कर लेगा, फिर उसको कब छोड़ेगा? नहीं छोड़ेगा, क्योंकि छोड़ने की बात नहीं। स्वभाव की स्थिति बन जाएगी।

हे ज्ञानी! आप कैवल्य को प्राप्त करोगे कि नहीं? अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्य को प्राप्त करोगे कि नहीं? करोगे। जब इन चतुष्टय को जीव प्राप्त कर लेगा, तो छोड़ेगा कब? छोड़ने का सवाल ही नहीं उठता। मेरी आत्मा में ऐसी अवस्था आती है तो ग्रहण कर लेता हूँ, कभी छोड़ता नहीं। विभाव को छोड़ा जाता है, स्वभाव को छोड़ा नहीं जाता। जो तेरा त्रैकालिक स्वभाव था, जो कर्म से आवृत था, कर्म हट गए, स्वभाव तेरा प्रकट हुआ न? प्राप्त किया न तूने? अभिन्न को भी ग्रहण किया जाता है और अभिन्न को ग्रहण करके छोड़ा नहीं जाता है। आपने रत्नत्रय ग्रहण किया कि नहीं? प्राप्त किया। आपने प्राप्त किया है उसको छोड़ा नहीं जाता है, छूटता नहीं है। जब परम स्वभाव को प्राप्त कर लेगा तो छूटता नहीं। क्या अनंत सुख, दर्शन, वीर्य छूट जाएगा? कुछ भी नहीं छूटेगा। जो स्वभाव है उसे ग्रहण करने वाला जीव छोड़ता नहीं है।

भैया! आपका जो भजन है, वह दिव्य ध्वनि के विपरीत है, जैनागम के विपरीत है। अब दिव्यध्वनि सुनी है, अब ये भजन गायेगा।

दुनिया में सबसे न्यारा, ये आत्मा हमारा
जले नहीं कभी अग्नि में, भीगे नहीं पानी में।
सूखे नहीं पवन के द्वारा, ये आत्मा हमारा।।

देखो ध्वनि भी है, दिव्यध्वनि भी है। **जो सत्य भी हो, सुंदर भी हो, ऐसा काम होना चाहिए। बहुत सारी बातें सुंदर होती हैं, पर सत्य नहीं होती हैं।** एक राजा जो एकाक्षी था, उसने अपना चित्र बनाने के लिए तीन चित्रकारों को बुलाया। एक चित्रकार ज्यादा ईमानदार था, उसने सोचा कि अपन तो सब सत्य कार्य करेंगे, सो उसने राजा का सुंदर चित्र एक आँख रहित बना दिया। दूसरे चित्रकार ने सोचा कि मुझको आँखों से क्या मतलब? उसने दोनों आँख सहित चित्र बना दिया। तीसरा चित्रकार ज्ञानी था, बोला, अपन झूठा काम नहीं कर सकते। सत्य को छिपाना नहीं है, पर सत्य को बहुत सोच–समझके सामने लाना है, **क्योंकि असमय में बोला गया सत्य भी दुःखदाई होता है।** सत्य भी सुंदर होना चाहिए। उसने क्या किया? राजा के हाथ में धनुष–बाण बना दिया। निशाना लगाने के लिए एक आँख बंद करनी पड़ती है, सो एक आँख बंद बना दी।

राजा आया, प्रथम चित्र देखकर उसका मुँह लटक गया, बोला, 'सत्य तो है, लेकिन सुंदर नहीं है। जो है सो है।' दूसरे चित्र के पास गया तो बड़ा सुंदर लगा, लेकिन थोड़ी देर बाद उसका हृदय दुःखित हो गया, 'सुंदर तो है, पर सत्य नहीं है।' तीसरे चित्र के पास राजा गया तो खुश हो गया, 'ये सत्य भी है और सुंदर भी है।' ज्ञानियो! 'दुनिया में सबसे न्यारा ये आत्मा हमारा' ये सत्य भी है और सुंदर भी है, लेकिन जो पालनहारे गाने है ये सुंदर तो हैं, पर सत्य नहीं हैं।

कण–कण, अणु–अणु स्वतंत्र है। 'स्वतंत्रतः कर्त्ताः' ये सूत्र कहाँ चला जाएगा? दौलतरामजी, बनारसीदासजी, भूधरदासजी आदि ने भजन बनाए हैं, इनके भजनों को देखो तो लगता है समयसार लिखा है। **सत्यम् शिवम् सुंदरम्।**

भैया! तुम भक्ति कर या मत कर, पर भगवान् को ऊपर से नीचे मत उतार। प्रभु को पहले नीचे से ऊपर ले जाते हैं, फिर ऊपर से नीचे लाते हैं। पर ज्ञानी! भगवान् क्या कह रहे हैं? जब परिणाम होते हैं गुणस्थान ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर होते कि नहीं होते हैं? ये भैया अभी क्या गा रहा था **'कभी वीर बनके, महावीर बनके चले आना...''**

ज्ञानी! तू क्या कह रहा है? जबकि जैनियों में मोक्ष होता है तो वह जीव दग्ध बीज के समान हो जाता है। **जैसे जला हुआ बीज पुनः अंकुरित नहीं होता, ऐसे–ही जिसका भव बीज नष्ट हो चुका है, वह संसार में लौटकर नहीं आएगा।** ये वीर बनके कब से आ गए प्रभु?

ज्ञानी! भगवत् भक्ति में भक्त क्या–क्या कर देता है? शरीर के कष्ट को दूर कर लेता है, अड़तालीस ताले तोड़ लेता है, चंद्रप्रभ स्वामी को प्रकट कर लेता है, लेकिन भक्त फिर भी भगवान् को कर्त्ता नहीं बनाता है। तुम्हारी ये जो भक्ति की भाषा है, भक्ति नहीं है। ये नकलची, बुद्धिविहीन भाषा है। भक्ति तो वादिराज स्वामी, मानतुंग स्वामी, समंतभद्र स्वामी ने की है। धनंजय कवि ने की है, पूज्यपाद स्वामी ने भक्ति की है। पूज्यपाद स्वामी के नेत्रों की ज्योति चली गई तो शांतिनाथ स्वामी की भक्ति में बैठ गए, गई ज्योति वापस आ गई। खूब भक्ति करो, लेकिन भक्ति की भाषा भक्ति की ही होनी चाहिए, विपरीतता की भाषा नहीं होनी चाहिए। भक्तो! भक्ति तो करो, लेकिन अपनी भाषा में भगवान् को, जिनागम को बदनाम मत करो। जो है, सो है। पिच्छी–कमंडलु बाद में लेना चाहिए, पहले अपने सिद्धांतों को मजबूत करना चाहिए। पिच्छी–कमंडलु लेकर गाना शुरू कर दिया तो समाज कहेगी कि महाराज, माताजी गा रहे हैं तो सत्य ही होना चाहिए।

भैया! यतिसंघों में विद्वानों का आना आवश्यक है। प्रौढ़ लोगों का रहना भी आवश्यक है। विद्वान् चारित्र गुण में हीन हो सकता है, लेकिन उसके पास ज्ञान तो है। कभी ज्ञानियों को हीन मत देखना और ज्ञानियों को कभी चारित्रवान को हीन नहीं देखना चाहिए। सबका अपना–अपना क्षयोपशम है। आचार्य भगवत् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा में कह रहे हैं–

पासंडी लिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं।।

(४१३ स.सार.)

जो मुनि भेष में शुद्ध आचरण का पालन करते हुए भी इस भेष में राग कर रहे हैं, स्वयं की मुनि मुद्रा में राग कर रहे हैं वो समयसार–भूत नहीं है। जो दुनिया की संस्थाओं में लिप्त हो रहे हैं, वो समयसारभूत नहीं हैं। जो दुनिया की संस्थाओं में लिप्त हो रहे हैं, वो काहे के मुनि हैं? जो है, सो है। ये मुनि की निंदा नहीं है। कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं मुनि थे, जिन्होंने ये ग्रंथ लिखा है। वे मुनिपद की अवहेलना नहीं कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि योगीश्वर का भेष उसका भाव नहीं है, भाव का बोध कराने के लिए भेष है। भेष भाव नहीं है, भाववान जो है, वो भेषवान अवश्य होगा। भाववान जो है, वो भेषवान होगा। पर भेषवान भाववान हो, आवश्यक नहीं है।

ज्ञानी! जीवन में कभी मुनि बनने के लिए आए तो दुनिया के पंथों, गणों, गच्छों, संतों, निर्ग्रंथों से दूर रह सको तो कपड़े उतारने के भाव रखना और यदि पंथवाद, गणवाद, गच्छवाद में उलझना हो तो मेरे मित्र! अष्ट द्रव्य से पूजा करते रहना। तुमको चंदा इकट्ठा करना हो, भिखारी बनके घूमना हो तो अरिहंत भेष को लजाने मत जाना। जो तुमको चाहिए था, वह रत्नत्रय धर्म तुझे मिल गया है, इसके आगे तुम्हें क्या चाहना है?

सागर चातुर्मास में क्या हुआ? समाज के लोगों ने आपस में मीटिंग कर ली और कहा 'महाराज! आपने चातुर्मास किया, समाज में अखण्डता हो गई। समाज आपको उपाधि देना चाहती है।' और बिना पूछे भरी सभा में बोले 'ज्ञान–शिरोमणि आचार्य विशुद्धसागर महाराज की जय।' ज्ञानियो! ब्रह्मांड में यदि कोई ज्ञानशिरोमणि है, तो केवली भगवान् हैं। मैं आपकी समाज की भेंट लेता हूँ और ये उपाधि केवली भगवान् के चरणों में समर्पित करता हूँ। जब आचार्य विरागसागरजी ने रत्नत्रय का गजरा पहना दिया है, इससे बड़ा सम्मान आप क्या दोगे? इसलिए मुझे मुनि ही रहने दो, इसके आगे मुझे कोई सम्मान नहीं चाहिए। ज्ञानियो! जिसने शील का हार पहन लिया है, उसे तुम कौन–सा हार पहनाना चाहते हो? जिसने शील का हार पहन लिया है और दुशील के हार को उतार कर फेंक दिया हो, ऐसे सारे साधु जयवंत हों। जो शिवसुख में स्थित हो रहे हैं, जिनका भय निकल चुका है।

आओ भइया! चंदन का तिलक लगवाओ। ज्ञानी! ये चंदन तो कर्दम ही है। जैसे पानी में मिट्टी मिलने पर कर्मद/कीचड़ बनता है, ऐसे–ही चंदन को मूठे को पानी के साथ पीसा तो क्या बना? चंदन–कर्दम। जो चंदन का कीचड़ तिलक लगवाकर अपने को धन्य मानते हों, उनको धिक्कार है। यदि तिलक लगवाना हो तो रत्नत्रय का तिलक लगवाओ।

ज्ञानियो! **'पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु'** का तात्पर्य है जो पाखण्डी लिंगों में अथवा बहुत भेद वाले गृहस्थ लिंग में ममता करते हैं अर्थात् ये हमको मोक्ष देने वाले हैं ऐसे उन पुरुषों ने समयसार को नहीं जाना है।

'ये खलु श्रमणोऽहं' जो ऐसा ही मानते हैं कि मैं श्रमण हूँ **'श्रमणोपासकोऽहमिति'** अथवा श्रमण का उपासक हूँ। श्रमणोपासक श्रावक का ही पर्यायवाची नाम है। **'द्रव्यलिङ्गममकारेण मिथ्याहङ्कार कुर्वन्ति'** इस प्रकार द्रव्यलिंग में ममकार करके मिथ्या अहंकार करते हैं **'तेऽनादिरूढ व्यवहार विमूढ़ाः'** वे अनादि के चले आए व्यवहार में विमूढ़ हुए **'प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः'** भेदभाव वाले निश्चयनय को नहीं पाते हुए ज्ञानरूप समयसार को नहीं देख पाते हैं। ऐसा अमृतचंद्र

स्वामी टीका में कह रहे हैं।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने गाथा ४१३ की संस्कृत टीका (आत्मख्याति) में तीन शब्दों का प्रयोग किया है 'अनादि रूढ़' 'व्यवहार मूढ़' **'निश्चयमनारूढाः'।** ये बहुत गहरे शब्द हैं। अनादि रूढ़ यानी ये जीव अनादि से उन्हीं विषयों में आरूढ़ है जो अनात्मभूत हैं। अनात्मभूत व्यवस्था में इतना आरूढ़ है कि व्यवहार में मूढ़ हो रहा है। जिसके लिए व्यवहार था, उस पर दृष्टि नहीं है और व्यवहार में इतना मूढ़ हो गया कि शरीर के धर्म को ही आत्मा का धर्म मान बैठा। कोई परमार्थ की बात करे तो कहता है कि आप व्यवहार को छोड़ रहे हो, जबकि परमार्थ व्यवहार को कभी छोड़ता नहीं है। व्यवहार परमार्थ में प्रवेश कर जाए, इसलिए है।

छोड़े बिना प्राप्ति भी नहीं होती। प्रथम सीढ़ी अवश्य है। प्रथम सीढ़ी के बिना ऊपर मंजिल पर नहीं जाया जा सकता, पर प्रथम सीढ़ी को छोड़े बिना मंजिल नहीं मिल सकती। प्रथम सीढ़ी पर आपको जाना ही पड़ेगा, उसको प्राप्त करना ही पड़ेगा। प्रथम सीढ़ी को छोड़े बिना द्वितीय सीढ़ी प्राप्त कैसे करोगे? प्रथम सीढ़ी मुझे ऊपर भेजती है, इसका तात्पर्य ये नहीं है कि तुम प्रथम सीढ़ी को पकड़कर बैठ जाओ। उतना स्वीकार है यदि मैं प्रथम सीढ़ी पर चढ़ूँगा तो अगली सीढ़ी को प्राप्त कर लूँगा, लेकिन जैसे– जैसे चढ़ोगे वैसे–वैसे छोड़ना ही पड़ेगा।

इसी प्रकार से व्यवहार मोक्षमार्ग प्रथम सोपान है। उस प्रथम सोपान को ही पकड़कर बैठ जाओगे तो अंतिम अवस्था को प्राप्त कैसे करोगे? प्रारंभ में जिनलिंग ही स्वीकार करना पड़ेगा, व्यवहार रत्नत्रय ही स्वीकार करना पड़ेगा, पिच्छी–कमंडलु धारण करना ही पड़ेगा, दिगम्बर रूप धारण करना ही पड़ेगा। व्यवहार में आरूढ़ अनादि से हो, पर कहीं व्यवहार में मूढ़ तो नहीं हो? व्यवहार–मूढ़ तो नहीं हो? बोले, भाई! आत्मा का ध्यान करो', आत्मा दिखती है क्या? जो न दिखे, उसे स्वीकार करूँ कैसे? मैं नीरस उपवास कर रहा हूँ, मैं द्रोणगिरी तीर्थ की १०८ वंदना कर रहा हूँ। मेरे मित्र! तुम ये ठीक कर रहे हो, पर ये क्यों कर रहे हो? शरीर को सुखाने के लिए, कि परिणामों की विशुद्धि के लिए, कि कषाय को मंद करने के लिए? कषायों की मंदता, परिणामों की विशुद्धि की अनुभूति न हो तो विशुद्धि कैसी? क्योंकि वस्तु हो और उसकी अनुभूति न हो, तो वस्तु कैसी?

अरिहंत की पूजा करने वाला भी अनुभूति लेता है तो आह्लाद को प्राप्त होता है। अनुभूति रहित यदि पूजा करता है, तो मात्र क्रिया है। व्यवहार–आरूढ़ व्यवहार–मूढ़ मत हो जाना। यदि आप यह कहते हो कि मैं आत्मा परमात्मा कुछ नहीं जानता हूँ, मुझे तो इतना मालूम है कि

दिगम्बरत्व से मोक्ष मिलेगा। तो दिगम्बरत्व की परिभाषा क्या है? पिच्छी, कमंडलु और नग्न भेष दिगम्बरत्व है क्या?

जो वस्तु का स्वभाव है, वह तत्त्व है। दिगम्बर भेष जो है, वह दिगम्बरत्व नहीं है। भेष के साथ तदनुकूल चर्या, क्रिया के साथ परिणति है, वह दिगम्बरत्व है। अंतरंग में विशुद्धि के साथ अनुभूति लेना आनंद है। अनुभूति नहीं है, तो वस्तु ग्रहण क्यों? जितनी प्रीतिपूर्वक आप दान दे रहे हो, लेने वाले का चेहरा भी प्रसन्न झलकता है तो दाता के परिणामों में विशुद्धि आती है। यदि आपने किसी को दान दिया और उसके चेहरे पर प्रसन्नता नहीं आई, तो देनेवाला सोचेगा कि द्रव्य खराब कर दिया इस आदमी को देकर। **आपका द्रव्य उत्कृष्ट है, दाता के परिणाम उत्कृष्ट हैं, पात्र की परिणति निर्मल नहीं है, तो दान में भी आनंद नहीं आता है। लेनेवाले के परिणाम अच्छे हैं, द्रव्य अच्छा है, पर दाता में विशुद्धि नहीं है, तब भी उत्कृष्ट पुण्य नहीं मिलेगा। पात्र अच्छा है, दाता अच्छा है, पर द्रव्य को देखकर सामनेवाले की इच्छा भंग हो गई तो उत्कृष्ट पुण्य नहीं मिलेगा।** द्रव्य भी उत्कृष्ट हो, दाता व पात्र भी उत्कृष्ट हो, विधि भी उत्कृष्ट होनी चाहिए

एक व्यक्ति आपको खिलाए, एक–दो ग्रास रखकर हट जाए और एक व्यक्ति खिलाए तो पेट भरने के बाद कहे कि एक–दो ग्रास और ले लो। ये दाता की विधि पर है। उसके चेहरे पर प्रसन्नता आ रही है तो आपके परिणामों की विशुद्धता से ऐसा निमित्त– नैमित्तिक संबंध हुआ कि सामनेवाले का भी चित्त प्रसन्न हो गया। बछड़ा जब माँ के पास जाता है तो उसकी भाव–भंगिमा देखो कितने प्यार से जाता है, पूछ हिलाते हुए, कूदते हुए, भटकते हुए गाय के पास जाता है। पहले गाय के आँचल के पास नहीं जाता, पहले मुख के पास जाता है। फिर वहाँ से आँचल के पास जाता है। माँ को अवगत करा दिया कि मैं ही हूँ, कोई दूसरा नहीं है। जैसे–ही माँ अपने बेटे को देखती है तो इतना राग उमड़ता है कि सूखा आँचल क्षणमात्र में दूध से लबालब भर जाता है। प्रीति से शरीर की धातु बदल जाती है।

जिनके घरों में ज्यादा रोग बढ़ चुके हों, वे घरों में मेहमान बुलाना प्रारंभ कर दो या महात्माओं को बुलाओ। जिस नगर में शुष्कता छा रही हो, तुम कुछ नहीं कर पाओ तो एक ही उपाय है, साधुओं को बुलाओ। वो क्या कर लेंगे? कुछ नहीं करेंगे, हो जाएगा। पर साधु होना चाहिए, साधु के भेष में कोई भिन्न नहीं होना चाहिए। योगी के पड़गाहन करते ही, पधारते ही अंग–अंग पुलकित होता है। जिन–जिन अंगों पर जंग लग गई थी, वे सारे अंग पुलकित हो गए। जो हजारों की

औषधियाँ चल रही थीं, काम नहीं कर रही थीं, वो काम छोटी सी दवाई से हो गया। अंग–अंग पुलकित हो गए।

हे जीव! व्यवहार करते हुए भी व्यवहार रूढ़ होकरके परमार्थ की अनुभूति लो। व्यवहार–रूढ़ परमार्थ का साधन है और व्यवहार–रूढ़ होकरके परमार्थ पर लक्ष्य नहीं है, तो तुम व्यवहार–रूढ़ हो गए।

ज्ञानी! प्रत्येक क्षण/प्रतिपल श्वांस–श्वांस में संवेदन करो, अनुभव करो। अनुभवन/संवेदन आत्मा का ही धर्म है। मैं स्व संवेदी हूँ, मैं स्व–पर संवेदी हूँ। मैं पर संवेदी हूँ, जैनाभास। पर का वेदन कर रहा है और स्व का वेदन नहीं कर रहा है, वो ज्ञान कैसे? मैं पर संवेदी हूँ, कि पर से संवेदी हूँ, कि स्व–पर संवेदी हूँ? यदि मैं पर संवेदी हूँ, तो जीव अंधेरे में मोदक उठाने के लिए दीपक जलाकर ले जाएगा। लड्डू उठाया, अब दीपक उठाने जाएगा, तो क्या करेगा? दूसरा दीपक जलाने बैठ गया, क्योंकि पर संवेदी है, पर का ही संवेदन करता है, स्वयं का संवेदन नहीं कर रहा है। तू दीपक को उठाने के लिए दूसरा दीप जलाएगा, क्योंकि मैं पर से जाना जाता हूँ, पर को ही जानता हूँ, निज को नहीं जानता। ज्ञान पर प्रकाशी है, कि स्व प्रकाशी है, कि स्व–पर प्रकाशी है? स्व–पर प्रकाशी है।

यदि पर संवेदी हूँ, तो मैं निज को नहीं जानता। पर से संवेदित होता हूँ, कि पर के सहयोग से संवेदित होता हूँ? यदि पर से संवेदित होता हूँ, स्व से नहीं जाना जाता हूँ, तो मैं पर के सहयोग से स्व का वेदन करता हूँ। तो जो पर के सहयोग से स्व का संवेदन करता है, वो संवेदन स्वभावी नहीं है। वो चेतन नहीं है, जड़ है। जड़ में पर ज्ञान का प्रवेश कैसे और ज्ञान का जड़ में प्रवेश कैसे? मैं संवेदी नहीं हूँ, मैं पर के ज्ञान से स्व का संवेदन करता हूँ, अपने ज्ञान से पर का संवेदन करता हूँ, तो सिद्धांत ये कह रहा है कि तू अपने को नहीं जानता। अथवा तू कहे कि ज्ञान आत्मा का गुण अवश्य है, लेकिन आत्मा में नहीं है, वो भिन्न है। वो युत सिद्ध है, कि अयुत सिद्ध है? **जो जिसमें स्वभाव से है, वह अयुत है और जो स्वभाव से नहीं है, वो युत है।** ज्ञान आत्मा में युत है, कि अयुत? ज्ञान अलग से नहीं लाया गया, अयुत सिद्ध है।

मेरी आत्मा में जब ज्ञान है ही नहीं, आत्मा जड़ है, तो जड़ में चैतन्य का प्रवेश कैसे? चैतन्य का जड़ में प्रवेश कैसे? जो जीव आत्मा को स्व संवेदी नहीं मानता है, वह वैशेषिक है, जैन नहीं है।

घटमहमात्मना वेद्मि। (८/परीक्षामुख सूत्र)

मैं घट का अपनी आत्मा से वेदन करता हूँ, संवेदन करता हूँ। जब मैं जगत् के द्रव्यों का आत्मा से संवेदन करता हूँ तो जो जड़ का, भिन्न का संवेदन कर सकता है वो स्व का संवेदन कैसे नहीं कर सकता है? प्रदीपवत्। जो दीपक पर को प्रकाशित कर सकता है, वह दीपक क्या स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता? कर सकता है। जो ज्ञान पर को जान सकता है, वह स्वयं को नहीं जान सकता है क्या? जान सकता है। जब स्वयं को जान सकता है, तो हे व्यवहार–रूढ़ो, कि व्यवहार–आरूढ़ो? दोनों दृष्टियाँ।

पहले आपको आत्मा को स्व संवेदी सिद्ध करना चाहिए। इसके बाद फिर कहना 'लोकालोक विलोकना'। भाई! तू जान रहा है कि नहीं? जान रहा है, मैं बैठा हूँ, इसे आप जान रहे हो कि नहीं जान रहे हो, समझ रहे हो कि नहीं, पहचान रहे हो कि नहीं? पहचान रहे हो। पुनः प्रश्न है कि आप मुझे जान रहे हो कि नहीं? जान रहे हो। पहचान रहे हो कि नहीं? पहचान रहे हो। समझ रहे हो कि नहीं? समझ रहे हो। ये मुझे जान रहा है, पहचान रहा है, समझ रहा है, उसे समझिये वो कौन है? हे जीव! तू मेरे से भिन्न है, मैं तेरे से भिन्न हूँ। आँखों में आप मुझे देख रहे हो, समझ रहे हो, पहचान रहे हो। वो आत्मा जो मुझे जान रही है, पहचान रही है, समझ रही है, वो कौन है? तेरी आत्मा।

ज्ञानी! शब्द जो भी बोलेंगे नय होगा ज्ञाता जो भी जानेगा प्रमाण होगा।

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवाया।
जावदिया णयवाया तावदिया चेव परसमया।।

(४७/सम्मईसुत्तं)

जितने वचनवाद हैं, उतने नय वाद हैं। हे हृदयस्थ! जब–जब तू मुखरित होगा, तब–तब तेरे मुख से नय ही प्रगट होगा, प्रमाण तो जानेगा। तू अंश ही कह पाएगा, सर्वांश को युगपत् छद्मस्थ के कहने का विषय नहीं है। **प्रमाण से जान रहा है, नय से बखान रहा है।** नयभूत होता है, स्व में पर का अभाव नहीं करता, इसलिए अपि को साथ में रखता है। नय से युक्त होता है, पर का निषेध नहीं करता, स्व की व्याख्या करता है, इसलिए भूत होता है। पर को साथ रखे है, इसलिए अपि से युक्त है। ही से भी की ओर, भी से ही की ओर।

तू राम का पुत्र है, और–किसी का भी पुत्र है क्या? तू अकेला दो का पुत्र कैसे हो सकता है? तेरे दो पिता हो सकते हैं क्या? जो 'भी' और 'ही' को नहीं समझता, वो मिथ्यादृष्टि है, अनर्थ कर देगा। यदि तू नहीं बोलेगा तो नयवादी कहेगा 'ही', तो मिथ्यात्व हो जाएगा। अरे! 'ही' मिथ्यात्व

नहीं होगा, यदि 'ही' को तुम छोड़ते हो। हे स्याद्वादियो! स्याद्वाद को भी अनेकांत से समझिए। स्याद्वाद को भी स्याद्वाद से समझिए। अनेकांत में भी अनेकांत ध्याइये। एकांत में अनेकांत निहारिये। 'युक्त्यनुशासन' ग्रंथ में आचार्य समंतभद्र स्वामी ने अपि (भी) का प्रयोग बहुत अच्छे से समझाया है। ज्ञानी! तू नाती भी है, पुत्र भी है, भाई–भतीजा भी है। लेकिन पिता की अपेक्षा से तू पुत्र ही है, भाई भजीता नहीं है। क्या मात्र तेरा पुत्र का संबंध है? मुझ में पिता की अपेक्षा पुत्र का संबंध मात्र है। बहन की दृष्टि से भैया।

जो इस विषय को नहीं जानता है, शब्द व्यभिचार, अर्थ व्यभिचार, लोक व्यभिचार अनेकांतिक दोष हो जाएगा। इसलिए मुझे पर जानता है, मैं पर को जानता हूँ, पर जो स्वयं को नहीं जानता है वह जीव नहीं है। पहले सिद्धि पर–ज्ञातव्य की नहीं होना चाहिए, पहले सिद्धि स्वज्ञातव्य की होनी चाहिए। मैं स्व को जानता हूँ। मैं कल्पना शब्द का प्रयोग नहीं करूँगा, क्योंकि असत्यार्थ में कल्पना होती है, सत्यार्थ में कल्पना नहीं होती। **जीवन जीते–जीते कितने भव निकाल दिए, पर जीवन को समझने के लिए एक भी भव नहीं दिया है।** कितनी पर्याय स्वसंवेदन से शून्य निकाल दी और वर्तमान में भी स्वसंवेदन का ज्ञान नहीं कर सका। तुम जड़ क्रियाओं में कब तक लिपटे रहोगे? ज्ञान से ज्ञान को कब समझोगे? तुमने समय ही नहीं दिया अपने आपको।

अब मंदिर जाना है, अब शास्त्र पढ़ना है, अब कक्षा में बैठना है, अब प्रतिक्रमण करना है, अब आहार को जाना है। मेरे मित्र! ये सब करना क्यों है? चेतना का प्रयोग पर संवेदन में जा रहा है। जब मैं इस व्याख्या को करता हूँ तो कुछ को ये लगता है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि महाराज इन सबसे दूर करवा रहे हैं? तुमको दूर नहीं करवा रहे हैं। तुम जो भरकर क्रिया कर रहे हो, उसको जीकर करो। जो आप मृत संज्ञा से युक्त होकर जी रहे थे, उसको जीवित होकर जिओ।

हे जीव! यदि तू मात्र क्रिया कर रहा है और उस पर तेरा लक्ष्य नहीं है, कि क्यों कर रहा है, उद्देश्य क्या है? तेरी व्याकरणानुसार मृत संज्ञा के समान वृत्ति है।

यदि भोजन भी कर रहा है तो संवेदन कर रहा है। कौन कर रहा है, अनुभूति किसमें चल रही है, अनुभूति किसकी ले रहा है? कौन ले रहा है? ये चक्षु इंद्रिय का विषय है। लेकिन आपको दिख रहा है इससे आप भोग रहे हो कि जान रहे हो? जान रहे हो। इसे जान रहे हो, कि ज्ञान को ही जान रहे हो? परमार्थ दृष्टि से, न इसमें मेरी आँख प्रवेश को प्राप्त हुई है, न मेरी आँखों में प्रवेश को प्राप्त हुआ है। तू मात्र ज्ञाता है। ज्ञाता किसी को भी नहीं भोग रहा है, जान ही रहा है। ग्रास भी जीभ पर रखा हुआ है। आपने भोग किया होता तो उसको नष्ट हो जाना चाहिए था।

वो तो आँखों ने जाना तो क्या जाना? ये खट्टा है, ये मीठा है। रसना इंद्रिय से तुम जान ही तो रहे हो। अंदर चला गया और बाहर निकल गया, तुम्हारे पास बचा क्या है? तुमने जाना ही तो है, संवेदन ही तो किया है। क्या मैं रोटी को आत्मभूत कर सका, क्या रोटी मुझे रोटीभूत कर सकी? आत्मा भोगभूत नहीं हुआ। भोग आत्माभूत नहीं हुए। व्यवहार में मूढ़ मैं भोक्ता, मैं भोक्ता और पर के भोक्तत्व में लीन होकर कर्मबंध करके संसार में बैठा है, भटक रहा है।

जो कहते हैं कि संवेदन तो मात्र योगी ही करते हैं, तो योगी मात्र– चेतन होंगे। अरे! **जो जिस अवस्था में है, उस अवस्था में वह संवेदनशील है। शुद्धात्मा के योग्य है तो शुद्धात्मा का संवेदन कर रहा है। अशुद्धात्मा है तो अशुद्ध आत्मा का संवेदन कर रहा है। मिथ्यात्व में है तो मिथ्यात्व का संवेदन कर रहा है, सम्यक्त्व में है तो सम्यक्त्व का संवेदन कर रहा है। संवेदन तो आत्मा का धर्म है, स्व संवेदन। जो संवेदी है, वो शरीर–प्रमाण है। आत्मा न राई के बराबर है, आत्मा न आधार चक्र है।** ये लोक में व्याप्त जितनी विडम्बनायें हैं, उनकी ये व्याख्या है। किसी ने आत्मा को राई प्रमाण मान रखा है। आत्मा राई प्रमाण है तो राई का प्रदेश कितना? कितने स्थान पर आत्मा रहेगी? एक स्थान पर आत्मा है तो शेष सारा शरीर जड़ हो जाएगा, शेष/प्रदेश आत्मा से शून्य हो जाएँगे।

यदि आत्मा आधारचक्र है, तो ऐसा भी समय आएगा जब वो घूमेगा पूरे में, तो कहीं–न–कहीं उसका अभाव होगा। इतनी द्रुत गति से घूमता है कि मालूम नहीं चलता। भइया! पान के सौ पत्तों को एक साथ रखकर इसमें आप सुई चुभाइये अत्यंत द्रुतगति से, तो सारे पत्ते एकसाथ छिद्रत्व को प्राप्त हो जाएँगे। क्या एकसाथ छेद हो गया उनमें? ये जैनदर्शन का अध्यात्म सिद्धांत चल रहा है। आपने द्रुत गति से एक सौ पत्ते छेदे सुई से, लेकिन क्रम से ही छेद हुए हैं, अक्रम से एक भी नहीं हुआ है। आप पकड़ पाओ या नहीं, ये आपके क्षयोपशम की कमी है; परंतु प्रत्येक पत्र पर सुई की नोक क्रम से ही पहुँची है।

आप जहाँ खड़े हो वहाँ से घूमना प्रारंभ किया। उस स्थान से जब चले, जैसे तुमने कदम उठाया वह प्रदेश आपसे शून्य हुआ कि नहीं? जब तुम दूसरे प्रदेश में चल रहे थे, वहाँ सद्भाव था तो कहीं तेरा अभाव भी था। यदि आत्मा शरीर में आधार चक्र के समान भ्रमणशील है, तो जब ये चक्र चलेगा तो कहीं–न–कहीं जड़ होगी, कहीं चेतन होगी, जबकि आत्मा की धारा ऐसी नहीं है। आत्मा अखण्ड चेतन धारा है। इसलिए हे सांख्य, मीमांसक, नैयायिक! बुद्धि का प्रयोग कर। जब आत्मा आधारचक्र के समान नहीं है तो कैसी है?

आत्मा अगुरुलघु स्वभावी है। जब छोटे शरीर में होगी तो छोटी हो जाएगी, जब बड़े शरीर में होगी तो बड़ी हो जाएगी। जैसा शरीर है, उतनी बड़ी आत्मा है। आत्मा न राई के बराबर है, न आधारचक्र के समान घूम रही है। आत्मा स्वदेह प्रमाण है, इसका संकोच–विस्तार धर्म है, प्रदीप–प्रकाशवत्। दीपक को मटके में रखने पर दीपक मटके को प्रकाशित करेगा, कमरे में रखने पर कमरे को प्रकाशित करेगा। ऐसे–ही आत्मा जब चींटी के शरीर में होती है तो चींटी प्रमाण है, हाथी के शरीर में होती है तो हाथी प्रमाण है। जितना बड़ा शरीर, उतनी बड़ी आत्मा। आत्मा प्रदेश की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी है। व्यवहारदृष्टि से आत्मा स्वदेह प्रमाण है और परमार्थ दृष्टि से ये आत्मा ज्ञानमूर्ति है, असंख्यातप्रदेशी है।

आत्मा स्व संवेदी है तो चतुर्थ गुणस्थान में विद्यमान है क्या? हे व्यवहार मूढ़ो! व्यवहारमूढ़ वस्तुस्वरूप को समझ नहीं पाएगा। चतुर्थ गुणस्थान में संवेदन का निषेध नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में भी आत्मा संवेदी है। जब प्रथम गुणस्थान में संवेदी है, तो चतुर्थ गुणस्थान में क्यों नहीं होगी? स्वसंवेदन, स्वानुभूति चतुर्थ गुणस्थान में भी है। लेकिन ध्यान रखना, विषयानुभूति स्वानुभूति है, सम्यक्त्वानुभूति स्वानुभूति है, स्वसंवेदन का भेद है। जैसा ज्ञेय (ध्येय) है, वैसा संवेदन है। आकार बदलने पर संज्ञाएँ बदल गईं, संज्ञाएँ बदलने पर संज्ञान बदल गया, संज्ञान बदलने पर संवेदन बदल गया। एक नारी के सामने बेटे का संवेदन भिन्न है, पिता का संवेदन भिन्न है और पति का संवेदन भिन्न है। कितनी भी भीड़ हो, यदि कोई शिशु माँ का आँचल पकड़ लेता है तो कोई उसको खोटी दृष्टि से नहीं देखेगा, लेकिन पर पुरुष ने कहीं आँचल को निहार भी लिया हो तो व्यभिचारी अनर्थकारी दंड का भागी है।

मित्र! चतुर्थ गुणस्थान में स्वसंवेदन तो है, परंतु शुद्धोपयोगभूत स्वसंवेदन नहीं है। जितने चौथे गुणस्थान वाले शुद्धोपयोगी हैं, उनको वस्तुस्वरूप समझना पड़ेगा। लोगों को शब्द रटा दिए गए हैं, वे शब्द को रट रहे हैं। आप कुन्दकुन्द देव को मानते हो, कि कुन्दकुन्द देव का नाम लेकर जीने वालों को मानते हो? कुन्दकुन्द स्वामी ने अष्ट पाहुड़ (चारित्र पाहुड़) में चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण लिखा है। उन्होंने कहीं भी चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण नहीं लिखा, शुद्धोपयोग नहीं लिखा। जो चौदहवें गुणस्थान की अनुभूति को चौथे गुणस्थान में लगाएगा, वह निश्चयाभासी ही है। व्यवहारभासी, वे जीवत्व का ही लोप कर देते हैं। वे कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में संवेदन होता है क्या? **व्यवहाराभासी लोग निश्चय के निषेध में इतने उतर गए कि जीव के जीवत्वपने को ही भूल गए और निश्चयाभासी लोग निश्चय में इतने लिपट गए कि वस्तुव्यवस्था को**

ही भूल गए।

ज्ञानी! आत्मा संवेदी है, स्व–पर संवेदी है। जहाँ स्व का और पर का वेदन है, वहाँ शुभ–अशुभ उपयोग है। **शुभ पर संवेदन है तो शुभोपयोग। अशुभ पर संवेदन है वो अशुभोपयोग है और जहाँ पर ये उन्मुक्त होकरके मात्र रत्नत्रय से युक्त आत्मा की अनुभूति है, वहाँ शुद्धोपयोग स्वसंवेदन है।** उभय स्वानुभूति सप्तम गुणस्थान में अभेद रत्नत्रय सत्ता को स्वीकार किया। यहाँ से प्रारंभ होती है और जाकरके बारहवें गुणस्थान में इति होती है। उसका फल तेरहवाँ, चौदहवाँ गुणस्थान है तथा सिद्ध भगवान्।

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार आदि चौरासी ग्रंथ लिखे। पर दुर्भाग्य से प्रमाद व ईर्ष्या के कारण बहुत सारे ग्रंथ नष्ट हो गए। इस श्रमणसंस्कृति को वे दिन भी देखना पड़े हैं जब इनके ग्रंथों के क्षय करने की लोगों ने बोली लगाई है। इतना ही नहीं, जैन ग्रंथों की होली जलाई गई। पानी गर्म करने, हाथ सेंकने को शास्त्र जलाए गए। इतनी विषमता झेलते हुए भी ये जीवित हैं। भूतकाल में श्रावकभूत श्रावक न होते तो जिनवाणी आज हमारे सामने न होती। अत: प्रत्येक श्रावकों को घर में ग्रंथ रखने का स्थान बनाना चाहिए। चाहे कोई पढ़ने वाला न भी हो, तो भी आगमग्रंथों को शुद्ध स्थान में विराजमान कीजिए। कदाचित् किसी ने जैन संस्कृति पर उपसर्ग भी किया तो मंदिरों में उपसर्ग करेंगे, घरों में ग्रंथ सुरक्षित रहेंगे। उपसर्ग समाप्त होने पर पुन: प्रकाशित कर लेंगे। जब मूर्तिभंजकों ने मूर्ति भंग करना प्रारंभ किया, तो श्रावकों ने वृक्षों में, भूमि के भीतर, दीवाल के भीतर प्रतिमाएँ रख दीं। आज जो प्रतिमाएँ निकल रही हैं, पृथ्वी प्रतिमाओं को नहीं उगल रही है। जो हमारे पूर्वजों ने रखी थीं, वे ही आज निकल रही हैं। जयवंत हो चांदनपुर के महावीर स्वामी।

देवेंद्रनगर (पन्ना) में संस्कृत विद्यालय के एक शिक्षक आए और बोले, मुझे परीक्षा का प्रश्न–पत्र तैयार करना है। उसमें जैनदर्शन के 'परीक्षामुख सूत्राणि' के कुछ प्रश्न देना है। मेरे पास वह ग्रंथ नहीं है। मैंने उनको ग्रंथ दिया। जैसे सांख्य दर्शन में सांख्य सूत्र है, वैसे–ही जैनदर्शन में 'परीक्षामुख सूत्र' है। ये न्याय का ग्रंथ है।

भोपाल में पांडेय एक विद्वान् कक्ष में आए और बहुत देर तक बैठे रहे और चारों तरफ घूर–घूर कर देख रहे थे। थोड़ी देर बाद कहने लगे कि महाराजजी! यहाँ चिलम, चरस, भाँग कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा है। पूरा कक्ष डॉक्टरों जैसा साफ–सुथरा दिखाई दे रहा है। पता नहीं क्यों मेरा मन कर रहा है कि मैं आपके चरणों में सिर टेक लूँ। मैंने कहा, क्यों? बोले, जैनदर्शन में मात्र स्वाध्याय की परंपरा है, और–कुछ भी नहीं है। आपके सामने समयसार विराजमान है, और–कुछ

नहीं है। देखके लगता है कि जैनदर्शन क्यों सुरक्षित रहा। फिर वे धीरे–से बोले, मैंने समयसार की परीक्षा दी है, प्राकृत भाषा में, मेरा विषय था। ज्ञानी! आपको पता ही नहीं है विश्व में क्या–क्या हो रहा है। 'लघुतत्त्वस्फोट' नामक ग्रंथ के विषय में भारत को ही नहीं पता था। जब शिकागो (अमेरिका), रशिया में उस ग्रंथ का उन्होंने अपनी भाषा में अनुवाद किया तो चर्चा में आया। सुगंध फैली, जब भारत तक खुशबू आई तो खोजबीन करने पर पता चला कि यह अमृतचंद्र स्वामी कृत 'लघुतत्त्वस्फोट' ग्रंथ है। तब जैनसमाज ने संस्कृत से हिन्दी अनुवाद करवाया। 'सिरिभूवलय' नाम का ग्रंथ भारत सरकार के पास दिल्ली में सुरक्षित था। जब जैनियों का विवेक जागा तो उन्होंने सरकार से अनुनय–विनय करके उसकी प्रति बनवाई। इस ग्रंथ में अंक लिपि है। अंकों के माध्यम से आगमग्रंथों के विचार निकाल सकते हो। ये ग्रंथ कह रहा है कि सर्वज्ञ की देशना जो है, सर्वभाषा में थी, उसका प्रमाण क्या है 'सिरिभूवलय' ग्रंथ।

विदेशी भारत से कौन–कौन से ग्रंथ ले गए? यह कहना बड़ा कठिन है। कारंजा लाड में एक वस्त्र मणि–मोतियों से सुसज्जित है, उस पर शुद्ध हीरे की स्याही बनाकर पेटिंग की गई है। किसी विदेशी ने देखकर कहा कि मैं इसके एक करोड़ डॉलर दूँगा। कुछ जैनी लोभ में आ गए कि लगभग पचास–साठ करोड़ रुपए मिल जाएँगे तो मंदिरजी की मरम्मत करवा लेंगे। उन्होंने ये नहीं सोचा कि जो इतना मूल्य दे रहा है तो वह कितने मूल्य की होगी। बाद में विरोध के चलते इसे नहीं दिया गया। हमारे पूर्वज हमारे को क्या–क्या नहीं देकर गए हैं। छतरपुर के नेमिनाथ जिनालय में दो सौ वर्ष पुरानी चित्रकारी है। एक बहन ने छतरपुर के जैनमंदिर पर थीसिस लिखकर डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त की।

मुनिराजों को बहुत संभलकर रहना चाहिए, क्योंकि पता ही नहीं चलता है कि कौन दर्शन करके सम्यक्त्व को, कौन मिथ्यात्व को प्राप्त करके चला गया। आपको चौबीस घंटे व्यवस्थित रहने की आवश्यकता है। विहार में एक पर्वत की तरफ मैं शुद्धि को जा रहा था। रास्ते में एक व्यक्ति गाड़ी रोककर देख रहा था। कुछ दिन के पश्चात् वो दर्शन करने को आया तो बोला, महाराज जी! आपको मालूम है मैं कब से आपसे जुड़ा हूँ? मैंने कहा, भइया! तुझे आज ही देख रहा हूँ। वो बोला कि आपको पता नहीं है। एक बार आप पहाड़ी पर शौच के लिए जा रहे थे, मैं अपनी गाड़ी में बैठा–बैठा आपको देख रहा था कि आप झाड़ियों से दूर एक–एक पैर रखते चले जा रहे थे, वनस्पति से दूर रहकरके। उस समय से मेरी श्रद्धा आपसे जुड़ी है। तब से मुझे लग रहा था कि कब आपके दर्शन करने पहुँचूँ। कदाचित प्रमाद से मैं चलता तो उसकी श्रद्धा का क्या होता?

साधुओं की प्रवृत्ति, पंचमकाल में सावधानीपूर्वक होनी चाहिए, विवेकपूर्वक होनी चाहिए।

सोलापुर में चातुर्मास में महिलाएँ बोलीं कि जब आप प्रथम बार मंदिर में प्रवेश कर रहे थे तो आपने पिच्छी से पैरों का मार्जन करके कमंडलु से जल डाला था, उसी दिन से हमने आपको सच्चा साधु मान लिया था। मैंने कहा, ये तो सहज प्रवृत्ति है। यदि मैं इस बात को प्रमाद के कारण भूल गया होता तो इन लोगों की श्रद्धा का क्या होता?

जब मैं कर्नाटक से वापस आ रहा था तो कई आचार्यों, मुनियों, विद्वानों ने कहा कि सोलापुर में चातुर्मास मत करना। पूछा, क्यों? तो कहा कि ये लोग मान बैठे हैं कि अब मुनि बचे नहीं हैं। अत: वहाँ कोई पानी को भी नहीं पूछेगा। हम लोग सोलापुर पहुँचे तो आठ दिन तक वे देखते रहे। आठवें दिन वे सब आए और श्रीफल चढ़ाकर चातुर्मास हेतु निवेदन किया। वहाँ अत्यंत सुंदर चातुर्मास हुआ। दो त्यागी निकले, आठ लोगों ने समाधि ली। सबसे बड़ी बात ये रही कि उनके मन में जो बात बैठ चुकी थी कि मुनि नहीं बचे, उन श्रावकों ने ही आसपास समाचार भेजा कि आकर दर्शन कर लो, अभी भी महाराज हैं। इसका मतलब समझो, कितना सँभलकर रहने की आवश्यकता है।

ज्ञानी! कभी मुनि बनने के भाव आ जाएँ तो 'घर छोड़कर घर भरने मत लग जाना।' घर तो छोड़ आए और समाज से कह रहे हो 'भइया! उसे हटाओ, मंदिर बनने हैं, पइसा देओ। घर छोड़कर घर मत भरना, तब तो जी पाओगे, अन्यथा विश्वास मानना, भिखारी बनकर घूमते रहोगे।

ज्ञानी! व्यवहारारूढ़ होगे तो व्यवहार मूढ़ हो जाओगे। जो मात्र निश्चय में आरूढ़ है, ऐसा जीव समयसार को प्राप्त नहीं होता। जो लोकव्यवहार में ही मोहितबुद्धिवाले हैं, वे परमार्थ को नहीं जानते हैं।

द्रव्यदृष्टि जिसकी पवित्र है, वह पर्याय–धर्म को साधन तो मानता है, पर साध्य नहीं मानता है। परमार्थदृष्टि निश्चय दृष्टि है, अपरमार्थ दृष्टि व्यवहार दृष्टि है। जो व्यवहार दृष्टि है, वह परमार्थ का साधन है। जो परमार्थ दृष्टि है, वही साधकतम करण है सिद्धि का, निर्वाण का। कुन्दकुन्द स्वामी बार–बार कह रहे हैं कि हे श्रमण! कहीं पर्याय से देह से, जो वृत्ति चल रही है उसे आप मोक्षमार्ग स्वीकार मत लेना। रत्नत्रय धर्म है, मोक्षमार्ग है। उस रत्नत्रय मोक्षमार्ग के लिए आप अग्रसर हो जाओ। व्यवहार अनादि से व्यवहार रूढ़ है, व्यवहार मूढ़ तो नहीं है।

तीन शब्दों का प्रयोग किया है व्यवहार रूढ़, व्यवहार मूढ़, निश्चय अनारूढ़। जो निश्चय से अनारूढ़ है, व्यवहार से अनादि से आरूढ़ है, व्यवहार मूढ़ है। निश्चय पर दृष्टि नहीं है, वह

व्यक्ति व्यवहार–मूढ़ है। परमार्थ में प्रवेश नहीं है, कोई बात नहीं, पर दृष्टि तो होना चाहिए कि परमार्थ ही सत्य है और परमार्थ के लिए व्यवहार है। यहाँ व्यवहार का निषेध मत समझना। कभी व्यवहार में मूढ़ न हो जाए जीव, इस पर जोर दे रहे हैं। जो व्यवहार में मूढ़ दृष्टि वाले जीव हैं, वे परमार्थ को नहीं जानते हैं।

व्यवहारविमूढ़दृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम्।।२४२।।
द्रव्यलिंगममकारमीलितैः दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः।।२४३।।

(कलश)

जो छिलका, भूसा, तुष के बोध के ज्ञान से विमुक्त हैं, वे तन्दुल/चावल को नहीं जान रहे हैं। यह आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कलश में कह रहे हैं। जो जीव व्यवहार–विमूढ़–दृष्टि वाला है, वह परमार्थ को नहीं जान पा रहा है। कैसे? जैसे भूसा को (छिलके को) ही जानता है, तंदुल/चावल को नहीं जानता है। जानना नहीं चाहता है, वह छिलके को ही कूट रहा है। छिलकों को कूटने से आपको चावल मिलेगा क्या? जैसे भूसे को कूटने से धान्य प्राप्त नहीं होता, ऐसे ही व्यवहार मात्र की चर्या करने से परमार्थ की प्राप्ति संभव नहीं है। लक्ष्य तंदुल का होना चाहिए, पर जिससे तंदुल निकल चुका है उस छिलके को पीट रहा है। यदि छिलके से तंदुल निकल चुका है फिर भी कह रहा है कि इससे तंदुल मिलेंगे, वो मूढ़ ही तो है।

तुझे मालूम होना चाहिए था कि चावल सहित धान्य है, तब तो चावल के लिए उसे कूटना ही पड़ेगा, पर जिससे चावल निकल चुका है, उसे कूटने से क्या मिलेगा? जिस मट्ठे के भीतर से पूरा मक्खन निकल चुका है, ऐसे छाछ को बार–बार मथ रहा है, उससे क्या मिलेगा? जिस देह से आत्मा निकल चुकी है, उस देह को पकवान खिलाने की चेष्टा करेगा वो हास्य का ही पात्र होगा। जिस देह से हंस आत्मा निकल चुका है वह मृतक शरीर के लिए कोई शृंगार कर रहा है, कोई भोजन करा रहा है, तो मृतक पागल है कि खिलाने वाला पागल है? **जैसे मृतक को भोजन कराना अल्पज्ञता की ही पहचान है, उसी प्रकार व्यवहार क्रिया में मोक्षमार्ग मान बैठना और परमार्थ पर कोई लक्ष्य नहीं है, वह उन्मत्त चेष्टा ही है।** परमार्थ पर, साम्यवृत्ति पर लक्ष्य नहीं है। दया, त्याग, समाधि आदि पर भी ध्यान देना चाहिए। हे जिनेंद्र! आपका मत अद्वितीय क्यों है? आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने हर विषय को न्याय की कसौटी पर परखा है। व्यवहार की साधना

में व्यवहार के परिणाम हो रहे हैं। व्यवहार के परिणामों में ही मोक्ष मानकर बैठ गया है तो वे परिणाम मोक्ष भेजेंगे क्या? स्फटिक मणि के सामने जैसे रंग का पुष्प होगा, वैसा स्फटिक दिखाई देगा। पुष्प पीला है तो स्फटिक पीला दिखता है। यदि पुष्प पीला है तो नीला दिखेगा क्या? नहीं। व्यवहार–रूढ़, व्यवहार–मूढ़। तू व्यवहार की साधना में लवलीन है, उसी को देख रहा है, परमार्थ पर लक्ष्य ही नहीं है। जब तुम्हें मालूम ही नहीं है कि परमार्थ क्या है, तो तू व्यवहार–मूढ़ हो गया है।

ज्ञानी! मूढ़ता सत्य में होती तो मूढ़ता किस बात की? अमूढ़ ही न हो जाता? जो जीव मिथ्यात्व में डूबा है, वो स्वयं में असत्य नहीं है, सम्यक् के लिए असत्य है। यदि मिथ्यात्व असत्य हो गया तो उसकी सत्ता का अभाव हो जाएगा। पहले आप उसकी सत्ता स्वीकारिये। सत्ता की दृष्टि से वो सत्य है, पर सम्यक् के स्वरूप की दृष्टि से वह मिथ्यात्व है। व्यवहार–मूढ़ जो है, वो कभी अपने आपको व्यवहार–मूढ़ मानता ही नहीं है। उसे बोध ही नहीं है कि मैं व्यवहार–मूढ़ हूँ, कि नहीं हूँ। वो तो अपने आपको चारित्रवान कह रहा है, मोक्षमार्गी कह रहा है। उसकी मूढ़ता को स्वीकार नहीं करोगे तो अमूढ़ व मूढ़ में भेद नहीं होगा। उसकी मूढ़ता को पहले स्वीकार कीजिए कि मूढ़ भी कोई है, अमूढ़ भी कोई है। मूढ़ता मूढ़ता की दृष्टि से भूतार्थ है, सत्य है, लेकिन परमार्थ की दृष्टि से अभूतार्थ है। घी का घट है कि नहीं? ये भी सत्य है, विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की दृष्टि से वो सत्य है।

भैया! जो वस्त्र आप पहने हो, वो सत्य है, फिर भी असत्य है। क्या वस्त्र आपके नहीं हैं? यदि नहीं हैं बोलते हो, तो मिथ्यादृष्टि हो और बोलते हैं, तो भी मिथ्यादृष्टि हो। ये नय की दृष्टि से व्याख्या चल रही है।

जो नय–दृष्टि–विहीन है, उनको वस्तुस्वभाव की उपलब्धि नहीं होती है। जो वस्तुस्वभाव की उपलब्धि को प्राप्त नहीं हैं, वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं? यदि जीव ये कहता है कि वस्त्र मेरे नहीं हैं, तो जिस नय से कोई नय नहीं लगता और सर्वथा कहता है कि वस्त्र मेरे नहीं हैं, इस दृष्टि से जिनदेव, जिनवाणी, गुरु भी इसके नहीं हैं। पर जैनदर्शन में कहा है कि देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है। पर जो मेरे नहीं हैं, उन पर श्रद्धान रखना सम्यक्त्व कैसा? सम्यक्त्व तो निज की वस्तु है, कि पर की वस्तु है? धर्म क्या है? देव शास्त्र गुरु यही धर्म है। **'दंसणमूलो धम्मो'।** आप्त आगम तपव्रत पर श्रद्धान करना दर्शन है। आप्त, आगम, तप व्रत भी मेरे से भिन्न हैं। इनमें सम्यक् श्रद्धान कैसा? तो कुछ भी नहीं है। मेरी यदि एकांगी दृष्टि है, तो माया–माया।

जो वेदांत की माया है, ऐसी इस जीव की माया हो गई तो अवस्तुपना आता है और असद्पना आता है तो छह द्रव्य का अभाव होता है। छह द्रव्य का अभाव होता है तो हे जीव! उसमें तू भी है, तेरा भी अभाव होता है।

माया का अर्थ असद्पना नहीं था। भैया! जिसे तुम परमार्थ बोलते हो, वो माया शब्द का प्रयोग है। मेरे पास दो धाराएँ हैं, व्यवहार दृष्टि, परमार्थ (निश्चय) दृष्टि। हे जीव! यदि इनको सर्वथा अपना नहीं मानता तो फिर स्वजातीय–विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लोप होता है। स्वजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय, विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय। जीव के वस्त्र हैं, ये जीव इन वस्त्रों को सर्वथा अपने नहीं मानता, तो फिर पर की उतरन पहनकर आया है, इनको सँभाल भी रहा है, ग्रहण भी कर रहा है, अपने स्वीकार भी रहा है, तब भी मिथ्यादृष्टि नहीं है। विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ये वस्त्र उसके हैं।

मेरे मित्र! वैराग्य और नीति की चर्चा विश्व के सभी दर्शनों में मिल जाएगी, नहीं तो भेष नहीं मिलेंगे। यदि वैराग्य नीति की चर्चा नहीं होगी तो जगत् में कोई दर्शन नहीं बचेगा। हर दर्शन इन्हें स्वीकारता है। वही आचरण, वही नीति, सदाचार को स्वीकारता है। यदि वैराग्य की परिपूर्ण भाषाएँ आगम से मिलती होती तो भेद किस बात का? इन्होंने धोती–दुपट्टा को स्वीकार किया है। पेंट–शर्ट में क्या दोष था? क्या आपको ये रूप दिखाना उचित लगता था इसलिए स्वीकार किया है? वे भी वस्त्र थे, ये भी वस्त्र हैं। इन वस्त्रों को परिवर्तित करने की आपको क्या आवश्यकता पड़ गई? महाराज! वस्त्र तो दोनों हैं, पर दोनों की वासनाएँ एक–सी नहीं हैं। दोनों की वृत्ति भिन्न–भिन्न है।

पुद्गल के एकत्व को एकत्वभूत होकर नहीं भोगा जाता। जीव के एकत्व को एकत्वभूत होकर नहीं देखा जाता। जीव को एकत्वभूत होकर देखेगा तो जैसा जीव तेरी पत्नी में है, वैसा जीव तेरी भगिनी में है। जैसा जीव भगिनी में है, वैसा जीव माँ में है। तो क्या इन सबका भोग एक–जैसा होगा? **व्यवहार के बिना तुम्हारा संपूर्ण परमार्थ खोखला है।** जीवत्व की दृष्टि से जगत् के जीव सारे एकभूत हैं, तो जैसे मेरी पत्नी जीव है, उसका भोग कर सकता हूँ तो जगत् के सभी जीव एक–से हैं, उन सभी का भोग कर सकता हूँ? फिर ब्रह्मचर्य धर्म की क्या व्याख्या करोगे? सारे द्रव्य तेरे भोगने योग्य हैं तो पाँच महाव्रतों की व्याख्या क्या करोगे? पाँच शीलों को व्याख्या क्या करोगे? जैसे सब पुद्गल एक–से भोग्य योग्य नहीं हैं, ऐसे ही जीव भी एक–से होने पर, सभी भोग्य योग्य नहीं हैं।

ज्ञानी! अदर्शन, लोप नहीं होता है। भैया तेरे घर में कौन है? कोई नहीं है। अभी तेरे में तेरा लोप है, परंतु तेरा लोप नहीं हो गया है। ये परमार्थ दृष्टि की महिमा ही लक्षण है। घर में तेरा लोप है, पर तेरा लोप नहीं हुआ है। ऐसे–ही जगत् में प्रत्येक द्रव्य का परिणमनभूत लोप होता है, परंतु अभावभूत लोप नहीं होता है।

माया व्यवहार। व्यवहार का अर्थ अभाव नहीं है। विपरीत क्रिया, सम्यक्त्व रूप से भेद किया जाए, उसका नाम व्यवहार है। भेद में अभेद वृत्ति को लेकर चलता है, भेद में अभेद उपचार करता है, अभेद में भेद उपचार करता है, इसका नाम व्यवहार है। भेद वृत्ति, भेद उपचार। अभेद वृत्ति, अभेद उपचार। ये 'अष्टसहस्री' जो न्याय का अनुपम ग्रंथ है, उससे कथन है। श्रमण परंपरा में 'अष्टसहस्री' के ग्रंथकर्ता विद्यानंद स्वामी, इसे स्वयं कष्ट–सहस्री कहते हैं। इस युग में आचार्य समंतभद्र स्वामी ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने किसी भी दर्शन का नाम नहीं लिया, पर किसी भी दर्शन की व्याख्या को नहीं छोड़ा। उन्होंने सिद्धांतों पर चर्चा की है।

व्यवहार अभाव नहीं है, अभाव करके व्यवहार व्याख्या नहीं कर रहा है। व्यवहार मृषा नहीं है, मृषा भी है। व्यवहार सत्य ही नहीं है, सत्य भी है। व्यवहार असत्य नहीं है, असत्य भी है। देव शास्त्र गुरु जगत् में हैं, सबकी सत्ता स्वीकार है। सब हैं, पहले स्वीकारिये। वैराग्य वस्तु का अभाव नहीं है। माया शब्द से तात्पर्य झूठा है, कुछ भी नहीं, असत्य है, तो क्या इनका मायावाद सत्य है? इनका मायावाद ही झूठा है, यही तेरी माया है। इनका मायावाद हर वस्तु को अभावभूत देख रहा है। ये जीव कह रहा है कि मेरी माँ बंध्या है, बांझ है। माँ बंध्या है कि बंध्यावत् है, तो तू कैसे पैदा हुआ?

ब्रह्मसूत्र ग्रंथकार कहते हैं सारा जगत् माया है। जो भी दिख रहा है, सब माया है। संस्कृत टीकाकार की बात को हिन्दी टीकाकार ने खंडित किया है। लगता है संस्कृत टीकाकार कुछ ज्यादा माया में चले गए। जब शब्द का ही लोप हो जाएगा, तो माया शब्द का प्रयोग किसके लिए? माया का अर्थ है जिस दृष्टि से सांख्य आदि प्रयोग कर रहे हैं उस दृष्टि से अवस्तुपना आता है। बोले दिख रहा है, सब माया मात्र है, मात्र एक ब्रह्मरूप है, तो असत्य को देख रहे हो? सामने साक्षात् भवन दिख रहा है, साक्षात् स्त्री पुरुष है, द्रव्य दिख रहे हैं, लगता है आपको या तो पीलिया रोग है या तिमिर रोग है कि आपको सब अवस्तुभूत दिख रहा है। ये अवस्तुपना नहीं है। वैराग्य का अर्थ पदार्थ का अभावपना देखना नहीं है। वैराग्य का अर्थ यह नहीं कि तेरी गृहस्थ अवस्था की माँ आ गई तो वैरागी तू मुँह लटका कर बैठ गया। पिता आया और पूछा कि बेटा साधना

कैसी चल रही है? वैरागी बोला– तुम कौन हो, किसके हो, क्या हो? ज्ञानी! इन व्यर्थ की बातों की क्या आवश्यकता? मात्र इतना बोल देता मेरी साधना ठीक चल रही है। यह चर्चा इसलिए आवश्यक है कि ढोंगी वैरागियों की संख्या असीम हो चुकी है। पता नहीं वैराग्य क्या बला है? वे तो यही सीखकर आते हैं कि मौन है बोलने का। यानि तेरा इतना ढीला वैराग्य है कि उससे बोल लेगा तो तेरा वैराग्य चला जाएगा।

वैराग्य का अर्थ वस्तु के प्रति द्वेष करना है क्या? वस्तु का लोप, वस्तु का नाश, द्रव्य की सत्ता का अभाव करना है क्या? ममत्व का अभाव करना वैराग्य है लेकिन अज्ञानी क्या कर बैठे? कोई मुँह लटका कर बैठ गया, कोई अभाव करके बैठ गया। कोई यह कह रहा है कि ये मर जाते तो मेरा वैराग्य जीवित हो जाता। हे अज्ञानी! व्यवहार–मूढ़! **राग के निमित्तों का नाश करने बैठ जाओ, इसका नाम वैराग्य नहीं है। राग के निमित्तों की सत्ता में राग से ममत्व छोड़ने का नाम वैराग्य है।** राग के निमित्तों का जो नाश करने बैठा है वह अज्ञानी है। राग के निमित्तों की सत्ता में भी ममत्व से शून्य होकर जी रहा है, वह ज्ञानी है। इसका मतलब मृदुल चर्या में प्रवेश मत कर जाना। ऐसे भी ज्ञानी मिल जाएँगे, 'बस, भोग रहा हूँ, राग नहीं है? ये तेरी अज्ञान धारा है।

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा। (७/१३ त.सू.)

ये जैन परंपरा का रामवाण सूत्र है। ये सूत्र पाँचों पाप के लिए है, मात्र हिंसा के लिए नहीं है। प्रमत्त शब्द का प्रयोग सर्वत्र होगा। वैराग्य जो है, वस्तुस्वभावभूत है। सारा जगत् माया से है, क्षणभंगुर है। माया से हटा तो क्षणभंगुर में डूब गया। सब नाशवान् है। जो कुछ दिख रहा है, सब नाशवान् है। किसमें राग करते हो? सब नाशवंत है। तेरी बुद्धि नश गई तो सब नाशवंत हो गया। वस्तु का नाश हो जाएगा तो वैराग्य किसके लिए?

मायावाद से हटाया तो क्षणभंगुरवाद में बैठ गया। **नागनाथ अच्छे नहीं लगे तो साँपनाथ को पकड़ लिया। ऐसे–ही जिनको निश्चय पसंद नहीं आता है वह व्यवहार के नाग को पकड़ लेता है। जिनको व्यवहार पसंद नहीं आता है वह निश्चय के सांप को पकड़ लेते हैं, परंतु भ्रमित दोनों हैं।** लिप्त होते चले जा रहे हैं। अंतिम भावना कैसी है? न अनित्य का आनंद आ पा रहा है, न नित्य का आनंद आ पा रहा है। जो अनित्य में नित्य का आनंद लूटना जानता है, वही तो तत्त्वज्ञानी है। नित्य में अनित्य का आनंद लूट रहा है, वही तो तत्त्वज्ञानी है।

वैराग्य का नाश नहीं है, वैराग्य का लोप नहीं है। अनित्य का अर्थ नाश नहीं, परिणमन

है। **जो कुछ उत्पन्न होता है, उसका विनाश नियम से होता है।** इतना ही मानकर चलेगा तो क्षणभंगुरवादी, क्षणिकवादी हो जाएगा। अगले सूत्र को क्यों नहीं पकड़ते हो? पर्यायदृष्टि से, जो भी उत्पन्न होता है, उसका विनाश होता है; परंतु द्रव्य स्वरूप से किसी का विनाश नहीं होता है, क्योंकि वस्तु नित्यानित्यामक है। यदि ऐसा चिंतन लेकर वैरागी होता है तो उसको प्रणाम है, भावलिंग सहित है तो। जो पर्याय के नाश को द्रव्यत्वभूत नाश मानकर बैठ गया है, ऐसा मिथ्यादृष्टि कितनी भी साधना करता हो, वह श्रद्धा–दृष्टि का पात्र नहीं है, वह मात्र वस्तु–दृष्टि का पात्र है।

मुनि बनना तो कठिन है, ब्रह्मचारी बनने के लिए भी तत्व का निर्णय चाहिए। आगम में बार–बार शब्द आता है तत्त्व का निर्णय करो। ये तत्त्व का निर्णय कौनसी बला है? ये भी तत्त्व का निर्णय है कि आपने कपड़े उतार कर सफेद कपड़े पहन लिए हैं। इसका उद्देश्य क्या है? इसका करो तत्त्व निर्णय। वस्तु नाशवान है, इससे डरकर आ गए हो कि मेरा नाश न हो जाए? या कि वस्तु त्रैकालिक है, उसमें अनुभूति लेने आए हो? या कि वस्तु से ममत्व छोड़कर ध्रुव आत्मद्रव्य को निहारने आए हो?

अविनाशी– विनाशी इन दोनों के बीच में जो है, वही वस्तुस्वरूप है। वही है वस्तु का ध्रुव स्वभाव।

'सद् द्रव्य लक्षणम्'। (५/२९ त.सू.)

'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य–युक्तं सत्'।(५/३० त.सू.)

उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसत् का लक्षण है। इसलिए जो वैराग्य है, वह मायाभूत अभावभूत नहीं है। वस्तु के यथास्थित रूप में जो निज की ममत्व धारा है, उस ममत्व धारा को हटा करके निज में, निर्ममत्व भाव में, लवलीन होना उसका नाम वैराग्य है। यदि आपसे पूछा आपको बुखार आ रहा है क्या? 'किसको बुखार, कैसा बुखार। जिसको है वो पर्याय है। मैं पर्यायी, मैं तो ध्रुव सत्य हूँ।' और मन में कह रहा है कि कोई वैद्य आ जाता तो दिखवा लेते। बगल के कमरे में दूसरे से कह दिया कि वैद्य को बुलवा दो और घर का कोई सदस्य आ गया तो 'कौन, किसका, किसके लिए आए हो?' इतना मायाजाल फैलाकर रख दिया। ज्ञानी! वस्तु–स्वरूप से बोलिए कि शरीर में अस्वस्थता है। शरीर में अस्वस्थता तो है,पर अपने चित्त को अस्वस्थ नहीं करना, इसका नाम वैराग्य है।

न बालोऽहम्, न वृद्धोऽहम्, न पुद्गलोऽहम् ये मुख से हल्ला करने का विषय नहीं है,

ये निज में रमण का विषय है। सभी पुद्गल एक दूसरे से नहीं भोगे जाते हैं। सभी जीव एक दूसरे से नहीं भोगे जाते हैं। इन्होंने सफेद कपड़े पहने हैं, आप पेंट–शर्ट में हो। वस्त्रत्व की दृष्टि से एकत्व है, परंतु वस्त्रों की पर्याय से भिन्नत्व है और जो भिन्नत्व है, वह परिणामों के भिन्नत्व का कारण है। पेंट–शर्ट में खड़े होकर लघुशंका करोगे तो कोई कुछ नहीं कहेगा। ब्रह्मचारी सफेद वस्त्रधारी से कहोगे लघुशंका कर लो तो सबके सामने खड़े होकर नहीं करेंगे। कहो होटल में भोजन कर आओ, नहीं जा पाएँगे। **परिधान परिणाम को रोकने में सहकारी बनता है। जब आप धोती–दुपट्टा पहनकर सड़क पर निकलते हो तो लोग कहते हैं पुजारी मंदिर की ओर जा रहा है। नगर में, गलियों में, चौक पूरे हों तो बाहर का श्रावक भी समझ जाता है कि लगता है साधु नगर में आए हैं, कोई मुनिसंघ आया है। ये परिधान की महिमा है।**

ज्ञानी! सभी पुद्गलों का भोग एक–सा नहीं है। यदि सभी पुद्गलों का भोग एक–सा कर दिया तो भक्ष्य–अभक्ष्य का विचार नष्ट हो जाएगा। इसलिए निश्चयभासियों को व्यवहार को अच्छी तरह समझना चाहिए। परमार्थ एकांत दृष्टि वालों को बहुत अच्छे से समझने की आवश्यकता है। जब परमार्थ का व्याख्यान चल रहा हो, उस समय कोई व्यवहार वाला आ जाए तो कहेगा महाराज व्यवहार का लोप कर रहे हैं। इसी तरह निश्चय वाला कहेगा, व्यवहार कथन में, कि निश्चय का लोप कर रहे हैं। आपको बोध होना चाहिए कि निश्चय का विरोध कर दोगे तो परमार्थ–तीर्थ का अभाव हो जाएगा और व्यवहार का विरोध करोगे तो व्यवहार–तीर्थ का अभाव हो जाएगा। ऐसा अमृतचंद्र स्वामी ने गाथा की टीका में कहा है कि एक से नाश होता है परमार्थ तीर्थ का और एक से नाश होता है व्यवहार तीर्थ का।

ये आपके वस्त्र विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से आपके हैं। आपके माता–पिता, भाई बंधु स्वजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से आपके हैं। यदि ऐसा मानकर चलता है तो सम्यग्दृष्टि जीव है और ये मानकर चलता है कि ये मेरे ही हैं, आत्मभूत दृष्टि बनाकर चलता है, पर को अपना मानता है, तो मिथ्यादृष्टि जीव है। जब परमार्थ दृष्टि से पूछने पर ये वस्त्र आपके हैं तो कहता है नहीं हैं क्यों? मेरा द्रव्य गुण पर्याय भिन्न है। मेरा गुण ज्ञान–दर्शन है, मेरा द्रव्य चैतन्य द्रव्य है। ये स्पर्श, रस, गंध, वर्ण धर्मी पुद्गल मेरा धर्म कैसे हो सकता है? वस्त्रों का और मेरा अत्यंताभाव है। जब अत्यंताभाव है, तो उसमें मैं–पना कैसा? इसलिए वस्त्र मेरे हैं ही नहीं, होंगे नहीं, थे नहीं, मेरे नहीं हैं। इस अपेक्षा से अभावभूत देख रहा है, परंतु फिर भी इसकी सत्ता

है, सद्भाव है। इनका मायावाद कोरी माया है।

जब कोई आपको अपना वकील नियुक्त करता है तो उसको आप अपना कहते हो और वो भी यही कहता है हमारे वकील। जबकि न तू उनका है, न वो तेरे हैं। उन दोनों का मात्र स्वार्थ है। पर आत्मीयता देखो, पूरियाँ लेकर जाएगा तो पहले उनको ही परसेगा। वहाँ भगवान् भी आ जाएँ तो पहले उनको भोग नहीं लगाएगा उस समय। अभी उनका काम नहीं है। अभी इनको भोग लगाओ। हम जीत जाएँगे तो उनको प्रसाद चढ़ाएँगे। अभी तो ये हमारे भगवान् हैं। सत्य में जीना बहुत कठिन है। सारा जगत् असत्य में जी रहा है। इसलिए पदार्थ दृष्टि कहती है कि तुम किसमें जी रहे हो? **कषाय की पूर्ति के लिए कषाय का ही सम्मान चल रहा है।** जो वस्तु है, उसको तेरे सम्मान की आवश्यकता नहीं है।

जो सत्य है, वो मौन है। जो मौन है, वही सत्य है, वही प्रमाण है। क्यों भैया! आपने घी खाया? अवाच्य। जब खा रहे थे तो कितने लोगों को बताया कि खा रहा हूँ? जब खा रहा था, तब बता नहीं रहा था। जब नहीं खा रहा था, तब बता रहा है। जब स्वाद ले रहा था, सत्य था, तब मौन था। जब स्वाद नहीं ले रहा, बता रहा है, तब असत्य है, उस सत्य की अपेक्षा से। घी खाया है, इस बात को बता रहा है सत्य है, परंतु जैसा स्वाद खाते समय ले रहा था वैसा बता रहा है क्या? इसलिए असत्य है। वेद–वेदक भाव जो है वो अवाच्य है, मौन है।

ज्ञानी! जो वाचन चल रहा है, उसको आप सुन रहे हो। जिसे आप सुन रहे हो, जो वेदन कर रहे हो वह भी आपको अवाच्य है। जो मैं बोल रहा हूँ, बोलते हुए आनंदित हो रहा हूँ, वह भी अवाच्य है।

जो वस्तुस्वरूप है, वो यह कह रहा है कि असत्य को सत्य क्यों करना चाह रहे हो? परमार्थ जो है, वह छिलकों को नहीं देखना चाहता है। परमार्थ जो है, वह मात्र चावल देख रहा है। मन जो है, वह ज्ञान है। जो ज्ञान है, वही मन है। भाव इंद्रिय, भाव मन, ये सब ज्ञान की ही धारा है। द्रव्य मन, द्रव्य इंद्रिय, ये पौद्गलिक हैं स्याद्। भाव मन, राग–द्वेष की दृष्टि से कर्मबंध का उपचार लगाते हैं तो उनको भी हम पौद्गलिक कहते हैं, पर वास्तव में ज्ञान ही भावमन है, ज्ञान ही भाव–इंद्रियाँ हैं। भावमन सिद्धशिला पर नहीं होता, इसलिए पौद्गलिक कहते हैं। रागादि भाव जब–तक हैं, तब–तक ज्ञान गुण का विभाव परिणमन है। अशुद्ध ज्ञान गुण, जिसमें संकल्प–विकल्प की परिणतियाँ चल रही हैं, राग–द्वेष मंडित हैं, मोह सहित है, ऐसा ज्ञान अशुद्ध ज्ञान है। वह ज्ञान अशरीरी सिद्ध परमात्मा के नहीं होता है। जो शुद्धज्ञान की

चैतन्य धातुमय दशा है, वह सिद्ध दशा है। वहाँ मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय ज्ञान का अभाव है।

भैया! समझ में आया माया? सब माया है क्या? जिसे प्रति पल में अनुभव कर रहे हैं, उसको माया कैसे कह दें? वैराग्य का अर्थ जगत् को झूठा मत कह देना। जगत् तो जगत् है, पर जगत् में जो तेरा ममत्व है, वह झूठा है। जो भीख माँगने आते हैं, जगत् झूठा है पहले कहते हैं, फिर धीरे से कटोरा आगे बढ़ा देते हैं। उनसे कहना कि जब जगत् झूठा है, तो माँग किससे रहा है? ये भी झूठा है। भीख तो माँग रहा है और कह रहा है जगत् झूठा है, संसार में कुछ नहीं रखा है, और फिर कहता है कि कटोरे में डाल दो, आपका भंडार भरा रहे। जगत् झूठा है, तो डाल दो किसको? ज्ञानी कहेगा कि झूठी बात बोलना बंद कर दे। जगत् के कटोरे में तेरा राग झूठा है। जगत् झूठा है कि जगत् में ममत्व झूठा है?

व्यवहार–मूढ़ की बात तो कर दी, कहीं निश्चय–मूढ़ तो नहीं हो रहे हो? क्रियाओं में, विषयों में लिप्तता जारी है और भाषा में चलता है कि ये सब मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। ये निश्चय मूढ़ है। जिसे दोनों का निर्णय नहीं है, वह उभयामूढ़ है। ज्ञानी! प्रारंभ में जीव को वैराग्य होता है, फिर कौनसी बला है जो जीव को पकड़ लेती है? जिनको छोड़कर आता है, उनके प्रति उसका ममत्व दौड़ता है, यही समझने की आवश्यकता है। धन पर दृष्टि जाती है, परद्रव्यों पर दृष्टि जाती है। कोई व्यक्ति छतरपुर का साधु बन गया, बीस वर्ष बाद दिल्ली में मिल गया, तो बोला कि आप बड़े बाजार, छतरपुर वाले हो? इतने गहरे में पूछ रहे हो, इसका तात्पर्य समझिए। वासना में रखा था, साधना का पता नहीं था। मेरे मित्र! राग के अभाव में पूछ कैसे लिया? परमार्थ से बोलना जरा। ये मान सकता हूँ कि गाढ़ राग नहीं है, लेकिन राग तो है। रति के अभाव में शब्द निकले क्यों? रति भाव का अभाव हो गया होता तो ये भाव नहीं आता। जैसे सारे लोग आ रहे जा रहे थे, वैसे ये भी आया था। बिना ममत्व के ये शब्द नहीं निकलता।

ज्ञानी! बिना राग के शब्द नहीं निकलता। केवली के अलावा संसार में जितने जीव हैं उनकी ध्वनि बिना राग के निकलती नहीं है। आप कहो कि दो इंद्रिय बोल रहे हैं, झींगुर आदि आवाज कर रहे हैं। मेरे मित्र! झींगुर आवाज कर रहे हों तो आप ताली बजा देना, आवाज बंद हो जाएगी। उन जीवों को भय संज्ञा है, राग है राग। एकेंद्रिय तक को राग है, आप चार इंद्रिय की बात कर रहे हो। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि चारों संज्ञाओं से ग्रसित हैं। कषायों से युक्त रागी ही है।

भय संज्ञा कैसे खत्म हो गई? मुमुक्षु! **तत्त्वनिर्णय करके तत्त्व की ओर बढ़ना चाहिए, अन्यथा भेष में जीवन निकल जाएगा, भेषातीत को नहीं समझ पाओगे।**

जो जीव व्यवहार–मूढ़ हैं, वे परमार्थ को नहीं जान रहे हैं। जिनकी बुद्धि तुष (छिलके) के बोध में मूढ़ हो चुकी है, वे तंदुल को नहीं जानते। यह अमृतचंद्र स्वामी ने कलश २४२ में समझाया है। वे कलश २४३ में कह रहे हैं कि जिनकी आँखें द्रव्यलिंग में ही बंद हो गई हैं, मात्र द्रव्यलिंग में जो अंधे हो रहे हैं, द्रव्यलिंग के मोह से अंधकार को प्राप्त हो रहे हैं, अंधेपन को प्राप्त हो रहे हैं, उनको समयसार दिखाई नहीं देता है। जो निश्चय से द्रव्यलिंग को कहते हैं कि वही परमार्थ है अर्थात् द्रव्यलिंग मात्र को ही परमार्थ मान रहे हैं, वे गुड़ को ही मिश्री मान बैठे हैं, जीवन में कभी मिश्री का स्वाद चख नहीं पाए। गुड़ मीठा तो होता है, पर मिश्री नहीं है। द्रव्य अवश्य है, सामान्य की दृष्टि से निहारिये। विशेष का लोप कैसे कर सकते हो?

एक ब्रह्मचारी बोले 'ऐलक, क्षुल्लक और मेरे में क्या अंतर है? इनका पाँचवाँ गुणस्थान, मेरा भी पाँचवाँ गुणस्थान।' एक ऐलकजी बोले 'मुनि और मुझमें क्या अंतर? मैं भी एकासन करता हूँ, आप भी करते हो। मैं केश लुंचन करता हूँ, आप भी करते हो। मैं पैदल चलता हूँ, आप भी पैदल चलते हो। एक लंगोटी मात्र से क्या आता जाता है?' ये मिथ्या भाषण वे ही कर पाते हैं, ऐसी भाषा का प्रयोग वे ही करते हैं जो सामान्य विशेष के बोध से विमुख हैं।

ज्ञानी! खुरचन, रबड़ी, मलाई ये सब किसकी अवस्थाएँ हैं? इनमें कुछ मिलावट है क्या? नहीं। पर स्वाद में भेद है कि नहीं? सामान्य दृष्टि से ये सभी दूध की अवस्थायें हैं, लेकिन विशेष दृष्टि से रबड़ी, मलाई, खुरचन भिन्न हैं। जैसे ये खुरचन आदि दूध की अवस्थाएँ हैं, इसी प्रकार से ज्ञानियो! जितने संयम के भेष हैं, उनमें संयम की धारा होने पर भी भेद है। एक–जैसे गुणस्थान होने पर भी एक गुणस्थान की तारतम्यता असंख्यातलोकप्रमाण है।

आपने दूध से खुरचन, मावा, रबड़ी आदि बनाई। ये धारा बदली कैसे? हाथों ने, चम्मच ने, कलछुली ने अंतर डाल दिया क्या? हाथों ने, कढ़ाई ने दूध को गाढ़ा कर दिया क्या? किसने किया? मेरे मित्र! ताप की वृत्ति जैसी थी, वस्तु का परिणमन दूध में वैसा हुआ था। ऐसे–ही **जिसके तप की जैसी वृत्ति होगी, उसके भावों का वैसा परिणमन होगा।** जिसका तप जैसा होगा, उसका गाढ़ापन भी वैसा होगा। इसको स्वीकारना ही पड़ेगा।

दूध से मावा आदि बनाना है तो घास, फूस की अग्नि से नहीं बनेगा। उसके लिए ठोस

अग्नि चाहिए, घनत्वभूत। ऐसे–ही छोटे–मोटे सामान्य व्रत अर्थात् एक घंटे का मौन आदि, इनसे तुम चाहो कि मावा बना लो, तो नहीं बनेगा। ऐसे छोटे–मोटे व्रत से पता चलता है कि तू धर्मात्मा है, लेकिन इतने से तू सिद्धालय नहीं पहुँच पाएगा। मुनि बनना ही पड़ेगा। निर्विकल्प ध्यान में जाना ही पड़ेगा। ध्यान की तीव्र अग्नि जलानी ही होगी।

ये नित्यं व्रतमंत्र होमनिरता, ध्यानाग्नि होत्राकुलाः।
षट्कर्माभिरतास्तपोधनधनाः, साधुक्रियाःसाधवः।।

(श्री आचार्य भक्ति)

ये निर्ग्रंथ तपोधन नित्य ही व्रत मंत्र के होम में लीन हैं। ये अग्नि में होम नहीं करते। अग्नि में होम करेंगे तो मुनि ही नहीं बचेंगे। वे षट्काय जीवहिंसा के त्यागी हैं। अग्नि वे भी जलाते हैं, कौनसी? ध्यान की अग्नि। जैसे मावा बनाने के लिए तीव्र अग्नि चाहिए, ऐसे–ही परमात्मा बनने के लिए ध्यान की उग्र, उग्रतर अग्नि चाहिए।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कलश में कह रहे हैं कि जो जीव व्यवहार मात्र में ही अंधे हैं, वे सयमसार को नहीं देख पाते हैं, क्योंकि द्रव्यलिंग तो अन्य द्रव्य से होता है और ज्ञान अपने आत्मद्रव्य से ही होता है। जो द्रव्यलिंग है, वह देहाश्रित है, पिच्छी–कमंडलु आश्रित है, वह अन्याश्रित है। भावलिंग समयसार है, वह तो ज्ञान का ज्ञान में ही परिणमन है।

अमृतचंद्र स्वामी टीका में कहते हैं कि **'अथ सहज शुद्ध परमात्मानुभूति लक्षण भावलिंग रहिता'** सहज शुद्ध परमात्मानुभूति भावलिंग ये **'द्रव्यलिंगे ममतां कुर्वन्ति'** द्रव्यलिंग में ममत्व करती है **'तेऽद्यापि समयसारं न जानन्तीति'** वे समयसार को नहीं जानते **'इति प्रकाशयति'** ऐसा कहते हैं। **'वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान लक्षण भावलिङ्ग–रहितेषु'** वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान लक्षण भावलिंग से रहित होने पर निर्ग्रंथ रूप **'पाखण्डिद्रव्यलिङ्गेषु'** निर्ग्रंथरूप पाखण्डी द्रव्यलिंग **'कौपीन चिन्हादि गृहस्थ द्रव्य लिंगेषु'** लंगोटी, दुपट्टा आदि ये चिह्न गृहस्थ लिंग के हैं, **'बहुप्रकारेषु'** इन द्रव्यलिंगों से बहुत प्रकार से **'ये ममतां कुर्वन्ति'** जो ममता करते हैं **'जगत्त्रयकाल त्रयवर्ति'** तीनों लोक तीनों काल में **'ख्यातिपूजालाभ'** ख्याति पूजा लाभ में **'मिथ्यात्वकाम क्रोधादि समस्त परद्रव्यालम्बन समुत्पन्न शुभाशुभ संकल्प विकल्प रहितः शून्यः'** मिथ्यात्व काम क्रोध आदि समस्त परद्रव्यों के आलम्बन से उत्पन्न हुआ, शुभ अशुभ संकल्प–विकल्पों से रहित शून्य **'चिदानन्दैकस्वभाव शुद्धात्मतत्त्व सम्यक्श्रद्धान ज्ञानानुचरण–रूपाभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिसंजात'** चैतन्य एक आनंद स्वभाव

शुद्धात्मतत्त्व सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूपी अभेद रत्नत्रय निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न **'वीतराग सहजापूर्वपरमाह्लादरूप सुखरसानुभव परमसमरसी भाव परिणामेन सालम्बनः'** वीतराग, सहज अपूर्व परम अह्लाद रूप सुखरसानुभाव से युक्त परम समरसी भावों के परिणामों के आलम्बन से **'पूर्णकलशवद्धरितावस्थः'** होता हुआ पूर्ण कलश (भरा हुआ कलश मंगलरूप होता है) **'केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्ट्य व्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादको योऽसौ निश्चयकारणसमयसारः स खलु तैर्न ज्ञात इति'** केवलज्ञान अनंतचतुष्ट्य व्यक्ति रूप साक्षात् उपादेयभूत कार्यसमयसार को उत्पन्न करने वाला यह निश्चय कारण समयसार है।

जो व्यवहार समयसार में मूढ़ है, वे ऐसे कारण–समयसार को नहीं जानते हैं। जो परमार्थ दृष्टि रखते हैं, वे ही कारण–समयसार को जानते हैं।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

उत्थानिका : लिंग के विषय में व्यवहार और निश्चय नय का मत।

गाथा :

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।४१४।।

संस्कृत छाया :

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे।
निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपक्षे सर्वलिंगानि।।४१४।।

अन्वयार्थ : (व्यावहारिकः नयः पुनः) व्यवहारनय तो **(द्वे लिंगे अपि)** मुनि श्रावक के भेद से दोनों ही प्रकार के लिंगों को **(मोक्षपथे भणति)** मोक्षमार्ग कहता है और **(निश्चयनयः)** निश्चयनय **(सर्वलिंगानि)** सभी लिंगों को **(मोक्षपथे न इच्छति)** मोक्षमार्ग में इष्ट नहीं कहता।

समय देशना

भव्य बंधुओ! आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुवज्ञायकस्वभावी भगवान्– आत्मा के सहज स्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। लिंग देहाश्रित है, आत्मधर्म आत्माश्रित है। जो रत्नत्रय धर्म है, वही भूतार्थ दृष्टि है। व्यवहारनय से गृहीलिंग, पाखण्डी लिंग; श्रावकधर्म, मुनिधर्म; श्रावक लिंग, मुनिलिंग इन दोनों लिंगों को मोक्षमार्ग कहा है, परंतु निश्चयनय संपूर्ण लिंगों को मोक्षमार्ग नहीं स्वीकारता। कुन्दकुन्द स्वामी का उद्देश्य गृहस्थ और मुनि धर्म का अभाव करना नहीं है। जो जीव मात्र मुनिलिंग को प्राप्त करके भेष मात्र में मोक्ष मान रहा है, उन्हें ये समझा रहे हैं कि आप इस भ्रम में मत रहो कि भेष लेने मात्र से तुम्हारा मोक्षमार्ग खुल चुका है। वही बात श्रावक से कह रहे हैं कि आपने ऐलक, क्षुल्लक की मुद्रा तो धारण कर ली, मुद्रा को ही धारण किया है, परंतु व्रतों का पालन नहीं कर रहे हो और व्रतों का भी पालन कर रहे हो पर स्वरूप पर दृष्टि नहीं है, तो आपका ये लिंग मोक्षमार्ग नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द का अभिप्राय बहुत पवित्र है। वे श्रावक से भी कह रहे हैं कि आपको भी आत्मस्वरूप पर ध्यान देने की आवश्यकता है, आत्मद्रव्य को पहचानने की आवश्यकता है। जिस उद्देश्य से आपने धर्म स्वीकारा है, उसका उद्देश्य क्या है? क्या भेष मात्र को धर्म मान रहे हो, कि धर्म की प्राप्ति के लिए भेष को धारण किया है? दो धाराएँ हैं। यदि धर्म की प्राप्ति के लिए भेष धारण किया है, तो स्पष्ट हो गया कि भेष धर्म नहीं है और भेष को धर्म मान रहे हो, तो आप व्यवहार–मूढ़ हो। भेष में ही उलझ चुके हो, भावों की विशुद्धि पर लक्ष्य नहीं है, तो तुम्हारा भेष मात्र भेष है। धर्म की प्राप्ति के लिए भेष धारण किया है तो बहुत अच्छी बात है कि आपने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि धर्म भिन्न वस्तु है और भेष भिन्न वस्तु है।

ज्ञानी! धर्म की प्राप्ति का आधार मुद्रा है। उस मुद्रा को आपने धर्म की प्राप्ति के लिए धारण किया है, न कि मुद्रा धर्म है। **साधन साधन है, साध्य नहीं है; पर बिना साधन के साध्य की प्राप्ति संभव नहीं है; पर जिस जीव ने साधन को ही साध्य स्वीकार कर लिया है, वो कभी साध्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा।**

यहाँ प्रतिपल/प्रतिक्षण सहज होकरके भावों को निहारने की आवश्यकता है। जो कुछ कर रहा हूँ मैं उस पर परिणामों की विशुद्धि की अवस्था क्या चल रही है? कभी–कभी ऐसा भी हो जाता है कि भेष में ही सारा समय निकल जाता है। भवन बनाने के लिए कोई भवन नहीं बनाता है। भवन में रहने के लिए भवन बनाया जाता है। भवन बनाते–बनाते तुम्हारी मृत्यु हो गई तो भवन बनाने का उद्देश्य क्या था? भेष की प्राप्ति में ही, भेष के ही राग में भावों पर दृष्टि ही नहीं गई तो भेष का उद्देश्य क्या था? पूरा जीवन मैंने भेष में निकाल दिया।

ऐसे भी लोग मिले कि मेरे भवन का उद्घाटन है, उसके प्रचार के लिए घूम रहा है। भवन में आज तक प्रवेश नहीं किया और पोस्टर/बैनर लगाते–लगाते दीर्घ समय निकल गया और जिस दिन प्रवेश करने का विचार था उसी दिन उसके साथ दुर्घटना घट गई और उसकी अंतिम श्वास निकल गई। जैसे उस भवन का निर्माता, भवन निर्मित करने के उपरांत भवन में प्रवेश नहीं कर सका, ऐसे ही हे श्रमण! तूने निर्ग्रंथ मुद्रा का भवन तो खड़ा कर लिया, अब तू प्रवेश तो नहीं कर पाया। उसके प्रचार में बैनर फोटो में लिप्त हो गया, पता चला कि प्रवेश के दिन ही तेरी मृत्यु हो गई। भवन का क्या हुआ? दीवारों पोस्टरों में लिखा रह गया, पंपलेट पर छपा रह गया कि अमुक सागर बहुत अच्छे साधक, बहुत महान् त्यागी, ज्ञानी, अध्यात्म योगी थे। अध्यात्म (आत्म) भवन में प्रवेश ही नहीं कर सका। वह तो भवन के प्रचार में लगा था।

कुन्दकुन्द स्वामी बार–बार कह रहे हैं कि हे जीव! प्रवेश करने की तारीख बाद में घोषित करते रहना, एक दिन जाकर देख तो कि तूने बनवाया क्या है? बनाया क्या है? बाहरी सुंदरता को ही निहारता रहेगा, बेलबूटों को ही देखता रहेगा क्या? मेरा पिच्छी, कमंडलु कितना सुंदर है, मेरा दिगम्बर रूप कितना अच्छा लगता है। अपने शरीर को ही निहारता रहा, दिगम्बर रूप को ही देखता रहा, दिगम्बर स्वरूप को नहीं देख सका, जबकि दिगम्बर स्वरूप को देखने के लिए दिगम्बर रूप था। **बाहर के वस्त्र से रहित होना देह का दिगम्बरत्व है और वासनाओं, कषायों से भिन्न होना ये भावों का दिगम्बरत्व है।** जो द्रव्य तेरा नहीं है, उसे अपने से भिन्न करना बहुत कठिन नहीं है। जो तेरे भीतर अहम्, कषाय बैठी है, उसको भिन्न करना तपस्या है। अपने को सरल करने के लिए शरीर को किंचित् भी अकड़ाने की जरूरत नहीं है। जितना सरल होता जाएगा, सहज होता जाएगा, उतनी साधुता, साम्यता बढ़ती जाएगी।

मित्र! 'भरते जाओ तो खाली हो जाएगा' ये गूढ़ रहस्य समझो। ये श्रेष्ठ मार्ग है। खाली करने में समय निकाल दिया, भर पाओ ये नियम नहीं है। मेरे मित्र! एक कुएँ के भीतर बहुत सारा गोबर भरा हुआ है, वो सूख चुका है, उसे निकालना है। तू किसी को उतारेगा, खाली करवाएगा तो बहुत समय लगेगा। इसमें पानी भरते जाओ, गोबर अपने आप ऊपर आ जाएगा। इतना पानी भर दो कि पानी ही बाहर निकलने लगे तो गोबर को अपने आप निकलना पड़ेगा। मुमुक्षु! अपने आपको विशुद्धि से इतना भर दो कि अशुद्धि अपने आप गोबर की भाँति बाहर निकल जाएगी।

भैया! कुछ त्यागी शुष्क हो रहे हैं और शुष्कता में उनको कषाय बहुत आ रही है, भड़क रही है। वे अपने आप से हैरान, परेशान हो चुके हैं। उनको आनंद आना समाप्त हो चुका है। ऐसा क्यों हुआ? वे 'त्याग नहीं पाए और त्याग बैठे' 'समझ नहीं पाए, समझ बैठे, समझाने बैठ गए।' वासना की उम्र नहीं आई इससे पहले दिगम्बर हो गए। वे समझ ही नहीं पाए कि वासना होती कौनसी वस्तु है। जब वासना की उम्र आई तब–तक साधना का लम्बा समय निकाल चुके थे। जब वासना की उम्र आई तब उनकी समझ में आया कि वासना कौनसी वस्तु है। उस समय उनको समझना चाहिए था कि यह वह धारा है जिसमें जीव दिन–रात अंधा होता है। उस अंधेपन को दूर करना है तो अंतस् में भेदविज्ञान, वीतराग भाव, निर्दोष संयम की ज्योति लेकर चलना पड़ेगा।

ज्ञानी! त्याग नहीं करने के पहले त्याग कर चुके, इसको समझो। मीठा खाना नहीं सीख पाए अर्थात् मीठा बोलना, मीठा रहना नहीं सीख पाए, इसके पहले मीठा छोड़ दिया। उन्होंने समझा कि ये छोड़ दूँगा तो त्यागी हो जाऊँगा। पर शरीर में कुछ ऐसे तत्त्व चाहिए पड़ते हैं जिनसे मस्तिष्क

ठंडा रहता है, जिनसे मस्तिष्क का संचालन होता है। भैया! गाड़ी को भी ग्रीस चाहिए पड़ती है। आपके घुटनों में, मस्तिष्क में तरल द्रव्य है। जिनके शरीर में अंतिम धातु वीर्य शुक्र है, उनका ओज भिन्न होता है, उनकी बुद्धि प्रखर होती है, ये है शुद्ध ग्रीस। इससे मस्तिष्क का संचालन होता है। ये नष्ट हो गया तो मस्तिष्क ही मस्तिष्क का उपयोग करना प्रारंभ कर देता है। जिसका मस्तिष्क का द्रव्य सूख गया उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी।

आप युवा थे, घृत/दुग्ध चाहिए था, शरीर को द्रव्य चाहिए था, मीठा भी चाहिए था संतुलन बनाने के लिए। आप समझ नहीं सके और सब छोड़ दिया। इधर इच्छा नहीं छोड़ पाया तो फिर जीव बहाने बनाता है। नमक की जगह जवाखार की इच्छा रखता है, मीठे की जगह किशमिश, छुहारे की इच्छा रखता है यानि पूर्ति तो कहीं से कर रहे हो। ये द्रव्य नहीं मिलते हैं तो चिड़चिड़ापन आता है। जो शरीर को सामग्री चाहिए थी, नहीं मिली, तो मानसिकता शुष्क होने लग गई। इस कारण से त्यागी को चिड़चिड़ापन आने लग गया। अत: इच्छाओं को, कामनाओं को पहले छोड़ना चाहिए था, फिर इनको द्रव्य छोड़ना था। पहले द्रव्य छोड़ बैठे, पहचान नहीं पाए कि इच्छाएँ कैसी होंगी। षट्रस का त्याग करने वाले पुन: सेवन करने लग गये। तात्पर्य यह कि त्याग करने से पहले त्याग नहीं समझ पाए।

आपने त्याग किया, बहुत अच्छा किया। रागी क्या त्याग कर पाएगा? जिसने राग छोड़ा है, वही तो त्याग कर पाएगा। राग छोड़े बिना कभी त्याग मत कर देना, अन्यथा आप अपने आपको दु:खी पाएँगे। इस बात को आप पहचान नहीं पा रहे हो, समझ नहीं पा रहे हो। भावलिंग तो द्रव्यलिंग के बाद ही पूर्ण होगा, परंतु भावना की तैयारी पहले होना चाहिए। जिसकी भावनाओं की तैयारी नहीं है, उसका द्रव्यलिंग कभी भावलिंग में कार्यकारी रूप परिणत नहीं हो पाएगा।

आप मंदिर बनाने की मानसिकता बनाए हुए हैं, परंतु मंदिर का कोई स्वरूप अभी नहीं है, फिर भी नक्शों में आ गया है। इंजीनियर आज से हजार वर्ष का सोच करके नक्शा बनाएँगे। भूकम्प, वज्रपात, बिजली होने की संभावनाओं को ध्यान में रखेंगे। इसी प्रकार से मोक्षमार्गी जीव को कितनी दिक्कतें आ सकती हैं, इसका निर्णय करने की आवश्यकता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने इसको स्पष्ट लिख दिया है। अब कोई व्यक्ति वहाँ तक नहीं पहुँच पाए तो उनका दोष नहीं है।

ज्ञानी! यदि कुछ समझ में नहीं आ रहा है तो सुनना छोड़कर दूसरे काम में मत लग जाना। जो अभी सुना है, समय आने पर समझ में आने लगेगा। जैनाचार्यों का चिंतन अत्यंत गंभीर है, गहरी सोच है। आप जितना द्रव्य नींव में भर देते हो, उतना सारा द्रव्य ऊपर लगाया जाए तो एक

मंजिल और बन जाए। **ज्ञानी! नींव जितनी ठोस बनेगी, गहरी बनेगी, मजबूत बनेगी, भवन उतना ही ठोस रहेगा, टिकाऊ रहेगा।**

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए।।

(६२ मो. पा.)

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि सुख में भावित किया गया ज्ञान, दु:ख के आने पर विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे आपने बिना नींव के भवन खड़ा कर लिया है, वो वज्रपात तो दूर, वायु के एक झोंके से ही धराशायी हो जाएगा। हे श्रमण! चाहे संकट आए या न आए, उपसर्ग आए या न आए, लेकिन आपको पहले से सोचकर रखना पड़ेगा। लोग मेरी निंदा भी कर सकते हैं, उसको कैसे सहोगे? जीवन में अनेक उतार–चढ़ाव आते रहते हैं। एक व्यक्ति चला जा रहा था, उसे पत्थर से ठोकर लग गई, उसका हाथ टूट गया, पट्टा चढ़ गया बेचारे को। उसने सोचा था क्या? कभी उसने सोचा था कि ये पीड़ा आएगी मेरे जीवन में? लेकिन आ गई कि नहीं? अधीर होकर रहोगे कि धीर होकर रहोगे? जिसने तैयारी कर ली हो कि जीवन में कुछ भी आ सकता है, समाधि स्वीकार है, पर संयम का विसर्जन स्वीकार नहीं है।

भैया! क्या आपको सभी अच्छा मानते हैं? विश्वास रखना, ऐसे भी लोग होंगे कि आपकी अच्छाइयों को बुरा बता रहे हैं। आपकी अच्छाइयाँ आपकी बुराई का कारण बन रही हैं कुछ लोगों के लिए। जिनको आप पसंद नहीं हो, उनके लिए आपकी अच्छाइयाँ बुराई–जैसी लग रही हैं, शूल–जैसी चुभ रही हैं। आपके बारे में खोटा प्रचार भी कर सकते हैं, उन्हें कोई दिक्कत नहीं है। तब भी तुम्हारा चेहरा खिला रहना चाहिए। अरे! ये तो मुझे पहले से मालूम था कि फूल के साथ काँटा भी रहता है। विषमता में भी मुस्कराना सीखो और लाखों की भीड़ में भी रहकरके भीतर रहना सीखो।

भैया! तुम विशुद्धसागर के वात्सल्य से खिंचकर आए हो तो तुम कभी भी दु:खी हो सकते हो। संघ की सुविधाओं को देखकर आए हो तो कभी भी दु:खी हो सकते हो। यहाँ के साधु अच्छे लगे, उनको देखकर आए हो तो दु:खी हो सकते हो। प्रथम बेटे के प्रति माता–पिता की बधाइयाँ कुछ अलग होती हैं, द्वितीय के प्रति कुछ–और होती हैं। देखो भाई! 'जो है, सो है'। माना कि अंदर का भाव है, फिर उस जीव का जैसा नियोग हो। उसका सुभग नामकर्म का उदय होगा, यश:कीर्ति नामकर्म का उदय होगा, तो ये क्रम भंग भी हो जाता है। आप गहरी बात समझो। पहले

दिन आपको जैसा मिला, दूसरे दिन पुन: वैसा नहीं मिला तो आप कहोगे कि महाराज वैसे नहीं दिख रहे जैसे पहले थे। ये वही कह पाएगा जिसको वस्तु–स्वभाव का बोध नहीं है। प्रतिक्षण/प्रतिपल जीव की पर्याय बदल रही है, परिणति बदल रही है, अवस्थाएँ बदल रही हैं। जो मिठाइयाँ बच्चों को पसंद आती हैं वे युवा, बूढ़ों को पसंद नहीं आती हैं। जैसी पर्याय की प्रत्यासत्ति परिणमन करती है, वैसे जीव की रुचि में अंतर पड़ता है।

भैया! सुख में भावित ज्ञान दु:ख आने पर नाश को प्राप्त हो जाता है। उपसर्ग के दिन आ गए तो सब साथियों के साथ कहने लगे कि मुझे नहीं मालून था कि आपके साथ भी ऐसा हो जाएगा। हम लोगों को एक दिन का उपवास भी करना पड़ जाएगा। ज्ञानी! आपको पहले से मालूम होना चाहिए था कि 'कभी घी घना, कभी मुट्ठी भर चना।' जो है, सो है। ऐसे भी दिन दिखते हैं कि हजारों लोग हाथों में लिए दिखते हैं, ऐसे भी दिन दिखते हैं कि लोग भगाने वाले भी मिलते हैं। ऐसा भी होता है कि महीनों स्वयं का कमंडलु पकड़ने को नहीं मिलता और ऐसा भी होता है कि कोई कमंडलु पकड़ने वाला नहीं मिलता। कभी हजारों लोग अगवानी में होते हैं। कभी अध्यक्ष को जबरदस्ती दो–चार लोगों को लेकर अगवानी में पहुँचना पड़ता है। आपको पता चल जाए कि एक संघ आया था, उसकी अगवानी बहुत अच्छी हुई थी, और मेरी नहीं हो रही है, उस समय आप अपने परिणामों को सँभालना। 'मैं महाराज नहीं हूँ क्या?' महाराज तो आप हो, लेकिन वह यश नहीं है आपके पास। बहुत सँभलकर जीवन जीने की आवश्यकता है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने 'समयसार' में थाली–सुई–चुम्बक का उदाहरण दिया है। जैसे चुम्बक की सत्ता में थाली के ऊपर रखी सुई भ्रमणशील होती है, जैसे चुम्बक के घूमने से सुई घूम रही है, ऐसे–ही कर्मों के चुम्बक के कारण ये आत्मा भ्रमण कर रही है। **जिसके पुण्य का चुम्बकत्व अधिक है, वह दूसरों को अपनी ओर खींच लेता है। जिसका पुण्य का चुम्बकत्व हीन है, वहाँ खिंचकर कोई नहीं पहुँचता है।** जो पूर्व में पुण्य अर्जित किया होगा, उस पुण्य से यश:कीर्ति नामकर्म के चुम्बक के टुकड़े लगे हैं वो प्रभावित कर रहे हैं। जिसमें कोई मल नहीं होता, वो न खींचता है, न खिंचता है। सिद्धों से पूछो। जब शुद्ध हो जाता है, तब कोई शक्ति काम नहीं करती। जब–तक कर्मों की शुभाशुभभूत अशुद्धता रहती है, तभी तब बाहरी शक्तियाँ काम करती हैं।

दूध में पानी मिला दो तो स्वाद बदल जाएगा। पानी की बाल्टी में दूध डाल दिया तो क्या होगा? एक–दूसरे में मिल जाएँगे। घी के पिंड को पानी में डाल दो तो क्या होगा? नहीं मिलेगा।

क्यों? घी भी तो गोरस (दूध) का रूप है? जो शुद्ध होता है, वह किसी से नहीं मिलता है। ऐसे–ही जो शुद्ध आत्मा होती है, उस पर किसी का कोई असर नहीं पड़ता है। जब–तक अशुद्ध है, तब–तक जगत् के निमित्तों का असर है। सिद्धों को तेरा निमित्त प्रभावित करेगा क्या? नहीं।

आप शुद्ध भोजन करते हो कि अशुद्ध भोजन? 'मूलाचार' में भोजन के दो भेद किए हैं। शुद्ध भोजन और अशुद्ध भोजन। आपने पानी में अंगुली डाल दी, अशुद्ध हो गया। नीरस, जिसमें कोई अन्य द्रव्य नहीं मिला हुआ है, वह है शुद्ध भोजन। किंचित् नमक, मिर्च भी डाल दिया तो अशुद्ध हो गया। यहाँ शुद्ध–अशुद्ध से तात्पर्य मर्यादित– अमर्यादित नहीं है। ज्ञानी ने शुद्ध दाल का स्वाद कभी चखा ही नहीं है। छोंक वाली दाल खाकर कहता है कि क्या स्वाद है। परवस्तु के स्वाद को भिन्न वस्तु में लगाने की आदत जीव को अनादि से है। जैसे शुद्ध दाल का स्वाद आज तक नहीं चखा, ऐसे–ही शुद्ध आत्मा का स्वाद भी नहीं चखा।

ज्ञानी! जो शुद्ध द्रव्य है, वह किसी के दबाव में नहीं होता, वह किसी को दबाता भी नहीं है। अशुद्धि मन में है तो दबेगा भी, दबाएगा भी। आप अपनी दुकान पर एक–दो नोट इधर–उधर कर लो तो बेटे से डर लगेगा, भले आपका ही है। खुली पुस्तक की भाँति जीओगे तो किसी का डर नहीं लगेगा।

ज्ञानी! जैसे चुम्बक के घूमने से सुई घूमती है, ऐसे–ही कर्म जब–तक आत्मा में है, तब–तक आत्मा का भ्रमण है। चुम्बक हट जाए तो सुई का घूमना बंद हो जाए। ऐसे–ही कर्म हट जाएँ तो आत्मा का भ्रमण बंद हो जाए। दु:ख से भावित करो। कितनी ही विषमताएँ आ जाएँ, परिस्थितियाँ खड़ी हो जाएँ, फिर भी तुम्हारी मन:स्थिति पवित्र रहे, ये संभव है। जिन्हें ये संभव नहीं लग रहा है उन्हें अभी साधु बनने के अभ्यास की आवश्यकता है। स्वर्णकार के हथौड़ा पड़े बिना, अग्नि में तपे बिना सोना कुंडलादि आभूषण नहीं बनता है। कानों में पहुँचता कब है? तिलक बनकर माथे पर लगता कब है? यदि तुमको त्रिलोक–तिलक बनना है तो विषमताओं में तप करके बन पाओगे। साधना में खिंचाव नहीं आना चाहिए। ठंडी के दिनों में लोटा भी ठंडा रहता है। **जो भीतर की जितनी गहरी साधना करेगा, उसका स्वभाव उतना शीतल हो जाएगा,** भृकुटियाँ तनी नहीं होगी।

भइया! जितने राजनीतिक ग्रंथ हैं, उनका उद्देश्य क्या है? येन–केन–प्रकारेण अपने आपको सुखी बनाकर रखना। वहाँ करुणा, दया कुछ नहीं होती। मेरा सुख, मेरी यश:कीर्ति हो, ये राजनीति शास्त्र का उद्देश्य होता है। साम, दाम, दंड, भेद का उपयोग स्वयं की विजय के लिए करता है।

यदि कोई साधु राजनीति करता है तो वह धर्म से क्षीण हो चुका है। **धीमान, श्रीमान, बलवान इन तीनों से बड़ा है पुण्यवान।** तेरे पास धी, श्री, शरीर भी बलवान है, यदि पुण्य नहीं है तो असफल हो जाएगा। ज्ञानी! वस्तु स्वरूप ऐसा ही है। पुण्यवान नहीं है तो अपनी धी को भी शांत रखो, श्री को भी शांत रखो, अन्यथा असफल हो जाएगा।

बहुत से लोगों के प्रवचन टी.वी. में बड़े ध्यान से सुनते हो और वे सामने आ जाएँ तो आहार देने के भाव नहीं होते। कवियों की कविताएँ आप गुनगुनाते हो, सामने आ जाएँ तो मिलने के भाव नहीं होते, बोलने के भाव नहीं होते। सबका पुण्य अलग–अलग है। पं. भागचंदजी, 'महावीराष्टक' के रचयिता, जयपुर मंदिर में पीछे बैठे स्वाध्याय सुन रहे थे। जो पं.जी वचनिका कर रहे थे, अचानक एक प्रश्न छिड़ गया, वे उत्तर नहीं दे पाए, तो इन्होंने कहा कि मैं उत्तर दूँ? लोगों ने कहा 'हाँ'। तो इन्होंने ऐसा बढ़िया उत्तर दिया कि सब प्रसन्न हो गए। सबने कहा कि आज आप जिनवाणी पढ़ो। उन्होंने जिनवाणी प्रारंभ की– सांची तो गंगा...। अंत में भागचंद शब्द निकला तो लोग झूम गए। लोगों ने कहा कि ये भागचंद कौन है, हम जानना चाहते हैं। वे आँखों से आँसू टपकाते हुए बोले मैं ही अभागा कवि भागचंद हूँ। लोग बोले, आप ऐसे कैसे? बोले मेरे ऊपर सरस्वती तो प्रसन्न हुई, पर लक्ष्मी नहीं हुई। मजदूरी की खोज में निकला था, यहाँ जिनवाणी हो रही थी, मन नहीं माना तो यहाँ आकर बैठ गया, पत्नी बाहर इंतजार कर रही है। जयपुर समाज धन्य हो। उन्होंने कहा कि आप मजदूरी करने नहीं जाएँगे। उनको दुकान खुलवा दी। धन्य हो उस निर्लोभी श्रावक के लिए। जितना चाहिए था, कमाने के बाद समाज के हाथ जोड़कर घर वापस आ गए ईसागढ़। पन्नालालजी साहित्याचार्य की माँ एक मटकी में चून लेकर गई थी, वर्णीजी के पास। वर्णीजी बोले कि अपने बच्चे को यहाँ छोड़ जाओ। समाज के लोग कहने लगे 'वर्णीजी तो यूँ ही बोलते रहते हैं, खर्च कौन उठाएगा?' उस समय वर्णीजी बोले 'भइया! ये लड़का इतना होशियार निकलेगा कि समाज का पूरा खर्च निकल आएगा।' उन्होंने विद्वान् बनकर जैन साहित्य का, समाज का अत्यंत उपकार किया, राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त किया, तब समाज के सेठ कहने लगे कि वर्णीजी ठीक कर रहे थे। भइया! किस में कितना हुनर है, अशुभ मत कहो। सबके दिन एक–से नहीं होते। सब दिन एक–से नहीं होते।

भइया! संसार के वैभव को देखकर भूल मत जाना। मेघों की छाया देखकर घर मत मिटा देना। एक हवा में मेघ छट जाएँगे। पुण्य के मेघों को देखकर परमेष्ठी को मत भूल जाना। एक बार हवा चलेगी तो पुण्य के मेघ छट जाएँगे। **जीवन की हर धारा में जीना सीखो।** भैया! कभी

भी किसी भी संघ का त्यागी–व्रती आ जाए तो उसके प्रति अशुभ भाव मत लाना। इस अहम् में मत रहना कि मेरा संघ श्रेष्ठ है। उसका सम्मान समाप्त मत कर देना। इतना ध्यान रखना कि सबके दिन एक–से नहीं होते। **चक्रवर्ती का पुत्र चक्रवर्ती नहीं बनता। चक्रवर्ती के जाते ही नव निधियाँ, चौदह रत्न विलीन हो जाते हैं।** जो वास्तु के नाम पर मकान, मंदिर तोड़ रहे हैं, वे विवेक नहीं लगा रहे हैं। वास्तु सर्वथा कुछ नहीं करता। ये किला है, इसमें राजा राज्य सुखपूर्वक करता था। उसके जाने के पश्चात् कोई वास्तुकार आया, बोला, ये हटाओ ये लगाओ। सीधी–सी बात है, पुण्यात्मा था तो कोई वास्तु कुछ नहीं कर रहे थे। पुण्य समाप्त हो गया तो वास्तु में सब दोष आ गए।

छतरपुर चातुर्मास में एक पण्डित आए, नेमिनाथ मंदिर के आगे मंच लगा हुआ था, मंच से बोले– इस नगर का तो विनाश हो जाएगा, मंदिरों में ये दोष है। मैंने उनसे कहा 'पण्डितजी! क्या होगा, यह बाद की बात है। आप वर्तमान में समाज का आनंद देखो, समाज की भावनाएँ देखो, लोगों की धर्मप्रभावना को देखो। आप तो ये देखो कि समाज में संपत्ति बढ़ रही है, धर्म की प्रभावना बढ़ रही है, वास्तु दोष क्या करेगा?' वे बोले, 'वेदी के सामने वेदी है ये सबसे बड़ा दोष है।' मैंने कहा 'ज्ञानी! सुनो, तीर्थंकर के सामने तीर्थंकर है, इनका दोष वे देंगे, उनका दोष ये देंगे, तुम काहे को परेशान हो रहे हो? कोई आएगा ये वेदी हटा दो, कोई दूसरा आके कहेगा ये दिशा ठीक नहीं है। ज्ञानी! दोष होता है भ्रम का। जिसने भर दिया तो लोग तनाव में आ जाते हैं और जिसने उत्साह भर दिया उसके सारे दोष चले गए। ये विशाल जैन मंदिर है, इनको भूमिसात मत कर देना। पैसा बढ़ जाए तो दूसरी भूमि पर नए मंदिर खड़े कर लेना, लेकिन पुराने मंदिरों को नष्ट मत कर देना। **जब दशा ठीक हो तो दिशाएँ ठीक नहीं करनी पड़ती।** कोई भी अपने अशुभ कर्मों से दु:खी होता है, मंदिर से दु:खी नहीं होता है।

ज्ञानी! ये श्रमण मार्ग है। ये निज में श्रम करने का मार्ग है, ये पर में पसीना बहाने का मार्ग नहीं है। हे मुनि! यदि तू साधना में मात्र पसीना बहा रहा है, तो पसीना बहाने वाली पर्याय मिलती रहेगी। यदि तू शरीर की साधना में लगा रहा और इसी में पसीना–पसीना होता रहा, तो पसीना मिटने वाला नहीं है। पसीना उनके ही मिटते हैं जो निज की साधना करके अठारह दोषों से रहित हो जाते हैं। अठारह दोषों में पहला दोष स्वेद यानि पसीना है। जो जीव द्रव्यलिंग मात्र में ही पसीना बहा रहे हैं, बिल्कुल लाल–लाल हो रहे हैं, वे सब पसीने से ही लिप्त रहेंगे। जो ज्ञानी अभेद रत्नत्रय से मंडित भावलिंग की साधना में लगे हैं, वे स्वेद

आदि १८ दोषों से रहित होकर अरिहंत देव बनेंगे।

आचार्यों ने पाखण्डी जिनलिंग को कहा है और गृहीलिंग श्रावक ऐलक, क्षुल्लक को कहा है। श्रावक को श्रमणोपासक, समयसार उपासक भी कहा है। आचार्य महाराज कह रहे हैं **'यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपपणप्रकारः स केवलं व्यवहार एव'** श्रमण, श्रमणोपासक दो प्रकार से लिंग हैं, द्रव्यलिंग से दो भेद हैं। श्रमण से तात्पर्य दिगम्बर मुनि। श्रमणोपासक से तात्पर्य श्रावक ऐलक, क्षुल्लक आदि। सामान्य गृहस्थ का कोई लिंग नहीं है। आप श्रमणोपासक इसलिए हो कि आप श्रमणों की उपासना कर रहे हो। इस प्रकार से देशचारित्र व सकलचारित्र, देशसंयम व सकल–संयम इस दृष्टि से दो मार्ग हैं। व्यवहार मात्र कथन करता है, **'न परमार्थःस्तस्य'** परमार्थ इसे स्वीकार नहीं करता है। **'स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्'** क्योंकि व्यवहार अशुद्ध द्रव्य का आलम्बन अनुभवन करता है। जो–जो व्यवहार हो रहा है, वह मिश्र पर चलता है, परमार्थ का अभाव है। संसार में जो–जो चाक्षुष सुंदर दिख रहे हैं, वे सब मिश्र के सुंदर हैं। जो अमिश्र में सुंदर है, वो चाहे पुद्गल हो चाहे जीव हो, किसी की आँखों का विषय नहीं है। परमार्थ को कोई देख नहीं सकता है। शुद्धात्मा को कोई देख नहीं सकता है। यदि तुम कहो कि तीर्थंकर तो सहज सुंदर होते हैं, तो गाथा देखो, 'दो गोरे, दो साँवरे, दो हरियल, दो लाल, सोलह स्वर्ण समान हैं।' ये भगवान् के रंगों का ही तो वर्णन है, क्या भगवान् में रंग हैं?

नगर में कोट है, नगर में महल है, खाइयाँ हैं। ये सारे नगर की सुंदरता का वर्णन कर दिया, तो क्या राजा की सुंदरता का वर्णन हो गया? जैसे नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं हो जाता, ऐसे ही देह का वर्णन करने से केवली का स्तवन नहीं हो जाता।

हे मुमुक्षु! जो तुझे सुंदर दिख रहा है, वो कर्म–नोकर्म का पिंड है। जो सुंदर है, वो तो सुंदर ही है। जो सत्य है, वो सुंदर है। जो सुंदर तुझे दिख रहा है, वो सत्य नहीं है। वो मिश्र है। जिस सुंदर काया पर तू रीझ रहा है, उस सुंदरता को छोड़ने के लिए तू मुनि बना है। जो भगवान् के सामने बोल रहा है 'मैं निरोगी रहूँ, यश फैल जाए' वह कर्म ही बाँध रहा है। शांतिधारा में बोल रहा है श्री वर्द्धताम्, यश वर्द्धताम्, पुण्य वर्धताम्... और उधर कहता है पूजा में अष्ट कर्म दहनाय धूपम् निर्वपामीति स्वाहा। आप देखो कैसी बातें कर रहे हो? एक तरफ कह रहे हो कि सबकुछ मिल जाए और दूसरी ओर कह रहे हो आठों कर्मों का नाश हो जाए। ज्ञानी! तू चाहता क्या है? आठ कर्म का नाश होगा तो सब नष्ट हो जाएँगे। मेरे मित्र! शांतिधारा कर रहे हो, उसमें भी मिलावट

है। माँग क्या रहे हो आरोग्यमस्तु, कुलगोत्रधनधान्यं सदास्तु। भगवान् तुमको देने आ रहे हैं क्या? जो देवे और लेवे, वे भगवान् हैं क्या? विशुद्धि की परिणति तेरी है, कि उनकी है? तेरी परिणति से क्षय होगा, कि उनकी परिणति से? कर्मक्षय किससे हो रहे हैं, वो परिणति किसकी है? तेरी है न? जब भगवान् कहाँ गए? अभी एक नई शांतिधारा बनी है, उसमें लिखा है 'मोटर दुर्घटना छिंदि–छिंदि भिंदि भिंदि...।' अभी तक भगवान् को २४ नामों से पूजते थे, अब मुनिसुव्रतनाथ को शनिदेव के नाम से कुछ लोग पूजने लगे हैं। अब 'मुकदमा जीतो' विधानादि भी होने लगे हैं। बहुत सारी विषमताएँ इस लोक में फैल गई हैं।

ज्ञानी! जैनधर्म बड़ा विशुद्ध है, उसमें दुनियाँ के नाटक नहीं हैं, वहाँ तो मात्र इतना है **'एसो पंचणमोयारो सव्व पावप्पणासणो'।** कोई कह रहा है कि इतने लाख दे दो, कलश घर में रखवा लो, तुम्हारे सब संकट दूर हो जाएँगे। तू ही बता, कलश रखवाने से पाप क्षय होंगे कि णमोकार मंत्र की आराधना से पाप क्षय होंगे? किसी ने कोई पाप कर लिया तो भगवान् का नाम लेने से पाप क्षय होंगे कि तुम्हारे घर पर कलश रखवा देने से पाप क्षय होंगे? भगवान् का नाम लेने से।

जो कलश है वो लौकिक द्रव्य मंगल है, अचेतन है। अरिहंत विम्ब द्रव्यमंगल है परमार्थभूत। मुनिराज चेतन द्रव्यमंगल हैं। भावों की विशुद्धि भावमंगल है, वो मंगल है तो सब मंगल ही मंगल है।

ज्ञानी! शरीर का वर्णन केवली का वर्णन नहीं है। **'वन्दे तद्गुण लब्धये'** गुणों की वंदना है। तीर्थंकर– प्रकृति का बंध भी परवस्तु है, उसका भी क्षय करना पड़ता है। सकल परमात्मा जो हैं, वे अभी संसारी हैं, उनका भावमोक्ष हुआ है, द्रव्यमोक्ष नहीं हुआ है। निकल परमात्मा ही संसारातीत हैं। संसारातीत की बात करेंगे तो वहाँ छिंदि–छिंदि भिंदि भिंदि नहीं करेंगे, वहाँ अष्ट कर्म दहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

'यदेव श्रमणश्रमणोपासक विकल्पातिक्रान्तं' जो श्रमण और श्रमणोपासक के विकल्प से अतिक्रांत हैं, भिन्न हैं **'दृशिज्ञप्तिप्रवृत्तप्रवृत्तिमात्रं'** दर्शन–ज्ञान–चारित्र मात्र की प्रवृत्ति चल रही है **'शुद्धज्ञानमेवैकमिति'** वही शुद्ध ज्ञान है, **'निस्तुषसंचेतनं परमार्थः'** पर मलों से रहित, भूसा से रहित जो शुद्ध तंतुल के समान है, वह परमार्थ है **'तस्यैव स्वयं शुद्ध द्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वात्'** उस शुद्ध द्रव्य का अनुभवन करने पर परमार्थ है। **'ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते'** जो व्यवहार को ही परमार्थ–बुद्धि से चिन्तते हैं, मानते हैं, वे समयसार का ही अनुभव

नहीं करते, जो परमार्थ को परमार्थ बुद्धि से अनुभव करते हैं, **'ते एव समयसारं चेतयंते'**। वे ही समयसार का चिंतन करते हैं। ये है समयसार।

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञान–विस्फूर्तिमात्रा न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति।।

(२४४ कलश)

अलम अलम यानी बस करो– बस करो। जितने विकल्प हैं, जितने शब्द हैं, उन सभी विकल्पों और शब्दों को विराम दे दो। जो परम एक चैतन्य है, वही निज ध्रुवधाम निज धर्म है, उसके अलावा जो भी है, वह सब मलिन भाव है। शब्द का व्यापार कितना भी वृद्धिमान कर लो, विस्तार तो हो सकता है ग्रंथ का, परंतु निर्ग्रंथ का स्वरूप मात्र इतना ही है, एक निज सम दृषि भाव की लीनता ही समयसार है। परमार्थ दृष्टि से एक मेरा चैतन्य द्रव्य है, वही स्वरस है। स्वरस, विषयरस, पूर्णज्ञान जो अपना निज रस है, उसको ही विस्तार कर। स्वरस जो निज रस का विस्तार है, उस निज रस को ही तुम विस्तृत करो। इससे आगे कोई समयसार नहीं है। एकमात्र अभेद वृत्ति, अभेद दृष्टि। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र इनकी अखण्ड वृत्ति, अभेद वृत्ति, अभेद दृष्टि। एक आत्मा ही है। अभेद दृष्टि निज लक्ष्यभूत है। अभेद दृष्टि, मेरी दृष्टि में कोई भेद नहीं है। निज दृष्टि का भेद भी विकल्प है। मैं ज्ञानस्वरूप, मैं दर्शनस्वरूप, मैं चारित्रस्वरूप हूँ, मैं सूक्ष्म रूप हूँ, मैं वीर्य स्वरूप हूँ, अनंत गुणादिक रूप हूँ। ज्ञानी! ये विकल्प हैं। इन विकल्पों से भी अपने आपको भिन्न करो। अभेद दृष्टि है अनेक स्वभाव के मध्य में ज्ञायक भाव। मैं ज्ञाता मात्र हूँ। निज में भी भेद मत करो, मात्र देखो कि मैं एक ज्ञाता हूँ। स्थिर मन, स्थिर बुद्धि, मन के विकल्पों से शून्य बुद्धि। व्यर्थ के छल मत करो, भाषण मत करो, कोई चिंतवन मत करो।

अभेद दृष्टि, ज्ञायकभाव, स्वरूप दृष्टि, स्वरूपलीनता कोई कठिन नहीं है। समरस, स्वरस। जब स्वरस में लीन होता है, तो पररस में दृष्टि कहाँ? स्वरस में ही है परिपूर्ण लीन है, ऐसे अखण्डब्रह्म में लवलीन परमयोगी स्वरस में लीन है। कोई तत्त्व–उपदेश, तत्त्व की व्याख्या नहीं। व्याख्येय–व्याख्यान से शून्य दृष्टि, वाचक–वाच्य भाव से शून्य दृष्टि, कथ्य–कथन से शून्य दृष्टि, विषय–विश्लेषण से शून्य दृष्टि, उपमा–उपमेय से शून्य दृष्टि। एकमात्र अभेद दृष्टि। ये है साक्षात् मोक्षमार्ग, अभेद दृष्टि। पिच्छी, कमंडलु, देहलिंग इन सारे विकल्पों से शून्य है। ये विकल्प भी बंध के कारण हैं। चेला–चेली, शिष्य– शिष्याएँ, भक्त ये सब पागलपन, उन्मत्त भाव हैं। मोह से उन्मत्त हो रहा है जीव। मदपायी यदवा–तदवा पर को स्व कहता है, ऐसे–ही मोही प्राणी कहता है। जितने

संबंध हैं, सब मोह का मत्तपना ही है।

आप न घर लेकर बैठना, न संघ लेकर बैठना। न संघव्यवस्था देखना, न अपने घर की व्यवस्था देखना। यहाँ पर मात्र अभेद दृष्टि। न पत्र है, न पुष्प है, न डाल है, न शाखाएँ हैं। मात्र लक्ष्य है, अर्जुन दृष्टि। अर्जुन को मात्र लक्ष्य दिख रहा था। न पुष्प, न डाली, न शाखाएँ, न पत्र। हे जीव! न मैं निर्ग्रंथ देखता न मैं सग्रंथ देखता। न निश्चयनय न व्यवहारनय देख रहा हूँ। न मैं प्रमाण देख रहा हूँ, न प्रमाणाभास देख रहा हूँ। न निक्षेप देख रहा हूँ, न नय देख रहा हूँ। ये सारे विकल्प हैं। नय, निक्षेप, प्रमाण के विकल्प का अभाव है अभेद दृष्टि। न मुझे जिनदेव, न जिनवाणी दिख रही है, न गुरु न अन्य कोई दिख रहा है। अभेद दृष्टि। मात्र देखनहार ही दिखाई दे रहा है, अभेद दृष्टि।

स्वरस में लीन है, अभेद दृष्टि। वीतरागी श्रमण वीतराग के राग से भी शून्य है। सरागी श्रमण को वीतराग से राग है। सरागी श्रमण (छठवें गुणस्थानवर्ती योगी) का पुरुषार्थ जारी है कि मैं सप्तम का स्पर्श करूँ, यह प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिराज का पुरुषार्थ जारी है कि मैं अप्रमत का स्पर्श करूँ। जो अप्रमत्त में बैठा हुआ है, उसे अप्रमत्त का भी राग नहीं है। योगी का मन योगी के मन में भी नहीं है। योगी का मन मात्र ज्ञायक भाव की अखण्डता में लीन है। ऐसा अखण्डब्रह्ममय योगी श्रमण ही अभेददृष्टि अभेदवृत्ति में है।

ज्ञानियो! अभेद दृष्टि, अभेद वृत्ति में प्रवेश नहीं कर पा रहे हो तो कम–से–कम शब्दों के साथ चलो कि कैसी दशा है? अभेद दृष्टि, अभेद वृत्ति। जिस देह में है, उस देह का भी भान नहीं है। जिस शहर में है, उस शहर में नहीं है। जिस संसार, जिस क्षेत्र, जिस काल में है, उस संसार, क्षेत्र, काल में नहीं है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव में लवलीन है। कोई क्षेत्रपरावर्त्तन नहीं, कोई द्रव्यपरावर्तन नहीं, कोई भाव परावर्त्तन नहीं, परभाव नहीं। पंचपरावर्त्तन से भिन्न। परावर्त्तन परधर्म है। जो संशय में है, उसका नाम संसार है। वही पंचपरावर्तन है। उस पंचपरावर्त्तन के विकल्प से शून्य। मात्र ज्ञातादृष्टि, ज्ञायकभाव।

संसार की व्यवस्था को देखोगे तो व्यवस्था भंग हो रही है। डर/भय निकालना पड़ेगा, निर्भीक होना पड़ेगा। बस, कुछ नहीं, मोह हटा दो, तभी सत्य देख पाओगे। ऐसा होगा तो वैसा हो जाएगा, वैसा होगा तो ऐसा हो जाएगा, यह सब कुछ नहीं जो कुछ होना है वही होगा, और कुछ भी नहीं। जो हो रहा है, वही होगा, उसके अलावा कुछ भी नहीं होगा। तुम तो राग–द्वेष करके बंधव्यवस्था को बढ़ा रहे हो और कुछ नहीं कर रहे हो। क्या देख रहे हो? जो होना है, वही होगा। क्या होगा?

द्रव्य का परिणमन, पर्याय का परिणमन। वो तो होगा ही, उसे कौन रोक पाया है? मैं क्यों अशुद्ध परिणमन में अपने आपको (परिणामी को) ले जाऊँ? अशुद्ध परिणमन में परिणामी को क्यों ले जाऊँ? मैं तो अपने परिणामी को वहाँ ले जा रहा हूँ जहाँ मात्र विशुद्ध परिणमन है। किसी को कोई स्थान नहीं। न पुण्य भाव को स्थान है, न पाप भाव को स्थान है। मैं क्यों तनाव में पड़ूँ? वो तो आ रहा है, पुण्य भी आएगा, पाप भी आएगा। आस्रव जारी है। मुझे आस्रव से प्रयोजन नहीं। देह में १३वें गुणस्थान तक पुण्यास्रव चल रहा है, एक समय का बंध भी चल रहा है, चलने दो, मुझे क्या लेना–देना? मैं कहूँ कि घड़ी में चार बजनेवाले हैं, तब भी चार बजने वाले नहीं हैं। मैं कहूँ कि अब संध्या आनेवाली है, तो अब संध्या आ ही रही है। मैं कहूँ कि अब सूर्य अस्त होनेवाला है, तो सूर्य अस्त होनेवाला ही है। मैं कहूँ देखो ठंडी हवा चल रही है, तो वो चल ही रही है। ये पागलों की समय बर्बाद करने की चेष्टा है। जो हो रहा है, उसे कहने की क्या आवश्यकता है। कितना उन्मत्त भाव, कितना समय बर्बाद करते हो। कोई मरने वालों की सोच रहा है, कोई जन्म लेने वालों की सोच रहा है। ये सब नियत काम हैं। क्या सोच रहे हो, क्यों सोच रहे हो? तुम्हारे सोचने से कुछ हो रहा है क्या?

ढेर सारे दूध को जमाया, पानी डालकर मट्ठा बना दिया, कोई प्रयोजन नहीं है। यदि ये सोचे कि ढेर सारे दूध से थोड़ा मक्खन मिलता है तो क्यों करूँ? तो मेरे मित्र! तुमको मक्खन या घृत का स्वाद तीन काल में आने वाला नहीं है। मक्खन या घृत तो जरा–सा ही होगा। जब आप लम्बे समय तक अभ्यास करेंगे कि मैं सबसे भिन्न हूँ, भावों में अविकल्पात्मक दृष्टि को लाओगे, तब एक क्षण या दो–चार मिनट को विकल्प रहित भाव आएगा, तो समझ लेना कि परम रस का स्वाद चख लिया है और–ये जगत् से दूर करके और ऊपर ले जाएगा। लेकिन जो यों सोच रहा है कि कैसे जीऊँगा, ऐसा सोचनेवाला एक मिनट को भी स्पर्श नहीं कर पाएगा।

ज्ञानी! जिसको तुम कर ही रहे हो, उसे पूछकर क्यों समय बर्बाद कर रहे हो? अभी तेरा धर्म ध्यानभूत भी भाव नहीं है। आप इस रूप में बैठे हो, योगी हो कि रागी हो? **पहले व्यवहार से योगी बनो, फिर निश्चय में उतरो। बड़ी विडम्बना ये है कि व्यवहार में योगी बने बिना निश्चय की अनुभूति लेना चाह रहे हो, हो नहीं पा रही है। तुमने योगी बनने की अनुभूति को ही छोड़ दिया। जो विधि क्रम से है, उस विधि का आश्रय लेना पड़ेगा, और विधि का आश्रय लिए बिना वस्तु दिखाई नहीं देगी।** आप उससे वंचित रह जाओगे।

जिस माँ से घृत निकालते नहीं बनता हो और घर में उसकी ही चलती हो, तो वह प्रमाणित

कर देगी कि आजकल के दूध में घी नहीं निकलता और उसकी बात को घर के लोग कहेंगे कि माँ ने कहा तो सत्य है, क्योंकि सारा जगत् मोह से उन्मत्त है। माता–पिता की अनुभूति को स्वानुभूति मान रहे हैं। अपने इष्ट की, गुरु की अनुभूति को स्वानुभूति मान रहे हैं। इसी में अपनी आत्मा को ठग रहे हैं। परानुभूति को स्वानुभूति मानने का, पागलपन का विषय नहीं चल रहा है। यहाँ किसी दूसरे को लाने का नहीं है। जिसे आप ७वाँ या ८वाँ गुणस्थान की संज्ञा देते हो, तब ९, १०, ११, १२, १३, १४ गुणस्थान की संज्ञा दे रहे हो। अध्यात्म दृष्टि कहती है कि परम योग की धारा है।

काय–वाङ्–मनः कर्मयोगः। (६/१ त.सू.)

शरीर मन वचन, इनका पिंड 'योग' है। उस योग को जो सँभाल लेता है, **इस योग से जो अपने को भिन्न करके निहार लेता है, निज के ज्ञायकभाव को समझ लेता है, वही योगी है,** बाकी कोई योगी नहीं है। जो गृहस्थी बसाए है, नाना प्रकार के प्रपंच में डूबा हुआ है, वह योगी कैसा? ये तो संसार की भाषा का योगी है। प्राणायाम, आसन आदि की अपेक्षा से शिक्षक के रूप में योगी है। वह शिक्षक 'गुरु' तो है, पंचपरमेष्ठीभूत गुरु नहीं है। हमारा गुरु तो निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि होता है।

सारा योग जहाँ से सिमट जाए, वहाँ से अध्यात्म शुरू होता है। जो योग है, वह अध्यात्म नहीं है। **मन वचन काय को जोड़कर रख लेना 'योग' है। निज में लीन हो जाना, वह अध्यात्म है।** मन परवस्तु है, स्यात्। वचन परवस्तु है स्यात्। काय परवस्तु है स्यात्। द्रव्य मन, द्रव्य वचन, द्रव्य काय इनका मेरे से अत्यंताभाव है। मैं इनसे अत्यंत भिन्न हूँ। इनको बहिरंग आलम्बन रूप स्वीकारना। इनका तो सम्मान रख लेना, इनको तो स्थिर कर लेना, लेकिन लखना किसको है? **लोगों ने अच्छे से रहने को अध्यात्म मान लिया, अच्छे से खाने को अध्यात्म मान लिया, अच्छे से बोलने को अध्यात्म मान लिया है। निश्चय की भाषा अध्यात्म नहीं है, व्यवहार की भाषा अध्यात्म नहीं है। अध्यात्म का अर्थ समझिए। आत्मा का नजदीक निवास आत्मा में ही हो, उसका नाम अध्यात्म है।**

जिसकी इंद्रियाँ वश में नहीं हो रही हैं, पंचमकाल में उसको ये लगता है कि शायद इस युग में व्रतों का पालन असंभव है। ज्ञानी! ये आपकी कमजोरी है। अपनी कमजोरी को व्यवस्था मत बनाइए, अपनी व्यवस्था को अपनी व्यवस्था स्वीकारिये। अपने भावों की चंचलता को अपने भावों की चंचलता मानिये। अपनी इंद्रियों की चंचलता को अपनी इंद्रियों की चंचलता मानिये।

अपनी निजी चंचलता को आप सार्वजनिक दृष्टि पर नहीं ले जा सकते हो। अपने विचारों से जगत् को मापना/देखना महापाप है। जितने पापी जगत् में हुए हैं वे अपने विचारों से दुनियाँ को देखते रहे हैं।

हम लोग विचारवानों के विचारों की बात मानते ही नहीं हैं। हम उन विचारों की बात मानते हैं जो अपने विचारों से बोलते हैं। हम उनकी बात मानते हैं जो विचारातीत हो चुके हैं, वे अरिहंतदेव हैं। जिनके कोई विचार नहीं होते, सर्वांग से दिव्यध्वनि निकलती है, बोलते नहीं हैं। निर्विचार होने पर एक ऐसा ज्ञान होता है जिसका नाम केवलज्ञान है। विचारों के पास तो सत्य का ज्ञान होता ही नहीं है। क्षायिक ज्ञान होता ही नहीं है, क्षायिक दर्शन होता ही नहीं, क्षायिक दृष्टि होती ही नहीं है। जो अविकारी, अविचारी है, उसी के पास सत्य, बोध–ज्ञान दृष्टि है।

ज्ञानी! जो बोला जा रहा है, ओठ कंठ तालु आदि के संयोग से जो भाषा स्फुटित हो रही है, वह पौद्गलिक है। जो सुन रहे हो, वह भी पौद्गलिक है। जो वचनयोग है, वह स्याद् चैतन्य है, क्योंकि बिना आत्मा के संयोग के स्फुटित नहीं हुए हैं। जिसके संयोग से शब्द स्फुटित हो रहे हैं, उससे मिलो।

मस्तिष्क से जो सोचने वाले हैं, बोलने वाले हैं, वे स्वयं की सोच से जीते हैं। उनकी दृष्टि में सत्य भी असत्य हो जाता है। विचारवानों के विचार मान्य नहीं हैं, क्योंकि विचारक मस्तिष्क वाले होते हैं। जिसको तुम धर्म मानते हो, वो सब असत्य है। पर सत्य की प्राप्ति के लिए तुम्हारा असत्य धर्म स्वीकार है। **शुद्ध भोजन कर रहे हो, व्रती बन रहे हो, संयम का पालन कर रहे हो, अच्छा है; पर इसे मोक्षमार्ग मानकर मत बैठ जाना। ये मोक्षमार्ग का उपाय है।**

जैनधर्म किसी का धर्म नहीं है। जिसे तू धर्म मान रहा है, वो तेरा संप्रदाय है, श्रद्धा का श्रद्धेय का। जो धर्म है, वह वस्तु का स्वभाव है। **'वत्थु सहावो धम्मो'।** मेरा धर्म मेरा निज का ज्ञान–दर्शन है और तेरा धर्म तेरे निज का ज्ञान–दर्शन है। उसे भूलकर तुम कहाँ ईंट–चूने–पत्थरों में धर्म की खोज कर रहे हो? जितने धर्मात्मा हैं, उन्हें धर्म का पता ही नहीं है, धर्म कर रहे हैं। इन माताओं से पूछना, कल चतुर्दशी निकल गई, आपने उपवास किया? किया। क्यों किया? उपवास का नियम था, इसलिए किया। उन्हें ये मालूम नहीं था मैंने जो भोजन छोड़ा है, इससे मेरी आहार संज्ञा कम हुई है और तद्जन्य जो हिंसा होने वाली थी उसकी कमी हुई है। उतना समय निज स्वात्म तत्त्व के चिंतन में लीन होने को मिला है। मेरा धर्म क्या है, उस धर्म की पहचान करने के लिए मैंने भोजन छोड़ा था। इनका तो नियम था, इसलिए किया। जो किया वो अच्छा

किया, लेकिन और–अच्छा करो। मंदिर में आकर प्रतिक्रमण किया, बहुत अच्छा किया। इसके आगे और–अच्छा करो। ये सारे प्रपंच की बातें छोड़ दो। उसे पहचानो उसे जानो जो सबको जनवा रहा है, सबको पहचान रहा है। अभेद दृष्टि। जहाँ आप धर्म खोज रहे हो, वो संप्रदाय है, वे पंथ आम्नायें हैं।

मुमुक्षु! धर्म कुछ–और है। अभेद दृष्टि, एक पर दृष्टि। अन्य पर नहीं, अनन्य पर दृष्टि। अतन्मय पर दृष्टि नहीं, तन्मय पर दृष्टि। जो–जो तुम धर्म मान रहे हो, वो अतन्मयीभूत है। जब मैं तन्मय धर्म में प्रवेश कर जाऊँगा, फिर न पानी छानना पड़ेगा, न प्रासुक करना पड़ेगा, न पीना पड़ेगा। वो तो 'चैतन्य रस रसायन स्वरूपोऽहम्' मात्र चैतन्य रस–रसायन का स्वाद ले रहा है, अन्य किसी द्रव्य का रसपान नहीं है। तन्मयभूत धर्म में जब जाएगा तब न आहार, न पानी, न निहार, न विहार। फिर भी विहार, मात्र चैतन्य विहार। न देखना, न सुनना, न जानना, न बैठना, फिर भी सब क्रियाएँ चल रही हैं, बंद कुछ भी नहीं है।

बुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति।।

(४१/इष्टोपदेश)

अरिहंतों से पूछो, इच्छापूर्वक बोल रहे हो क्या? विहार चल रहा है, इच्छा से चल रहा है क्या? सारे विश्व की चराचर पर्याय को देखते हुए भी नहीं देख रहे हैं, वे निज आत्मतत्त्व में स्थिर हो चुके हैं। परंतु हे जीव! आपने इसका क्या दुरुपयोग किया। स्त्री संयोग, जगत् के भोग भोग रहे हैं और कह रहे हैं कि मैं करते हुए भी नहीं कर रहा हूँ।

यहाँ माला डालने वाले योगी की बात नहीं है, माला फेरने वाले योगी की बात नहीं है, ये निज में निमग्न होने वाले योगी की बात है। क्या तुम माला फेरने में लग गए? क्या तुम माला बाँटने में लग गए? क्या तुम ढेर सारी माला पहन कर बैठे हो? लम्बे–लम्बे बाल बढ़ा लिए और बोले हम योगी। यदि ये हो गए, तो **'अप्पा अप्पमि रओ'** का क्या होगा? तुम न योगी, न भोगी। उभय रूप से भ्रमणशील व्यक्ति हो। चित्र–योगी भी नहीं हो।

उपचार वस्तु का होता है, अवस्तु का नहीं होता है। भैया! व्यवहारिक जीवन ईमानदारी का जी लेना ये कोई महानता नहीं है। व्यवहार से भिन्न होकरके निज में जी पाना, यह महानता है। ईमानदारी से जीना, ईमानदारी से व्यापार करना, ईमानदारी से भोजन करना, ये बहुत बड़ी बातें नहीं हैं। ये आपकी जीवन जीने की शैली है। कोई मान कषाय से ग्रसित होकर जीवन जीने में

आनंद मना रहा है, कोई कैसे भी जीने में आनंद मना रहा है। इन सबसे भिन्न होकर जीना। जहाँ जीने का भाव भी नष्ट हो चुका है, मरने का भाव भी मर चुका है, वो दशा परमयोगी की है। जो कहता है कि शांति से जीता हूँ, अभी वह योगी नहीं है। 'मेरे ऊपर बहुत क्लेश आ गए हैं, अभी तू सच्चा योगी भी नहीं है। संसार के भोग भी शांति से नहीं भोग पा रहा है।

जब–तक जगत् की कलाओं पर दृष्टि है, अभेद दृष्टि नहीं है। नारियों की ६४ कलाएँ हैं, पुरुषों की ७४ कलाएँ हैं। कातंत्र व्याकरण में ७४ कलाओं को समझाया है।

भइया! जिसको जो अभीष्ट होता है, उसको वह वस्तु मिल जाती है। चक्रवर्ती १४ रत्न प्रकटाने के लिए किसी के घर पर माँगने नहीं जाता, नव निधियों को कहीं खोजने नहीं जाता, उसे सहज ही मिलती हैं।

श्रावकों को लगता है कि साधु ज्ञानी होगा तो पूरी समाज अपने आप ज्ञानी होगी। **किसी का विरोध नहीं करना चाहिए। अपनी बात कहना चाहिए। किसी की निंदा नहीं करना, अपनी बात कहना सीखो। अपनी बात आप कहोगे तो सामनेवाले को अपने–आप समझ में आता है।** भैया! बैनर लगाकर, भिन्न वस्त्रों की ड्रेस पहनकर अपने आपको नाना रूपों में भिन्न दिखाना कौनसी बड़ी बात है? ये तो पर के द्वारा भिन्न कर रहे हो। बिना बैनर आदि के भिन्न बनकर बैठो, तुम्हारा आचरण भिन्न दिखाई दे, ये बात कहने लायक है। अनेक वस्तुओं से भिन्न/अलग करके दिखाया जाए, उसका नाम लक्षण है। ये 'न्यायदीपिका' की परिभाषा है। **परिधानों में अपनी पहचान बनाना, ये तो नाना पंथों का विषय है। निज के आचरण से अपनी पहचान बनाना, ये जैनपथ का आचरण है। सुंदर–से–सुंदर वस्त्र कोई भी बनवा सकता है; पर रात्रि में भोजन नहीं करना, अनछने पानी का उपयोग नहीं करना, नित्य देवदर्शन करना, ये सबके वश की बात नहीं है।**

श्री से, स्त्री से अपनी पहचान कराने वाले संसार के भोगी अनंत हुए हैं, पर निज को श्री बनाकर श्री मार्ग को प्राप्त होने वाले, अपनी पहचान बनाने वाले तो कोटि–कोटि जीवों में एक होते हैं। आप अपनी पहचान किससे बनाना चाहते हो? श्री से, कि शिवमार्ग से? **एकत्व–विभक्त चिद्रूप भगवान्–आत्मा का अनुभव करने के लिए दिगम्बर भेष धारण करना पड़ेगा।** ये वैज्ञानिक मार्ग है। आप यहाँ आए हो, कि आ गए हो? यदि आ गए हो, तो बड़ी खुशी की बात है और आए हो, तो वापस चले जाओगे। आ गए हो, तो वापस नहीं जाओगे, इनको मुनि बनना ही है।

भारत में बड़ी–बड़ी प्रयोगशालाएँ हैं, उनमें अन्वेषण करने वाले वैज्ञानिक हैं। उनका वेतन बहुत है, बहुत सारी सुविधाएँ सरकार द्वारा दी हुई हैं। उनकी सारी व्यवस्थाएँ सरकार करती है, जिससे कि वे निश्चिंत होकर खोज कर सकें। निज की चिंता मत करो। खो जाओगे, तभी खोज कर पाओगे। हे श्रमणो, **हे मुनिराजो! जैसे शासन वैज्ञानिकों की सभी व्यवस्थाएँ करता है जिससे कि वे निश्चिंत होकर खोज कर सकें, इसी तरह समाज आपकी व्यवस्थाएँ करता है कि जिससे आप निश्चिंत होकर आत्मा का अन्वेषण कर सको। आप वीतराग वैज्ञानिक हो। आप भोजन, पानी, रहने की चिंता मत करो। आप तो अंजुलि बनाकर निकल जाना, आपको समय पर भोजन, पानी सब मिलेगा। फिर वापस आकर अपनी प्रयोगशाला में अन्वेषण करो।**

आइंसटीन, जो प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुआ है, उससे पूछा गया कि आपने बहुत सारी खोजें कर ली हैं, अन्वेषण किए हैं, पर आप ये बताइए कि कौनसा शेष द्रव्य बचा है जिसका आप अन्वेषण नहीं कर पाए? वो कहता है कि सत्य है कि मैंने बहुत सारे अन्वेषण किए हैं, पर एक काम बाकी है। जो अन्वेषण कर रहा था, मैं उसका अन्वेषण नहीं कर पाया। अब मैं यदि पुनर्जन्म लूँ तो भारत में जैनकुल में जनमूँ जिससे आत्मा का अन्वेषण कर सकूँ।

भैया! जब आप नदी में डुबकी लगाते हो, तब तुम्हारा बाहर क्या–क्या दिखेगा? शक्ल, बाल या कान क्या दिखेगा? कुछ नहीं दिखेगा। मित्रो! जो अपने को दिखाना चाहता है, वो डुबकी नहीं लगा पाता है और जो डुबकी लगाता है, वो बाहर दिखाई नहीं देता है। **जो साधु अपनी पर्याय को बाहर दिखाना चाहते हैं, प्रभावना दिखाना चाहते हैं, वे डुबकी नहीं लगा पाएँगे और जो डुबकी लगाते हैं, वे बाहर दिखाई नहीं देते।** दिखेंगे कब? जब अंदर से बाहर आएँगे। योगी जब निज में डुबकी लगाते हैं, जब कैवल्य को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे बाहर आकर समवसरण में विराजते हैं।

ज्ञानी! जिसके शब्द में ही ब्रह्म नहीं है, उसके आत्मा में ब्रह्म कहाँ से आएगा? जिसके शब्द में ब्रह्म है, उसके आत्मा में ब्रह्म होना आवश्यक नहीं है। जब भी आत्मब्रह्म में जाएगा, शब्दब्रह्म का आश्रय लेना पड़ेगा। डुबकी लगाओगे तो बाहर नहीं दिखोगे।

जैनागम में सब विद्याएँ हैं। 'अमृताशीति' ग्रंथ में योगीन्द्रदेव ने स्पष्ट लिखा है कि जब–तक तुमको योग्य गुरु नहीं मिला और प्राणायाम की विधि नहीं समझी, आप पूरक करने कुम्भक में गए और कुंभक करके रेचक नहीं सीख पाए, अपान वायु जो ऊर्ध्व वायु प्राण वायु थी, वह शुद्ध

वायु कहीं अधोस्थान से निकल गई तो तुम्हारे प्राण निश्चित निकलेंगे। ऊर्ध्व श्वास, अधोश्वास इनको मध्य में स्थापित करना। ज्ञानियो! श्वास पर तुम्हारा संयम टिका हुआ है, इसलिए जिसने श्वास को सिद्ध कर लिया, उसने अपने आपको सिद्ध कर लिया। जो श्वास को सिद्ध नहीं कर सका, वो निज को सिद्ध नहीं पाएगा। ये व्यवहार दृष्टि है।

जैन आगम कहता है कि मात्र तन की क्रियाओं में उलझ जाओगे तो चैतन्य में कब जाओगे? चैतन्य में प्रवेश कर जाएगा तो तन की व्यवस्था अपने आप समझ में आ जाएगी। सीधे बैठो, ज्ञायक स्वरूपोऽहम्... ब्रह्मानंद स्वरूपोऽहम्... निजानंद स्वरूपोऽहम्। श्वास देखिए, पुनः अंतरंग में चिंतवन करो, अपनी श्वास को पुनः देखो। बहुत अच्छे से एक बार णमोकार मंत्र पढ़ लो, श्वास मंद हुई कि नहीं, देख लो। श्वास जितनी मंद हो जाएगी, इंद्रियों की चंचलता उतनी दूर हो जाएगी। जितनी इंद्रियों की चंचलता दूर होगी, उतनी श्वासें मंद हो जाएँगी। मुझे अब प्राणायाम, कुंभक, रेचक आदि की आवश्यकता नहीं है।

बिना किए ही कुंभक रेचक होता है। णमो अरिहंताणं, स्वास को अंदर लो णमो सिद्धाणं में श्वांस छोड़ दो, णमो आयरियाणं में ऊपर ले जाओ, णमो उवज्झायाणं में छोड़ दो, णमो लोए सव्वसाहूणं में श्वास अंदर गई बाहर आई है। इस बीच में थमी थी। यानि पूरक, कुंभक, रेचक। 'ओम् भूर्भुवः अर्हम् नमः स्वाहा' ये महान् शांति मंत्र है, ये जैन दर्शन का मंत्र है। 'लघुतत्त्वस्फोट' ग्रंथ का मंगलाचरण इसी से प्रारंभ हुआ है।

जिस करोड़पति के घर में उत्तम शालि चावल की खीर बनी हुई है, उसमें काजू किशमिश आदि पड़े हुए हैं, फिर भी कहता है कि मुझे महेरी चाहिए। जिस को रसमयी खीर परोसी गई हो, वो महेरी माँगता हो, तो समझो उसके अशुभ दिन आने वाले हैं। जो मुनि होकरके शुद्धात्मा की अनुभूति की खीर के जगह जगत् के देह की महेरी माँग रहा हो, उसके दिन अशुभ हैं।

ज्ञानी! एकत्व दृष्टि ही स्वरूप दृष्टि है। एकत्व–विभक्त ही सबसे सुंदर अवस्था है। जहाँ द्वैत है, वहाँ द्वंद्व है, वहाँ विसंवाद है। एकत्व–विभक्त स्वभाव में संसार में कोई विवाद नहीं है। व्यवहार से भी निहार लीजिए। जो निज आत्मतत्त्व मात्र में निमग्न है, वहाँ कोई पंथ/संप्रदाय का जन्म नहीं दिखाई देता और जहाँ पूजनपद्धति पर उतरता है कि तुम्हारे यहाँ ऐसी पूजा, हमारे यहाँ ऐसी पूजा', वहाँ द्वंद्व ही द्वंद्व है। एकत्व में कोई द्वंद्व नहीं है। निराकार की उपासना में कोई झगड़े नहीं हैं। जितने विसंवाद हैं, वो साकार में हैं, द्वैत में हैं।

स्वरस खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति

हे जीव! बहुत कहने से क्या लाभ है? कर्मों से कोई लाभ नहीं, व्यर्थ की भाषा से कोई लाभ नहीं है। परमार्थ का निरंतर वेदन जो चला रहा है, वो अपने रस को कर लो, पूर्ण ज्ञानघन में लीन हो जाओ। समयसार जो है, वो परमार्थ स्वरूप है, इसके अलावा जगत् में कोई समयसार नहीं है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कलश में कह रहे हैं–

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत्।।

(२४५ कलश)

जगत् का यह एकमात्र नेत्र है, जो अक्षय है अर्थात् क्षय से शून्य है। ऐसी पूर्णता को प्राप्त ज्ञानघन शुद्ध परमात्मा समयसार आनंदमय है, उसको प्रत्यक्ष प्राप्त करता है। यह समयसार ग्रंथ वचनरूप तथा ज्ञानरूप दोनों तरह से नेत्र के समान है। जैसे नेत्र घटपटादि को प्रत्यक्ष दिखाता है, वैसे–ही यह भी शुद्ध आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष दिखाता है।

ज्ञानी! अध्यक्ष का अर्थ समझो। जिसने अध्यक्ष को समझ लिया वो कभी जगत् का अध्यक्ष नहीं बनेगा। अध्यक्ष का अर्थ होता है अधि–आत्मा, अधि–अक्ष, अध–इ–अक्ष, अध–य–अक्ष–अध्यक्ष। अधि याने पास, अक्ष यानि आत्मा। **जो आत्मा के पास है, वह अध्यक्ष है।** जो प्रत्यक्ष ज्ञाता है, वह अध्यक्ष है।

जगत् का नेत्र वो कौन है? विज्ञानघन आनंदमयी जो प्रत्यक्षता को प्रकट कराने वाला हुआ है। शुद्धात्म स्वरूप को अनुभूत कराने वाला कोई है, वो समयसार है। ऐसा जगत् का चक्षु समयसार ग्रंथ पूर्णता को प्राप्त हो रहा है। वो कैसा है? जिसका कभी विनाश नहीं होता है, अक्षय है।

पाखण्डी लिंग, श्रमण लिंग, श्रावक लिंग मोक्षमार्ग है। परमार्थ दृष्टि से, निश्चयनय से अभेद रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। अभेद दृष्टि पर जिसकी दृष्टि है, वही सत्यार्थ मोक्षमार्गी है। जीव पूर्व पुण्य के योग से, वर्तमान के द्रव्यलिंग के पुरुषार्थ से लोकपूज्य तो हो सकता है, लेकिन निज आत्मद्रव्य पूज्य नहीं हो सकता है। लोकपूज्य से तात्पर्य **पर के मुख से अपनी प्रशंसा को प्राप्त हो लेगा, ये लोक पूज्यता है। निज के द्वारा निज में प्रशंसनीय हो जाना, ये आत्मलोक पूज्यता है। मोक्षमार्ग लोकपूज्यता का मार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग आत्म लोकपूज्यता का ही मार्ग है।** आत्मलोक पूज्यता से तात्पर्य निज स्वभाव की स्थिरता, निज स्वभाव की लीनता/निमग्नता जहाँ है, वही जीव यथार्थ में आत्मलोकपूज्य है।

आचार्य जयसेन स्वामी गाथा ४१४ की टीका करते हुए गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर रहे हैं। मोक्ष मार्ग के निश्चय और व्यवहार के प्रति लोक में प्रश्न खड़े होते रहते हैं। आचार्यभगवंत ने संपूर्ण विषयों को युगपत समझाने का प्रयास किया है।

'अथ निर्विकार शुद्धात्म संवित्ति लक्षण' जो निर्विकार शुद्ध आत्म संवित्ति लक्षण है **'भाव लिंग सहितं'** भावलिंग से सहित है। इस टीका को गौर से समझना है, क्योंकि कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, देहाश्रित है। तो अज्ञानी वक्ताओं ने क्या किया? द्रव्यलिंग के अभाव को ही उन्होंने संवित्ति मान लिया और हर एक साधन के रूप को देखकर कहना प्रारंभ कर दिया कि सब द्रव्यलिंग है। पर ये गौर नहीं किया कि द्रव्यलिंग मोक्ष का साक्षात् साधन तो नहीं है, लेकिन जो भावलिंग मोक्ष का साधन है, उसका साधन तो द्रव्यलिंग ही है।

भूमि अंकुर नहीं है, भूमि में अंकुर अंकुरित नहीं होता है। अंकुरण तो बीज में ही होता है। लेकिन बिना भूमि के बीज में अंकुरण होता नहीं है। उसके लिए उर्वरा भूमि चाहिए–ही–चाहिए। जैसे बीज से धान्य के लिए भूमि का अधिग्रहण आवश्यक है, ऐसे–ही भावलिंग आत्मलिंग ब्रह्मस्वरूप आत्मस्थ ही है। आत्मस्थ दशा के होने के लिए स्थानीय भूमि स्थानीय द्रव्यलिंग होना अनिवार्य है। बिना द्रव्य भेष के भावसंयम प्रकट होता ही नहीं है। जब–जब अध्यात्म की व्याख्या होगी, तो अध्यात्म अभेदवृत्ति की बात करेगा। अभेद वृत्ति की बात को किसी गृहस्थ विद्वान् ने पढ़ लिया, उसके संयम में कोई रुचि नहीं हुई, बस ये तो आत्मस्थ धर्म है। जब द्रव्यलिंग के बारे में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा कि मात्र इससे कल्याण नहीं होगा तो उनको यही लगा कि कल्याण का मार्ग नहीं, आत्मस्थ कल्याण का मार्ग है। ऐसा करके एकांतिक व्याख्या प्रारंभ कर दी।

एकांतिक व्याख्या में क्या हुआ? हर व्यक्ति कुछ नया सुनना चाहता है, समझना चाहता है। क्रियाकांडियों ने क्या किया? इतना ज्यादा बढ़ावा दे दिया तो लोग थक गए। जब थक गए, तो कुछ शांति चाहते थे। वो शांति को ज्यादा चाहने में चले गए, तो परिपूर्ण रूप से क्रिया का लोप कर बैठे। क्रिया का लोप हो गया तो भावों की उत्पत्ति का अभाव ही हो गया। इसलिए ये मत कहना कि वर्तमान के किसी विद्वान् ने ऐसा कहना प्रारंभ कर दिया, इससे ऐसी व्यवस्था शुरू हो गई। बनारसीदासजी के पूर्व में भी ऐसे भ्रमित विद्वान् हो चुके थे। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने इसलिए अपनी टीका में लिखा है–

जो जीव श्रमण प्रवृत्ति को छोड़ करके मात्र स्वरूपलीनता स्वीकार कर रहे हैं, वे प्रमादी निश्चय में प्रवेश कर नहीं पाए, क्योंकि निश्चय की प्राप्ति का उपाय व्यवहार है। उससे

शून्य है। निश्चय तो उनके हो नहीं रहा है, व्यवहार बुद्धिपूर्वक छोड़ रहे हैं।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में कह रहे हैं कि तू अंतरंग में प्रवेश नहीं कर पा रहा है और बहिर् क्रिया में आलसी हो रहा है। उभय मार्ग से च्युत होकर तू हिंसक है। जहाँ प्रमाद है, वहाँ हिंसा ही है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।।

(४६ पु.सि.)

जहाँ प्रमाद है, वहाँ हिंसा आगे– आगे दौड़ रही है और जहाँ हिंसा है, वह स्वात्म संवित्ति कहाँ? बहुत सारे लोगों से पूछा कि आपने बड़े–बड़े भवन अध्यात्म के नाम से स्थापित किए हैं, बड़ी–बड़ी संस्थाएँ स्थापित कर रहे हो, क्या आपको कुछ अनुभूति भी हुई है? मात्र प्रचार में ही समय जाता है, अनुभूति में बैठूँगा कब? प्रचार में बड़ा आनंद आता है। मान कषाय भी कोई वस्तु है कि नहीं? अलग से पहचान होती है। लोग अलग से कहते हैं ये अमुक है, बड़ा आनंद आता है। मिथ्यात्व का आनंद कितना बढ़िया होता है, भगवान् महावीर से पूछो। उन्होंने मारीचि की पर्याय से लेकर सिंह की पर्याय तक उसका आनंद लूटा है। मारीचि की पर्याय में सांख्य, ईश्वरवाद उन्हीं की देन है। जो उन्होंने उस पर्याय में किया, भगवान् महावीर बनके भी ठीक नहीं कर पाए। जिस मिथ्यात्व के ३६३ मतों को पूर्ववर्ती मारीचि की पर्याय में किया था, वो महावीर भगवान् बनके भी ठीक नहीं कर पाए। आप तो पुण्य के उदय से कर्मों की क्षपणा करके निश्चिंत हो गए, पर तुम्हारे निमित्त से जो कोटि–कोटि जीव सम्यक्त्व से, संयम से भ्रष्ट हुए, उनके साथ तुमने क्या किया? इसलिए कभी ऐसा वक्तव्य न देना जिसमें तत्त्व का निर्णय न हो। एक विषय को अनेक बार गुरुमुख से सुनना चाहिए। उसका पूर्ण निर्णय होना चाहिए और गुरुमुख की वाणी भी प्रभु की वाणीभूत होना चाहिए।

गुरु को अपना यश छोड़करके बात करना चाहिए। इस भय से भयभीत नहीं होना चाहिए कि मैं ऐसी व्याख्या कर दूँगा तो शिष्य स्वीकारेंगे या नहीं? विश्वास मानो? आप जितना श्रेष्ठ चलोगे, तुम्हारे शिष्य उतना तुमको स्वीकारेंगे। आगम की गद्दी पर अनागमिक व्याख्यान नहीं होना चाहिए। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कह रहे हैं कि **हे जीव! यदि तू स्वरूप में नहीं पहुँच पा रहा है तो कम–से–कम व्यवहार–चारित्र का पालन तो कर। व्यवहार चारित्र का पालन नहीं कर रहा है और निश्चय में तेरा प्रवेश नहीं है, तो तू उन्मार्गी है।** चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धात्मानुभूति,

शुद्धोपयोग की मान्यता, ये भी नई नहीं है, बहुत पुरानी है। संस्कृत 'भावसंग्रह' के कर्त्ता आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं।

जो निर्विकल्प ध्यान है, वह अप्रमत्त दशा दिगम्बर मुनि के होती है। कैसा मुनि? जो बाहरी व्यापार से विमुक्त होता है। ऐसे दिगम्बर मुनि के निर्विकल्प ध्यान होता है। आचार्य शुभचंद्र स्वामी के सामने भी बहुत मान्यताएँ खड़ी हो चुकी थीं, समस्त अवस्थाओं में आत्मानुभूति। उन्होंने 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ में लिखा–

खपुष्पमथवा श्रङ्ग खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिग्रहाश्रये।।

(१७/४ ज्ञानार्णव)

आकाश के फूल, गधे के सींग किसी भी देश में, किसी भी काल में नहीं होते हैं। आकाश और फूल तो होता है, गधा और सींग तो होता है, लेकिन आकाश के फूल और गधे के सींग नहीं होते हैं। ऐसे–ही **गृहस्थों को कभी आत्मा का निर्विकल्प ध्यान नहीं होता है।** सविकल्प धर्म्यध्यान होता है। इन सबका अध्ययन करने के बाद, आगम को सुनने– समझने के बाद भी अपनी मूढ़ता को कई ज्ञानी नहीं छोड़ पाते हैं। ऐसे आधे अर्थात् बुद्धिहीन, उल्टी बुद्धिवाले अनेक ज्ञानीजीव हैं, वे समझ रहे हैं, जान रहे हैं, लेकिन जो मान कषाय का आनंद है, वो इतना गहरा है कि मिथ्यात्व में डुबकी लगाने को तैयार हैं, पर सम्मान होना चाहिए। **लोग पूज्य होने के राग में आत्मपूज्यता खो देते हैं।** कहीं भूल से, धोखे से एक बार गलत निकल गया, तो सर्वमान्य पुरुष था, अब कहता है बदलूँ कैसे?

भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण दिवस आयोजन के लिए गोष्ठी दिल्ली में चल रही थी। आचार्य धर्मसागरजी महाराज को आखिरी तीसरे दिन पाँच मिनट के लिए माइक दिया गया और कहा गया कि महाराज आशीर्वाद दें। धर्मसागर महाराजजी कहते हैं कि तीन दिन तक मैंने विषय को सुना। सभी सत्रों में एक ही चर्चा हुई कि दोनों संप्रदायों में एकत्व हो, लेकिन कैसे संभव है? मुख से, कि सिद्धांत से? आचार्य तुलसी की ओर इंगित करते हुए कहा कि आप ही बोलिए, सत्य क्या है? वे विद्वान् थे, आगम को पढ़ा था, उनको बोलना पड़ा कि महाराज! जो आपका मार्ग है। आचार्य धर्मसागर जी बोले– यदि ये मार्ग है, तो फिर स्वीकार क्यों नहीं कर लेते? तुलसीजी बोले, मेरे पीछे भीड़ है। धिक्कार हो, भीड़ के राग में सत्य से दूर है तो एकता कैसे हो सकती है? या तो आप पट्टी, लंगोटी उतारकर फेंक दो या मैं पट्टी लगा लूँ, ये दोनों संभव नहीं

हैं। शब्दों की एकता से एक्य भाव नहीं है।

स्थूलभद्राचार्य के सान्निध्य में जो वाचनाएँ हुईं, उनको कलिंग सम्राट खारवेल ने स्वीकार नहीं किया। उनके मनमाने संग्रह को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने भारत की भूमि पर जितने दिगम्बर तपोधन विचरण कर रहे थे उन सबका यति सम्मेलन कराया। खण्डगिरी– उदयगिरी पर्वत पर जो गुफाएँ उत्कीर्ण हैं, वे मुनियों के लिए ही बनवाई गई थीं। यति सम्मेलन में सम्राट स्वयं उपस्थित होकर वाचना सुनता था और उन वाचनाओं का संग्रह करवाया।

श्वेताम्बर आचार्यों ने अपनी तीन वाचनाएँ करवाईं। वल्लभी यानि बल्लभनगर, पाटलीपुत्री यानि पटना, माथुरी यानि मथुरा में तीन वाचनाएँ हुईं। उसमें अपने ग्रंथ संग्रह कर लिए और उसे द्वादशांग कहना प्रारंभ कर दिया। परंतु दिगम्बराचार्यों ने उनके इन आगमों को स्वीकार नहीं किया। कारण? सवस्त्र अवस्था में मुक्ति, केवली भुक्ति और स्त्री मुक्ति की वहाँ पुष्टि की है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जैसे योगियों ने बड़े धैर्य के साथ कहा–

णवि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे।।

(२३ सु. पाहुड)

जिनेंद्र के शासन में वस्त्रधारी की सिद्धि नहीं होती है, तीर्थंकर भी क्यों न हो। नग्नता ही मोक्षमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं। ये अपना भाग्य है कि किसी मिथ्यादर्शन में जन्म नहीं हुआ, नहीं तो पूरी पर्याय उसकी पुष्टि में नष्ट करनी पड़ती। मेरा सौभाग्य है कि कभी ऐसी शिक्षा नहीं की गई कि किसी साधु से मत मिलना, कभी किसी मुनि की अवहेलना करना, आगम के विरुद्ध वचन बोलना। ऐसी शिक्षा नहीं दी गई।

ज्ञानी! इसे अपना पुण्य मानना कि स्वच्छ मस्तिष्क मिला है, सुबह शाम जिनवाणी सुनने को मिलती है, शुद्ध रोटी खाने को मिल रही है। अधिक कमाने का विकल्प मत करना। पैसे का इतना ही विस्तार करना जिससे कि धर्म और पूजा न छूट जाए। वो द्रव्य किस काम का कि तीन समय स्वाध्याय करने वाला मात्र नोट ही गिनता रहे? ये किसके लिए? जो सुख माँ जिनवाणी की कोख में है, वो जन्म देने वाली माँ की कोख में नहीं है। जन्म देने वाली माँ थपका–थपका कर सुला देती है। जब भी देखो यही शब्द बोलती है 'बेटा! सो जा।' पर जिनवाणी माँ एक ही बात बोलती है 'जाग जाओ।'

तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरंजन है, नित्य है, आत्मज्ञ है। जीवन में कभी ये भाव आए कि मैं

किसी की प्रशंसा करुँ तो एक बार उस कुल की प्रशंसा जरूर करना जिसने तुम्हें धर्म के प्रति संस्कार दिए हैं। एक वे बेटे हैं जो तीर्थंकर के पंचकल्याणक में बाजे बजा रहे हैं, एक वे हैं जो क्लब में जाकर बाजे बजाते हैं, चारित्र से पतित हो रहे हैं। जितना आनंद आपको गुरु के चरणों में आता है। उतना अन्यत्र नहीं आता। पंचमकाल में संतों/योगियों के पास संतान को देखकर माता–पिता को आनंद आता है। जब जनक–जननी में इतना आनंद है, तो जिसका शिष्य श्रेष्ठ साधना करता हो, आत्मानुशासन में जीता हो, विश्वास रखना, उस गुरु को भी बहुत आनंद आता है।

आपकी संतान खराब निकल पड़े, इसमें माता–पिता का भी पाप का उदय रहता है। यदि संतान विशिष्ट निकल गई, तो माता–पिता का पुण्य का उदय है। पुण्यात्मा जीव पुण्यात्मा के घर में ही आते हैं। उस माँ से पूछो जिसका बेटा तीर्थंकर हो। जब तीर्थंकर का अभिषेक करने वाले पुत्र पर माता इतना मुस्कराती है, तो जिसका अभिषेक हो रहा हो उसकी माता कितना मुस्करा रही होगी? कभी–कभी इसे सामायिक का विषय बना लिया करो, बड़ा आनंद आता है। ये भावना करना कि भगवन्! जीवन में कभी ऐसे भाव न आएँ कि भव–भव में भटकना पड़े। भैया! पंचमकाल में जो भी घटना घट रही हैं, उसको देखकर कभी खिन्न मत होना। इनको देखकर धैर्यपूर्वक, जितना बन सके सँभालना और नहीं बन सके तो धैर्यपूर्वक देखना और शीघ्र जिनवाणी के पास पहुँच जाना। दो मुनिराज झगड़ते मिल जाएँ तो भी तुम अश्रद्धा मत करना। तुमसे देखा न जाए तो उठके चले जाना। पहले जिनवाणी के पास जाना। बालक कितना भी उपद्रव करके आया हो, चाहे पिटकर भी आया हो, सबसे पहले माँ के पास जाता है, क्योंकि उसको लगता है कि सहारा मिलेगा। इसलिए तू भी सबसे पहले जिनवाणी के पास जाना और बार–बार वंदना करना।

सरस्वती नमस्तुभ्यं, वरदे कामरूपिणी, विद्यारंभं करिष्यामि, सिद्धिर्भवतु मे सदा। श्रीसर्वज्ञमुखोत्पन्ना, भारती बहुभाषिणी, अज्ञानतिमिरं हन्ति विद्या बहुविकासिनी।।

हे सरस्वती माँ! आज मैं आपके चरणों में सिर इसलिए टेक रहा हूँ कि जैसा आपने लिखा है, वैसा मैं लख रहा हूँ, कुछ भी आश्चर्य नहीं है। चंद्रगुप्त के स्वप्न में आया था कि दो नग्न स्त्रियाँ नृत्य कर रही हैं, इसका फल था कि पंचमकाल में त्यागी भी विसंवाद को प्राप्त होंगे। वही मैं देख रहा हूँ। गलत क्या है? यदि ये नहीं होगा तो जिनवाणी सत्य कैसे होगी?

कभी मन में आता है कि लोग क्यों ऐसा करते हैं? बोले, ऐसा नहीं करेंगे तो सभी लोग अच्छे हो जाएँगे, तो फिर अच्छे लोगों की पहचान समाप्त हो जाएगी। बुरे लोग ही तो अच्छे लोगों

की पहचान कराते हैं। तुम अशुभ मत सोचना। तुम सोचना कि सब अच्छे हो जाएँ। तुम्हारी सोच तो अच्छी हो सकती है, परंतु व्यक्ति अपने क्षयोपशम से ही अच्छे हो पाएँगे। जो भी जीव अच्छा होगा, अपने निज पुण्य–पाप से होगा। चाहे गुरु मिल जाएँ, चाहे प्रभु मिल जाएँ, बहिरंग निमित्त तो मिलेंगे, पर कार्य तभी होगा जब तुम्हारा क्षयोपशम पवित्र होगा। अध्यापक सभी छात्रों को एक–सा पढ़ाता है, पर तब भी सबके सोच–समझ में अंतर है। इससे आपको बोध होना चाहिए कि व्यक्ति, वस्तु, अर्थ, प्रकाश ये ज्ञान के साक्षात् कारण नहीं हैं। ज्ञान का कोई विशद्, स्पष्ट, साधकतम करण है तो जीव का स्वयं का क्षयोपशम है। कर्म का क्षयोपशम पवित्र है, तदावरण प्रतिबंधक कारणों का जैसे–जैसे अभाव होगा, वैसे–वैसे ज्ञान, चारित्र, श्रद्धान की वृद्धि होगी। यदि प्रतिबंधक कारण का अभाव नहीं होगा, तो सर्वज्ञदेव ही क्यों न आ जाएँ, उनको कोई कुछ नहीं दे सकता।

बेटा! तू कितना ही सोच लेना कि ये अच्छा हो जाए। तुम सोच–सोच कर ही शोक में डूब सकते हो, लेकिन जब–तक उसका प्रतिबंधक कारण रहेगा, तब तक तुम उसको अच्छा–बुरा ही कह पाओगे, लेकिन सुधार नहीं सकते। दया/करुणा के वश आकरके हर व्यक्ति के भाव तो आएँगे कि ये अच्छे से रहे, लेकिन अच्छे से रख पाना तुम्हारे हाथ का विषय नहीं है। एक भिखारी को थोड़ा–सा आटा दे दोगे तो बहुत अच्छा किया। यदि आपने ५०० का नोट पकड़ा दिया तो बहुत गलत किया, क्यों? थोड़ा–सा आटा दोगे तो हो सकता है कि रोटी बनाकर खा ले और जहाँ तुमने ५०० का नोट पकड़ा दिया तो वो अभक्ष्य मांस–मदिरा का सेवन करेगा। व्यक्ति की योग्यता को देखकर ही वस्तु देना चाहिए। इंदौर में एक बालक इसी विषय पर प्रायश्चित्त लेने आया था। उसने एक होटल में बोल दिया कि इस भिखारी को खिला देना, पैमेंट मैं दे दूँगा। जब पैसे देने गया तो कहा इतनी महँगी थाली? बोला, इसने माँस खाया था। बालक इसी का प्रायश्चित्त लेने आया था।

कुन्दकुन्द देव बोल रहे हैं कि उत्तम पात्र निर्ग्रंथ मुनि, मध्यम पात्र देशव्रती और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि। यदि भेषों से युक्त भी है और सम्यग्दर्शन नहीं है, तो तीनों पात्र अपात्र हैं। इसलिए दान देने के पूर्व अच्छी तरह से परीक्षा कर लीजिए, फिर दान देना। **अंधकूप में धन पटक देना, लेकिन अपात्रों को, कुपात्रों को दान देकर कुगति का बंध मत करना।** आगम ये भी कहता है कि तुमने अपने हाथ से किसी को अभक्ष्य कंद आदि खिलाया है या स्वयं खाया है, तो उसका प्रायश्चित्त लीजिए। किसी को चाय में अदरक पिला दी हो या स्वयं पी हो, तो

प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा। गर्मी चाहिए तो प्रथम नरक से पंचम तक के ऊपरी पटल तक गर्म–ही–गर्म है। जिनको अभक्ष्य पीकर शीतलता चाहिए है, तो पंचम नरम के अधोभाग से सप्तम नरक तक शीतलता ही शीतलता है। **भैया! मौसम उन पर हावी होता है जिनके भावों का मौसम ठीक नहीं होता है। अपने भावों के मौसम को ठीक कर लो तो सब मौसम ठीक है।**

जयसेन स्वामी टीका में कह रहे हैं **'निर्विकार स्वसंवित्ति लक्षण भावलिंग सहितं'** जो भाव सहित निर्ग्रंथ लिंग है **'कौपीन करणादि बहुभेद सहितं'** कौपीन आदि से युक्त, बहुभेद से युक्त **'गृहिलिंगं चेति'** जो गृहस्थ लिंग है **'चेतिद्वयमपि मोक्षमार्ग'** इस प्रकार से दोनों ही मोक्षमार्ग **'व्यवहारनयो मन्यते'** व्यवहार नय से इनको मानते हैं **'निश्चयनयस्तु सर्वद्रव्यलिङ्गानि न मन्यत इत्याख्याति'** निश्चय से सभी लिंगों को नहीं मानते ऐसा वर्णन करते हैं। **'व्यावहारिकनयो द्वे लिंगे मोक्षपक्षे मन्यते'** व्यवहार नय से दो लिंगों को मोक्षपथ माना गया है।

व्यवहारनय को सर्वथा असत्य ही मत कहना। व्यवहार व्यवहार की दृष्टि से भूतार्थ है। निश्चय निश्चय की दृष्टि से भूतार्थ है। व्यवहार निश्चय की दृष्टि से अभूतार्थ है, परंतु असत्ताभूत असत्य नहीं है। सत्ता उसकी भी है, सत्य ही है। कैमरे वाले भइया! अपने कैमरे से मेरे शरीर की हड्डियाँ देखना। कैमरे में कुछ भी नहीं दिख रहा है। अच्छा, मेरा चेहरा दिख रहा है कि नहीं? सिर्फ चेहरा दिख रहा है। इसका मतलब क्या हुआ कि मेरे शरीर में हड्डियाँ नहीं हैं, क्योंकि दिख तो नहीं रही हैं। ज्ञानी! कैमरे में मात्र चर्म का ही चित्र दिखता है, इसका अर्थ हड्डियों का अभाव नहीं है। ऐसे–ही एक्सरे मशीन वाले से पूछना कि मेरी चमड़ी का रंग कैसा है? गोरी है या काली है? वह नहीं बता पाएगा। वो हड्डियाँ बताएगा। एक्सरे में अंतरंग हड्डियाँ और कैमरे में बहिरंग चर्म दिखेगा। ऐसे–ही निश्चय से, अभेद दृष्टि से अंतरंग धर्म दिखता है और व्यवहार की दृष्टि से बहिरंग धर्म दिखता है, अभाव दोनों का नहीं है। ऐसे–ही जिस नय का जो विषय है, उस नय से देखिए, अभाव किसी का मत कीजिए।

यदि आप एक्सरे मशीन से चर्म को, कैमरे से हड्डियों को देखना चाहते हो तो दोष मशीनों का नहीं है, देखनेवालों की दृष्टि का है। निश्चय से तुम व्यवहार की तुलना कर रहे हो, व्यवहार से निश्चय की तुलना कर रहे हो, ये तुम्हारी बहुत बड़ी भूल है। निश्चय को निश्चय में देखिए, व्यवहार को व्यवहार में देखिए, वस्तुस्वरूप बराबर है। यदि आप सब्जीमंडी में जाकर कहो कि स्वर्णमयी रत्नजड़ित हार अपनी माता के लिए चाहिए, जबकि वहाँ लौकी, गिलकी आदि सब्जी मिल रही है। इसी तरह सराफे की दुकान पर जाकर कहे कि आज गिलकी का भाव क्या है? तो

दुकानदार कहेगा कि ये पागल आदमी कहाँ से आ गया जो मणियों की दुकान पर सब्जी माँग रहा है? ऐसे–ही मित्र! जब समयसार की व्याख्या हो तो सब्जी मंडी की बातें यहाँ मत करना और सब्जीमंडी में समयसार की बातें मत करना। ये निश्चय–व्यवहार दृष्टि है।

ज्ञानी! मूँगफली बेचनेवाला बस में, रेल में अलग भाषा बोलेगा और सराफे की दुकान वाला अलग भाषा बोलेगा। **जितना हीन काम करेगा, उतना अधिक बोलेगा। जितना श्रेष्ठ काम करेगा, उतना कम बोलेगा।** जिस प्रकार से जिस समय जिस नय की प्रधानता से व्याख्या चल रही हो, उस समय उसी नय का व्यख्यान कीजिए। पर कोई भ्रमित न हो जाए, इसलिए पूरा व्याख्यान करने के बाद एक पंक्ति जरूर बोल देना कि ये निश्चय–प्रधान व्याख्या थी, व्यवहारपक्ष ऐसा भी है। व्यवहार की व्याख्या करो, तो व्यवहार पक्ष की पूर्ण व्याख्या करके अंत में ये बोल देना चाहिए कि ये व्यवहार पक्ष का कथन है, इसका निश्चय पक्ष ऐसा भी है। वक्ता को ये बोलना अनिवार्य है जिससे कोई श्रोता एकांत नय के गड्ढे में न गिर जाए।

मिथ्यासमूहो मिथ्या, चेन्न मिथ्यैकान्तताास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।।

(१०८ आ.मी.)

नित्यत्व आदि मिथ्या धर्मों का समूह भी मिथ्या है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि स्याद्वाद वालों के यहाँ मिथ्या एकांतता नहीं है। निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं। नय सापेक्ष होने से अर्थ क्रियाकारी वस्तु है। दोनों व्यवहार और निश्चय नय वस्तु नहीं है, वस्तु स्वतंत्र है। 'जलज' अच्छा लगता है कि 'कमल'? दोनों नाम एक ही वस्तु के हैं जलज, कमल। ये पौद्गलिक नाम हैं। संज्ञा हैं, पर संज्ञा द्रव्य नहीं है, पर द्रव्य के बिना संज्ञा नहीं है। द्रव्य की पहचान के लिए संज्ञा है। ऐसे–ही निश्चयनय, व्यवहारनय वस्तु नहीं है। निश्चय, व्यवहार को समझने के लिए दो नय हैं। अज्ञानी उन नयों को लेकर ही रो रहे हैं।

ज्ञानी! जैसे कैमरा या एक्सरे मशीन चेहरे व शरीर की हड्डियों की तस्वीर निकालने की मशीन है। ऐसे–ही निश्चयनय अभेद वस्तु की तस्वीर खींच रहा है, व्यवहारनय भेदरूप से खींच रहा है, परंतु वस्तु दोनों नहीं हैं, वस्तु तो वो है जिसकी व्याख्या हो रही है। बहुत सारे लोग दोनों नयों के ज्ञान से शून्य हैं, उनको तो ये लगता है कि ये पक्ष मेरा है, ये पक्ष उनका है। ज्ञान दोनों ही पक्ष का नहीं है।

भैया! मंदिर में आए तो सम्यग्दर्शन की बात करेगा, भगवान् से कुछ मत माँगना, ऐसे पूजा

मत करना और दूसरी जगह चादर चढ़ाकर आ रहा है, श्रीफल फोड़कर आ गया। वहाँ उसको कोई दोष नहीं लगता क्या? यहाँ आकर उसको सम्यग्दर्शन दिखता है। कोई तुमसे 'लागी लगन...' पढ़ता हो तो कहता है कि ये तुम क्या कर रहे हो? भगवान् से माँग रहे हो मेरे संकट दूर कर दो? और स्वयं दूसरी जगह माँगकर आया, श्रीफल भी रख आया। विवक्षा समझिए, दोनों लिंगों में धर्म नहीं है। इन दोनों लिंगों के माध्यम से आत्मस्वरूप की प्राप्ति है, शुद्ध ज्ञान दर्शन चेतना है, वह मेरी आत्मा का धर्म है।

आचार्य जयसेन स्वामी कह रहे हैं **'निर्विकार स्वसंवित्ति लक्षण भावलिंगस्य बहिरंग सहकारिकारणत्वेनेति'।** निर्विकार संवित्ति जिसका लक्षण है, ऐसे भावलिंग का बहिरंग सहकारी कारण है, वह व्यवहार लिंग है। **'निश्चयनयस्तु निर्विकल्प समाधिरूप त्रिगुप्ति गुप्त बलेन अहं निर्ग्रंथलिंगी कोपीनधारकोऽहमित्यादि मनसि सर्वद्रव्यलिंग विकल्पं रागादिविकल्पवन्नेच्छति'** निश्चयनय से निर्विकल्प समाधि रूप त्रिगुप्ति के बल से मैं निर्ग्रंथलिंगी हूँ, मैं मुनि हूँ, कौपीनधारक हूँ, इस प्रकार के सभी द्रव्यलिंगों के विकल्प से, रागादि विकल्प से, इच्छा नहीं करता है।

मैं ऐलक हूँ, क्षुल्लक हूँ, तुम क्या देख रहे हो। मैं इच्छामि किसको करूँ? हूँ को करूँ कि है को करूँ? मैं निर्ग्रंथलिंगी हूँ। मैं हूँ को नमोस्तु करूँ कि है को नमोस्तु करूँ? मैं है को नमोस्तु करता हूँ, हूँ को नहीं करता हूँ।

अहंकारो हि लोकानां विनाशाय न वृद्धये।
यथाविनाशकालेस्यात् प्रदीपस्य शिखोज्ज्वला।।

(२९४ सार. समुच्चय)

जब विनाश का काल आता है तो अहंकार वृद्धिमान हो जाता है, जैसे–कि दीपक जब बुझने को होता है तो उसकी शिखा वृद्धिमान हो जाती है। ज्ञानी! जिसका अहंकार क्षण मात्र में बढ़ने लग जाए तो समझ लेना कि इनका अंत समय आ गया है। **'अति की इति नियत है',** न मानो तो रावण से पूछ लो। रावण तो तुम्हें नहीं मिलेगा, अपने मन से पूछ लो।

जो स्वयं ही शुद्ध समाधि में लीन है, उसको 'मैं निर्ग्रंथ' आदि के विकल्प नहीं आते। जहाँ विकल्प आ रहे हैं, इसका तात्पर्य ये है कि स्वरूप लिंग नहीं है। धर्मात्मा का चेहरा तो अलग से चमकता है, पके आमवत्। पके आम (टपके) को कभी मुख से नहीं बोलना पड़ता कि मैं मीठा हूँ, वो तो आँखों से दिखता है और सुगंधि भी बता देती है। ऐसे–ही **जिसके भीतर धर्म भरा हुआ है, उसको वात्सल्य भावनाओं की सुगंध और चेहरे की रंगत अपने आप बता देती है**

कि जीव धर्मात्मा है। पके आम की सुगंध बता देती है कि आम पक गया है। **तुम किसी पुण्यात्मा व्यक्ति को दबाकर तो रख सकते हो कि उठने नहीं देना, पर उसकी सुगंध को तुम छिपा नहीं सकते हो।** किसी के यश को दबा नहीं सकते हो। जो है, सो है।

'किं च–अहो शिष्य! पाखण्डीलिंगाणि य इत्यादि गाथा सप्तकेन द्रव्यलिंगनिषिद्धमेवेति त्वं मा जानाहि' आचार्य जयसेन स्वामी बड़े वात्सल्य से कह रहे हैं। अहो शिष्य! पाखण्डी लिंग इत्यादि का वर्णन सात गाथाओं के माध्यम से द्रव्यलिंग का निषेध किया, **किंतु निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूपं भावलिङ्गरहितानां यतीनां संबोधनं कृतम्'** द्रव्यलिंग का निषेध नहीं कर रहे। द्रव्यलिंग से युक्त स्वयं कुन्दकुन्द स्वामी थे कि नहीं? बिना द्रव्यलिंग के भावलिंग होता कैसे उनके? कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि निश्चयरत्नत्रय से युक्त निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंग है, ऐसे भावलिंग से रहित यतियों को, मुनियों को, श्रमणों को संबोधित किया है।

कोई मूर्ख हो, उपद्रव करे तो शिक्षक बोलता है कि बिल्कुल गधा है। भैया! तुम क्या बोल रहे हो? मनुष्य गधे नहीं होते हैं। पर उसका उद्देश्य गलत नहीं है। वो ये कह रहा है कि तुम गलत धारणा में जी रहे हो, तुमको पढ़ना चाहिए। आपके माता–पिता ने भोजन–वस्त्रादि सबकुछ दिया है, द्रव्य खर्च किया है, तुम यहाँ ऐशोआराम कर रहे हो, ये अच्छी बात नहीं है। ऐसे–ही जब यहाँ कह रहे हैं कि द्रव्यलिंग से क्या होता है? तो द्रव्यलिंग का निषेध नहीं कर रहे हैं। हे मुनिराज! जब तुमने द्रव्यलिंग धारण ही कर लिया है, अब भावलिंग में उतरो। तुम अपनी आत्मा की वंचना क्यों कर रहे हो, पर में उलझ करके? ये तुम्हारा उद्देश्य नहीं है। भावलिंगियों को तो नमोस्तु है। बस, कुछ नहीं है, उनके तो चरणों की बलिहारी है। भगवान् से भगवान् नहीं बनेंगे, अरिहंतों से अरिहंत नहीं बनेंगे। निर्ग्रंथों से अरिहंत बनते हैं। कच्चा माल नहीं होगा तो पक्का माल कहाँ से आएगा? इसलिए निर्ग्रंथों को सिर टेको, ये निर्ग्रंथ ही अरिहंत बनेंगे, ये ही सिद्ध बनेंगे। असिद्ध को सिद्ध करना पड़ता है, सिद्ध को सिद्धि नहीं करना पड़ता।

बैल वृत्ति, बकरी वृत्ति। तुम घर के बैल के सामने कितनी भी सुंदर घास रख देना और बगल में दूसरे बैल को बाँधो वहाँ भी घास रख देना। वह अपने सामने की घास पर मुँह बाद में मारेगा, दूसरे के में पहले मारेगा। बकरी को कितना ही खिला पिलाकर ले जाना, पर वह दूसरे के खेत से निकलेगी तो मुँह मारेगी–ही–मारेगी। ऐसे–ही बैल–बकरी वृत्ति के प्राणी होते हैं। अपनी व्यवस्थाओं को नहीं देखते, दूसरे की व्यवस्था को भंग करने में मजा आता है। कुछ लोगों ने जयसेन स्वामी को पढ़ना ही बंद कर दिया। एकाकी निश्चयभासियों ने और एकाकी व्यवहाराभासियों ने अमृतचंद्र

स्वामी को बदनाम कर दिया, वो पढ़ना ही नहीं चाहते। मूल बात ये भी है कि अमृतचंद्र स्वामी की टीका प्रौढ़ है, कठिन है, सभी के वश नहीं है उसका अर्थ निकाल पाना। जयसेन स्वामी की टीका सरल है, थोड़ा बहुत संस्कृत पढ़ा हो तो अर्थ निकाल लेगा।

अमृतचंद्र स्वामी की टीका का अर्थ निकालना जटिल है। कई निर्ग्रंथ भेषधारियों एवं पण्डितों ने यहाँ तक कह दिया कि वे जैन ही नहीं हैं, वे दूसरे दर्शन से प्रभावित हैं। लोगों को अपनी प्रज्ञा को निर्मल करना चाहिए। जिस वीतरागी तपोधन ने सिद्धांत की इतनी गहन, गूढ़ प्ररूपणा की है उसे तुम किस आम्नाय में डालना चाहते हो? तुम्हारे व्यवहाराभास की पुष्टि नहीं हो रही है, मात्र इसलिए तुम बोल रहे हो कि वो जैन नहीं हैं अथवा वेदांत से प्रभावित हैं, अथवा श्वेतांबर हैं। मुनियों की जितनी अवहेलना मुनिभक्त विद्वान् करते हैं, उतनी अभक्त मुनि नहीं करते हैं।

किसी मुनि या आचार्य के मुख से यह निकले कि अमृतचंद्र स्वामी पर से प्रभावित हैं, फिर आप अमृतचंद्र स्वामी को श्रेष्ठ मानोगे क्या? वर्तमान के मुनि के प्रति जो राग टपक रहा है, उसकी बात आप मान बैठे तो तुम्हारे सम्यक् में दोष लगेगा। 'षट्खण्डागम' में आचार्य वीरसेन स्वामी ने एवं मूलाचार में वट्टकेर स्वामी ने भी लिखा है कि यदि एक विषय पर दो व्याख्या भी की हों, तब भी तुम स्वीकार कर लेना। जब–तक स्वयं केवली न बनो या केवली से न मिलो तब–तक किसी आचार्य को झूठा कहने की चेष्टा मत करना।

समयसारजी में अमृतचंद्र स्वामी ने ४१५ गाथाओं पर टीका लिखी है और जयसेन स्वामी ने उससे अधिक गाथाओं की टीका लिखी है, इसका कारण यह भी हो सकता है कि उनको जो प्रति उपलब्ध हो, उसमें इतनी ही गाथाएँ हों। जो उनको श्वेतांबर संप्रदाय का सिद्ध करना चाह रहे हैं, उनको अमृतचंद्र स्वामी का ग्रंथ 'तत्त्वार्थसार' का स्वाध्याय करना चाहिए, तब उनको ज्ञात होगा कि वे श्वेतांबर आम्नायों की किंचित् भी पुष्टि नहीं करते। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि उन्होंने न छोड़ी हो, बाद में किसी ने छोड़ दी हो।

'स्वरूपसंबोधन परिशीलन' जब लिखा तो महाराष्ट्र में उपलब्ध प्रति के आधार पर लिखा। बाद में कुछ विद्वानों ने कन्नड़ प्रति दिखलाई जिसमें २५ की जगह २६ श्लोक थे। एक प्रति में ऐसा श्लोक भी मिला जो विषय से मेल नहीं खाता। अब कोई कहे कि क्यों छोड़ा? भैया! मैंने छोड़ा नहीं। जो प्रति मिली थी, उसी पर काम किया।

एक ज्ञानी बोले कि कोई ग्रंथों पर कार्य करता है पर उसकी, ग्रंथ की प्रसिद्धि नहीं होती है, क्यों? मैंने कहा कि 'मेरी भावना' के लेखक ने मात्र एक पृष्ठ लिखा, लेकिन पूरे देश में वह 'मेरी

भावना' प्रसिद्ध हो गया। यहाँ तक कि उर्दू संस्था, देवबंद में उसका पाठ होता है। 'महावीराष्टक' मात्र आठ श्लोकों का है, पर उसकी प्रसिद्धि दिगम्बर–श्वेतांबर दोनों आम्नायों में है। उमास्वामी महाराज ने मात्र एक ग्रंथ लिखा 'तत्त्वार्थसूत्र', आज तक सर्वाधिक टीकाएँ इस ग्रंथ पर लिखी गई हैं। ऐसे बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं।

मित्र! बात ऐसी है कि सभी माताएँ भोजन बनाती हैं। एक माँ ऐसा भी पराठा बनाती है कि भूख न भी हो तो खाने का मन कर जाए और एक माँ ऐसा भोजन बनाती है कि भूखा भोजन करने को गया था, पर रोटी का चेहरा देखकर उसका पेट भर गया। वस्तु वही थी, लेकिन शैली? ऐसे–ही एक जीव एक घंटा उपदेश करे तो श्रोता पाँच मिनट में थकने लगते हैं और एक व्यक्ति एक घंटा बोले तब भी पता नहीं लगता। ये उस जीव का निज का पुण्य, यश और शैली है। पराठे में मोन डाल दो तो अच्छा हो जाता है, ऐसे–ही कोई ग्रंथ पर काम करो तो उसकी भाषा में भावों का मोन मिलाओ। सीधी–सीधी भाषा का प्रयोग कर दोगे तो आनंद नहीं आता। दूसरी बात यह है कि लिंग का प्रभाव पड़ता है। आपका गृहीलिंग, मेरा मुनि लिंग, श्रद्धा–श्रद्धा का प्रभाव पड़ता है। कभी–कभी पुण्य का भी प्रभाव पड़ता है, लिखा और ग्रंथ पूरे देश में चला गया, प्रसारित हो गया, प्रसिद्ध हो गया। कभी–कभी छपने के बाद भंडार में ही रखा रहता है।

जयसेन स्वामी कह रहे हैं कि सात गाथाओं में यतिलिंग का निषेध नहीं है। जो यतिलिंग मात्र को मोक्ष मान बैठे हैं, उनको समझा रहे हैं। पर लोगों ने समझ लिया कि यदि समयसार पढ़ लेंगे तो मुनि नहीं बनेंगे। पूरा नहीं समझ पाए तो हजार वर्ष तक खोल कर नहीं देखा। अमृतचंद्र स्वामी ने एक हजार वर्ष बाद टीका की। जितने अध्यात्म ग्रंथ जैनदर्शन व वैदिक दर्शन में हैं, लोग उसको पढ़ने का निषेध करते हैं, क्योंकि उनको डर लगता है कि इसमें गृहस्थी की व्यवस्था भंग हो जाएगी। जो मठाधीश हैं, वे पढ़ने नहीं देते। बोले, इससे मठ की व्यवस्था भंग हो जाएगी।

भैया! आश्रम में निवास करने वाले हिंसक होते हैं अर्थात् आश्रम–विधि अहिंसक नहीं, हिंसक है। जहाँ तृणमात्र भी परिग्रह होगा, वहाँ नियम से हिंसा होगी। जहाँ आरंभ है, वहाँ अहिंसा कैसी? जहाँ अहिंसा नहीं, वहाँ ब्रह्म कैसे?

जगत् में विदित है कि यदि कोई परमब्रह्म है तो वह अहिंसा है। जो व्यक्ति इसमें लिप्त होगा उसे अन्य अच्छा नहीं लगेगा। लोग जिनवाणी के सूत्र समझ नहीं पाए तो अपनी इच्छाओं की पूर्ति के राग में जिनवाणी को बंद कराकर रखवा दिया।

शिष्य ने प्रश्न किया 'द्रव्यलिंग की क्या आवश्यकता है? कुन्दकुन्द स्वामी ने सात गाथाओं

में द्रव्यलिंग का निषेध किया है। जयसेन स्वामी ने बड़ा सुंदर समाधान दिया कि द्रव्यलिंग का निषेध नहीं है। **जो श्रमण मुनिभेष मात्र को मुनि मानकर बैठे हैं, शरीर से वस्त्र उतार चुके हैं, पिच्छी– कमंडलु मात्र हाथ में लिए बैठे हैं, परंतु परिणामों में कोई विशुद्धि नहीं है, द्रव्यसंयम भले ही निर्दोष पल रहा हो परन्तु स्वरूपदृष्टि से विमुख हैं, ऐसे मुनियों को समझा रहे हैं कि आपका द्रव्यभेष मात्र, मोक्ष का कारण नहीं है।**

अहो तपोधनाः! हे तपोधन! **'द्रव्यलिंग मात्रेण संतोषं मा कुरुत'** आप द्रव्यलिंग मात्र में संतोष को मत प्राप्त हो जाओ। किसी तीर्थ की वंदना को आप पहुँचे और तीर्थ में प्रवेश कर गए, इतने से क्या तीर्थ वंदना हो गई? श्रेयांसगिरि की पहाड़ी पर घूम–घामकर तुम आ जाओ तो क्या श्रेयांसगिरि तीर्थ की वंदना हो गई? मंदिर में भी प्रवेश कर गया जीव और देख रहा है कि 'देखो १५०० वर्ष प्राचीन प्रतिमा है, कितनी सुंदर शिल्पकला है।' ऐसा विचार कर रहा है तो क्या तीर्थ वंदना हो गई? प्रतिमा का शिल्प, मंदिरों की नक्काशी आदि को देखकर कोई अपने आप में संतुष्ट हो रहा है कि मेरी तो तीर्थवंदना पूरी हो गई। नहीं। ये तूने नेत्र का विषय बनाया है, पर परमात्मा की वंदना के परिणाम नहीं हैं, तब–तक बंध स्थान है, निर्बंध स्थान नहीं है।

व्यापार के उद्देश्य से आपको कलकत्ता जाना है, रास्ते में शिखरजी की वंदना कर लूँगा, ऐसा जीव का भाव चल रहा है। उसे समझाया कि तुमको शिखरजी भी जाना है और कलकत्ता भी जाना है, तो ऐसा क्यों नहीं सोच रहा है कि मैं शिखरजी की वंदना को जाऊँगा और वहाँ से आगे कलकत्ता चला जाऊँगा? तो प्रधानता किसकी रही? शिखरजी की। एक व्यक्ति कह रहा है कि थैला दे दो, साग–सब्जी लेकर आता हूँ। साथ में डिब्बी भी रख देना, मंदिर के दर्शन करते आऊँगा। दूसरा व्यक्ति कह रहा है कि चावल की डिब्बी दे दो, दर्शन करने जाना है, साथ में थैला भी रख देना, लौटते समय सब्जी लेते आऊँगा। परिणति देखो। **बंध मोक्ष जो है, आपके भावों की दशा है।** एक की दृष्टि में साग–सब्जी की प्रधानता है, दूसरे की दृष्टि में श्रीजी/मंदिर की प्रधानता है।

जन्तु, प्राणी, क्षेत्रज्ञ, ज्ञानी, आत्मज्ञ, अंतरात्मा ये सब आत्मा के पर्यायवाची नाम हैं। 'आदिपुराण' में इनका उल्लेख जिनसेन स्वामी ने किया है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी प्रौढ़ संस्कृत भाषा के प्रज्ञावंत ज्ञानी थे। उनकी भाषा में साहित्य, व्याकरण न झलके तो उनकी प्रज्ञा की पहचान कैसे? उन्होंने आत्मख्याति टीका के कलशों में **'जंतु'** शब्द का प्रयोग किया है। अभी तक आप लोग गूढ़ ग्रंथों को कथा की दृष्टि से पढ़ते रहे हो अब पुराण ग्रंथों को आगम के गूढ़ तत्त्वों और साहित्यिक दृष्टि से पढ़िए। जिसको श्रेष्ठ वक्ता बनना हो, वाणी का माधुर्य लाना हो, तो पौराणिक

साहित्य प्रथमानुयोग का अध्ययन तो करना ही पड़ेगा। **जिसका साहित्य का अध्ययन जितना न्यून होगा, उसकी वाणी में मधुरता व लालित्य कम होगा।**

हे प्राणी! संकल्प ही तेरे लिए मोक्ष का मुख्य कारण है। भैया! आपके साथ फेरे पड़ गए, अब आप अबला से एकांत में बात कर रहे होंगे तो कोई आपसे ये नहीं कहेगा कि आप बात क्यों कर रहे हैं? संकल्प ही बंध का कारण है। समाज के बीच संकल्पपूर्वक उसको आपने पत्नी कहा है और उसने आपको पति कहा है। हे जीव! आपने जरा–सा संकल्प पंचों के बीच, मंडप में बैठकर लिया और जो पण्डित था उसने आपको सात फेरे पड़ने के साथ–साथ सात नियम भी दिलवाए। इस स्थल पर यंत्रजी विराजमान था, अरिहंत की साक्षीपूर्वक आपने प्रतिज्ञा ली थी कि आप इसके धर्म का निर्वाह कराएँगे। तुमने गृहस्थ–आश्रम में प्रवेश किया। एक संकल्प जीवनपर्यंत के लिए लिया। संकल्प के राग में लिया तो बंध गए तो संसार की वधू की प्राप्ति हुई। संकल्प लिया तो संसार की वधू के बंधन में आ गए। मोक्षमार्ग का संकल्प ले लेगा तो मुक्तिवधू का कंत बन जाएगा।

स्त्री स्त्री है, पुरुष पुरुष है। संबंध किस बात से प्रारंभ हो गया? संकल्प से। जैसा जिस वस्तु के प्रति संकल्पभाव है, वैसा बंध–मोक्ष का भाव है। पिताजी ने कहा कि बेटा आज गरी की आवश्यकता है, तो तू श्रीफल नहीं नारियल खरीदने जाता है। भाषा बदल गई आपकी। जब से तू बाजार में खरीदने गया, तब से ही अशुभ बंध प्रारंभ हो चुका था, क्योंकि गिरी खाना है। संकल्प करते ही बंध प्रारंभ हो चुका था। पिता ने कहा कि बेटा आज श्रीफल ले आना, मन कर रहा शांति विधान करने का। बेटा तब नारियल नहीं, श्रीफल लेने जाता है। निर्जरा प्रारंभ हो चुकी है। संकल्प करते ही बंध है, संकल्प करते ही निर्जरा है। बहुत सारे कार्य तो कर नहीं पाते हैं,पर संकल्प ले चुके होते हैं यानि बंध प्रारंभ हो चुका होता है। जितने संकल्प–विकल्प हो रहे हैं, क्या वे सब आपको मिल रहे हैं? हे जीव! वीतरागताभूत संकल्प है तो मोक्ष मिलेगा और सरागताभूत संकल्प है तो बंध का कारण है। जैसा संकल्प है, वैसी वस्तुस्थिति है।

ज्ञानी! चिंतवन करना कि यथार्थ में द्रव्य का कितना भोग कर पाते हैं और संकल्प कितना कर बैठते हैं? जगत् में जितने द्रव्य हैं, क्या सभी तुमको भोगने को मिलेंगे? नहीं मिलेंगे। जब नहीं मिलेंगे, तो त्याग का संकल्प कहाँ लिया है? त्याग का संकल्प इसलिए नहीं ले पाए हो कि कदाचित कहीं मिल गए तो? सारे जगत् के द्रव्यों का आस्रव–बंध हो रहा है। कम–से–कम इतना तो नियम ले लो कि इस पर्याय में मध्य लोक के ही द्रव्यों का उपयोग करूँगा, तो ऊर्ध्वलोक और

अधोलोक के द्रव्यों के आस्रव और बंध से बचोगे। अधोलोक, उर्ध्वलोक के द्रव्यों का न भोग कर रहे हो, न कर पाओगे, लेकिन त्याग का संकल्प नहीं लिए हो, संकल्प–विकल्प चल रहा है, तो उनका भी बंध तुमको हो रहा है।

आचार्य प्रभाचंद स्वामी ने लिखा है कि जीव! तू क्या नरक के नारकी की हत्या करता है? क्या देवों की हत्या कर सकता है? नहीं। क्या तूने प्रत्याख्यान किया है? बोला– उसका क्यों करूँ जब कर ही नहीं सकता? तो आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि इस हिंसा का त्याग न होने से बंध हो रहा है। आप पद्मपुराण पढ़ते हो, जब रावण का वर्णन चलता है। जब वो नरक चला जाता है, फिर उसके पीड़ा, कष्टों की व्याख्या होती है, तो राम के राग में तेरा मन क्या कहता है? कि इसका ऐसा ही होना चाहिए था। मेरे मित्र! तूने संकल्पपूर्वक, रावण के जीव के मारने की, संकल्पी हिंसा की है। ऐसे–ही नरक के नारकी के बारे में अशुभ सोच रहा है, उसका नारकी की हिंसा का त्याग नहीं है। कोई जीव पूर्व में पापी था, आयुबंध के काल में उसने इतना पुण्य का संचय कर लिया कि स्वर्ग की आयु का बंध कर लिया और स्वर्ग चला गया। उसके स्वर्ग के सुखों का वर्णन प्रारंभ हुआ। जो आपको इष्ट नहीं था, आपका मन कह रहा है कि ये चला कैसे गया? इसको तो स्वर्ग जाना ही नहीं था। भइया! आप स्वर्ग के देव की हत्या को प्राप्त हो रहे हो, परंतु किसी की हिंसा नहीं कर पा रहे हो। देवों का, नारकियों का अकाल मरण नहीं होने के कारण तुम कुछ कर नहीं पा रहे हो, फिर भी बंध को प्राप्त हो रहे हो। इसलिए कम–से–कम दो जीवों, देव और नारकी, की हिंसा का त्याग कर दो। तुम देव, नारकी को मारने नहीं जा पाओगे, अत: हिंसा का त्याग करने से बंध से बच जाओगे।

आप मध्यलोक के अलावा दो लोक के द्रव्यों के भोग का त्याग कर सकते हो, क्योंकि मिलने वाले नहीं हैं। आप प्रतिज्ञा कर सकते हो, पर परीक्षा भी हो सकती है। कोई भवनवासी, व्यंतर देव आप पर प्रसन्न हो गया और भेंट में हीरा–मोती बहुमूल्य द्रव्य ले आया, तब भी आप कहना कि मेरा त्याग है, मैं नहीं ले सकता हूँ। महाराजजी! ऐसा हो सकता है क्या? हाँ। जब भरत चक्रवर्ती दिग्विजय को निकलता है तो उसके बाण भवनवासी, व्यंतरों के भवनों में पहुँचते हैं तो वे देव आकर रत्नों की भेंट करते हैं। तीर्थंकर जन्म से गृहस्थ रहने तक मध्यलोक के पदार्थों का भोग नहीं करते हैं। उनके वस्त्र, आभूषण, भोजनादि स्वर्ग से आते हैं। आपकी साधना से कोई देव प्रसन्न हो गया और बोला कि ये द्रव्य मैं आपको देना चाहता हूँ, स्वीकार करो। उस समय तुम्हारे भावों को देखा जाएगा, संकल्प की दृढ़ता की परीक्षा होगी।

पुष्पदंत–भूतबली स्वामी के चरणों में दो देवियाँ आकर खड़ी हो गईं। 'हे स्वामी! आपने क्यों आहूत किया? आज्ञा दो।' धन्य हो उन निस्पृह योगियों को, कहा कि कोई कार्य आपसे नहीं है, आप वापस जाओ। **निस्पृही संत लिखने मात्र से संत निस्पृही नहीं हो जाता, अंदर में निस्पृहता होनी चाहिए।** आप तो भूत–प्रेतों के चक्कर में घूम रहे हो, झाड़ा–फूकी में लगे हो, ऐसे को तुम निस्पृही कैसे कह पाओगे? पुष्पदंत–भूतबली कोई चतुर्थकाल के नहीं थे, पंचमकाल के थे। उनके चरणों में देवियाँ खड़ी हैं और कह रही हैं 'स्वामी! आज्ञा दीजिए।' कुछ नहीं, मैंने गुरु–आज्ञा का पालन किया है, मुझे आपसे कुछ भी नहीं चाहिए।' देवियाँ सिर टेक कर चली गईं। ये है निस्पृहता। ऐसी वृत्ति होना चाहिए। ऐसे काल में दृढ़ रहना। भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमार की निस्पृहता, निसंगता की प्रशंसा सौधर्म इंद्र स्वर्ग में कर रहा था, देवों से नहीं रहा गया। वे डिगाने, परीक्षा लेने आ गए। सुंदर स्त्री का भेष बनाया और कहा 'आप मुझे स्वीकार करो, मैं आपको चाहती हूँ।' जयकुमार का उत्तर था 'मेरा व्रत है, प्रतिज्ञा है। जिस नारी के साथ मेरी शादी हुई है इसके बाद किसी नारी को देखना मैं पसंद नहीं करता।' वे देव तुरंत स्त्री रूप छोड़कर देव रूप में आ गए और नमस्कार कर बोले 'आपकी प्रतिज्ञा की, व्रत की प्रशंसा है' और आराधना करके चले गए।

ज्ञानी! संकल्प लेना। चाहे भवनवासी, व्यंतरादि आएँ, लेकिन अपने में दृढ़ रहना। हमने जिनवाणी की वाचना के काल में, निर्ग्रंथ गुरु के साक्षीपूर्वक प्रतिज्ञा की है कि मैं मध्यलोक के अलावा उर्ध्व और अधोलोक के द्रव्यों का सेवन नहीं करूँगा। मेरे मित्र! नियम लेने में कभी दोष नहीं लगता, राग के बढ़ाने में दोष लगता है। नियम में दोष होता तो क्यों लिया जाता? दोष नियम में नहीं लगता। जो नियम लेने के बाद दृढ़ता से उसका पालन नहीं करते, उसमें दोष लगता है। भैया! मध्यलोक भी बहुत विशाल है। प्रथम चक्रवर्ती भरत भी पूरे मध्य लोक का भोग नहीं कर पाया। **पूरे मध्यलोक को भोगने की सामर्थ्य किसी में नहीं है, लेकिन राग में इतनी ताकत है कि वो पूरे विश्व का भोग करा देता है।** ढाई द्वीप ही बहुत विशाल है।

जैनागम में सब विद्याओं का वर्णन है। विद्यानुवाद पूर्व में ज्योतिष, तंत्र–मंत्र–यंत्र आदि विद्या का वर्णन होता है। जब मुनि विद्यानुवाद पूर्व पढ़ते हैं तो देव–देवी सामने आकर खड़े हो जाते हैं, 'स्वामी! आज्ञा दो।' जहाँ मुनि ने आँखें खोल लीं और प्रभावित हो गए, तो संयम से नियम से भ्रष्ट हो गए। द्वादशांग पूर्व का अध्ययन करने वाला मुनि विद्या–देवताओं के उपस्थित होने पर भी निस्पृह रहता है। **सिद्धि करने वाले जैसे–ही प्रसिद्धि में पड़ते हैं तो उनकी आत्मसिद्धि नष्ट हो**

जाती है। जितने सिद्धि करने वाले हैं, आप अनुभव कर लो, उनका आत्मकल्याण उनसे कितनी दूर हो चुका है। ये जादू–टोना, झाड़ा–फूंकी, कलश, गंडा–ताबीज, क्यों भाई! तुमने घर इसलिए छोड़ा था? ये सबकुछ करना था तो गृहस्थ होकर जीवन जी लेते तो ज्यादा अच्छा था। कम–से–कम निर्ग्रंथ भेष की विडम्बना नहीं होती।

जो योगी विद्या के खड़ी रहने पर खड़ी रहने दो। अध्ययन व ध्यान में लीन रहते हैं, वे संयम से च्युत नहीं होते, वे अभिन्न दसपूर्वी होते हैं। **ज्योतिष व मंत्र की साधना–आराधना करने वाले जीव जब तक निर्लोभ वृत्ति नहीं है, अनासक्त दृष्टि नहीं है, तब तक ये लोग सफल नहीं हो सकते। चंचल चित्त वाले को तो स्वप्न में भी 'विद्या सीखूँ' सोचना नहीं चाहिए, क्योंकि उसे स्वप्न में भी मंत्र सिद्धि संभव नहीं है।** इसलिए इन सब कार्यों से आत्मरक्षा करो। जिनको मोक्ष की आकांक्षा है, उसको तो मात्र निर्मल रत्नत्रय की आराधना करना चाहिए। भैया! शरीर स्वस्थ है, प्रज्ञा काम कर रही है तो संयम का अच्छे से पालन करो। तुम विद्या सिद्ध करने बैठ गए, उल्टा हो गया, तो पागलपन के सिवा कोई फल नहीं है। पूरा जीवन इसी विडम्बना में निकल जाएगा।

ज्ञानी! ये मत सोचना कि भूत–प्रेत नहीं होते। भूत– प्रेत होते हैं, **'देवाश्चतुर्णिकायाः'** चार निकाय अर्थात् चार प्रकार के देव होते हैं। भूत–प्रेत व्यंतर देवों की श्रेणी में आते हैं। एक सामान्य देव में भी इतनी ताकत होती है कि सौ आदमियों को नष्ट कर सकता है। उसमें अनुग्रह करने की भी सामर्थ्य है। हम देवों के पीछे क्यों पड़ें? मेरे अशुभ कर्म का उदय होगा, तभी वह मुझे परेशान कर पाएगा। मेरे पुण्य का उदय होगा, तो देव क्या महादेव कितने ही खड़े हो जाएँ, मेरा कुछ नहीं बिगाड़ पाएँगे। कंस ने नारायण श्रीकृष्ण का वध करने के लिए पूतना नाम की देवी को भेजा। वो आँचल में विष लगा करके बालक कृष्ण को आँचलपान कराने आई। बाल कृष्ण ने ऐसे चूसा कि वो चीखकर वहाँ से भाग गई। रावण ने ब्राह्मणी नामक विद्या को नारायण लक्ष्मण और बलभद्र राम को मारने भेजा। वो विद्या जब राम के पास पहुँची तो उनके पुण्य को देखकर उसकी विद्या क्षीण हो गई और श्रीराम की तीन प्रदक्षिणा लगाकर वापस लौट गई। लंकेश ने पूछा 'देवी! मेरा काम करके आ गई हो क्या?' बोली, 'नहीं, स्वामी! मैं पुण्यात्मा का बाल बांका नहीं कर सकती हूँ। आपका पुण्य क्षीण हो चुका है। मैं आपको नष्ट कर सकती हूँ।' मित्र! भ्रम में कभी मत पड़ना। तुम्हारे अशुभ कर्म का उदय है तो तुमको छोटा–सा भूत भी सता देगा। अतः पुण्य बढ़ाओ, एक ही सूत्र है।

ण य कोवि देदि लच्छी, ण कोवि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि।।

(३१९ का.अ.)

हे जीव! न तुझे कोई लक्ष्मी देता है, न कोई उपकार या अपकार करता है। पुण्य का उदय है उसी से उपकार होता है, पाप का उदय है तो अपकार होता है, निमित्त दूसरे हो सकते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में भूत लगने को रोग कहा है। 'कल्याणकारकम्' जैन आयुर्वेद शास्त्र है। बहुत–सी सामग्री ऐसी होती है जिसको हाथ से स्पर्श नहीं किया जाता है, क्योंकि हाथ का मल उसमें चला जाता है। मुनिराज को आहार देते समय आपने किसी के हाथ पर रोटी/ग्रास रख दिया और उसमें विलम्ब हुआ तो हाथ की गर्मी से हाथ का मल उस ग्रास में चला गया। यह आयुर्वेद ग्रंथ का कथन है।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं 'हे मुनि! द्रव्यलिंग मात्र में संतुष्ट मत हो जाओ। घर छोड़ दिया, परिवार छोड़ दिया, भाई–बंधु सब छोड़ दिए, अब तो तेरा मोक्ष हो ही जाएगा। मेरे हाथ में पिच्छी, कमंडलु है, तो समाधि हो ही जाएगी। **जैसे मात्र स्कूल के बढ़िया बस्ता टाँगने से, बढ़िया वस्त्र पहनने से छात्र पास नहीं हो जाएगा, ऐसे–ही कपड़े उतारने से, पिच्छी–कमंडलु लेकरके संसार की गप्पों में समय बिताने पर मोक्ष होने वाला नहीं है। जब–तक तुम्हारे जीवन में स्त्री, राष्ट्र, चोर तथा भोजन ये चार विकथाएँ चल रही हैं, तब–तक प्रमाद का अभाव नहीं है और प्रमादी पुरुष मोक्ष नहीं जा सकता।** जब–तक चार विकथाएँ हैं, तब–तक मोक्ष की बात मत करना। आहार तो आधे घंटे में लेकर आ गए और मन में आहार के संकल्प–विकल्प चल रहे हैं, तो आस्रव धारा चल रही है, जैसे शांतिधारा चलती है। बोले न टूटे अखण्ड शांतिधारा। ऐसे–ही जिन मुनियों के मन में संकल्प–विकल्प चल रहे हैं, उनके अशुभ कर्मों की अखण्डधारा चल रही है। जो है, सो है। संतुष्ट किसमें हो रहे हैं? कि मेरा तो कल्याण हो ही जाएगा, क्योंकि घर छोड़कर आ गए हैं। **अरे भाई! घर छोड़ने से कल्याण हो जाता, घर के बाहर कल्याण भरा होता, तो जिनके घर ही नहीं बने हैं उन सबका कल्याण हो जाएगा। जितने बंदर, भालू जंगलों में घूम रहे हैं, उनने तो घर बनाया नहीं, उनका भी कल्याण होना चाहिए था?**

हे मुनि! संतुष्ट मत हो जाओ **'द्रव्यलिङ्गाधारेण निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप भावनां** कुरुत' द्रव्यलिंग को धारण करके निश्चयरत्नत्रय निर्विकल्प समाधिरूप भावना करो। **'ननु भवदीयकल्पनेयं द्रव्यलिंग निषेधो न कृत इति'** आपने द्रव्यलिंग का निषेध नहीं किया है। यहाँ

पर **'अत्र ग्रन्थे पुनर्लिखितमास्ते',** इस ग्रंथ में द्रव्यलिंग का निषेध नहीं कर रहे हैं। प्रश्नकर्ता कह रहा है कि आप द्रव्यलिंग का निषेध नहीं कर रहे हो तो फिर इस ग्रंथ में लिखा है **'ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं इत्यादि,** मोक्षमार्ग लिंग नहीं है **'वचनेन भावलिङ्गरहितं द्रव्यंलिङ्गं निषिद्धं न च भावलिङ्गसहितं',** लिंग मोक्ष का कारण नहीं है, लिंग से मोक्ष नहीं होता है। आचार्यभगवन् ने भावलिंग से रहित द्रव्यलिंग का निषेध किया है, न कि भावलिंग सहित द्रव्यलिंग का निषेध किया है। द्रव्यलिंग का निषेध नहीं है। द्रव्यलिंग तो होना चाहिए, परंतु साथ में भावलिंग भी होना ही चाहिए। जड़ के बिना बीज के फूल किसमें खिलेंगे? आकाश में क्या? जड़ आवश्यक है।

ज्ञानी! समयसार कोई विघटन की बात नहीं करता। विश्वास रखना, समयसार कोई टुकड़े करने की बात नहीं करता। **जिसकी दृष्टि निज पूजा की है, वह समयसार का आलम्बन लेकर पूजा की आकांक्षा रखता है। जहाँ देह के राग को ही बंध का कारण कहा है, वहाँ पंथों के राग में बंधकर कोई निर्बंध कैसे होगा?** जिस दर्शन में अणु–अणु कण–कण स्वतंत्र है, जिस दर्शन में स्वतंत्रता की व्याख्या है, उसको छोड़कर मैं अन्य स्थान में बंधने को क्यों जाऊँगा? निज के रागभाव बंध के कारण हैं। निज के राग की पुष्टि बंध का कारण है, तो पर के राग की पुष्टि में अपना राग बढ़ाने से निर्बंध कैसे हो सकता है? **जिसका निज का भाव पवित्र होता है, उसका भव भी अल्प होता है।** ये सहजता में देखना। खोटे उल्टे–सीधे निमित्त भी मिल रहे हों, तब भी तुम्हें गुस्सा नहीं आए, अशुभ भाव नहीं आए। तनक–तनक पर आग–बबूला होने लग जाओ तो समझना कि समय तुम्हारा अशुभ है।

'कल्याणकारकम्' आयुर्वेद ग्रंथ में लिखा है कि जिस जीव की आयु दीर्घ होती है, उसके कान लंबे होते हैं, उसका स्वास्थ्य ठीक रहता है, पुण्यात्मा होता है, उसके अधर, तालु, हस्तपटल, पैर ये सब रक्त वर्णी होते हैं। नेत्र मीनाक्षी, कमलाक्षी, विशाल होते हैं। भले लोगों का भाल विशाल होता है। बुद्धिमान लोगों का माथा चौड़ा होता है। जिनको वातरोग होता है, वे सोते में चिल्लाते हैं। जिनका पित्त बलवान है, उनकी क्रोध–ज्वाला नाचती रहती है। जिनका कफ प्रधान है, उनको गड्ढों, नाली कहीं भी डाल दो, सो जाएँगे। **जिन जीवों का कफ पित्त मिश्र है, वे बड़े भद्र परिणामी होंगे, बुद्धिमान होंगे, यशवान होंगे। जिनका कफ कमजोर और पित्त प्रबल है, वे विद्वान् तो होंगे, लेकिन क्रोधी होंगे।** एक बार शेर, अजगर के पास बैठना अच्छा लग सकता है, पर क्रोधी के पास बैठना अच्छा नहीं लगता। ये सब नोकर्म की व्याख्या है। भावकर्म तुम्हारा सँभल गया तो नोकर्म सँभाल सकते हैं।

ज्ञानी! गुरु, वैद्य, सम्राट इन तीनों को शांतस्वभावी होना चाहिए। साम्यभाव होना चाहिए। साम्य भाव है तो आप किसी के रोग को ठीक कर पाओगे। **साम्यभाव है तो शासन चला पाओगे।** साम्यभाव है तो तत्त्व–भरे उपदेश दे पाओगे। तुम स्वयं क्रोध की ज्वाला से झुलस रहे हो तो किसको क्या शिक्षा दोगे? असाम्यस्वभावी को इन तीन पदों (वैद्य, सम्राट, गुरु) पर नहीं आना चाहिए। पण्डितबुद्धि वाले को राजा नहीं बनाना चाहिए। पण्डित बुद्धि वाले को समाज का अध्यक्ष नहीं बनाना चाहिए, मंत्री बना देना। कारण यह है कि पण्डितबुद्धि वाला अनुभव नहीं देखता, मात्र अच्छा देखता है। अच्छा देखने में कभी–कभी बड़ा अनर्थ हो जाता है। **अध्यक्ष विशाल बुद्धिवाला, सबको हओ–हओ कहने वाला, सबको साथ लेकर चलने वाला, सबको सुनने की सामर्थ्य रखने वाला होना चाहिए। उत्तर किसी को दे नहीं और मना किसी को करे नहीं।** 'तत्त्वार्थसूत्र' में उमास्वामी महाराज कह रहे हैं–

क्रोध–लोभ–भीरुत्व–हास्य–प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च।

(७/५ त.सू.)

जो क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि से सहित होगा, वो कभी सत्य भाषण नहीं कर सकता। क्रोधी यद्वा–तद्वा कुछ भी बोल सकता है, कोई नियत नहीं है। लोभी कुछ भी कर सकता है। दिगम्बर आम्नाय में ग्रंथ लिखने का आदेश मात्र वीतरागी निर्ग्रंथ मुनियों को दिया है। विद्वान् लोभ में आकर कुछ भी लिख सकते हैं। जो निर्लोभ वृत्ति वाले हैं, वे बिक नहीं पाएँगे। यहाँ तक कह दिया कि हे मुनि! तुमको यश का लोभ नहीं है, अत: तुम मात्र आगम की ही बात करोगे। तुम कभी भी वाचना में, 'लोग मेरे हो जाएँगे, प्रभावना बढ़ जाएगी', ऐसी आगमरहित बात नहीं करोगे। ऐसे यश लोभ के कारण व्यक्ति कभी सत्य का प्रयोग नहीं कर सकता। जहाँ जो आम्नाय है उसके अनुसार हम कथन नहीं कर सकते। हमें तो मात्र आगम की बात करना है। आम्नायों का पालन तुम करो, मुझे तो मात्र आगम की व्याख्या करनी है। ज्ञानी! क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि का प्रत्याख्यान करो और जैसा आगम में लिखा है अनुवीचि भाषण वैसा बोलो। ये सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

'इति चेत् द्रव्यालिङ्गाधारभूतो योऽसौ देहस्तस्य ममत्वं निषिद्धं। न च द्रव्यलिंङ्ग निषिद्धं' जो द्रव्य लिंग का आधारभूत है यानि देह, उस देह में ममत्व का निषेध कर रहे हैं, न कि द्रव्यलिंग का निषेध कर रहे हैं। कोई मुनि बन गया, अब बेचारे को अपना रूप नहीं दिख रहा है। भगवान् के दर्शन करने गया, पीछे शीशा लगा था, तो भगवान् को बाद में देख रहा है, पहले अपने रूप

को देख रहा है कि मैं कैसा लग रहा हूँ। हे रागी! तूने मुनिभेष को तो प्राप्त कर लिया, पर देह का राग नहीं छूट रहा है, उनसे आचार्य भगवन् ऐसा कह रहे हैं।

कहीं मंच बना था, बच्चों ने खूब सजा दिया, टेबल पर अछार बिछा दिया, उसमें छोटे–छोटे काँच लगे थे, उसमें धीरे–से देख रहा है कि मैं कैसा लग रहा हूँ। उनसे कह रहे हैं कि तुम मुनि तो बन गए हो, पर तुमने देह का ममत्व नहीं छोड़ा। धीरे–से हाथ घूमता–घूमता बालों पर पहुँच गया और धीरे–से बाल सेट कर लिए। तुमने क्या किया? धीरे–से मूछों पर हाथ चला गया, ठीक कर लूँ। हे महाराज! जिनको उखाड़ना है? तो हाथ किस बात का फेर रहे हो? देखो भाई! जो है सो है, आगम मार्ग ये है। किस पंथ को आप देख रहे हो, पर आगम मार्ग ये है। धन्य है श्रावक जो आपकी इच्छा को पूर्ण कर देते हैं, चाहे आप द्रव्यलिंगी हो या भावलिंगी हो। साक्षात् दिखता है कि ये विरुद्ध है, फिर भी श्रावक सेवा करता है। तो आप कैसे कह सकते हो कि पंचमकाल में आस्था नहीं है? बहुत आस्था है। कभी–कभी चतुर्थ काल से भी अधिक आस्था है।

'केन रूपेण? इति चेत्, पूर्वं दीक्षाकाले सर्वसङ्गपरित्याग' किस प्रकार से दीक्षा के काल में सर्व संग का त्याग कर दिया आपने? और त्यागने के बाद अब फिर लग गए, क्या मतलब है तुम्हारा? दीक्षा के काल में जिसे–जिसे तुमने छोड़ा था, मतारी छोड़ी, दद्दा छोड़े, अब वे पधार गए तो तुम्हारा मन करता है उनसे बात कर लें। भइया छोड़े, भाभी छोड़ी, अब आ गए हैं तो पाटा डालकर अलग से बात कर लें। तुमने क्या छोड़ा? धन्य हैं वे योगी, जो अपनी भगनि की विडम्बना पर मौन लिए बैठे हैं। वीतरागी तपोधन अटवी में ध्यानस्थ खड़े हुए हैं। माँ अपनी बेटी के साथ अटवी से गुजर रही है। इसके पूर्व जंगल में डाकुओं का गुट निकलता है, एक डाकू कहता है, 'इसको भगा दो', लेकिन डाकुओं का सरदार कहता है 'नहीं, मित्र! ये वीतरागी तपोधन हैं, इनके लिए कंचन व कामिनी से कोई लगाव नहीं है। इनसे कभी अपने कार्य में विघ्न नहीं आ सकता। इनकी तो वंदना करो।' और सारे डाकू नमस्कार कर चले जाते हैं। कुछ क्षण पश्चात् माँ अपनी बेटी और सैनिकों के साथ निकलती है, शादी के लिए जाने के कारण साथ में बहुत सारा धनद्रव्य था। माँ ने मुनिराज को देखा तो नमोस्तु किया और एक क्षण में पहचान लिया कि ये मेरा पुत्र ही है। माँ ने कहा कि तेरी बहन के संबंध के लिए बहन के साथ धन लेकर जा रही हूँ, मार्ग में कोई खतरा तो नहीं है, डाकू तो नहीं है? मुनिराज ने कोई उत्तर नहीं दिया, जबकि कुछ क्षण पूर्व डाकूगण नमस्कार करके गए थे। माँ थोड़ी ही दूर चल पाई कि डाकुओं ने पकड़ लिया और सारा द्रव्य छीन लिया। डाकुओं का सरदार डाकुओं से कहता है कि मैंने कहा था कि दिगम्बर मुनि

से हमारा अनर्थ नहीं हो सकता। ये शब्द सुनते ही माँ सरदार से कहती है 'अपनी कटार मुझे दो।' सरदार ने पूछा 'क्यों?' माँ बोली 'मैं अपनी अपवित्र कोख को चीरना चाहती हूँ।' बोला 'क्यों।' बोली 'जिस दिगम्बर मुनि की बात कर रहे हो, वो मुनि मेरा बेटा है। जिससे मैंने पूछा भी था कि कोई डर तो नहीं है, पर अपनी बहन और माँ की विडम्बना पर दो शब्द नहीं बोल सके। ऐसे बेटे को मैंने नौ महीने अपने पेट में रखा है।' सरदार कहता है 'नहीं माँ! ये तुम्हारी कोख अपवित्र नहीं है, ये पूज्य है। ऐसा मत कहो आप। आप अपनी सारी संपत्ति वापस लो और आपको जहाँ जाना है, हम सब छोड़कर आते हैं।' ये है वैराग्य।

तुम तो खबरें ले रहे हो कि कैसे हैं? वहाँ कुछ हो गया तो सिरदर्द होने लग गया। ओहो! तुमको सब सूतक–पातक लग गया। **यदि मुनि बनकर भी ये भाव आया कि वे खत्म हो गए, चेहरा बनाकर बैठ गए, तो तुम्हें पक्का सूतक–पातक लग गया। अब तुम पालो या न पालो, परंतु व्यवस्था ये है।** ठीक है, मर गए सो जाने दो, ये तो नियत है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। तो कोई सूतक–पातक नहीं। देखो जन्म–मरण ध्रुवसत्य है। ये मोक्षमार्ग है। चाहे कष्ट आए या उपसर्ग आए, जिसे छोड़ चुके हो उसे याद करने की क्या आवश्यकता है?

द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है **'एव कृतो न च देहत्यागः'** दीक्षा के काल में सबकुछ छोड़ दिया है, लेकिन देह का त्याग नहीं किया है, **'कस्मात्? देहाधारेण ध्यानज्ञानापुष्ठानं भवति इति हेतोः'** क्योंकि देह के माध्यम से ध्यान हो रहा है, देह के माध्यम से ज्ञान होता है, चारित्र का अनुष्ठान होता है। ऐसा जानना। इसलिए देह के लिंग के त्याग से तात्पर्य ममत्व का त्याग करना, न कि देह का त्याग करना है। **'न च देहस्य पृथक्त्वं कर्तुमायाति शेष परिग्रहवदिति'** अरे! देह का त्याग करेगा तो आत्महत्या हो जाएगी, साधना (संयम पालन) किससे करेगा। जैसे शेष परिग्रह को छोड़ा जाता है, ऐसे ही देह को नहीं छोड़ा जाता है **'वीतरागध्यान काले पुनर्मदीयो देहोऽहं लिङ्गीत्यादिविकल्पो व्यवहारेणापि न कर्त्तव्यः'** वीतराग ध्यान के काल में मेरा ये देह है, मेरा लिंग है, मैं मुनि हूँ, मेरा शरीर है, ऐसा विकल्प–व्यवहार से भी नहीं करना चाहिए **'देह निर्ममत्वं कृतं कथं ज्ञायते?' देह से ममत्व नहीं करते कैसे जान रहे हैं 'इति चेत्, इत्यादि वचनेनेति। न हि शालितन्दुलस्य बहिरंगतुषे विद्यमाने सत्यभ्यंतरतुषस्य त्यागः कर्तुमायाति अभ्यंतर तुषत्यागे सति बहिरङ्गतुषत्यागो नियमेन भवत्येव'** यदि शालिधान्य का बहिरंग छिलका लगा हुआ है तो क्या अंतरंग छिलका हट जाएगा? मेरे मित्र! जिसका बहिरंग परिग्रह नहीं छूटा, उसका अंतरंग परिग्रह छूट जाएगा क्या? जो बहिरंग लिंग धारण किए बिना निश्चयलिंग मानते हैं, उन अज्ञानियों

को समझना चाहिए कि बादाम का ऊपर का छिलका हटाओगे तो ही अंदर की लालिमा हटेगी। बाहरी वस्त्रादि छोड़ोगे तो अंदर की कषाय छूटेगी। जिसका अंतरंग का त्याग होगा, जिसके अंदर की लालिमा हट गई है, उसका नियम से बाहर का छिलका हट गया है। जिसका भावलिंग होगा, उसका नियम से द्रव्यलिंग होगा। **जिसको भावलिंग हो और द्रव्यलिंग न हो, ऐसा कभी नहीं होता है। बटलोई तपे नहीं और दूध तप जाए, ऐसा संभव नहीं है। पहले बटलोई तपेगी, उसके बाद दूध तपेगा। ऐसे–ही पहले बहिरंग चारित्र होगा, तब अंतरंग चारित्र होगा।**

अनेन न्यायेन सर्वसङ्गपरित्यागरूपे बहिरङ्गद्रव्यलिङ्गे सति भावलिङ्गं भवति, न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यन्तरे तु भावलिङ्गे सति सर्वसङ्गपरित्यागरूपं द्रव्यलिङ्गं भवत्येवेति। मात्र भेष नहीं, बाह्य लिंग में भी संपूर्ण परिग्रह का त्याग होगा। ऐसा नहीं कि सबकुछ त्यागने के बाद ताला–चाभी खोज रहे हो। कौनसा द्रव्य रखे हो कि ताला चाभी लगाना पड़े? शास्त्र ही तो रखे हैं। ये समाज का काम है कि शास्त्रों की रक्षा करें। तुम अपने हाथ से ताला मत लगाना। व्यवहार से संपूर्ण परिग्रह का त्याग करने पर बहिरंग लिंग होने पर, द्रव्यलिंग है तो भावलिंग होता है। यदि द्रव्यलिंग नहीं है, तो नियम से भावलिंग नहीं है। अंतरंग में भावलिंग होगा, वहाँ नियम से संपूर्ण परिग्रह का त्याग द्रव्यलिंग होगा ही। द्रव्यलिंग होने पर भावलिंग हो ही, ये नियम नहीं है, परंतु द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग नहीं होगा।

हे श्रमण! मात्र लिंग मोक्ष का कारण नहीं है। जो देहाश्रित धारा है, वह भिन्न है और आत्माश्रित धरा जो है, वह भिन्न है। द्रव्यलिंग को छोड़ने का आदेश नहीं है। जिसमें द्रव्यलिंग धारण किए हो, उस तन से ममत्व छोड़ना है। यदि तन से द्रव्यलिंग से ममत्व रहा, तो गृहीलिंग व पाखण्डीलिंग ये दोनों मोक्ष के कारण नहीं हैं। ये भाव भी तेरे अंतस् में घूम रहा है कि मैं त्यागी हूँ, तो तू अभी त्याग से दूर है। जिस द्रव्य का आपने त्याग किया है, उस द्रव्य के त्याग को आपने त्याग स्वीकार लिया है, बल्कि आपने छोड़कर रखा है, उसकी स्मृति का त्याग तो किया ही नहीं है। एक भोग कर बंध कर रहा है, दूसरा स्मरण से बंध कर रहा है।

भोगों को भोगे बिना भी भोगों का परिणाम है तो भी बँध का स्थान है। जो न भोग रहा है, न भोग के परिणाम कर रहा है, पर जिसे छोड़ चुका है, लेकिन उसकी स्मृति की अनुभूति ले रहा है, वह भी बंधक ही है। उसके मन में भाव नहीं है कि मैं भोगूँ, पर जिसे छोड़ चुका है उसमें भाव जा रहा है कि मैंने इतने द्रव्य का परित्याग किया है। उस द्रव्य के रति भाव का त्याग नहीं किया है, वहाँ रति का कारण है। जिससे आप अलग हो चुके हो, अपने आप से देहरूप से अलग भी

कर चुके हो, लेकिन भावों में आनंद आ रहा है कि देखो मैंने इतना द्रव्य छोड़ दिया है। अरे! जिसे छोड़ दिया है, उसके आनंद की आवश्यकता नहीं है। उसको स्मृति के लिए नहीं छोड़ा था। उस द्रव्य के होने पर जो मैं निज से भिन्न होकर रह रहा था, उतना निज के पास आने के लिए छोड़ा था। आप छोड़ तो चुके हो, पर आप उससे छूट नहीं पा रहे हो।

आत्मस्थ होने के लिए हम पर से भिन्न होते हैं। पर से भिन्न होने पर भी पर से अभिन्न नहीं जी रहे, तो भिन्नत्व की अनुभूति नहीं होगी। एक सद्भाव–सद्भाव में बंध कर रहा है, दूसरा अभाव होने पर भावों के सद्भाव में बंध कर रहा है। धर्म की व्याख्या है, वो अलग है। समयसारजी की भाषा में जिसे आप धर्म मान रहे हो, वह आपका क्रियापक्ष है। धर्म के पास जाने का साधन हो सकता है स्यात्, लेकिन धर्म तो मेरा शुद्ध ज्ञान–दर्शन ही है। इस दृष्टि से कोई भी संप्रदाय मेरा धर्म नहीं है। कोई सोचे मैं धर्म की रक्षा करूँ, वह सांप्रदायिक धर्म की रक्षा है। धर्म तो अरक्षणीय है ही नहीं। मेरे निज धर्म की रक्षा या अरक्षा पर के द्वारा कभी न हुई है, न होगी। मेरे धर्म की अरक्षा/रक्षा मेरे ही द्वारा है। काषायिक भाव के जाग्रत होते ही हमारे धर्म की अरक्षा होती है, उपशम आते ही हमारे धर्म की रक्षा होती है। इसलिए कभी–कभी ऐसा लगता है कि हम धर्म की रक्षा के पीछे धर्म से दूर हो रहे हैं।

भैया! धर्म अलग है और सामूहिक जीवन जीना अलग विषय है। मैं सामूहिक जीवन जीने के लिए नहीं आया हूँ। मैं निज समिति, गुप्ति में जीने के लिए आया हूँ और समिति गुप्तियों में नहीं, उनसे भी रहित होकरके शुद्ध ज्ञान–दर्शन में जीने के लिए आया हूँ। कहाँ स्थूलता में जा रहे हो। **जिस विषय से राग की वृत्ति हो रही हो, द्वेष की वृत्ति हो रही हो, आर्त–रौद्र ध्यान अंतस् में जाग्रत हो रहा हो, वहाँ सामायिक ही नहीं है, सामायिक चारित्र तो छोड़िए। आर्त–रौद्र ध्यान का अभाव ही सामायिक है। आँख बंद करके माला फेरने का नाम सामायिक नहीं, वो तो जाप है।**

रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थान के आगे नहीं जा सकता। आर्तध्यान की तीन, छठवें गुणस्थान में हो सकते हैं, लेकिन वो भी संज्वलन जन्य कषाय की सत्ता तक तो बचेगी सामायिक, लेकिन संज्वलन कषाय के ऊपर चले गए तो छठवें गुणस्थान का अभाव। जहाँ संज्वलन का मंदोदय है, अप्रमत्तदशा की तथोपपत्ति, जहाँ संज्वलन का तीव्र उदय है, प्रमत्तदशा की तथोपपत्ति। जहाँ संज्वलन से आगे प्रत्याख्यान में चला गया, प्रमत्तदशा, छठवें गुणस्थान में अनुपपत्ति।

यदि स्वात्म दृष्टि नहीं है और निर्ग्रंथ बहिरंग चिह्न है। आत्मस्थ रूप से भिन्नत्व है, तो

मोक्ष की प्राप्ति में तुम्हारा निर्ग्रंथ लिंग अकिंचित्कर ही है। और स्वात्म दशा से युक्त होकरके मोक्षमार्ग में रत रहना यानि द्रव्यलिंगी मुनि अंकिचित्कर नहीं है, उसका द्रव्यलिंग सार्थक है। बिना द्रव्यलिंग के भावलिंग की उत्पत्ति नहीं होती।

मेरे मित्र! जब तक महावीर को दया आती रही, वे वीतराग नहीं थे और जब महावीर वीतराग हो गए, तब महावीर की वाणी में दया तो गूँजती थी, पर महावीर दयातीत थे। दया/करुणा मोह का लिंग है।जब जीव को मोह सताएगा, तभी करुणा आएगी, दया आएगी, भले ही वह प्रशस्त हो। जगत् के जीवों में मैं भी तो जीव हूँ। मैं जगत् पर दया करने जा रहा हूँ, पर जो दया करने जा रहा है उस पर दया नहीं है, तो तेरी दया कैसी? वह दया 'दया' नहीं है, वह कषाय है, राग है। कोई कह रहा हो कि मैं इस जीव की रक्षा करने खड़ा हूँ, कोई आया तो गोली मार दूँगा। यदि ऐसा भाव चल रहा है, तो तेरी दया 'दया' नहीं है, वह राग है। दया वह है कि हिंसक की हिंसा न हो, अहिंसक की भी हिंसा न हो, हिंसक भाव भी न आने पाए, इसका नाम दया है।

ज्ञानी! जब वर्द्धमान से कहेंगे कि सबकुछ हो रहा था, तब दया आ रही थी कि नहीं? जब सब कुछ हो रहा था, तो दया कैसी आई? दीक्षा लेने चले गए, दीक्षा लेकर बैठ गए थे। शुद्धोपयोग की दशा में जा रहे थे। जब–तक जगत् को देखते रहेंगे, तब–तक आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं कर सकेंगे। एक ऐसी दशा होती है कि प्रारंभ में जगत् पर दया, फिर जगत् पर दया से शून्य, फिर दया आत्म–जगत् पर, फिर आत्मदया का फल कैवल्य प्रकट होता है, तो जगत् पर दया वाणी खिरना प्रारंभ हो जाती है।

आचार्य समन्तभद्र कह रहे हैं कि प्रभु! आपका मत अद्वितीय है, क्योंकि आप दया, दम, त्याग और समाधि में निश्चय से चले गए। दया प्रथम थी, दम में चले गए। दया, दम, इंद्रिय दमन समाधि बीच में रख दिया। त्याग और त्याग के बाद समाधि में निष्ठ हो गए, जगत् के सारे विकल्पों से शून्य हो गए। सामान्य भूमिका में आप दया की बात करो, परंतु जब भी समाधि होगी, त्याग से होगी, दया से नहीं होगी।

ज्ञानी! दया एकरूप नहीं है द्वैत दया, अद्वैत दया, निश्चय–व्यवहार दया। जब द्वैत दया होगी तो परजीवों पर होगी। अद्वैत दया होगी तो आत्मस्वरूप पर होगी। समयसार की भाषा में दया में भी संक्लेशता है और संक्लेशता कभी निर्बंध का कारण नहीं होती। दया में संक्लेशता कैसे? जिन पर करुणा आती है, उस समय आपको लगता है कि कैसे मैं इसकी रक्षा कर सकूँ। सहज नहीं है। दया सहजता नहीं है, दया असहज भाव है। व्यवहार दया। **दया में करने का भाव है**

और समाधि में अकर्त्तृत्व भाव है। अकृर्त्तत्व भाव जो है, वो समाधि है। कर्त्तृत्व भाव है दया। समाधि जो है, वो त्यागपूर्वक होती है। जब समाधि में लीन होगा, उस समय उपेक्षा भाव का आश्रय लेना पड़ेगा। उपेक्षा भाव का आश्रय नहीं लेगा तो कभी चारित्र में प्रवेश नहीं कर सकेगा। जिस समाधि को कहा जा रहा है, वो समाधि साधु को कभी होगी नहीं। जिस समाधि का कथन है, वो श्रावक को कभी होती नहीं है। बाल–पण्डित मरण हो सकता है श्रावक को, पण्डित मरण नहीं होता। जिस समाधि की व्याख्या चल रही है, वो शुद्धोपयोग की लीनता वाली समाधि है। जिस परम समाधि और मरण समाधि की व्याख्या यहाँ कर रहे हो, वो पण्डित–पण्डित मरण है। कैवल्य के बाद जो निर्वाण होगा, वह परम समाधि पण्डित–पण्डित मरण है।

ज्ञानी! जब तक परिणाम रहेंगे, तब–तक जीव अज्ञानी है। परिणामातीत हो जाएगा, तभी परम ज्ञानी हो पाएगा। परिणाम जो कर रहा है, वो मोह की सत्ता में है। जो भाव कर रहा है, वह मोह की दशा में। भवातीत होना है तो भावातीत होना पड़ेगा। **भावातीत हुए बिना भवातीत होना संभव नहीं है।** आज जिसे लोक में समाधि कहा जा रहा है, उस मरण को समाधि नहीं कहा जा सकता है। किसी की भी पिच्छी कमंडलु के साथ मृत्यु हो जाए तो ये आपकी भाषा में समाधि हो जाती है। ये लोकव्यवहार है। यहाँ लोक व्यवहार की नहीं, आगम की व्याख्या चल रही है। **सम्यग्दर्शन के साथ, रत्नत्रय के साथ, समतापूर्वक जो प्राणों का विसर्जन होगा, उसका नाम समाधि है।**

यदि कोई आचार्य भी है तो उनको बुद्धिपूर्वक आचार्यपद का त्याग करना होगा। 'नियमसार' की टीका में आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं 'गात्र मात्र परिग्रह'। जिस दिन मेरी समाधि हो, जिस परिग्रह को मैं लादे था, जिसको मैं भोजन कराने ले जाता था, उस गात्र मात्र परिग्रह का भी मैं विसर्जन करता हूँ, तब समाधि होगी। **दुनिया के मठों, झमेलों में पड़करके सल्लेखना संभव नहीं है। नाना द्रव्यों चेतन, अचेतन, मिश्र, सचित्त, अचित्त, मिश्र सब प्रकार के परिग्रह का परिहार जहाँ होगा, उसका नाम समाधि है।** मित्र! इतना ही नहीं, आपने सचित्त परिग्रह चेला–चेली छोड़ दिए, सचित्त पिच्छी–कमंडलु छोड़ दिया, इतने से ही नहीं। तेरे रागादि परिणाम, निज के परिणाम यानि सचित्त परिग्रह और तेरा कर्म–नोकर्म अचित्त परिग्रह। इन दोनों की धारा है मिश्र परिग्रह। इसका भी त्याग करना पड़ेगा, तब होगी समाधि। लक्ष्य तो बनाकर चलना ही पड़ेगा। तेरा मुनि बनने का लक्ष्य क्या था? इस जीवन में यही लक्ष्य नहीं बनाया, तो जिनलिंग को प्राप्त करने का उद्देश्य क्या है? काय–क्लेश करने का उद्देश्य क्या है? मजदूरी करने वाले भी शारीरिक श्रम

कर लेते हैं।

ज्ञानी! चाय छोड़ दो, चाह छोड़ दो। **मल का पिंड सोने की कटोरी में रखने से पवित्र नहीं होता है।** जो व्यक्ति कह रहा है 'लो भैया! पी लो, शुद्ध चाय है' और एक कह रहा है 'छोड़ दो, अशुद्ध चाय है। इसमें आप किसको अच्छा मानते हो? 'भगवती आराधना' की भाषा में, जो कह रहा है कि पी लो, ये तेरा अनुकूल शत्रु है, जो पाप की ओर प्रेरित कर रहा है।

ज्ञानी! जिनवाणी के उपदेश बड़ी लगन और श्रद्धा से सुनना चाहिए। अगर हमारी बुद्धि में बिल्कुल भी समझ में नहीं आ रहा है, हमारी बुद्धि से परे बाहर का विषय महसूस होता है, तो–भी हमें श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने स्पष्ट कहा है कि केवलज्ञान को प्राप्त कराने वाला श्रुत है, इसलिए आचार्यों का हम सब पर बड़ा उपकार है। प्रभावक उपदेशक यदि वह तत्त्वज्ञान से शून्य है और उससे आकृष्ट हो रहे हैं, तो उसमें हम सबका भला नहीं है, हानि ही है। उससे मोक्षमार्ग की दृष्टि से पूर्ण लाभ नहीं हो पाता है।

'मूलाचार' में वट्टकेर स्वामी ने कहा है कि नियमपूर्वक श्रुत का अध्ययन किया है, प्रमादवश भूल भी गए, तो वह तुम्हारे किए कैवल्य का कारण बनेगा। यदि समझ में नहीं आया, तब भी श्रुत 'श्रुत' ही है और श्रुत भी कैवल्य का कारण है। जैसे नए सकोरे में पहले की पानी की बूँदें दिखाई नहीं देती, पर बूँद पड़ते–पड़ते सकोरा भर जाता है। ऐसे–ही नए सकोरे में बार बार बूँद पड़ेगी तो दिखना प्रारंभ हो जाएगा। इसलिए श्रुत बार–बार सुनना चाहिए। कभी–कभी प्रवचन समझ में नहीं आता है तो व्यक्ति सोने लगता है, पर ये सोने का समय नहीं, सोने (स्वर्ण) का समय है। सोने में समय मत लगा देना, क्योंकि श्रुत का प्रवचन है। जो ग्रंथ बन रहे हैं, उसमें मेरा कुछ भी नहीं है। मैं तो मात्र प्रवचन करता हूँ। श्रेय मुझे देते हो। प्रवचन से लाभ यह है कि मेरी परिणाम विशुद्धि तो होती है, उसमें मेरा उपकार होता है। ध्रुव सत्य है कि जिनवाणी के व्याख्यान में आनंद आता है, गद्गद् भाव आता है। जिस जीव को जिनवाणी में आह्लाद आता है, जो भक्तिपूर्वक जिनवाणी को सुनता है, वह भावी भगवान् है। जब आह्लाद नहीं है, तो सम्यक् का साधन हो ही नहीं सकता। देव–शास्त्र–गुरु के चरणों में आह्लाद आना ही सम्यक्त्व का कारण है।

आचार्य जयसेन स्वामी प्रश्नात्मक शैली में समझा रहे हैं कि भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने गृहीलिंग व पाखण्डीलिंग इन दोनों लिंगों का व्याख्यान करते हुए क्यों कहा है कि ये मोक्ष के कारण नहीं हैं, इसलिए इनसे ममत्व का त्याग करो। शिष्य का प्रश्न है कि यदि ये मोक्ष के कारण नहीं हैं, तो इनको क्यों धारण किया? यथार्थ ये है कि रत्नत्रय जो है, वह आत्मपरिणति है। जो

भी साधना है, कायोत्सर्गपूर्वक है। णमोकार मंत्र भी पढ़ना है तो कायोत्सर्गपूर्वक पढ़िए। कायोत्सर्ग अर्थात् शरीर से ममत्व छोड़करके, काय का उत्सर्ग करके। उत्सर्ग का तात्पर्य काय का नाश करना नहीं है। कायोत्सर्ग से तात्पर्य आत्महत्या नहीं है। निज शरीर से ममत्व का त्याग है। ज्ञानीजीव रत्नत्रय की आराधना भी कायोत्सर्गपूर्वक करता है।

रत्नत्रय द्रव्यलिंग है, द्रव्यलिंग देहाश्रित है। देह के उत्सर्ग से लिंग का भी उत्सर्ग समझना, परंतु यहाँ लिंग के उत्सर्ग का तात्पर्य लिंग को छोड़ना नहीं है, लिंग से ममत्व को छोड़ना है। द्रव्यलिंग– गृहीलिंग, पाखण्डीलिंग लिंग त्याग से तात्पर्य लिंग से ममत्व का त्याग है। ज्ञानी! मुनि बनकर ही मोक्ष जाया जाता है, मुनि पद छोड़कर नहीं। यदि कोई ४१४ नंबर की गाथा पढ़कर ये माने कि पहले मुनि बनो, फिर मुनि पद छोड़ो, ऐसा नहीं है। द्रव्यलिंग स्वीकार करके व्यवहार से निश्चय रत्नत्रय में प्रवेश करेगा तो द्रव्यलिंग से ममत्व स्वयमेव छूटेगा। अत: बार–बार यह कहा जा रहा है कि ऐसा न सोचे कि मैंने लिंग धारण करके धर्म को स्वीकार कर लिया। उसके आगे रत्नत्रय की अनुभूति पर लक्ष्य ही नहीं गया। परमार्थ दृष्टि से शून्य होकरके मात्र द्रव्यभेष में पूरा जीवन व्यतीत कर दिया और कहने की भाषा में आ रहा है कि मैं पण्डितमरण की साधना कर रहा हूँ, लेकिन तुम बाल–पण्डित मरण में भी नहीं पहुँचे, बाल–बाल मरण ही कर बैठे। देह की साधना को तुमने आत्मसाधना मान लिया। इसलिए बार–बार कह रहे हैं कि अन्य भेषों से विरक्त होकर कहीं जिनमुद्रा में आसक्त तो नहीं हो गए? ऐसा भी होता है। इस मुद्रा में तीव्र राग और आर्त्त की मंदता में कहीं मरण हो गया तो व्यंतर बन सकता है, देव दुर्गति को प्राप्त हो सकता है।

जो जीव अरिहंत मुद्रा को धारण करके आसुरी वृत्ति से युक्त होकर जीवन जीता है, उस जीव को इस प्रकार के व्यंतर आदि में जन्म लेना पड़ता है। जीवन में धर्म के क्षेत्र में आकरके आसुरी आदि प्रवृत्तियों का प्रयोग मत करना। आसुरी वृत्ति का तात्पर्य यह है कि हम अन्य गुरुभाइयों की चुगली गुरु से करते रहें। उनको प्रताड़ित करने के भाव हो रहे हैं। हे मुनि! यह तेरी आसुरी वृत्ति है। कुचेष्ठापूर्वक हासविलास की दृष्टि रहे, ये कन्दर्पकौत्कुच्य दृष्टि है। हास्यभाषण आदि करना, ये कन्दर्प वृत्ति है। कुचेष्ठापूर्वक हास्यभाषा का प्रयोग करना, कौत्कुच्य वृत्ति है। ऐसा करने से मंद कषाय से मरण हो भी गया तो भवनत्रय में जन्म लेना पड़ता है। 'भगवती आराधना' में भवनत्रय में जन्म लेने को देवदुर्गति कहा है।

आचार्य महाराज बार–बार समझा रहे हैं। देहभूत लिंग पर राग मत करो। इसका तात्पर्य ये

न समझ बैठना कि धारण किए व्रतों को छोड़ देना। यदि धारण किए व्रतों को छोड़ देगा, जब द्रव्यलिंग ही नहीं बचेगा तो भावलिंग कहाँ प्रकट होगा? **'हे भगवन्' भावलिङ्गे सति बहिरङ्गेद्रव्यलिङ्गं भवतीति नियमो नास्ति।'** हे भगवन्! भावलिंग होने पर बहिरंग में द्रव्यलिंग का होना, ये नियम नहीं है। **साहारणासाहारणेत्यादि वचनादिति?** मूल गाथा में ऐसे कहा है– **परिहारमाह कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढ़स्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं।** कोई दिगम्बर मुनिराज, द्रव्यलिंग से युक्त भावलिंग, ध्यान में आरूढ़ थे, विराजते थे, उन मुनिराज के ऊपर किसी दुष्ट प्राणी ने दुष्टभाव से युक्त होकरके कपड़ा डाल दिया। **'आभरणादिकं वा कृतं तथाप्यसौ निर्ग्रन्थ एव'** और उन पर सुंदर आभूषणादि पहना दिए, हार पहना दिए, वो तो ध्यान में थे, ऐसा होने पर भी वो निर्ग्रंथ ही हैं, भावलिंगी ही हैं। कहीं ऐसा मत मान बैठना कि कोई मुनिराज बैठे थे ध्यानारूढ़, किसी व्यक्ति ने कपड़ा डाल दिया, चादर उढ़ा दिया, यदि उपसर्गकृत है तो यह मत कह देना कि उनका मुनिपना नष्ट हो गया। उन्होंने बुद्धिपूर्वक वस्त्रों को स्वीकार नहीं किया है, वह तो किसी ने डाल दिया है और उसकी ध्यान दशा, उनका भावलिंग ही है। लेकिन व्यवहार से तो ऊपर से दिखेगा द्रव्यलिंग है ही नहीं तो भावलिंग कैसा? यहाँ द्रव्यलिंग भी है और भावलिंग भी है, दिखे अथवा न दिखे।

ज्ञानी! यदि मुनिराज के ऊपर शीतकाल में किसी ने कपड़ा डाल दिया, इनके मन में भाव आ गया कि ठीक किया, उस समय द्रव्यलिंग बचेगा क्या? भावलिंग बचेगा क्या? आप विहार कर रहे थे, अचानक बारिश होने लग गई, तब भी आपका अस्नान व्रत ही रहेगा। कहीं तुम्हारे मन में भाव आ गए कि अच्छा हुआ, बरसों से नहाया नहीं था, आज स्नान करने को मिल गया, तो आपका अस्नान व्रत भंग हो गया। अतिचार नहीं लगा। अतिचार वहीं तक था कि पानी गिर रहा था उसका बुद्धिपूर्वक अच्छे परिणाम से प्रायश्चित्त कर लेते।

एक जीव आहार ले रहा है, सहज भाव से श्रावक ने बहुत अच्छे से आहार कराए। सहज भाव से आप लेकर आ गए। आपकी एषणा समिति का पालन हुआ है, कर्मों की निर्जरा हो रही थी और उसी समय (आहार लेते समय) भाव आ जाए कि कैसा श्रावक है, सड़ा–गला बनाकर रख देता है। तो आपको धूम्र अंगार नाम का दोष लग गया। यहाँ धूम्र और अंगार से तात्पर्य धुआँ और अग्नि नहीं है। जो तुम्हारे परिणामों में भाव आ रहे हैं कि क्या सड़ा–गला बनाकर रख लेता है और पड़गाहन करने आ जाता है, ऐसे अशुभ भाव तुम्हारे मन में आ रहे हैं तो धूम और कलुषता बढ़ गई है। चौका तो ऐसा होना चाहिए, तुम्हारे भीतर राग का अंगारा भरा है। ये व्याख्या 'मूलाचार'

जी में है। अब सोचिए, आप प्रतिक्षण अपने परिणामों को कैसे सँभाल रहे हैं? एक यति आहार लेते–लेते कर्म की निर्जरा कर रहा है और एक जीव बंध कर रहा है।

द्रव्यक्रिया सदृश्य दिख रही है, भावों की दशा तुमको असदृश कर रही है। द्रव्यक्रिया से बाहर की पूजा बराबर हो रही है। द्रव्य की क्रिया से बाहर की पूज्यता बराबर है, लेकिन भावों की क्रिया से पूज्यता भिन्न हो रही है। **पर से पूजा प्राप्त करने के लिए मात्र भेष बनाना पड़ता है और निज से पूजा चाहिए तो भाव बनाना पड़ते हैं।** किसी से मत पूछो कि मैं कैसा हूँ। वो जो भी बताएगा मात्र शरीर की बाहर की चेष्टाओं को बताएगा; परंतु भाव कैसे हैं, ये तू अपने बारे में बहुत अच्छे से जानता है कि मेरे में ममत्वधारा, रागधारा क्या चल रही है। बाहर की चेष्टाएँ तो एक–सी हो सकती हैं, पर जिन जीवों की अंतरंग की चेष्टाएँ विशुद्धिभूत, एकत्वभूत होंगी, तभी निर्वाण की प्राप्ति होगी।

कस्मात्? इति चेत, बुद्धिपूर्वक ममत्वाभावात्। आवरण करने पर भी निर्ग्रंथ हैं कैसे? ऐसा प्रश्न करने पर कहते हैं कि बुद्धिपूर्वक ममत्व का अभाव किया है। कोई योगी ध्यानस्थ बैठे थे, अचानक कोई रागी आया और सिंदूर से माथे पर टीका कर दिया। भइया! आपको टीका लगे महाराज तो दिख रहे हैं, वहाँ और–कोई भी नहीं था। आप नमोस्तु करेंगे कि नहीं? करेंगे। कहीं ऐसा मत कह बैठना कि वे तो टीका लगाए थे। वीतराग मुनि धर्म इतना ढीला नहीं है कि दूसरे के टीका लगाने से उनके भाव नष्ट हो जाएँ।

ज्ञानी! अरिहंत प्रतिमा है, वीतरागी प्रतिमा है, उनके पाँवों में चंदनादि कुछ लगा है तो आप उसको देखकर अशुभ भाव मत लाना। दक्षिण भारत में परंपरा है, अत: आप नमोऽस्तु करना। श्वेताम्बर जिनालयों को किंचित् भी नहीं पूजना। एक प्रतिष्ठाचार्य से प्रश्न किया कि पंचकल्याणक में आप सराग पूजा करते हो कि वीतराग? तो बोले मैं तो वीतराग पूजा करता हूँ। पण्डितजी थोड़ा विचार करो, पूरी क्रिया सराग की कर रहे हो और मुख से बोल रहे हो कि मैं वीतराग की पूजा करता हूँ। **दिगम्बर परंपरा में सराग और वीतराग दोनों पूजा स्वीकार हैं। श्वेतांबर परंपरा में मात्र सराग पूजा है। यहाँ सराग से तात्पर्य कोई सरागी देवी–देवताओं की पूजा की, सरागता की पुष्टि नहीं है, उनका तो निषेध ही है। यहाँ सराग पूजा से तात्पर्य वो सराग पूजा द्वैतभूत है छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि की पूजा।तुम सराग संयम की पूजा कर रहे हो।** छठवें के आगे वीतराग संयम की पूजा कर रहे हो एक अपेक्षा से। दूसरी अपेक्षा तीर्थंकर के साथ गर्भ, जन्म कल्याणक में उस समय भगवान् वीतरागी हैं कि सरागी? यहाँ भाव निक्षेप लगाने की आवश्यकता

है। सराग पूजा से तात्पर्य गर्भकल्याणक की जो पूजा है वो भावी नय पूजा नहीं है, ये भाव नय करने के लिए पूजा है। अन्यथा आप ऐसा कहने लगो कि मैं तो भावी नय से भगवान् को देखता हूँ, तो तुम्हारे दो कल्याणक अपूज्य हो जाएँगे।

वर्तमान में लोग जो शांति अष्टक, शांति पाठ पढ़ते हैं वो इस छंद 'हार मुकुट किरीट...' का अर्थ यह करते हैं कि सौधर्म इंद्र हार, मुकुट, किरीट आदि पहनके भगवान् की भक्ति करता है। जबकि इसका सम्यक् अर्थ ये है कि हे जिनदेव! जब आपका जन्मकल्याणक मना तब शक्र (इंद्र) के द्वारा आपको हार, मुकुट, किरीट वस्त्र आदि के द्वारा सुसज्जित करके प्रतिष्ठित किया गया था। इसका तात्पर्य ये मत समझना कि मंदिरजी में जो प्रतिष्ठित प्रतिमा है उसको हार मुकुट पहना देना। ये जन्मकल्याणक के समय की पूजा है। हेतु समझिए। जैसा–जैसा कारण है वैसा–वैसा कार्य है और जैसा–जैसा कार्य है, वैसा–वैसा कारण है। इतना विवेक होना चाहिए। इसलिए हम लोग सराग पूजा भी करते हैं, वीतराग पूजा भी करते हैं। तप कल्याणक ये वीतराग पूजा ही है स्यात्। स्यात् शब्द इसलिए लगाया है कि तप कल्याणक से वीतराग पूजा ही है,सप्तम गुणस्थान में प्रवेश किया है सो वीतराग पूजा है, परंतु छठवें गुणस्थान में आएँगे तो सराग ही होंगे।

जब तुम्हारे घर में आहार लेने आए थे, आहार का विकल्प था महाराज के तब सराग थे। सप्तम गुणस्थान में आहार संज्ञा नहीं होती करणानुयोग से। भैया बड़े विवेक से निर्णय करना कि कोई मुनिराज ध्यानस्थ थे और किसी ने वस्त्र डाल दिया तो तुम ये मत कह बैठना कि अब वे मुनि बचे नहीं हैं। वस्त्र उन्होंने ओढ़ा नहीं है, ओढ़ा दिया गया है। **कस्मात्? 'इति चेत् बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पाण्डवादिवत्।'** आचार्य महाराज दृष्टांत देते हुए कह रहे हैं 'पाण्डवों के समान। युद्धिष्ठर आदि पाँच पाण्डव मुनिराज ध्यानस्थ खड़े थे तो उनको गरम लोहे के आभूषण पहना दिए। उस समय वे वीतरागी थे कि सरागी? उस समय वीतरागी ही थे। उन्होंने उन आभूषणों को धारण नहीं किया था। वह तो उपसर्ग किया गया था। यदि वो वीतरागी नहीं होते, सरागी होते, तो पाँच में से तीन निर्वाण और दो सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त कैसे होते? सर्वार्थसिद्धि जाने वाला जीव द्रव्यलिंगी मात्र नहीं होता। सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त करने वाला मुनि नियम से उत्कृष्ट ध्याता होता है। उपशम, क्षपक श्रेणी के आरोहण के बिना सर्वार्थसिद्धि का देव नहीं हो सकता, एक भवातारी। लोग ये कह देते हैं कि विकल्प था, ये भिन्न विषय है, पर यथार्थ में उपशम व क्षपक श्रेणी का आरोहण किया, वहाँ से पतित होकरके सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुआ। उपशम श्रेणी का आरोहण किया। सर्वार्थसिद्धि (३३ सागर आयु) में जाने वाला जीव इस विकल्प में नहीं होगा कि मेरे भाइयों

का क्या होगा?

नकुल, सहदेव के मन में विकल्प आ रहे थे। इन विकल्प परिणामों के कारण जीव क्षपक श्रेणी का आरोहण करके मोहनीय कर्म का क्षय नहीं कर पाया। जो सूक्ष्म परिणाम चल रहे थे वो नीचे लाए, न कि इतने स्थूल परिणाम चल रहे थे। दृष्टांत है, ठीक है, लेकिन विचारणीय है कि सर्वार्थसिद्धि जाने वाला जीव इतने स्थूल विकल्पों में प्रवेश नहीं कर सकता। उसका कारण समझो। कर्म की प्रकृतियाँ निंबू, कांजी, विष, हलाहल, गुड़, खांड, शक्कर, मिश्री अथवा खांड, शक्कर, मिश्री, अमृत। पाप प्रकृतियाँ ऐसी हैं और पुण्य प्रकृतियाँ ऐसी हैं। आपके घर में मिट्टी का ढेर लगा था, बगल में गुड़ का गोदाम था। बारिश से गोदाम की दीवाल गिर गई और ढेर–सा गुड़ मिट्टी से कई गुणा, आकर मिट्टी में मिल गया। मिट्टी मीठा स्वाद देने लग गई। क्या आप मिट्टी, पत्थर नहीं खाते हो? चक्की में जो गेहूँ पिसता है, आटा बनता है, उसके पत्थर को बार–बार टाँकना पड़ता है। क्योंकि पत्थर घिस जाता है तो घिसकर आटे में मिल जाता है। आटा अधिक होने के कारण आप यह नहीं कह पाते हो कि मुझे पत्थर भी खिलाया गया।

आपने ३३ सागर शब्द का प्रयोग कर लिया, लेकिन स्वर्ग और नरक दो शब्दों का प्रयोग और करना था। वे ऐसे पुण्य में लीन थे, ऐसे सुख में लीन थे। शुद्धोपयोग होगा तब भी पुण्यास्रव होगा, शुभोपयोग होगा तब भी पुण्यास्रव होगा। शुभोपयोग के काल में कदाचित् किंचित् अशुभ आस्रव हो सकता है क्रियावश, लेकिन कहा नहीं जाता। आप कहें न, इसका मतलब ये नहीं है कि होगा नहीं। पानी लेकर आप आए हो, उससे श्रीजी का अभिषेक किया है, वो सावद्य था कि नहीं? आप द्रव्य चढ़ा रहे हो, योग प्रवृत्ति चल रही है, सावद्य तो था, तद्जन्य अशुभ आस्रव होता है। लेकिन भावों की इतनी प्रकृष्ट–उत्कृष्ट भक्ति और विशुद्धि होती है कि वो तुम्हारा पाप–आस्रव पुण्यरूप में ही फलित होता है।

जब शुभ क्रिया में अशुभ आस्रव होता है तो अशुभ क्रिया में भी शुभ आस्रव होता है कषाय के मंदोदय से। परंतु अशुभ के साथ इतना नियोग होता है कि वह शुभ भी अशुभ में ही संक्रमित हो जाता है, इसलिए उसकी प्रधानता नहीं है। इसी प्रकार से सहदेव आदि मुनिराज शुक्लध्यान में थे उस समय तीव्र पुण्य का आस्रव हो रहा था, उस पुण्यकर्म के आस्रव से उत्कृष्ट आयु की स्थिति का बंध किया। उत्कृष्ट आयु का स्थिति बंध पुण्य के साथ करेंगे तो नरक की नहीं, स्वर्ग की करेंगे। इसलिए उनको पुण्य के द्रव्य से ३३ सागर में जाना पड़ा। ये संसार की अपेक्षा से दु:खभूत है। संसार सुख की अपेक्षा से दु:ख भूत नहीं है। संसार बंध की अपेक्षा से दु:खभूत है। बंध के दो भेद

हैं शुभ बंध, अशुभ बंध। ये अशुभ बंध नहीं था, ये शुभ बंध था।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः।।

(२२० पु.सि.)

रत्नत्रय तो मोक्ष का ही कारण है। आप कहें कि पंचमकाल के मुनि मोक्ष क्यों नहीं जाते? चतुर्थकाल के मुनि भी स्वर्ग जाते देखे गए हैं, उनको तो मोक्ष ही जाना चाहिए था? भइया! रत्नत्रय द्वैत भूत है। समग्र रत्नत्रय और असमग्र रत्नत्रय। जब–तक समग्र रत्नत्रय नहीं होता, तब–तक शुभ आस्रव होता है और शुभास्रव शुभ उपयोग का अपराध है, उनको स्वर्ग में जाना पड़ता है, लेकिन शुद्ध रत्नत्रय तो मोक्ष ही ले जाएगा। यथाख्यात वाले तो पहले में भी आ जाते हैं। परम यथाख्यात वाले नियम से मोक्ष ही जाते हैं। इस प्रकार से समझना कि नकुल, सहदेव आदि को ३३ सागर के सर्वार्थसिद्धि में जाना पड़ा, ये शुभोपयोग की महिमा थी। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की महिमा थी। इसलिए रत्नत्रय से स्यात्। पर रत्नत्रय के साथ ही इतना उत्कृष्ट आस्रव होता है। स्यात् रत्नत्रय भी, सराग संयम भी आस्रव का कारण है।

जीव की अवस्था ढलती जाए और सरल होता जाए तो ये समाधि के लक्षण हैं। जीव की अवस्था ढलते जाए और वक्रता बढ़ती जाए, ये असमाधि के लक्षण हैं। जैसे–जैसे जीव की अवस्था ढलती गई और जिसने प्रशस्त आयु का बंध कर लिया है वह जीव नियम से अंतिम श्वास तक आगम की ही मानेगा, अनागम की मान ही नहीं सकता। जिस जीव का अशुभ आयु का बंध हो चुका है, वह आगम–आगम भले ही कहता रहे, लेकिन वो जीवन में आगम को नहीं मान पाएगा। 'मूलाचार' में वट्टकेर स्वामी ने स्पष्ट कथन किया है।

जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य।
असमाहिणा मरंते ते होंति अणंत संसारा।।७१।।

(मूलाचार)

लगता है एकल विहार की परंपरा इस गाथा के ज्ञान के अभाव में बढ़ी है। कोई गुरु अपने शिष्य को एकल विहार की अनुमति नहीं देता है। जो शिष्य गुरु के प्रतिकूल वृत्ति कर रहा है, उनको छोड़कर आया है। राग जिनका बढ़ा है। जिनसे संबंध नहीं था उनसे संबंध बन चुके हैं। पहले एक घर था, अब लाखों घरों में राग। एक घर को छोड़कर आया, भक्तों में तीव्र राग सता रहा है 'बहुमोहा'। तेरे भक्त, तेरे चेला, तेरी चेली। उसी राग और कषाय भाव से युक्त है। क्षण–क्षण

में आगबबूला हो रहा है। **जिसका शरीर तमतमा रहा है, उनके भाव कितने तमतमा रहे होंगे।** छिपकर के कहीं संयम का विघात कर रहे हो, सबल क्रियाओं से युक्त, ऐसे मुनि असमाधि को प्राप्त होते हैं। मुनि शब्द है, इसका अर्थ ये नहीं कि श्रावकों की व्याख्या नहीं है। ऐसी गलती श्रावक भी करेगा तो उनका भी अकुशल ही होता है।

जो श्रमण अरिहंतों के वचन में अनुरक्त है, गुरु की आज्ञा को भंग नहीं करता है, संयम का पालन निर्दोष करता है, कुशील सेवी नहीं है, ममत्व रहित है, ऐसे जीव का संसार शीघ्र समाप्त हो जाता है, इसलिए द्रव्य क्रिया को पालने के साथ–साथ भाव पर दृष्टि की आवश्यकता है। बहिरंग निमित्तों को लेकर अंतरंग बिगाड़ चुके हो तो बहिरंग मुक्ति कराने वाला नहीं है। इसलिए बाहर की वृत्ति देखकर कहीं आप अपने भावों को मत बिगाड़ लेना। **'पाण्डवादिवत्' येऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गला भरतचक्रवर्त्यादयस्तेऽपि निर्ग्रन्थरूपेणैव।** पाण्डव आदि दो घड़ी में मोक्ष चले गए, ऐसे भरत चक्रवर्ती आदि द्रव्यलिंग उनका निर्ग्रंथ दिगम्बर ही था।

निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग श्वेताम्बर आम्नाय में भी होता है। वस्त्रादि पकड़ा दिए तब भी निर्ग्रंथ ही बने रहे। उन्होंने आ उपसर्ग का प्रयोग करके, अचेलक किंचित् स्वीकार करके और कपड़े स्वीकार करके अपने आपको वीतरागी निर्ग्रंथ स्वीकार कर लिया, परंतु दिगम्बर परंपरा में अचेलक का अर्थ आ उपसर्ग से नहीं, नय से लगा रहे हैं। जिसमें जैनत्व नहीं है, वो अजैन। जिसमें ब्राह्मणत्व नहीं, वो अब्राह्मण। कोई चेल नहीं है, उसका नाम अचेलक है। ज्ञानी! दर्शन की सिद्धि के लिए नहीं, चरणानुयोग की सिद्धि के लिए भी आपको तत्त्व का निर्णय करने की क्षमता विकसित करनी ही पड़ेगी।

'परं किन्तु तेषां परिग्रहत्यागं लोका न जानन्ति।' उनके परिग्रह के त्याग को लोग नहीं जान पाए।

ज्ञानी कभी–कभी बोलता है कि मुझे जल्दी आना था, सो चलते–चलते दो रोटियाँ खाईं और बटन लगाते–लगाते आ गए। ये द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा कथन है। माँ क्या कर रही हो? भात बना रही हूँ। अभी तुम चावल बीन रही हो, भात कहाँ से बन गया? ये द्रव्य निक्षेप, भावी नैगम नय की अपेक्षा से कथन है। संपूर्ण नयों में सबसे विस्तृत भावी नैगम नय है। 'श्लोक वार्तिक' में इसका विस्तार से व्याख्यान हुआ है। 'नय विवरण' जो ग्रंथ निकला है, वो स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। 'श्लोक वार्तिक' में ७वें सूत्र की व्याख्या, प्रथम अध्याय में जो सात नयों की व्याख्या करने वाला सूत्र है वह 'नय विवरण' है।

जैसे कोई कार्य अति शीघ्र, हड़बड़ी में हो तो उसको गौण कर देते हैं। जैसे चलते–चलते रोटियाँ खाईं और यहाँ आ गया। ऐसा नहीं है। आपने बैठकरके थोड़े जल्दी से भोजन किया था, सो आपने ऐसा बोल दिया। जैसे कहते हैं भरत चक्रवर्ती घर में वैरागी, उनको कपड़े उतारते–उतारते कैवल्य हो गया। मेरे मित्र! कपड़े उतारते–उतारते कैवल्य हो गया तो पूरे उतर पाए थे कि नहीं? उतर पाए थे तो आधे कपड़े पहने हुए होंगे और केवली बनकर बैठ गए होंगे? **'स्तोककालत्वादिति भावार्थः।'** भरत चक्रवर्ती का इतने अल्पकाल में निर्वाण हो गया कि लोग उन्हें परिग्रह त्याग को जान नहीं पाए। **'एवं भावलिङ्गरहितानां द्रव्यलिङ्गमात्रं मोक्षकारणं न भवति'** इसी प्रकार से भावलिंग से रहित द्रव्यलिंग मात्र से मोक्ष नहीं होता। **'भावलिङ्गसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन त्रयोदशस्थले गाथासप्तकं गतम्।'** भावलिंग सहित द्रव्यलिंग सहकारी कारण होता है ये तेरह स्थल में सात गाथाएँ समाप्त हुईं। शिष्य अब यहाँ पुनः प्रश्न करता है **'केवलज्ञानं शुद्धं छद्मस्थज्ञानं पुनरशुद्धं।'** मुमुक्षु लोग इसी बात को बोलते रहते हैं, लेकिन निर्णय नहीं देते किसी को, पूरी बात नहीं बोलते। बोले शुद्ध का आश्रय लेंगे तभी तो शुद्ध होंगे। ज्ञानी कहने लगे कि शुद्धात्मा तो केवलज्ञान का विषय है। भाई! शुद्धात्मा केवलज्ञान मात्र का विषय नहीं है। ये श्रुतज्ञान की महिमा है कि जो विषय केवलज्ञान का बनता है उसे श्रुतज्ञान भी अपना विषय बनाता है, पर अंतर इतना है कि एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष बनाता है।

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्तत्वन्यतमं भवेत्।।

(१०५ आ.मी.)

संपूर्ण तत्त्वों को प्रकट करने में दो ही ज्ञान समर्थ हैं स्याद्वाद ज्ञान, केवलज्ञान। स्याद्वाद यानि शुद्ध ज्ञान, लेकिन प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष का भेद है। द्रव्य की संपूर्ण गुण–पर्यायों को विषय करता है केवलज्ञान। कुछ द्रव्यों की कुछ पर्यायों को विषय करता है श्रुतज्ञान, लेकिन करता है। श्रुतज्ञान मूर्तिक द्रव्यों को नहीं, अमूर्तिक द्रव्यों को भी जानता है। ये ताकत मनःपर्यय, अवधिज्ञान में नहीं है। अवधि, मनःपर्यय ज्ञान का विषय रूपी है। उस रूपी के अनंतवें भाग को मनःपर्यय ज्ञान विषय करता है, लेकिन श्रुतज्ञान संपूर्ण द्रव्यों की पर्यायों को विषय करता है। श्रुतज्ञान जो है परोक्ष रूप में करता है। यदि आप श्रुतज्ञान को संपूर्ण द्रव्यों का विषय नहीं बनाओगे तो अणु परमाणु की व्याख्या कैसे करोगे? द्रव्य चार हैं। मूर्तिक, अमूर्तिक, स्यात् मूर्तिक, स्यात् अमूर्तिक। जीवद्रव्य स्यात् मूर्तिक, स्यात् अमूर्तिक। पुद्गलद्रव्य मूर्तिक हैं। इन सबकी व्याख्या कैसे करोगे? द्रव्य पर्याय

के परिणमन की आप व्याख्या कर लेते हो, अर्थ पर्याय के परिणमन की भी व्याख्या कर लेते हो। स्पष्ट लिख दिया कि 'आगम प्रमाण:' आगम के प्रमाण से ही आप जान सकते हो, वैसे नहीं जान सकते हो। श्रुतज्ञान से ही जान सकते हो।

सामने मंदिर है, पर दर्शन करने नहीं जा रहा, क्योंकि कमेटी नहीं आ रही है। भइया! हमें भगवान् के दर्शन करना है, कमेटी से क्या लेना–देना? 'ये बात आपकी जम नहीं रही।' जमे या न जमे, लेकिन जमा लो, यही सत्य है। 'डाल दो जामन लघुता का मार्दव आर्जव धर्म का।'

अपरिचित होकर विचरण करने में बड़ा आनंद आता है, इस अनुभूति को भी लो। एक बार बड़ा मलहरा से विहार किया, बड़ा मलहरा वालों ने एक गाँव में छोड़ दिया, वहाँ आहार चर्या हुई। गाँव वालों ने थोड़ी दूर छोड़ दिया, जंगल का रास्ता था। अपरिचित की यही दशा होती है, पूछ की पूछ होती है। एक बालक कहीं से साइकिल से जा रहा था, उसने प्रणाम करके पूछा 'महाराज! आपको कहाँ जाना है?' मैंने पूछा ज्ञानी! तू ही बता, ये रास्ता कहाँ का है? ये रास्ता तो छतरपुर का है। हमें छतरपुर ही जाना है। वह बालक साइकिल से वापस गाँव गया और गाँव से चार व्यक्तियों को भेजा। वे लिवा लाए और यहाँ 'छहढाला' वाचना की स्थापना हुई। जहाँ वह बालक मिला था, वहाँ बैठकर मैं बोलता कि तुम्हारी समाज कैसी है? क्या उसे पता नहीं चला था? मैं यहीं बैठा रहूँगा, विहार नहीं करूँगा। ज्ञानी! इससे तुम्हें क्या मिलने वाला है? विहार करना उनका धर्म नहीं है, विहार करना आपका धर्म है। कोई कहे कि कोई कमंडलु पकड़ने वाला नहीं है। महाराज! जब दीक्षा हुई थी तो ये नियम आपका था। कमंडलु आपने ग्रहण किया था, कोई श्रावक ने नहीं किया था। वो तो भक्ति से पकड़ लेता है, लेकिन पकड़ना तो आपको ही चाहिए। यहाँ कोई दास प्रथा नहीं है। हे श्रमण! कभी कोई लेने नहीं आए तब भी पहुँच जाना, कभी कोई छोड़ने नहीं जाए तब भी चले जाना, लेकिन मन में खिन्नता नहीं लाना। तब ही तुम मुनि–जैसी चर्या का आनंद लूट पाओगे, अन्यथा तुम्हारे अंदर यही भाव रहेगा कि हम वहाँ जाएँगे तो कोई लेने आएगा कि नहीं, छोड़ने जाएगा कि नहीं?

ज्ञानी! ऊपर से उतरने के साथ भीतर उतरना पड़ेगा। ये मत कहना कि ये व्याख्या आज के युग के लिए नहीं है। वास्तव में आज के युग के लिए है, हर युग के लिए है। कोई बुला ले तो ठीक, कोई भगा दे तो ठीक। घर तो उनका है, आपका नहीं। पिच्छी, कमंडलु, दिगम्बर भेष चर्या हमने पर के लिए स्वीकार नहीं की है। ये हमने स्वयं के लिए स्वीकार की है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि केवलज्ञान शुद्ध है। जो छद्मस्थ का ज्ञान है, वो अशुद्ध है।

'शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारणं न भवति' अशुद्ध ज्ञान केवलज्ञान का कारण कैसे हो सकता है? **'सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो इति वचनात् इति?'** जो शुद्ध को जानता है वही शुद्धात्मा को प्राप्त करता है, इस प्रकार से वचन हो। शुद्ध का आश्रय लेने से शुद्ध की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान शुद्ध है, मति–श्रुतज्ञान अशुद्ध हैं। तो अशुद्ध ज्ञान से शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति कैसे? नैवं ऐसा नहीं। **'छद्मस्थज्ञानस्य कथचिच्छुद्धा शुद्धत्वं'** छद्मस्थ का ज्ञान कथंचित् शुद्ध हैं कथंचित् अशुद्ध है। **'तद्यथा– यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धं न भवति'** यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा शुद्ध नहीं है **'तथापि'** फिर भी **'मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्त्व चारित्रसहितत्वेन च शुद्धं'** मिथ्यात्व रागादि से रहित होने पर वीतराग सम्यक् चारित्र की सहितता से तो शुद्ध है। **'अभेदनयेन पुनः छद्मस्थानां संबन्धि भेदज्ञानमात्मस्वरूपमेव ततः कारणात्तेनैकदेशव्यक्तिरूपेणापि सकलव्यक्तिरूपं केवलज्ञान जायते, नास्तिदोषः'** अभेद नय से छद्मस्थ संबंधी भेदज्ञान तो आत्मस्वरूप ही है। उसका कारण होने से एकदेश व्यक्त रूप से सकलदेश व्यक्त रूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, इसमें कोई दोष नहीं है।

ज्ञानी! आप कर्मनिरपेक्ष होकर निहारिए। कर्म तो पौद्गलिक धारा है, परंतु जो पुद्गल पिंड से रहित होकर अपनी दृष्टि में देखेगा तो तेरा मति–श्रुतज्ञान भी आत्मा में ही आत्मा का अनवरत भूत है। अंतरज्ञानभाव बहिर्ज्ञान का भाव नहीं है। इसलिए मतिज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है, श्रुतज्ञान आत्मा का गुण नहीं है। मनःपर्यय ज्ञान, अवधिज्ञान आत्मा का गुण नहीं है। केवलज्ञान भी आत्मा का गुण नहीं है। आत्मा का गुण तो मात्र ज्ञायकभाव है, ज्ञान सामान्य है। ये पाँच ज्ञान ज्ञानगुण की पर्याय हैं। जो ज्ञायकभाव है, वो किसमें है? आत्मा में ही है, आत्मा का ही है। मति–श्रुतज्ञान आदि वो आत्मा में हैं कि नहीं? **'ज्ञानमेवं आत्मा'** ज्ञान ही आत्मा है। गुण–गुणी में अभेद दृष्टि।

अनेक स्वभावों के मध्य कोई परमस्वभाव है, वो क्या है? ज्ञान है। इसे भी जानना, समझना, पहचानना पड़ेगा, तभी जान सकेंगे। मैं आत्मा को आत्मा से जानता हूँ।

आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

उत्थानिका : समयसार ग्रंथ को पढ़ने का महत्त्व।

गाथा :

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

संस्कृत छाया :

यः समयप्राभृतमिंद पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यम्।।४१५।।

अन्वयार्थ : (यः चेतयिता) जो चेतयिता पुरुष–भव्यजीव **(इदं समयप्राभृतं पठित्वा)** इस समय प्राभृत को पढ़कर **(अर्थतत्त्वतः ज्ञात्वा)** अर्थ से और तत्त्व से जानकर **(अर्थे स्थास्यति)** इसके अर्थ में ठहरेगा **(सः)** वह **(उत्तम सौख्यं भविष्यति)** उत्तम सुखस्वरूप होगा।

समय देशना

भव्य बंधुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार जी में ध्रुवज्ञायकस्वभावी भगवान्– आत्मा के सहजस्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। त्रैकालिक, चिद्पिंड स्वरूप, परमब्रह्म, ध्रुव आत्मद्रव्य की प्ररूपणा करने वाला यह अलौकिक ग्रंथ 'समयसार' जी है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने भगवान् सीमंधर स्वामी से प्राप्त परम तत्त्वज्ञान को उद्घाटित किया है। वर्द्धमान स्वामी की परंपरा में आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली स्वामी की परंपरा में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयपाहुड अलौकिक ग्रंथ का सृजन करके अध्यात्म–परंपरा को जीवंत रखा। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने द्वितीय श्रुतस्कंध पर कार्य किया है। उनके अनंत उपकारों को कभी भुलाया नहीं जा सकता है।

आचार्य धरसेन स्वामी, पुष्पदंत–भूतबली स्वामी जहाँ सिद्धांत के नाम से पूज्यता को प्राप्त होते हैं, वहाँ आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अध्यात्मविद्या में पूज्यता को प्राप्त हैं। ये आचार्यों का हम पर वरदान है, ये हम समझ नहीं पाए तो हमारी कृतघ्नता होगी। परम समरसी भाव से युक्त अपने

समय से समय निकालकर इन्होंने समय को प्रदान किया तब समयसार ग्रंथ प्राप्त हुआ।

ज्ञानियो! आज समयसार ग्रंथ की अंतिम गाथा है। बोर्डिंग मंदिर, जबलपुर के भगवान् आदिनाथ जयवंत हों जिनकी पावन निश्रा में, चरणों में ये ग्रंथ प्रारंभ हुआ था। जयवंत हों छतरपुर के मंदिर में विराजमान भगवान् आदिनाथ, जिनकी पावन चरण–निश्रा में अंतिम गाथा पूर्ण हो रही है। नियोग देखो, उधर भी आदिनाथ स्वामी और उधर भी आदिनाथ स्वामी हैं। भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी जब इस गाथा को लिख रहे होंगे तो वो भी कितने आनंदित हो रहे होंगे कि आज यह ग्रंथ पूर्णता को प्राप्त हो रहा है। आदि मंगल, मध्य मंगल, अंत मंगल। त्रिविध मंगल की व्याख्या में ये अंत मंगल है। विद्या और विद्या के फल की प्राप्ति का जो मंगल है, वह अंत मंगल है। कार्य निर्विघ्न पूर्ण हो, इसलिए प्रारंभ मंगल है और मध्य में कोई अशुभ न घटे इसलिए मध्य मंगल है और विद्या का फल प्राप्त हो ये अंत मंगल है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने इस गाथा में समयसार का पूर्ण सारभूत कथन कर दिया है। अमृतचंद्र स्वामी ने इसकी टीका में अपने शब्दब्रह्म की पूरी शक्ति को उड़ेल दिया है। यदि अमृतचंद्र स्वामी इस ग्रंथ पर टीका न लिखते तो जैसे हजार वर्ष तक पूर्व में रखा रहा ऐसे ही छिपा रहता। जयसेन स्वामी टीका न लिखते तो अमृतचंद्र स्वामी की गूढ़ता को लोग समझ नहीं पाते। जैसे कुन्दकुन्द स्वामी के उपकारों को नहीं भूल सकते, वैसे–ही अमृतचंद्र स्वामी, जयसेन स्वामी के उपकारों को नहीं भूलना चाहिए।

भगवान् आत्मा की धारा का व्याख्यान करनेवाली ये जिनवाणी है। **प्रत्येक ग्रंथ में आनंद है, पर आनंद को उद्घाटित करने की सामर्थ्य अपने भीतर आना चाहिए।** आचार्यभगवन् इस अंतिम गाथा में बड़े मनोयोग से कह रहे हैं कि इस तत्त्वविद्या को समझ करके, अंतस् में बैठ करके, जब तू निज का अवलोकन करेगा, तब मालूम चलेगा कि शब्दब्रह्म जो है वो आत्मब्रह्म को कैसे स्पर्श कराता है। उच्चारण के काल में भी तरंगें उद्घाटित होती हैं। शब्द के उच्चारण में तरंगों के उद्घाटित होने से वनस्पति भी विकसित होने लगती है, पुष्प व फल विकसित होने लगते हैं। वीतरागी भावलिंगी दिगम्बर तपोधन के नगर में प्रवेश करते ही सूखे सरोवर भर गए, सूखे वृक्ष पुष्पित व फलित हो गए। ये उन योगियों के अंतस् की तप धाराओं, पुण्य वर्गणाओं का प्रभाव हुआ करता था कि सूखे वृक्ष फलित होते थे। जिसमें वर्गणाएँ भरी हुई हैं, उसमें वर्गणावान का प्रभाव कितना होगा?

शब्द सुनते– सुनते ये अनुभव में आता है कि एक क्षण में चेहरा उतान होता है, एक क्षण

में चेहरा वितान होता है। शब्द सुनते–सुनते भाव बदलते हैं। **उसे ही सुनना जिससे भाव बदलें और वैसे ही भाव बदलना जिससे भव बदल जाए। जीव पहले भवातीत नहीं होता, पहले भावातीत होता है। भवातीत होना है तो भावातीत हो जाओ।** संसार की संतति को विराम देना है तो परिणामों की संतति को विराम दे दो। आनंदित होना है तो अशुभ विचारों को विराम दे दो। भव का नाश करना है तो अशुभ भावों को विराम दे दो।

मोक्ष तो सहज दशा है। गरम तवे पर पानी की बूँद डाल दो और शांति से बैठ जाओ। कुछ नहीं करना पड़ेगा, बूँद वाष्पित होकरके स्वयं पानी पर्याय को समाप्त कर लेगी। तवा ही तप जाए तो बूँद अपने आप समाप्त हो जाएगी। ध्यान–अग्नि जला लो, आत्मा को तपा लो, कर्म अपने आप विलीन हो जाएँगे। कर्म विलीन करने के लिए तवा गरम करो। **किसी को अपना बनाने की चेष्टा मत करो। अपने में खो जाओ, सारा जगत् आपका हो जाएगा। विश्वास करो।**

आप महावीर को अपना नहीं मानते क्या? यदि सिद्धार्थ के बेटे को देखोगे तो मात्र सिद्धार्थ का ही होगा। त्रिशला के तनुज मानोगे तो मात्र त्रिशला के ही होंगे। यदि वर्द्धमान अपने को कुंडलपुर के राजा सिद्धार्थ के बेटे मानते रहते तो पूज्य नहीं होते। उन्होंने अपनों को मानना बंद कर दिया, अपने को मानना प्रारंभ कर दिया, इसलिए वे जगत् के हो गए। **जिन–जिन को सारे विश्व का बनना हो वे अपनों को अपना मानना बंद कर दो।** आप भी उन्हीं को आहार देते हो जो अपनों को अपना नहीं मानते। जो अपनों को अपना मानते हैं, उनको भोजन करा देते हो, कभी आहार नहीं देते। आहार लेने की मुद्रा वाले भी अपनों को अपना मानने लग जाएँ रागवश, तो उनको आहार देने में वो आनंद नहीं आता। ऐसा नहीं है क्या? ऐसा ही है।

जिनदीक्षा को प्राप्त कर साधक पुन: घर–गृहस्थी के लोगों में मोहित होता है तो देखने वालों को भी देखना अच्छा नहीं लगता है। कारण क्या है? दर्पण किसी के चेहरे को नहीं बिगाड़ता, पर किसी के चेहरे को अच्छा भी नहीं करता। जैसा होता है, वैसा दिखाता है। समाज कभी साधु को बिगाड़ती नहीं है, समाज कभी साधु को सुधारती नहीं है। समाज साधु के लिए दर्पण है। जैसे साधु होते हैं, वैसा वो देखते हैं। दर्पण में तो चेहरा प्रतिबिम्बित होता है। दर्पण किसी के चेहरे को न गोरा करता है, न काला करता है। जैसा होता है, वैसा प्रतिबिम्बित करता है। इसी प्रकार से जगत् की आस्थाएँ हैं वो किसी को बिगाड़ती या सुधारती नहीं हैं। व्यक्ति का सुधार या बिगाड़ स्वाधीन है। जगत् की आँखें तो देखती हैं कि कैसा है। ये आपका विषय है कि आप दर्पण में चेहरा कैसा दिखाना चाहते हो। ये बहिरंग है। अब आइये अंतरंग की ओर। जगत् की आँखें मात्र तुम्हारे बहिरंग

को देख रही हैं, परंतु परमात्मा का कैवल्य नेत्र और आपकी निज की अनुभूति आपके अंतरंग रंग को देख रही है।

रंगमंच पर जो नाटक दिखता है उसको नेत्रों से देखने पर परिणामों में उतार–चढ़ाव आता है। रंगमंच पर देखने में गद्गद् भाव आता है। ज्ञानी! देहयोगजन्य क्रिया को रंगमंच पर तूने अनंत बार मंचित किया और आँखों से अवलोकित किया। एक पर्याय एक क्षण अंतरंग रंगमंच की धारा को प्रदान कर दो, निज भावों की धारा को ज्ञेय बनाइए, प्रमेय बनाइए। हे प्रमाता! भावों की धारा को निहारिए, अवलोकन कीजिए, मेरे भावों की धारा क्या चल रही है? फिर देखो क्या गद्गद् भाव आता है। देखो मेरे परिणाम परमेष्ठी के पास जा रहे हैं। जब कोई बालक परमेष्ठी के पादमूल में पहुँचता है तो माता–पिता को कितना आनंद आता है। ऐसे–ही ज्ञेय बनाइए कि मेरे परिणाम परमेष्ठी के पादमूल में जाने के हो रहे हैं, कितना आनंद आ रहा है। जीते–जी देखो। मेरे परिणाम पाँच पापों की ओर जा रहे हैं, इस दुर्भाग्य को देखो। पूत पापों में जाए तो पिता का चेहरा कुम्हला जाता है, जबकि परद्रव्य है। जीव की परिणति पर वस्तु में जाए तो तेरा भगवान्–आत्मा पिता कुम्हलायेगा कि नहीं? समय तो दो अवलोकन के लिए। आवश्यक नहीं है कि निश्चित स्थान पर बैठकर ही अवलोकन करो। जब तुम रास्ते में चलते–चलते कितनी खोटी–खोटी तस्वीरें देख लेते हो, कैसे–कैसे तिर्यंचादि की प्रकट संज्ञाओं को देख लेते हो, ऐसे–ही देखनहारे को रास्ते में चलते–चलते नहीं देख सकते हो क्या? आपने मानसिकता बना रखी है कि जब एकांत में बैठूँगा, कक्ष में ध्यान करूँगा तब आत्मा को देखूँगा।

अरे मित्र! तू परद्रव्य को तो हर जगह हर समय देख लेता है, तो देखनहारे को हर समय हर जगह क्यों नहीं देख पाता है? बाहर के द्रव्यों को तू आँख फाड़–फाड़ कर देख रहा था और जिसको देखने के लिए कहीं नहीं जाना पड़ेगा उसको देखने के लिए तू कहता है मुझे एकांत में बैठना पड़ेगा। कहीं ये पुराना भ्रम तो नहीं है कि जब आदमी फ्री हो जाता है तो निज में बैठकर तब देख पाता है? ये भ्रम तुम निकाल दो। देखनहारे को कहाँ खड़े होकर देखोगे? ऐसी वस्तु थोड़े ही है कि जैसे पर्वत की चोटी पर पेड़ लगा हो, उस पर फूल खिला हो, उसे तुम खड़े होकर देख रहे हो कि कहाँ पर खिला है फूल? जब पाप में मन जाता है, उस समय मन में वेदन नहीं होता क्या? उसके लिए खड़े होने क्यों नहीं गए थे? वहाँ तो चलते–चलते वेदन होने लग गया। जब पापों का वेदन आप चलते–चलते कर सकते हो, तब चलते–चलते तुम शुद्धात्मा का भी वेदन कर सकते हो। ये नहीं मानोगे तो छठवें–सातवें गुणस्थान की धारा कैसे बनाओगे? फिर ये

शब्द तुम्हारा कहाँ स्पर्श कर पाएगा कि क्षण में दूसरा क्षण में सातवाँ, इसे मानते हो तो फिर आपके ध्यान के स्थान की बात करता हूँ।

ज्ञानी! चलते–चलते राग–द्वेषात्मक दृष्टि बनती है कि नहीं बनती? और जिस पर तेरी आँख जा चुकी है, रात्रि में बंद कमरे में उसका चेहरा दिखता कि नहीं दिखता? जिसके ऊपर तेरी प्रीति लग गई, वो व्यक्ति आपको आँख बंद करने पर, काली कोठरी में भी, दिखाई देता है कि नहीं? जिस पर प्रीति लगी, आँख पर काली पट्टी बंधी होने पर भी उसका चित्र दिखाई दे रहा है। जब तेरी दृष्टि पर वस्तु पर प्रीतिभूत होती है तो काली कोठरी में दिखने लगता है। तेरी निज पर प्रीति नहीं है, जिससे तुम भरी दोपहरी में देख सको। जब निज से प्रीति हो जाएगी तो फिर बियावान जंगल तो क्या, पटना शहर क्या? सेठ सुदर्शन को केवलज्ञान शहर के अंदर हो सकता है। एक–ही ऐसा दृष्टांत है सेठ को नगर के मध्य में कैवल्य प्रकट हुआ हो। नौका में बैठे–बैठे मुनि को कैवल्य हो सकता है। पणिक नाम के मुनिराज को नौका में बैठे–बैठे कैवल्य हो गया, ऐसा 'मरण कंडिका' ग्रंथ में उल्लेख मिलता है।

यंत्र तो यंत्र है। यंत्र तो चलता है। यंत्र में काम नहीं होता, यंत्र से काम होता है। कोल्हू चलता है, पर कोल्हू में तेल नहीं निकलता, कोल्हू से तेल निकलता है। करण साधन और साधकतम करण साधन। कोल्हू से तेल निकलता है, पर कोल्हू में तेल नहीं निकलता, तेल तो तिल से निकलता है। ऐसे–ही तपस्या शरीर से होती है, पर शरीर का निर्वाण नहीं होता, निर्वाण तो आत्मा का होता है। ये तो यंत्र है, इस यंत्र का जो प्रयोग करना चाहो। एक जीव कोल्हू से तेल निकाल रहा है, एक अभागा जीव कोल्हू से रक्त निकाल रहा है। उस कोल्हू में जीव को पटक कर चला दिया, उसका रक्त निकाल लिया। पूर्व काल में ऐसी अनर्थकारी घटनाएँ घटी हैं, अज्ञानी लोगों ने निर्ग्रंथ योगियों तक को कोल्हू में पेल दिया। पाँच सौ मुनियों को घानी में पेल दिया गया। धन्य हो उन योगियों की समयसारभूत आत्मा को, नमस्कार हो उस आत्मा की तत्त्वरुचि को। कोल्हू में शरीर चूर–चूर हो गया, लेकिन भगवान्–आत्मा चमक रही है। अभिनंदन आदि ५०० योगियों को दंडक राजा ने कोल्हू में पेल दिया था। ये था समयसार। तू उसे ही चूर–चूर कर रहा है जो चूर होने के लायक है, जिसका चूर होना नियत है। जिसे तू चूर–चूर करना चाहता है वो

'दुनिया में सबसे न्यारा भगवान्–आत्मा हमारा
जले नहीं कभी अग्नि में, भीगे नहीं पानी में
सूखे नहीं पवन के द्वारा, यह आत्मा हमारा।'

उसे तू कभी नहीं चूर कर पाएगा। पर ऐसी दृष्टि बनाने के लिए मिश्र में अमिश्र दृष्टि रखनी पड़ेगी। जब–तक मिश्र में आत्मभूत दृष्टि बैठी हुई है, तो उपसर्ग/परीषह में तड़पेंगे, विलखेंगे। जिनकी २४ घंटे देहाश्रित दृष्टि है, उनको वेदना के काल में विलखना ही पड़ेगा। जो वेदना को भी वेदनभाव से निहार लेते हैं, वे विलखते–तड़पते नहीं हैं। जो दृष्टि ध्यान आलम्बन स्थान की है, वह प्रारंभ दशा की है, नियत ध्यान की है। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान के अभ्यास की है, पर आत्मस्थ दशा में निज को ही ध्येय बना रहा है। निज ही ध्यान है, निज ही ध्यान है उसके लिए जगत् में सब स्थान ध्यानकेंद्र हैं। मैं जगत् के मंदिर में, सरोवर के तट पर, सागर के तट पर ध्यान करूँगा, ये दृष्टि अनात्म बुद्धि है। ग्राम में निवास करूँगा, ये अनात्म दृष्टि है। जो आत्मदृष्टि है, जहाँ तिष्ठता है, वहीं उसका ध्यान स्थान है।

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः।।

(७३/समाधि शतक)

जिन्हें आत्मा की उपलब्धि–उसका दर्शन अनुभव नहीं हुआ है ऐसे लोगों के लिए 'यह गाँव है, यह जंगल है' इस प्रकार के दो निवासों की कल्पना होती है। जिन्हें आत्मस्वरूप का अनुभव हो गया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषों के लिए रागादि रहित, व्याकुलता रहित आत्मा ही रहने का स्थान है।

इष्टोपदेश और समाधितंत्र ये मेरे जीवन को बदलने वाले पावन ग्रंथ हैं। सबसे पहले मैंने इन्हीं दो पर लेखनी चलाई, क्योंकि मन में ये भाव था कि जिन ग्रंथों से हमारा जीवन बदला है उसका उपकार नहीं भूलना चाहिए। उपकारी का उपकार कभी नहीं भूलना चाहिए। ग्रंथों, निर्ग्रंथों, अरिहंतों इनका उपकार चुकाने की बुद्धि मत लाना। 'मैं चुका के रहूँगा।' चुका के रहोगे तो अहंकार में डूब जाओगे तो इनसे दूर हो जाओगे। इनके ऋणी बनकर रहोगे तो ही भक्ति कर पाओगे, व्यवहार दृष्टि। ग्रंथों, निर्ग्रंथों, अरिहंतों के लिए कभी मत कहना उपकार चुकाऊँगा। उपकार चुकाने के भाव ही कर पाओगे, उनका उपकार चुका नहीं पाओगे।

कुन्दकुन्द स्वामी इस अंतिम मंगल गाथा में कह रहे हैं कि ऐसे समयसार को जो पढ़ेगा, आत्मस्थ करेगा, वह नियम से भगवान्–आत्मा को प्राप्त करेगा। जो इस समयपाहुड ग्रंथ को पढ़ता है, उसके अर्थ के तत्त्व को जानता है, समझता है, उस अर्थ के अर्थ के तत्त्व को जान करके अर्थ में ही ठहर जाता है, वही उत्तम सुख को प्राप्त करता है, वही उत्तम सुख स्वरूप हो जाता है। क्या

कह रहे हैं? शब्दब्रह्म से जान लेना, आत्मब्रह्म में लीन हो जाना, अर्थ को जानकर के अर्थ में ठहर जाना।

ज्ञानी का जन्म दमोह में हुआ, सर्विस के लिए छतरपुर आया, यहाँ बस गया। अर्थात् अर्थ को जानकर अर्थ में ठहर गया। पहले अर्थ अर्थात् धन को जाना, वहीं ठहर गया। यहाँ पैसा मिला तो बसने का मन कर गया। अब यहाँ रह रहे हो तो आनंद आता है कि नहीं? यदि दमोह भी जाता है तो मन क्या कहता है कि एक दिन बहुत है, क्योंकि इसका अर्थ वहाँ नहीं है। जिस नगर में जन्मा था, उस नगर में अब कुछ दिखाई नहीं देता। वहाँ रहना भी चाहे तो किस आधार पर वहाँ रहेगा? पक्षी भी ठहरता है तो पहले दाना–पानी देखता है। पशु भी दौड़ता है तो सरोवर में पानी देखकर दौड़ता है। वहीं मुकाम कर लेता है कि यहीं घास चरूँगा, यहीं पानी पीऊँगा। अर्थ को देखकर ठहरता है।

कुन्दकुन्द स्वामी क्या कह रहे हैं? शब्दब्रह्म को निहार करके उसके अर्थ को निहारना और अर्थ में ठहर जाना। पहले अर्थ को जाना जाता है। अर्थ यानि द्रव्य, वस्तु, भाव। **जिसने आत्म अर्थ को समझ लिया और आत्म अर्थ में ठहर गया, वह परमसुख को प्राप्त कर लेता है।** यहाँ की संपत्ति को छोड़कर इधर–उधर भटकोगे तो वेदना सताएगी कि नहीं? जो अपने आत्मद्रव्य को छोड़कर यद्वा–तद्वा स्थान पर भ्रमण करेगा, तो कष्ट को ही प्राप्त करेगा। अर्थ स्थान पर ठहरेगा तो आनंद को प्राप्त करेगा। **सरोवर पूर्व दिशा में है, गमन तेरा पश्चिम दिशा में हो रहा है, तो प्यास से कंठ सुखाकर प्राण रहित ही हो पाएगा, कंठ गीला नहीं कर पाएगा। जिनमार्ग को छोड़कर उन्मार्ग पर दौड़ेगा तो पुण्यद्रव्य का, आत्मविशुद्धि के प्राणों का घात ही कर पाएगा, लेकिन समरसी रस का पान नहीं कर पाएगा।**

बेटा! सूखे सरोवर से प्यास नहीं बुझती। ये विषयों के सूखे सरोवर हैं इनसे प्यास नहीं बुझती। ये मोह की मदिरा से भरा सरोवर नहीं है जिसमें प्यास बुझाने चला भी गया तो पागल बनकर झूमेगा। उन यादव कुमारों जैसा न हो जाए, जिन खंतियों में मदिरा फेंकी गई थी, उनमें बारिश का पानी भी गया और कुमारों ने उसका पान कर लिया। उसके मद में उन्मत्त होकर द्वैपायन मुनि पर उपसर्ग कर दिया। मद के सरोवर में जाकरके उन्मत्त होकरके आत्म–मुनि के ऊपर उपसर्ग तो नहीं कर रहे हो? तुम्हारे परिवार के लोग आ जाएँ तो एक क्षण को हल्की–सी प्रीति होती है, उस क्षण आप मेरे नहीं होते हो, समाज के नहीं होते हो। ये मदिरा का सरोवर है। आज नहीं समझ में आए तो अंतिम श्वास तक समझ लेना। तुमको तब–तक केवलज्ञान नहीं हो सकता जब–तक

मदिरा के सरोवर में डूबे रहोगे। ये मोहमद है। मद्यपायी हेय–उपादेय, करनी–अकरनी सब भूल जाता है। आपा पर का भेदविज्ञान समाप्त हो जाता है। यही मोह की दशा है। मोही मद्यपायी माँ को माँ नहीं कह पाता, गुरु को गुरु नहीं कह पाता, यही मोह की दशा है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कहते हैं सरक....। सरक का अर्थ होता है शराब। जैसे शराब उन्मत्त कर देती है, ऐसे–ही मोह भी उन्मत्त कर देता है। भैया! दूसरे को अभक्ष्य खाने का त्याग करा रहे हो, परंतु निज के भीतर के अभक्ष्य भावों का भी तो त्याग करो। तुम्हारे मन में जो कुभाव चल रहे हैं, वे अभक्ष्य भाव हैं। ग्राही नहीं, अग्राही भाव हैं। ऐसे अग्राही भाव के काल में क्या बोलते हैं? बेटा! अब तू आलू छोड़ दे, लहसुन–प्याज छोड़ दे, तेरी अंतिम श्वास चल रही है, खाते–खाते मत चले जाना। उस जीव का तू बहुत हितकारी है कि तूने अभक्ष्य छुड़वा दिया। ये तो तूने खाने वाला अभक्ष्य छुड़ाया है, पर सोचने वाला अभक्ष्य क्यों नहीं छुड़ाया? तू साथ में ये भी बोल देता कि खाने का अभक्ष्य तो तूने छोड़ दिया है, परंतु अपनी माँ के बारे में, पिता के बारे में, भाई आदि के बारे में अशुभ सोच रहा है। यदि इस अभक्ष्य के सोचते–सोचते प्राणों का अंत हो गया तो अभक्ष्य खाने के त्यागी की दुर्गति नियम से होगी।

ज्ञानी! छना पानी पीने वालों से कहना पानी तो छानकर पीओ, बहुत अच्छी बात है, परंतु मन को भी छानकर जीओ तो बहुत अच्छी बात है। अमृतचंद्र स्वामी कलश में कह रहे हैं कि जब तुम अर्थ में स्थित हो जाओगे तो उत्तमसुख को प्राप्त हो जाओगे। जब–तक अर्थ में स्थित नहीं है, तब–तक उत्तम सुख नहीं है। टीका में कह रहे हैं **'यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन'** निश्चय से जो समयसारभूत भगवान् परमार्थ तत्त्व से युक्त जो विश्व के तत्त्व को प्रकाशित करने वाला है, ऐसे विश्वतत्त्व का प्रकाशक **'विश्वसमयस्य प्रतिपादनात्'** जो समयसार ग्रंथ है।

पुण्यात्मा भव्य जीव विश्व के तत्व को प्रकाशित करने वाले समयसार को पढ़कर संपूर्ण अर्थों, पदार्थों को जानकर के प्रकाशित करने में समर्थवान होने पर ऐसा परम परमार्थभूत चैतन्य प्रकाश रूप आत्मतत्त्व को जानता है, प्रकाशित करता है। **'शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य'** ऐसा तत्त्व सुनने से अर्थभूत पूर्ण विज्ञान घन आत्मतत्त्व को जानता है, ऐसे परमब्रह्ममयी शास्त्र का जो अध्ययन करता है, समझता है, **'विश्वप्रकाशनसमर्थ'** वह विश्व को प्रकाशन करने में समर्थ है। **'परमार्थभूत चित्प्रकाशरूपमात्मानं निश्चिन्वन्'** ऐसे परमार्थभूत चिद्प्रकाश आत्मा को निश्चय से निज में चेतता है। **'अर्थतस्तत्त्वतश्च परिच्छिद्य, अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्ण**

विज्ञानघने' ऐसे अर्थ तत्त्व को तत्त्वरूप से जानता है, ऐसे अर्थरूप भगवती, एक में ठहरा हुआ भगवती ज्ञानभूत विज्ञान घन **'परमब्रह्मणि'** ऐसे परमब्रह्म स्वरूप जो आत्मद्रव्य है, कोई भिन्न वस्तु नहीं। विज्ञानघन रूप परमब्रह्मरूप उसमें उद्यम कर ठहरेगा, किसमें? निज आत्मद्रव्य में आकुलता रहित होकर निवास करता है **'सर्वारम्भेण स्थास्यति चेतयिता'** सर्व आरंभ से रहित होकर निज में स्थित होता है, **'स साक्षात्तक्षत्णविजृम्भमाणचिदेक रसनिर्भरस्वभावसुस्थित-निराकुलात्मरूपतया परमानंद–शब्दवाच्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति।।४१५।।** जो जीव इस प्रकार से निज भगवान्–आत्मा, परमार्थ तत्त्व को अच्छे प्रकार से जिसमें विश्व का वास है ऐसे उसको प्रकाशित अपने निज स्वयं परमब्रह्म में लीन हो गया है वह शीघ्र ही उद्यत होकर, उदयभूत होकर के चैतन्य रस से परिपूर्ण भरे हुए स्वभाव में अच्छी तरह से ठहर कर निराकुल होकरके आत्मस्वरूप परमानंदभूत शब्द द्वारा कहने योग्य आत्मतत्त्व की अनुभूति से युक्त होता है।

अमृतचंद्र स्वामी ने समयसार की महिमा को कहते हुए कह दिया– हे जीव! जो परमानंद शब्द का वाचन है उसमें वाच्यभूत क्या है? **उत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं।** आज तक क्या किया है? सुख की खोज। **सुख की खोज ही तो दु:ख की खोज है।** बताओ, क्या सुख खोज रहे हो? धन, धरती, स्त्री, पुत्र इनमें तू सुख खोज रहा है, जबकि ये सब दु:ख की खोज है। मैं ज्ञानी, पण्डित, त्यागी, मुनि बनूँ, यह सब दु:ख की खोज है। जब–तक खोजते रहोगे, तब–तक दु:खी ही रहोगे। जीव जब–तक इन भेषों में सुख खोज रहा है, वो कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकेगा। 'शुष्क अस्थि श्वानवत्' शुष्क हड्डी को चबाने का स्वाद क्या? सूखी हड्डी से क्या रस चखेगा? ऐसे–ही जीव चिंता में स्वानुभूति की सरसता को कहाँ पाएगा? चिंता में स्वानुभूति का आनंद नहीं।

ज्ञानी ने कहा कि आज महाराज ने बहुत बढ़िया उपदेश दिया तो महाराज सोच रहे थे कि क्या आनंद आ रहा है। एक बार पुन: सोच लो, जो तुम मंच पर बैठ करके गद्गद् दिख रहे थे, ये मान कषाय का आनंद है कि आत्मा का आनंद है? जो तुम्हें चेहरे पर आनंद दिख रहा है, वो आनंद मूर्तिक का है या अमूर्तिक का है? जो तुम्हारी यश:कीर्ति आदि कार्माणवर्गणाओं का, कर्म का उदय चल रहा है, उस मूर्तिक कर्म के रसास्वाद में तुम आनंदित हो रहे हो और उसका आनंद तुम्हारे चेहरे पर टपकता दिख रहा है कि जो परमब्रह्म स्वरूप भगवान–आत्मा है उसकी लीनता का आनंद है? निर्णय लो। ये जीव स्वयं के द्वारा स्वयं में वंचित है। वंचना है, पर वो समझ रहा था मुझे धर्म का आनंद आ रहा है। पर सत्यता ये थी कि तेरे धार्मिक कार्य करने पर समाज की

लोकप्रशंसा मिल रही थी। उसमें तू फूल रहा था, न कि धर्म का आनंद था। मित्र! इसे धर्म का आनंद मत मान बैठना। धर्म का आनंद तो नीरव, नि:रसी भाव है। जब–तक रव है, जब–तक ध्वनियों का आनंद है तब–तक निज का आनंद नहीं है। दिव्य ध्वनि का आनंद भी परभूत है, ये तो निज ध्वनि की व्याख्या है। जिनवाणी, शब्द समयसार मेरा समयसार नहीं है। **दिव्यध्वनि सुनने के लिए मैं नहीं सुनता हूँ, ध्वनि से रहित निज के अवलोकन के लिए ध्वनि को सुनता हूँ।** किस ध्वनि को? दिव्यध्वनि को। ये महान् ग्रंथ भगवान् की दिव्यध्वनि से प्रकट हुआ है। शब्दब्रह्मभूत है। शब्दब्रह्म कैसा है? द्वादशांग शब्दब्रह्म है। उस द्वादशांग शब्दब्रह्म का ये अंश है, इसलिए ये भी शब्दब्रह्मभूत है। जो शब्दब्रह्मभूत ध्वनि है, वो तेरा आत्मब्रह्म नहीं है।

आत्मब्रह्म क्या है? **'परमानंद शब्दवाच्यमुत्तममनाकुलत्व लक्षणं'** जीव जिसे प्राप्त करने की चेष्टा करेगा, प्रयास करेगा, वे सब आकुलता है, आकुलता का परिवर्तन है। समयसार मैंने पूरा कर लिया, अब प्रवचनसार आदि पढ़ूँगा और घर के काम नहीं देखना है मुझे। घर के काम क्यों नहीं देखना? उनमें आकुलता होती है। अभी तो तू ये कह रहा था कि समयसार तो पूरा हो गया, अब प्रवचनसार पढ़ूँगा, क्या ये निराकुलता है तेरी? ज्ञानी! ये कर्त्ताबुद्धि तुम्हारी विसर्जित कब होगी? आपने आकुलता का विषय बदल दिया है। अशुभ आकुलता को शुभ भूत अनुभव कर रहे हो, लेकिन कदाचित् शुभभूत राग तुम्हारे लिए आकुलता ही है वो अशुभभूत भी हो सकती है। ये भइया अब घर नहीं बनवाता है, मंदिर बनवाता है। इसने घर बनवाने का त्याग कर दिया है, मंदिर बनवा रहा है। अच्छी बात है, शुभ कार्य है, लेकिन जब निराकुल सुख की व्याख्या करोगे तो यह क्या है? यदि निराकुल होना चाहते हो तो पहले कर्तृत्व भाव का विसर्जन करो। इस बात को भूल जाओ मेरे धर्म का क्या होगा? तेरे धर्म का कुछ भी होना नहीं है, तू तो धर्ममय ही है। आकुलता जो होती है वो पर धर्म में होती है। निज धर्म में आकुलता होती ही नहीं है।

एक के मन में भाव आता है कि पद्मपुराण सुनूँ, दूसरे के मन में विचार है कि समयसार सुनूँ, दोनों आदमी हैं। इस विचार में दोनों आपस में विवाद कर रहे हैं। तुम क्या कर रहे हो? **अक्षरों के राग में अक्षय को खो रहे हो। शब्द में संतुष्टि, ध्वनि में संतुष्टि, दिव्यध्वनि में संतुष्टि, लेकिन अनावृत्त भाव में कोई दृष्टि ही नहीं है।** न मंदिर में, न वनों में, न बनाने में, न मिटाने कहीं नहीं लगना। जो है, सो है। मात्र पुरुषार्थ करो निराकुल होने का। निराकुल कैसे कहा जा सकता है। गगन देखो, अवनि देखो, मध्य को मत देखो। गगन निराकुल, अवनि निराकुल, मध्य में आकुलता–ही–आकुलता है। आकाश देखो, भूमि देखो, तुम्हें भ्रमित करने की कोई वस्तु

दिख रही है क्या? नहीं दिख रही। अवनति नहीं चाहते हो तो गगन देखो, अवनि देखो। निर्ग्रंथ तपोधन भूमि को निहार कर चलते हैं, चारों ओर दृष्टि नहीं डालते।

ज्ञानी! चरणों को छूता है, माथे पर लगाता है। शरीर के मध्य को न छूता है, न लगाता है। मध्य भाग में जितने अंग हैं वे सब पाप कराने वाले हैं। ये मध्य ही तुमको भ्रमित किए है। गगन को देखो, अवनि को देखो। जब शिशु होता है तो जमीन पर होता है तब निर्विकार होता है। जब गगन की ओर जाने का समय होता है, तब निर्विकार हो लेता है। अब तुम मध्य की उम्र को देखो। बच्चा जब जमीन पर रहता है तो कोई भी उठाकर गोद में रख लेता है। निर्वस्त्र बच्चे को बहन गोद में रख लेती है, माँ गोद में रखती है। जब बूढ़ा हो जाता है तो बेटी भी पिता के मल को साफ कर देती है, लघुशंका कराने को बैठा देती है, कोई विकल्प नहीं होता है। अत: मध्य को ज्ञेय बनाइये, मध्य को हेय बनाइये। अशुभ जब कर नहीं रहे थे, तब की परिणति को निहारो। निर्मल थी, तनावमुक्त जीवन था। पाप कर रहा था, तब क्या हो रहा था? कर चुका था, तब मात्र संताप। प्रायश्चित्त के लिए बैठा है, विशुद्धि की ओर जा रहा है, लेकिन बीच में क्या कर बैठा? पापी का चेहरा भी बता देता है। स्वयं के चेहरे में रौनक नहीं होती उस दिन जिस दिन अशुभ करके आता है। आँखें बंद करके भी चेहरा देखो तो भी अशुभ रोता चेहरा दिखता है। श्रेष्ठ काम करके आओ, तुम आँख बंद करके भी देखना, मुस्कराता चेहरा दिखेगा।

ज्ञानी! २४ घंटे में एक बार तो ऊपर–नीचे मध्य को देखने लग जाओ तो तुमको कहीं मृत्यु दिख जाएगी। भइया! राम नाम सत्य है, उसको ही देखना है। सबकुछ देख लेता है, पर उसे नहीं देख पाता जिसे देखना चाहिए था और धोखे से दिख भी गया तो निराकुल होना चाहिए था, पर लंबी आकुलता में चला गया। हाय! मेरे अधूरे कार्यों को कैसे पूरा किया जाएगा? वह भूल गया था कि विश्व में आज तक कोई ऐसा पुरुष नहीं हुआ, जिसने जगत् के पूरे कार्य किए हों। अधूरे छोड़कर ही जाना पड़ेगा। पूरे तो आप कभी कर ही नहीं सकते हो। आप हाय–हाय ही कर पाओगे, लेकिन पूरे कार्य नहीं कर पाओगे। किसी के दादा, परदादा, पिताजी कोई पूरे कार्य करके गए क्या? चक्रवर्ती भी जीवन में पूरे काम नहीं निपटा पाया। काम पूरे निपटाए ही नहीं जा सकते हैं। कर्तृत्वपना तो पूर्ण किया ही नहीं जा सकता है, इसलिए अकर्तृत्व में लीन हो जाओ और कर्तृत्वपना छोड़ दो।

लोक के सारे प्रपंच तिर्यक हैं और जो तिर्यक प्रपंच में लीन हो जाता है उसे तिर्यंच बनना पड़ता है। इस मध्यलोक का नाम तिर्यक लोक ही है। इस आड़े–तिरछे लोक से तुम चाहो तो नीचे

टपक सकते हो, चाहो तो सीधे ऊपर जा सकते हो। आज चिंतन करना 'आकाश निर्विकार, पृथ्वी निर्विकार, मध्य लोक में भरे हैं विकार।' चरण छूता है, माथे पर लगाता है। आचरण से पवित्र चरण हमारे मष्तिस्क में पहुँच जाएँ तो मैं भी निर्मल हो जाऊँ, ऐसा भाव है जिसके भीतर। परमानंद जो है ये है समयसार का सार। ये अंतिम गाथा की अंतिम टीका में कह रहे हैं। परमानंद शब्द वाच्यभूत उत्तम अनात्मक लक्षण है वही सुख है, अन्य कोई सुख है ही नहीं।

ज्ञानी! निहारो, परधर्म में अनाकुलता नहीं है, परधर्म में आकुलता ही है। मात्र आत्मधर्म ही अनाकुल है, निराकुल है। कुछ भी कर लेना, लोक तुम्हें यही कहता है कि यह टोकरी के अंदर विराजित छोटे–छोटे मेंढक जैसा है। ज्ञानी ने विचार किया कि गली में जितने छोटे–छोटे मेंढक हैं सबको टोकरी में रखकर शांति से इनको सुलाऊँगा। इसने ढेर सारे मेंढक संग्रहीत कर लिए। अब इससे पूछना कि कितने सो पाए? जब–तक एक को सँभालता है तब–तक दूसरा उछल जाता है। इसी तरह तू चाहे कि मैं पूरे परिवार को संतुष्ट करके रखूँ तो जब तू एक को संतुष्ट करेगा, दूसरा कहेगा मैं चला। तेरा जीवन का पूरा पुरुषार्थ उन मेंढकों को ही संभालने में लग जाएगा। ऐसे–ही रागभूत ये घर–गृहस्थी, पुत्र–पुत्रियाँ, चेला–चेलियाँ ये सब मेंढक हैं, मेंढक। इनको तू कब–तक सँभालेगा? निज अनात्मक भाव को प्राप्त करना है तो इनको सँभालना बंद कर दें, इसलिए आचार्यों को आचार्य पद छोड़ना पड़ता है, समाधि के पूर्व। ज्ञानी! सामर्थ्य नहीं है तो पहले से दूर रहो। यदि मन नहीं मान रहा है तो निहार लो, फिर देखना क्या होता है? ठोकर खाकर दूर हो जाना। जो है, सो है।

अनात्मक क्या है? जिसमें मान आदि कषायों की सहभागिता, मोह की कीचड़ न हो, द्वेष के जलचर न हों, ऐसे शीतल समरसी भाव निहित जो आत्मा है, वही अनात्मक भाव है। **माला फेरना सरल है, मन को फेरना कठिन है।**

ज्ञानी! आठ अंगुल वश में हो गए होते तो अष्टम वसुधा पर ही होते। निगोदिया बनकर नहीं, सिद्ध बनकर। आठ कर्म तेरे निर्जीर्ण हो जाते, आठ गुण प्रकट हो जाते, अष्टम वसुधा मिल जाती यदि आठ अंगुल को जीत लिया होता तो। इन आठ अंगुल के पीछे ही तो तू–तू मैं–मैं हो रही है। प्रत्येक जीव की जीभ अपने अंगुल से चार अंगुल है। स्पर्शन इंद्रिय चार अंगुल की है। इन आठ अंगुल की पूर्ति के लिए पता नहीं देश–विदेश में कहाँ– कहाँ घूम रहा है। कितना झूठ बोलता है, पाप करता है, अनाचार करता है, छल–कपट करता है। जो अपने आपको सरल मानते हैं, वे भी सरल होके बैठें तो पता चलेगा कि कितने वक्र हैं। जब–तक दूसरा नहीं देखता, तब–तक

अपना दोष तुमको पता नहीं चलता कि कितना बड़ा है। जो जीव पर से छिपाकर पाप किए बैठा है, उसे पता नहीं है कि मैं पापी हूँ। दूसरा देख ले तब कहता है कि ये कलंक का टीका कैसे लग गया? जबकि धब्बा तुमको पूर्व में ही लग चुका था।

ज्ञानी! मित्र, माता–पिता, गुरु, पुत्र आदि तुझे सब अच्छा समझते रहे तो भी मान लेना कि मैं अच्छा हूँ। प्रभु का कैवल्य तुझे अच्छा समझ ले, निज की परिणति तुम्हें अच्छा समझ ले तो मानना कि अच्छे हो। मात्र दुनिया के सामने अच्छा बनकर आया तो नाटक का पात्र है। जोकर है जोकर। वस्त्रालय का छल है। कपड़े की दुकान में दिन में भी लाइट जलती है, इसका रहस्य समझो। ये जाल है जाल। लाइट में सड़े–सड़ाये कपड़े भी चमकते दिखते हैं। चमक को देखकर लोग खरीद कर ले जाते हैं। फिर जो है सो है। किसी के चित्र को देखकर फंस मत जाना। जैसे दुकानदार के यहाँ से खरीदे हुए कपड़े का रंग घर जाकर बदल जाता है, वैसे–ही चित्रों को देखकर भ्रमित मत हो जाना।

भैया! धर्म मात्र पर लक्ष्य रखो। शब्दज्ञान को जाननेवाली प्रशंसा में पर्याय को नष्ट मत करो। कषाय के कारण व्यक्ति निज धर्म को समझ ही नहीं पाता है। जैसे काले कम्बल पर अन्य रंग नहीं दिखते हैं। नीले वर्ण पर कुमकुम का रंग नहीं चढ़ता।

कषायैः रञ्जितं चेतः, तत्त्वं नैवावगाहते।
नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौंकुमः।।

(१७/स्व. सं.)

मार्ग में कभी–कभी घोड़े पर दूल्हा जाते दिख जाता है, वो मुस्करा रहा होता है, हम भी मुस्करा लेते हैं कि कैसा पागल है, बैंडबाजों के साथ, शान से घोड़े पर बैठ करके नौकर बनने जा रहा है। वो मुस्कराते जा रहा है, कोई पूछे कितना आनंद है इसको? उसको आनंद किस बात का था? अज्ञानता से भरी कषाय की अनुभूति (आनंद) ले रहा था। यदि समयसार पढ़ लेता तो समझ में आ जाता।

ज्ञानी! नाई की दुकान पर बैठकर पूछ रहा है मेरे काले कितने बचे हैं, कितने सफेद हो चुके हैं? क्यों पूछ रहा है? शब्दजाल फैलाकर क्यों समय बर्बाद कर रहा है? घोड़े पर जानेवाला सोच सकता है कि अभी तो खुला हूँ। भैया! तू छठवें फेरे तक खुला है। महिलाएँ पढ़ती हैं कि 'छठवें फेरे तक बिटिया बाप की।' छठवें फेरे तक कन्या आगे रहती है, सातवें फेरे में लड़का आगे हो जाता है, ऐसा क्यों? इसमें रहस्य है। कन्या कहती है कि मैं छठवें नरक के नीचे नहीं जाऊँगी,

सातवें नरक में तुझे जाना है, तो आगे बढ़ सातवें फेरे में।

ज्ञानी! अनात्मक लक्षण जो है, वही परम सुख है। वो स्वयं ही प्रकट होता है। किसके? जो परधर्म से मुक्त होकरके आत्मधर्म में लीन होता है। घड़ी में ५.३० संध्या के बजने पर भी, घर में ढेर सारे विकल्प होने पर भी, आत्मा की बात सुनने में विकल्प नहीं आ रहा है। जब आत्मा की बात सुनने में विकल्प नहीं आ रहा है, तो आत्मा में विलीन होने पर कितनी निर्विकल्पता होगी? कभी इसका वेदन तो करो।

भैया! बंधन से कभी पेड़ को नहीं बाँधा जा सकता है, पर कालिया नाग को भी बीन की आवाज से नचाया जा सकता है। इसी तरह जिनेंद्र भगवान् की वाणी के माध्यम से वस्तुस्वरूप को समझाया जा सकता है, बाँधकर रखा जा सकता है। लेकिन रस्सी में बाँधने का प्रयास मत करना।

ये आत्मद्रव्य सुख है। जगत् के संपूर्ण द्रव्यों से अपने को भिन्न वेदन करने वाला एकमात्र चैतन्य द्रव्य है। जगत् के भिन्न द्रव्यों से प्रत्येक द्रव्य निज में भिन्न ही है, लेकिन प्रत्येक द्रव्य जगत् के द्रव्यों से भिन्न होने पर भी अपने निज भिन्नत्व की सामर्थ्य मात्र जीव द्रव्य में ही है। एकमात्र चैतन्य द्रव्य श्रेष्ठ है, ज्ञेय है। जो ज्ञायक है, वही मोक्ष का नायक है। जो ज्ञायक नहीं है, वह अनंत का नायक भी नहीं है। ज्ञेय बनकर जीना तुम्हारा धर्म नहीं है। ज्ञायक बनकर जीना तुम्हारा धर्म है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी अपनी आत्म ख्याति टीका के कलश (२४६) में समापन करते हुए बड़े सहज भाव से कह रहे हैं कि आत्मद्रव्य की जो ज्ञायक धारा है, वह अखंडित है। कैसे अखंडित है? ज्ञेयों की अपेक्षा से खण्ड–खण्ड है, पर ज्ञायक की दृष्टि से अखण्ड ही है। ज्ञेयों की दृष्टि से भिन्न–भिन्न है, खण्ड–खण्ड है, पर ज्ञायक की दृष्टि से अभिन्न है, अखण्ड है। ये पाँच अंगुलियाँ दिख रही हैं, पाँचों भिन्न–भिन्न हैं, पर पंजा अभिन्न है। अंगुलियाँ भिन्न–भिन्न हैं, पंजा एक ही है। ज्ञेय की दृष्टि से ज्ञान में भिन्नत्व है, पर निज ज्ञायक में भिन्न नहीं है। खण्डों को देखकर खंडित मत होओ। खण्ड पर के हैं, निज तो अखण्ड ही है। अखण्ड स्वभाव, स्वभाव है वही ध्रुव स्वभाव अखण्ड स्वभाव, वही टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है। अखण्ड स्वभाव है, वही संपूर्ण स्वभाव है, नित्य स्वभाव है, ध्रुव स्वभाव है। शब्दों को मत सुनो, शब्द को सुनो, मैं क्या कह रहा हूँ, अखण्ड–अखण्ड। पर संबंध मुझे खण्ड–खण्ड कर रहे हैं, पर मैं तो अखण्ड ही हूँ। कोई मुझे शिष्य कहता है, कोई मुझे गुरु कहता है, तो कोई गुरुभाई के नाम से पुकारता है। अनेक संबंधों से लोग मुझे देख रहे हैं। उनकी दृष्टि में खण्ड–खण्ड है, पर मैं तो अखण्ड ही हूँ। मेरी तेरी सोच

एक नहीं है कितने संबंध जोड़ रहे हो ये आपकी सोच है, मेरी सोच नहीं है। मैं तो अखण्ड जी रहा हूँ। जो पर के द्वारा मेरे संबंधभूत किए गए खण्डों पर चिंतवन ले जाएगा तो अखण्ड का आनंद नष्ट हो जाएगा।

ज्ञानी! जो पर के द्वारा देखे गए संबंधों के खण्डों को नहीं निहार रहा है, वही ज्ञायक, ज्ञेयभूत जीवन जी रहा है। भइया! आप बेटा हो, पोता हो, भतीजे हो, भांजे हो, भाई हो। ये संबंध आपने स्थापित किए हैं, कि भिन्न–भिन्न लोगों ने तेरे में जोड़ लिए हैं? ये इतने सारे संबंधों से ग्रसित हैं। इन सारे संबंधों को, संबंधियों को देख रहा है तो इसके भीतर चंचलता है। सारे संबंधी एकसाथ आ जाएँ, किस–किस को भुलाएगा, किस–किस को खिलाएगा– पिलाएगा? किसके रगों में प्रचुर चंचलता होगी? संबंधियों ने ये संबंध स्थापित किए हैं। तू शांत होकर ध्यानस्थ होकर देख। ये देखनेवाले मुझे देख रहे हैं, पर मैं देखनहारा अपने को नहीं देख रहा। देखने वाले देखेंगे तो संबंध के खण्ड–खण्ड इसके भीतर झलक रहे हैं, परंतु एक आत्मस्थ पुरुष अपनी मनुष्यपर्याय को भी देखना बंद कर चुका है। ये मात्र देख रहा है। इसके चेहरे को देखो, ये निमग्न हो गया है अपने में कि मैं मात्र देख रहा हूँ। मैं हस्तभूत पुरुष नहीं, मैं पैरभूत पुरुष नहीं, मैं मस्तकभूत, गर्दनभूत, कमरभूत, जंघाभूत, चरणभूत पुरुष नहीं। इन सारे पुरुषों से जो भिन्न है, मैं सर्वांगीण एकीभूत पुरुष हूँ। मैं खण्ड–खण्ड, अंग–अंगभूत पुरुष नहीं हूँ। मैं चैतन्य पुरुष मात्र हूँ **'अस्ति पुरुश्चिदात्मा'।**

अपरिचित लोगों ने मेरे से संबंध स्थापित कर लिए हैं। जिन लोगों का मैं न पहले था, न अब हूँ, न आगे मैं रहूँगा। मैं तो एकमात्र हूँ, अखण्ड हूँ। मित्र! मोहियों ने मेरे को स्थापित कर लिया है तो कोई विकल्प नहीं है, पर मैं निर्मोही मोह में प्रवेश न करूँ। हे आत्मन्! तू अखण्ड है। संबंधों के खण्ड तुझे नहीं निहारना है। तू स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से शून्य जो चेतन पिंड है, वही अखण्ड ध्रुव ज्ञाता है। जो खण्ड–खण्ड है पर ज्ञाता के ज्ञान में, पर मैं तो अखण्ड हूँ। सुनना मात्र नहीं, वेदन करना है। जिनका विकल्प मेरे में है, वे विकल्पभूत द्रव्य भी मेरे में नहीं हैं।

ज्ञानी! जिसका विकल्प तू हृदय में कर रहा है, वो विकल्पभूत द्रव्य तेरे हृदय में नहीं है। किसी कन्या को तू देख रहा है, उसकी प्राप्ति की इच्छा कर रहा है, वो कन्या तेरे हृदय में है क्या? कि तेरा ज्ञान ही विकार को प्राप्त हो रहा है? वो कन्या तेरे हृदय में प्रवेश नहीं किए है। तेरे ज्ञान में विकार खड़ा हुआ है जो भिन्न द्रव्य, जिसका तेरे से अत्यंताभावभूत है, प्रवेश मान रहा है। **एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यंताभाव होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यभूत होता नहीं है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में जो त्रैकालिक अभाव है, वही अत्यंताभाव है।** जो मेरे में

प्रवेश नहीं कर रहा है, मेरे में प्रवेश है ही नहीं, मात्र भीतर के राग से रंग करके मैं पर को कर्म–नोकर्म को देखकर के क्लेश को प्राप्त हो रहा हूँ। कन्या क्लेश नहीं है, क्लेश तेरा विकारी भाव ही है। वस्तुस्वभाव यही है।

जो अखण्ड है, वही ब्रह्म है। जो ब्रह्म है, वही अखण्ड है। जब भिन्न द्रव्य मुझे देख नहीं रहे हैं, मुझे जान नहीं रहे, पहचान नहीं रहे, तो मैं उनको क्यों जानूँ, क्यों पहचानूँ, क्यों मानूँ? एक भी जड़द्रव्य ने नहीं कहा कि तू मेरा है, तू मेरा था, तू मेरा रहेगा। जब नहीं बोला, तो आप क्यों बोल रहे हो? ये आपकी बुद्धि का भ्रम बोलता है, कि वस्तु बोलती है? फिर ज्ञानी! तेरे परिणाम ऐसे क्यों हो रहे हैं कि जो नहीं बोलता है, उसको भी मैं अपना बोलता हूँ? यही राग है, यही आग है। **लकड़ी में लगी आग तो लकड़ी को भस्म करती है, पर भावों में लगी आग विशुद्धि को नष्ट करती है।**

ये वही कुरुक्षेत्र है, ये वही हस्तिनापुर है। न कुरुक्षेत्र उठा, न हस्तिनापुर उठा अर्थात् कहीं गया नहीं, परंतु कुरुक्षेत्र से कौरव भी उठ गए, पाण्डव भी उठ गए। क्या कुरुक्षेत्र भिन्न हुआ, क्या हस्तिनापुर भिन्न हुआ? लेकिन जो इसको निजभूत मानते थे, वे सब यहाँ से चले गए, भूमि जहाँ थी वहीं है। वस्तुस्वभाव को देखो। वस्तु न मिटती है, न हटती है। ममत्व बढ़ता है, ममत्व घटता है। वस्तु अखण्ड है।

भैया! तेरा ज्ञान न घटता है न बढ़ता है। क्षयोपशम घटेगा, क्षयोपशम बढ़ेगा। ज्ञान न घटेगा न बढ़ेगा। ज्ञान न घटता है न बढ़ता है। ज्ञायकभाव वैसा ही रहता है। आवरण घटता है, बढ़ता है। आवरण घट गया तो कहते हैं ज्ञान बढ़ गया। आवरण बढ़ गया तो कहते हैं ज्ञान घट गया। ये ध्रुव सत्य है। पूरा आवरण हट जाएगा तो केवलज्ञान हो जाएगा। निरावरण।

'भगवती आराधना' में मृदु, सुकुमाल, रजोऽग्राहक, लघुता आदि गुणों से संयुक्त पिच्छी बताई है। जब मुनि इतनी सुकुमाल मयूर पंखों की पिच्छी रख रहे हैं, धूप से छाँव में आने पर, छाँव से धूप में आने पर, भूमि के बदलाव पर मार्जन कर रहे हैं। जब ऐसे जीवों की रक्षा करने वाले हैं तो कभी नहीं सोचा जा सकता है कि ये किसी को कष्ट दे सकते हैं। ऐसे विश्वास को प्रकट कराने वाली कोई मुद्रा है तो पिच्छी–कमंडलु से युक्त दिगम्बर मुद्रा है। यदि कोई तुझे ठगने लग जाए तो तू अपने को ठगवाना पसंद कर लेना, पर इस भेष को बदनाम करने का भाव नहीं लाना। अखण्ड धारा में प्रवेश करना है तो जैनत्व पर विश्वास करना। जब कोई कहीं चला भी जाय तो जब चर्या का समय आएगा तो कोई–न–कोई आ भी जाएगा।

गोम्मटेश बाहुबली में महामस्तकाभिषेक के पश्चात्, विहार का प्रश्न आया। कुछ ने पूछा कि क्या व्यवस्था है? मैंने मौन ले लिया। प्रात: से संघों का विहार प्रारंभ हो गया। एक साधक ने पूछा कि कल की चर्या कहाँ होगी? मैंने कहा कि ये विकल्प मुझे नहीं, चर्या को होना चाहिए। एक सज्जन जो ढाई सौ पिच्छियों की व्यवस्था कर रहे थे, उन्होंने कहा कि आपको ५ कि.मी. चलना है, चर्या वहीं होगी। चर्या के पश्चात् सामायिक करके चल दिए, हासन के पास एक तीर्थ में जाकर रुक गए। संध्या में भक्ति, प्रतिक्रमण करके रात्रि विश्राम किया। सुबह वंदना को निकल गए। १० बजे करीब कुछ श्रावक आए और कहा 'महाराज! शुद्धि कर लो।' चर्या कराई। हासन में कहा प्रवचन के लिए, तो हमने कहा कि हमें कन्नड़ी नहीं आती, हम तो हिन्दी में बोलेंगे। एक ने कहा कि आप हिन्दी में बोलना, मैं कन्नड़ी में अनुवाद करता जाऊँगा। श्रोताओं की भीड़ लग गई। बाद में कहा कि आप यहीं चातुर्मास कर लो। हमारे कहने पर कि आगे जाना है, तो उन्होंने फोन करके व्यवस्था बना दी। जैसे ही एक गाँव में पहुँचे तो दूसरे गाँव वाले लेने आ गए। यदि हम लोग घोड़ा–गाड़ी आदि के चक्कर में पड़ते तो ये आनंद नहीं ले सकते थे। भैया! विश्वास रखना, जो है सो है।

ज्ञानी! जीने के लिए बहुत कुछ नहीं करना पड़ता, ममत्व के लिए बहुत कुछ करना पड़ता है। हर व्यक्ति जगत् में सबसे भिन्न होकर, कुछ नया, न्यारा करके देखना चाहता है। जितने नया, न्यारा, विशेष करना चाहते हैं वे सब उन्मत्त लोग हैं। जो कुछ नहीं करके देखना चाहता है, वही सबसे न्यारा है। जितने पंथ, आम्नाय, भेष बने हैं, वे सबसे कुछ हटके दिखाने के लिए बने हैं। कोई कहता है मेरे संप्रदाय में ऐसे वस्त्र पहने जाते हैं। ये श्वेत, भगवा, काले, रंगीन वस्त्र पहने जा रहे हैं, ये सब क्या है? कोई टोपी लगाकर, कोई चोटी बढ़ाकर साधना कर रहा है, ये सब मात्र अपनी पहचान दिखा रहे हैं। जो सारी पहचानें मिटाकर बैठ जाता है, सारे विश्व में उसकी पहचान है, जैसे दिगम्बर मुनि। माता–पिता ने जो वस्त्र पहनाए थे, वे भी उतार कर फेंक दिए। मुझे परभूत पहचान नहीं चाहिए। प्रकृति की जो पहचान मुझे मिली है, मैं उसी में जीना चाहता हूँ। प्रकृति की पहचान में जो रह रहा है, वही दिगम्बर योगी होता है। सब पहचान मिटा दो।

लोग परेशान क्यों हैं? कुछ नया दिखाने के लिए परेशान हैं। जैन संप्रदाय में जैन साधु बनने के लिए कुछ नया करने जाएगा, विश्वास रखना, अपना नाम ही मिटा पाएगा। नाम मिटाने से तात्पर्य, सुयश रहित जिनके नाम चल रहे हैं, वे नाम मिटे ही कहलाएँगे। जिनके साथ यश जुड़ा

है, वे ही नाम चल रहे हैं। जो आडम्बर से रहित थे, उनके नाम आज भी चल रहे हैं, हजारों वर्ष क्यों न बीत गए हों।

यदि कोई जीव किसी भवन के ऊपर भवन बनाकर खड़ा कर देता है। उसके नीचे की नक्काशी बोल रही है कि ये जिनमंदिर था। सामनेवाला स्पष्ट बोलेगा कि इसने क्या किया है? दूसरे को मिटाकर अपना अस्तित्व दिखाया है, फिर भी मिटा नहीं पाया। ये नाम बराबर चलेगा कि आपने जिनमंदिर पर अपना स्थान बनाया है। ज्ञानी यदि मुनि बन जाता है और मुनि बनने के बाद बहुत बड़ा भवन खड़ा करता है और उस पर लिखा है ज्ञानीसागर। ये अपने मुनिपने का नाश करके ऊँचा भवन बनाकर गया है, क्योंकि मुनिपने में तो भवन बन ही नहीं सकता है। ये ध्रुवसत्य है। इस भवन पर कोई आशीर्वाद नहीं है। आप गृहस्थ श्रावक होकर मुनियों के लिए आश्रय स्थल बनवाते तो बहुत अच्छा कार्य था, आशीर्वाद था। **तुमने मुनि होकर मुनियों के लिए आश्रय स्थल बनवाया है तो मुनिपने का नाश करके बनवाया है। 'भवन मिटाकर भवन बनाया है' चारित्र महल उतार करके सीमेंट का महल खड़ा कर दिया है।**

बीनानगर में आदिनाथ की एक वेदी थी जिसमें सोने का पालिश था। एक श्रावक ने कहा कि स्वच्छ नहीं दिख रही है। उसने क्या किया कि रगड़ कर पूरा सोने का पालिश निकाल दिया। लोगों ने पूछा कि ये क्या किया? तो बोला कि अब वेदी स्वच्छ दिख रही है। अज्ञानी तू स्वर्ण पालिश को निकालकर वेदी को स्वच्छ बता रहा है, सुंदर बता रहा है। ऐसे–ही हे मुमुक्षु! चारित्र की पालिश को साफ करके तू भवन की सुंदरता बता रहा है। यह मार्ग नहीं, उन्मार्ग ही है।

जैसे राजा, महाराजा, सम्राटों को भय लगता था कि मेरे गढ़ में, प्रदेश में कोई अन्य सम्राट का प्रवेश न हो जाए, ऐसे–ही त्यागियों के मन में ये विकल्प खड़े होने लगे कि मेरे प्रभावित क्षेत्र में कोई दूसरा प्रवेश न कर जाए, तो तुम्हारे पास राज्यभोग की दृष्टि है, योग की दृष्टि नहीं है। ये परमसत्य है। आपको राज्य करने की अनुभूति चल रही है, योगी की अनुभूति नहीं है। जिस दिन योगी की अनुभूति हो जाएगी, उस दिन क्या महल, क्या प्रदेश, क्या भवन, क्या श्मशान घाट। **जब रोमखण्ड भी मेरा नहीं है, तो दुनिया के खण्ड मेरे कैसे हो सकते हैं? जब मैं अपने शरीर के रोमखण्ड जो मेरे शरीर में अंकुरित हुए हैं वे भी अपने साथ नहीं ले जा सकता हूँ तो दुनिया के खण्डों को मैं अपने साथ कैसे ले जा सकता हूँ?** ये सत्य है कि नहीं?

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम्।।

(१०४/समाधि तंत्र)

ये पुत्र मित्र आदि सर्वथा अन्य स्वभावी ही हैं। पर मूढ़ इनको स्व कहता है, जबकि अन्य ही हैं। **जब निज का मन वैराग्य से भरा होता है, तभी जीव घर छोड़कर जाता है, नहीं–तो डंडे मारने पर भी जाता नहीं है। कितनी मानसिक, शारीरिक वेदनाएँ सहता रहता है, तब भी वैराग्य का नाम नहीं लेता।** 'कण–कण स्वतंत्र है, अणु–अणु स्वतंत्र है' जिस दिन ये दृष्टि बन जाएगी, उस दिन कौन किसको बाँधे कौन किसको रोके?

ज्ञानी! जीवन तो सुखमय ही होता है, दुःखमय तो राग–द्वेष होता है। **यदि सुखमय जीवन जीना है तो पर के मत बनो, पर को अपना बनाओ मत।** उसी क्षण से सुख है। श्रावकों से इतनी दूरी बनाकर रखो कि वे कानों में न कह पाएँ कि महाराज, आज हमारे यहाँ चौका लगा है। मान लो कोई भक्त बोल गया भक्ति के राग में, अनुराग वश। व्यवहार कहेगा, चरणानुयोग कहेगा कि ठीक है, भक्ति थी। द्रव्यानुयोग, करणानुयोग क्या कहेगा? मित्र! शाम को तुम बोल गए और रात्रि में महाराज के अंदर बात गूँज गई कि कल उसके यहाँ देखना पड़ेगा और इसी काल में आयुकर्म पूर्ण हो गया और प्राण निकल गए, तो तेरे घर में आकर संतान के रूप में या कीड़ा आदि अन्य रूप में जन्म लेना पड़ जाएगा। ये भावों को सँभालने का मार्ग है।

ज्ञानी! जैसे माता–पिता दोनों मिलकर संतान को सँभालते हैं, पालते हैं, तब आप उसे सुरक्षित रख पाते हो, ऐसे–ही हे मुनीश्वर! अष्टप्रवचन मातृका माता है और पिता के तुल्य है, इन दोनों के सहयोग से तेरी संयम संतान पल रही है। ये तो साधु से कहा। हे श्रावको! जैसे आप संतान को मौसमी, प्राकृतिक प्रकोप शरीर को पीड़ित न कर पाए इससे बचाते हो, ऐसे–ही माता–पिता बनकर साधु की पुत्रभूत रक्षा करना है कि इनको कुभावभाव की आयु न लग जाए, अंतस् में विकल्प का निमोनिया न हो जाए, नहीं–तो भेष बचा रहेगा, पर साधुभाव मृतक हो जाएगा।

आगम की एक कथा है। एक श्रावक जिनालय मैं खरबूज चढ़ाकर चला गया और उसी काल में मुनिराज पधारे। उन्होंने वंदना की और सामायिक की। पके हुए खरबूज की सुगंध पूरे मंदिर में फैल रही थी। उस सुगंध के परमाणु मुनिराज की घ्राण इंद्रिय से स्पर्शित हो गए। भावों की दशा विचित्र है, उन परमाणु ने ऐसा प्रभावित किया कि एक क्षण को खरबूजे को खाने के भाव हो गए।

आयुबंध का काल और प्राणों का अंत अंतर्मुहूर्त में दोनों काम एकसाथ हो गए और मुनिराज का जीव उस खरबूजे में कीड़ा हो गया। कर्म की विचित्रता देखो। इधर मुनिराज के शरीर का चंदन की लकड़ी आदि से संस्कार हो गये, परंतु ये कौन देख रहा था कि उनका हंसात्मा खरबूजे में कीड़ा हो गया? जिन जीवों को फलों में तीव्र राग रहता है, वे माया भाव से युक्त होकर, मरण कर, फलों में जाकर कीड़े हो रहे हैं। भैया! बहुत समझने, सँभलने की आवश्यकता है।

ज्ञानी! किसान पूरे साल मेहनत करता है। खलिहान में गल्ला आ गया, परंतु बिजली के शॉर्टसर्किट होने के कारण एक झटके में पूरी मेहनत भस्म हो गई। ऐसा नहीं होता है क्या? होता है। ऐसेही जीवन भर की साधना कषाय की तीव्रता में एक क्षण मात्र में नष्ट हो जाती है। मोह में कष्ट है, जीव में कोई कष्ट नहीं है। मोह को हटाकर देखो, कोई कष्ट नहीं है। **ममत्व है तो वेदना है, ममत्व नहीं है तो वेदन भाव है। अज्ञानी वेदना में जीता है और ज्ञानी वेदक भाव में जीता है।** जी दोनों रहे हैं। विदित होकर वेदना में जियेगा तो कर्म का आस्रव होगा। वेदक भाव से जियेगा तो कर्मनिर्जरा होगी। ज्ञानी! भोग को भी वेदन भाव से भोगो।

जो मुनि बनने के बाद अपने आपको माँ की गोद में सोने वाला शिशु बना लेता है, वो ही मुनि– चर्या का आनंद लूट पाता है, बाकी कोई नहीं लूट पाता है।यदि मुनि बनकर प्रौढ़ होकर जीना चाहते हो तो तुम नेता, सम्राट का जीवन जी सकते हो, पर मुनि का जीवन नहीं जी पाओगे। कई बार साधुओं का वर्चस्व देखकर लगता है कि ये मुनिजीवन को नेतागिरी में निकाल रहे हैं। मोक्षमार्ग के नेता नहीं, संसार के नेता। **चारित्र में तो प्रौढ़ता हो, पर कषाय में प्रौढ़ता न हो।**

भैया! हमेशा प्रयास करो कि आपको अपना बचपन का भोला, सौम्य चेहरा ध्यान आए, तब तुम सहज रह पाओगे। मनुष्य के बच्चे, गाय के छोटे बछड़े, श्वान का पिल्ला आदि अच्छे लगते हैं, क्यों? क्योंकि उनके अंदर सुकुमालता, कषाय की भद्रता/मंदता रहती है, वो आकर्षित करती है। जो साधु बनकर अपने आपको नवजात बछड़ा, शिशु जैसे बना लेता है, उसके प्रति सबको विश्वास होता है, सबको अच्छा लगता है, सब पास में रखना पसंद करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी क्या बोलते हैं? 'यथाजात् स्वरूपोऽहम्।' **जैसे जन्म के समय निर्विकार था, वैसा ही जीवन निर्विकार अभी है, यही निर्ग्रंथ योगी का धर्म है।**

एक बार हम लोग चर्या को निकल रहे थे तो एक आदिवासी महिला क्या बोली ये कैसे स्वामीनाथ हैं जैसे हमारे घर में बच्चे घूमते रहते हैं वैसे ही ये घूमते चले जा रहे हैं। ये तो बच्चों–जैसे

चले जा रहे हैं, इनको तो कुछ लग ही नहीं रहा है। इनको देखकर मुझे भी नहीं लग रहा है कि ये नंगे हैं, न इन्हें लग रहा है कि हम नंगे हैं। ये कौन बोल रहा है? आदिवासी महिला बोल रही है।

ज्ञानी बोले 'महाराज! यदि हम कपड़े उतारें तो शर्म लगती है। देखने वालों को भी शर्म लगती है, पर आप लोग तो निकल जाते हो।' ज्ञानी! तुम नंगे होकर आते हो, इसलिए शर्म लगती है। हम दिगम्बर होकर आते हैं, इसलिए शर्म नहीं लगती। 'यथाजात् स्वरूपोऽहम्।' यदि आनंद लूटना है तो प्रौढ़पना छोड़ दो, सुकुमारता लाओ, शिशुपना लाओ। प्रौढ़ता में चतुराई आएगी, आनंद नहीं आएगा। चतुराई आनंद भंग कर देती है।

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्।।

(२४६/कलश)

यह समयसार के नवम अधिकार सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार का अंतिम कलश है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार इस अधिकार से समयसार पूर्ण हो जाता है। अतद् आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने 'नमः समयसाराय...' लिखकर जो टीका प्रारंभ की थी, उसका यह अंतिम कलश है, जिसमें अखण्डता की बात की गई है।

'इतीदम' इस प्रकार से, यह **'आत्मनस्तत्त्वं'** जो आत्मतत्त्व है, **'ज्ञानमात्रमवस्थितम्'** वो ज्ञानमात्र ही अविस्थत है, **'अखण्डमेकम्'** अखण्ड एक है। अखण्ड ज्ञान। जब ज्ञान अनेक ज्ञेयों में जाता है तो ज्ञेय भिन्न रहे ज्ञेय पृथक्–पृथक् हैं, ज्ञेय खण्ड–खण्ड हैं। उन खण्ड–खण्ड ज्ञेयों में जो ज्ञान जा रहा है। इस दृष्टि से मैंने इसको देखा, अब उसको देखा, ये खण्ड–खण्ड किसके कारण हो रहे हैं? ज्ञेय के कारण। जिससे देखा, जाना जा रहा है वह तो अखण्ड ही है। ज्ञाता, प्रमाता निज प्रमाता के माध्यम से प्रमेय को जब निहारता है तो प्रमाता, प्रमेय, प्रमत्त की दृष्टि से अखण्ड ही है। ज्ञाता ज्ञायकत्व की दृष्टि से तो अखण्ड ही है, परंतु ज्ञानी ज्ञेय की अपेक्षा से खण्ड है।

ज्ञानी! जब कोई सामग्री धूल से लिप्त हो जाती है तो क्या करता है? झाड़ता है तो साफ हो जाती है। ऐसे–ही राग भोगों में लिप्त जो तेरी मानसिकता चल रही है, उसको झड़ा दे, फिर देख कितना साफ मैं एक हूँ, अखण्ड हूँ। **'अखण्डमेकमचलं'** मैं निज से चलायमान नहीं हूँ, अचल हूँ। निज स्वरूप से मैं च्युत होता ही नहीं हूँ, मैं निज स्वरूप से च्युत होऊँगा ही

नहीं, हुआ ही नहीं। मैं स्व चतुष्ट्य में हूँ, अचल हूँ। **'स्वसंवेद्यबाधितम्'** मैं स्व संवेद्य हूँ, मेरे में कोई बाधा नहीं है। जिसमें बाधा है, वो मैं नहीं हूँ। जो मैं हूँ, उसमें कोई बाधा नहीं है। देह में बाधा, राग में बाधा, कषाय में बाधा, कषायियों में बाधा, संबंध में बाधा, संबंधियों में बाधा; पर मैं एक अखण्ड हूँ, कोई बाधा नहीं है। द्रव्य पर दृष्टि डालो, पर्याय गौण करो। मैं अबाधित हूँ। हाँ, मैं अबाधित ही हूँ, मेरे में कोई बाधा नहीं है। बाधा बंध में है, कर्म में है, द्रव्यकर्म में है, भावकर्म में है। भवातीत में कोई बाधा नहीं है।

ज्ञानी! सिद्ध बनकर जो वेदन करेगा, वो भिन्न है। सिद्ध बने बिना सिद्धत्व का जो वेदन करेगा, वो भिन्न है। आप सिद्ध बने बिना सिद्धत्व का वेदन तो करके देखो। एवम्भूत नय की दृष्टि से **'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'।** आप बोल क्यों नहीं रहे हो? मौन बैठने में अच्छा लग रहा है। अल्प समय के मौन में जब इतना अच्छा लग रहा है, तो पूर्ण मौन हो जाने पर कितना अच्छा लगेगा? जो पूर्ण मौन रहेगा, मन से मूक होकर नहीं, पराधीन होकर नहीं, स्वाधीन होकर, तो मुनि कहलाएगा और पराधीन होकर मौन रहेगा तो तिर्यंच कहलाएगा।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी की टीका कलश संख्या २४६ पूर्ण हुई। जयसेन स्वामी की टीका सहित यह ग्रंथ समयसार कुन्दकुन्द स्वामी के अनुसार पूर्ण हो गया। फिर भी समयसार में अंतिम अधिकार दसवाँ अधिकार स्याद्वादाधिकार है। जैन न्याय में जैन अध्यात्म की सिद्धि कैसे होती है, यह इसका विषय है।

आत्मस्वभावं परभावभिन्नम्।
आत्मा का स्वभाव परभावों से अत्यंत भिन्न है।
भगवान् महावीर स्वामी की जय।

श्रमण संस्कृति सेवा समिति

शिरोमणि संरक्षक

श्री सुन्दरलालजी जैन (बीड़ीवाले), इंदौर,
श्री महावीरजी पाटनी, भिलाई
श्री आजादकुमारजी जैन (बीड़ीवाले), इंदौर,
श्री माँगीलालजी रमेशकुमारजी पहाडिया, हैदराबाद

परम संरक्षक

श्री नेमीचंदजी बड़कुल, इंदौर
श्री राजेशजी जैन (लॉरेल), इंदौर
श्री कमलकुमारजी अग्रवाल, इंदौर
श्री प्रमोदजी हिमांशु, भोपाल
श्री संतोषकुमारजी जैन (पटनावाले), सागर
श्री टी.के.मंजू वेद, इंदौर
श्री विजयकुमारजी रामनारायणजी, नागपुर

संरक्षक

श्री सचिनकुमारजी जैन (उद्योगरत्न), इंदौर
श्री अनिलकुमारजी जैन (जैनको), इंदौर
श्री चक्रेशकुमारजी जैन (बड़कुल), इंदौर
श्री शैलेन्द्रकुमारजी सोनी, इंदौर
डॉ. जैनेन्द्रजी जैन, इंदौर
श्री मानिकचंदजी नायक परिवार, इंदौर
श्री पी.सी. जैन सा. (बैंकवाले), इंदौर
श्री प्रमोदकुमारजी जैन (बारदाना),सागर
श्री भागचंदजी कंछेदीलालजी जैन,सागर

✻ श्री संतोषकुमारजी सोनू मोना जैन, सिहोरा)
✻ श्री जैन राजेशजी कानूगो, इंदौर
✻ श्री पं. कमलकुमारजी कमलाकर, भोपाल
✻ श्रीमती कुसुमजी प्रकाशचंदजी, सुखलिया, इंदौर
✻ श्री कमलेशकुमारजी पहाडिया, इंदौर
✻ इंजी. श्री पंकजकुमारजी जैन, भोपाल
✻ श्री राकेशकुमारजी पाटनी, नागपुर
✻ श्री निर्मलकुमारजी जैन, गोंदिया
✻ श्री राकेशजी सिंघई (पत्रकार), भोपाल
✻ श्री मनोजजी प्रधान, भोपाल
✻ श्री अजयजी (ज्योतिषी), भोपाल
✻ श्री राजेन्द्रजी आम्रपाली, भोपाल
✻ श्री संदीपजी (हर्ष सेनीटेशन), भोपाल
✻ श्री मनोहरलालजी टोंग्या, भोपाल
✻ श्री प्रियंकजी अजमेरा, भोपाल
✻ श्री संजीवजी संदीपजी (गेहूँ वाले), भोपाल
✻ डॉ. जितेन्द्रे जैन, भोपाल
✻ डॉ. सुभाष जैन (जखारिया), भोपाल
✻ श्री प्रमोद नील चौधरी, लालघाटी, भोपाल
✻ श्री शैलेन्द्रजी बांझल, विदिशा
✻ श्री शैलेन्द्रजी जैन (शिल्पा), अलीराजपुर
✻ श्री स्वप्निलजी मेघाजी (बड़जात्या मार्बल), इन्दौर
✻ श्री वीरेन्द्रकुमारजी जैन (पारस विद्या विहार), सागर
✻ श्री केतनकुमारजी राजेन्द्रकुमारजी जैन, झांसी
✻ श्री राजकुमारजी स्नेहलताजी चंदौरिया, भिलाई
✻ श्री सनतकुमारजी अरविन्द सतभैया परिवार
✻ श्री कजोडमलजी राजकुमारजी लुहाड़िया, भिलाई
✻ श्री अरुण मीनुजी जैन, दिल्ली
✻ श्री पवन-अल्काजी, अपूर्व भावीनजी कोठारी, भीलवाड़ा
✻ श्री शशिकान्त धीरजकुमारजी अजमेरा, भीलवाड़ा

✻ श्री प्रदीपजी मनोजजी वेद, भीलवाड़ा
✻ श्री सुगनचंदजी विजयजी झांझरी, भीलवाड़ा
✻ श्री सोहनलालजी गंगवाल, भीलवाड़ा
✻ श्री पी.के. जैन कावाखेड़ा, भीलवाड़ा
✻ एड. श्री प्रमोदजी नीलजी चौधरी, भोपाल

ग्रंथ प्रकाशन विशेष सहयोगी

✻ श्री वीरेन्द्रकुमारजी चंदादेवी रावत, इंदौर
✻ श्रीमती राजलताजी धरणेन्द्रजी जैन, भोपाल
✻ श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन (बीडीवाले), इंदौर
✻ श्री अशोकजी कन्हैयालालजी खासगीवाला, इंदौर
✻ श्री देवेन्द्रकुमारजी जैन (हीरू), इंदौर
✻ श्री स्वतंत्रकुमारजी बाबूलालजी जैन, बालसमुद
✻ श्री विजयकुमारजी जैन, छतरपुर
✻ श्री कैलाशचंदजी जैन (नेताजी), इंदौर
✻ श्रीमती पुष्पाजी निर्मलजी काला, रायपुर
✻ श्री रतनचंदजी अशोककुमारजी, दुर्ग
✻ श्री वीरेन्द्र कुमारजी जैन (सुपारी वाले), सागर
✻ श्री देवेन्द्र कुमारजी जैन, हलोटे
✻ श्री रज्जीलाल मोदी (सुपारी वाले), सागर
✻ श्री प्रवीणकुमारजी जैन (वर्द्धमान), दिल्ली
✻ श्री पन्नालालजी जैन, कलकत्ता
✻ श्री अरुणजी जैन, दिल्ली
✻ श्री ऋषभजी जैन, भोपाल (शाहगढ़)
✻ श्री शैलेन्द्र कुमारजी जैन, बुंदी
✻ मुनि विश्वनाथसागर चातुर्मास समिति, भीलवाड़ा

अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति सदस्य

इंदौर

- श्री सुनीलकुमारजी गोधा
- श्री महेशकुमारजी जैन (फूफा)
- श्री विपुलजी बांझल (बंटी)
- श्री कोमलचंदजी जैन (दद्दा)
- श्री अरूणकुमारजी (मऊरानीपुर)
- श्री एन.के. जैन (रोडवेज)
- श्री जयकुमारजी निलेशकुमारजी जैन
- श्री राकेशकुमार राजकुमारजी जैन
- श्री महावीरप्रसादजी चाँदमलजी गोधा
- श्रीमती गुणमालाजी ए.के. बड़जात्या, इन्दौर
- स्व. श्री महेन्द्र कुमारजी बड़जात्या, इन्दौर
- श्रीमती इंदिराजी सेठी, इन्दौर
- श्रीमती सीमा एस.सी. जैन, इन्दौर
- श्री अरविन्द जैन, इन्दौर
- प्रो. श्री शांतिलालजी बड़जात्या
- श्री जयकुमारजी जैन (रिंकू)
- श्री संतोष गरूजी (परवार ग्रुप)
- श्री राकेशकुमारजी रसिया
- श्री विजयकुमारजी जैन (हवलदार)
- श्री प्रकाशकुमारजी तरूणकुमारजी (आरौन वाले)
- श्री नवीनकुमारजी सुनीलकुमारजी जैन
- श्री संतोषकुमारजी जैन
- श्री संजयजी मोदी (अनंतपुरा)
- श्री प्रदीप कुमारजी नेमीचन्दजी जैन, इन्दौर
- श्री सनत कुमारजी, अरविन्दजी (सतभैया), इन्दौर
- श्री विकासजी राजीवजी जैन, इन्दौर
- श्री डॉ. राजेशजी जैन, इन्दौर
- श्री राकेश कुमार, इन्दौर

उज्जैन

- श्री जीवनलालजी जैन
- श्री राकेश कुमारजी किशनचंदजी जैन, उज्जैन
- श्री वीरेन्द्रकुमारजी जैन (कुनिया), उज्जैन
- श्री शंभूकुमारजी अजयकुमारजी सेठी, उज्जैन
- श्री सुधीरजी नंदाजी जैन, उज्जैन
- श्रीमती वीणाजी जैन, उज्जैन
- श्री सुनीलकुमारजी हीरालालजी सोगानी
- श्री कमलकुमारजी सुरेशचंदजी जैन
- श्री रुपेन्द्रकुमारजी विजेन्द्रकुमारजी जैन
- श्री वीरेन्द्रकुमारजी जैन (कुनिया)
- श्री शंभूकुमारजी अजयकुमारजी सेठी
- श्री सुधीरजी नंदाजी जैन
- श्रीमती वीणाजी जैन
- श्री विजेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन
- श्री विद्युतजी करणमलजी डोसी, उज्जैन
- श्री कैलाशचंद रवीन्द्रकुमारजी जैन, उज्जैन
- श्री महावीरप्रसादजी जैन, उज्जैन
- श्रीमती सुधादेवी इंदरचंदजी जैन, उज्जैन
- श्री विमल कुमारजी राजमलजी जैन, उज्जैन
- श्री मोतीलालजी जैन छाबड़ा
- श्री देवेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन (तलाटी)
- श्री विद्युतकुमारजी करणमलजी डोसी
- श्री कैलाशचंदजी रवीन्द्रकुमारजी जैन
- श्री महावीरप्रसादजी जैन
- श्रीमती सुधादेवी इंदरचंदजी जैन
- श्री विमलकुमारजी राजमलजी जैन

ललितपुर

* श्री रामप्रकाशजी जैन,
* श्री शिखरचंदजी जैन सर्राफ
* श्री सिंघई धन्यकुमारजी जैन
* श्री नरेन्द्रकुमारजी राजीवकुमारजी जैन
* श्री कमलकुमारजी खेमचंदजी जैन
* श्री शीलचंदजी नन्हेलालजी जैन
* श्री अखिलेशजी राजमलजी जैन
* श्री सुंदरलालजी मथुराप्रसादजी जैन
* श्री जयकुमारजी मोतीलालजी जैन

सागर

* श्री सुरेशकुमार हुकुमचंदजी जैन
* डॉ. सुनीलकुमार राजेशकुमारजी जैन
* श्री भरतकुमारजी ताराचंदजी पाटोदी
* श्री वेदप्रकाशजी ताराचंदजी भाईजी
* श्री कोमलचंदजी ऋषभकुमार जैन (लालू साड़ी)
* श्री वैभवजी बाबुलालजी जैन
* श्री राजेन्द्रकुमारजी गुलाबचंदजी जैन
* श्री सेठ इंदरचंदजी दीपककुमारजी जैन (सन्मति)
* श्री राजेशकुमारजी जैन (जैन रोड़ लाईन्स)
* श्री नितिनकुमारजी कोमलचंदजी सर्राफ
* श्री हेमचंदजी जिनेन्द्रकुमारजी निलेशकुमारजी जैन
* श्रीमती पुष्पादेवी संतोषकुमारजी जैन
* श्री नेमीचंदजी जैन (सुरखी वाले)
* श्री ऋषभकुमारजी लखमीचंदजी गोयल
* श्री कन्छेदीलालजी जैन (दाऊ)
* श्री ज्ञानचंदजी सुरेन्द्रकुमार जैन
* श्री ऋषभकुमारजी स्वरुपचंदजी सिंघई
* श्री सिंघई ऋषभकुमारजी मंडावरा वाले
* श्री मुकेशकुमारजी भागचंदजी जैन
* श्रीमती सुगंधीजी जैन (निहारिका)
* श्री सुनीलकुमारजी के.सी. जैन

छतरपुर

* चौधरी श्री ज्ञानचंदजी जैन (दादा)
* श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन सेठ
* श्री आनंदकुमारजी जैन (लोहेवाले)
* श्री चक्रेशकुमारजी जैन (बडकुल)
* आचार्य श्री तारणतरण लोकन्यास
* श्री श्रीपालजी बडकुल
* श्री ओलियाजी कोमलचंदजी, छतरपुर
* श्री राजकुमारजी जैन
* श्रीमती श्रीबहनजी
* श्री मुकेशजी जैन (ग्रेनाईट इंडिया)
* डॉ. सुरेशचंदजी बजाज
* श्री प्रमोदजी बिजावर

भीलवाड़ा

* श्री सुरेन्द्र कुमारजी वीरोमलजी, भीलवाड़ा
* श्री शशिकान्तजी धीरजकुमारजी (अजमेरा), भीलवाड़ा
* श्री सुगनचंदजी विजयकुमारजी झांझरी, भीलवाड़ा
* श्री पी.के.जी जैन (कावाखेड़), भीलवाड़ा
* श्री पवन अल्काजी, अपूर्व भावीन कोठारी, भीलवाड़ा
* श्री प्रदीपजी (वेद परिवार), भीलवाड़ा
* श्री सोहनलालजी गंगवाल (पाटीदार), भीलवाड़ा

अन्य शहर

* श्री संजयकुमारजी निर्मलकुमारजी जैन (नवापारा राजिम), रायपुर
* श्री पन्नालालजी धन्नालालजी जैन, कलकत्ता
* श्रीमती उर्मिलाजी शीलकुमारजी जैन, हिसार (हरि.)
* श्री अनुरागजी मोदी (मोदी ट्रेडर्स), तेंदूखेड़ा
* श्री पीयूषजी जैन, सोनीपत (हरियाणा)
* श्रीमती सुमनजी जैन (अरोरा), बरेली
* श्रीमती अर्मलशील कुमार, हरियाणा
* श्री मनोज जैन, भोपाल
* श्री निर्मलकुमार जैन, नोयडा
* श्री संजय जैन, दिल्ली
* श्री भूपेन्द्रकुमारजी इन्द्रमलजी जैन, गजियाबाद
* श्रीमती सुनीताजी भरतकुमारजी जैन, भोपाल
* श्रीमती ममताजी जैन, पानीपत
* श्री जेठालालजी कुबेरदासजी शाह, मुंबई
* श्री विशालजी नीतूजी जैन, जयपुर
* श्री अरुणजी मीनुजी जैन, दिल्ली
* श्रीमती अलका अशोककुमारजी जैन, दिल्ली
* श्री निर्मल कुमारजी जैन, दिल्ली
* श्रीमती विमलाजी सिंघई, लालघाटी, भोपाल
* डॉ. त्रिशलादेवी जैन, कानपुर
* श्रीमती सुनीता भरतकुमार जैन, चौक, भोपाल
* श्री मनोज कुमार, हरियाणा
* श्री गोतम जैन, इन्दौर
* श्रीमती देवी राजकुमार जैन, दुर्ग
* श्री बाबूलालजी ईश्वरलालजी पाटोदी, छिन्दवाड़ा
* श्री सुशील कुमारजी शोमितजी जैन, ग्यासपुर
* श्रीमती स्नेहलताजी एस.के. जैन, सोनीपत
* श्रीमती मालादेवीजी जैन, करोली
* श्री प्रदीप प्रभाकरजी जैन, मुंबई
* श्री कजोडमलजी राजकुमारजी (लुहाडिया) भिलाई
* श्री रतनलालजी जैन, अलवर (राज.)